MAPS-06

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

# भारतीय राजनीति–2

**MAPS - 06**

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

**भारतीय राजनीति -II**

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

- **प्रो. वी.आर. मेहता**
  अध्यक्ष, पूर्व कुलपति
  वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
- **(स्व.) प्रो. इकबाल नारायण**
  4 क 5, जवाहर नगर, जयपुर (राज.)
- **प्रो. ए.पी. राणा**
  से. नि. आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग
  एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
- **प्रो. शांति स्वरूप**
  से.नि. आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग
  पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
- **प्रो. थॉमस पेन्थम**
  आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग
  एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
- **डॉ. अनाम जैतली (संयोजक)**
  वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
- **डॉ. लीला राम गुर्जर**
  वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
  तदान्तर नियुक्त संकाय सदस्य- डॉ.अशोक वर्मा, डॉ. कर्ण सिंह

## पाठ्यक्रम निर्माण दल

- **डॉ. (श्रीमती) निशा वशिष्ठ**
  राजविज्ञान अध्ययनशाला
  विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- **डॉ. बी.एल. फाड़िया**
  राजनीति विज्ञान विभाग
  जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय
  जोधपुर
- **डॉ. डी.एस. यादव**
  राजनीतिक विज्ञान विभाग
  राजकीय महाविद्यालय, कोटा
- **डॉ. यतीन्द्र सिंह सीसोदिया**
  म.प्र. सामाजिक विज्ञान
  शोध संस्थान, उज्जैन
- **डॉ. महेश कुमार माहेश्वरी**
  राजविज्ञान अध्ययनशाला
  विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- **डॉ. एस.एन. जैन**
  राजनीति विज्ञान विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **डॉ. (श्रीमती) दीपिका गुप्ता**
  राजविज्ञान अध्ययनशाला
  विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- **प्रो. ओ.पी. गोयल**
  एम.डी. विश्वविद्यालय, रोहतक
- **डॉ. गोपाल शर्मा**
  राजविज्ञान अध्ययनशाला
  विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
- **डॉ. नलिन अनाडक्ट**
  राजनीति विज्ञान विभाग
  एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा(गुजरात)
- **डॉ. आशिष भट्ट**
  म.प्र. सामाजिक विज्ञान
  शोध संस्थान, उज्जैन
- **डॉ. दीपक गुप्ता**
  जवाहर लाल नेहरू व्यवसाय प्रबंध संस्थान
  विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

## अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

| | | |
|---|---|---|
| **प्रो. नरेश दाधीच** | **प्रो. एम.के. घड़ोलिया** | **योगेन्द्र गोयल** |
| कुलपति | निदेशक | प्रभारी |
| **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा** | **संकाय विभाग** | **पाठ्य सामाग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग** |

## पाठ्यक्रम उत्पादन

**योगेन्द्र गोयल**
सहायक उत्पादन अधिकारी,
**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**

**ISBN 13/978-81-8496-283-3**

**इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।**

**व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।**

# वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

## भारतीय राजनीति - II


| इकाई संख्या | इकाई का नाम | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| इकाई - 1 | भारत में संविधान-निर्माण-I उदारवादी प्रजातांत्रिक प्रारूप ग्रहण करना | 7–22 |
| इकाई - 2 | भारत में संविधान-निर्माण-II : संविधान-सभा एवं अन्तरिम संसद | 23–44 |
| इकाई - 3 | मूल अधिकार और मूल कर्तव्य | 45–64 |
| इकाई - 4 | राज्य नीति के निदेशक तत्व | 65–80 |
| इकाई - 5 | संघ कार्यपालिका : भारतीय गणराज्य का राष्ट्रपति | 81–98 |
| इकाई - 6 | संघ कार्यपालिका : प्रधानमंत्री का पद | 99–119 |
| इकाई - 7 | राज्य कार्यपालिका : राज्यपाल | 120–140 |
| इकाई - 8 | संवैधानिक संशोधन -I | 141–158 |
| इकाई - 9 | संवैधानिक संशोधन -II | 159–182 |
| इकाई - 10 | न्यायिक पुनरावलोकन | 183–197 |
| इकाई - 11 | केन्द्र-राज्य सम्बन्ध : तथ्य और समस्याएँ | 198–208 |
| इकाई - 12 | क्षेत्रीयता और राष्ट्रीय एकीकरण | 209–217 |
| इकाई - 13 | राजनीतिक दल एवं चुनावी राजनीति | 218–239 |
| इकाई - 14 | निर्वाचन-व्यवस्था एवं मतदान-व्यवहार | 240–264 |
| इकाई - 15 | स्वतन्त्रता के पश्चात शक्ति की राजनीति के निर्धारक के रूप में नौकरशाही | 265–281 |
| इकाई - 16 | भूमि सुधारों की राजनीतिक एवं कृषक आन्दोलन | 282–304 |
| इकाई - 17 | लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और पंचायत राज संस्थाएं | 305–321 |
| इकाई - 18 | राष्ट्रीय सुरक्षा एवं विकासात्मक समस्याएं | 322–333 |
| इकाई - 19 | साम्प्रदायिकता एवं धर्मान्धता | 334–343 |
| इकाई - 20 | भारतीय राज्य में चुनौतियाँ : क्षेत्रवाद एवं राष्ट्रवाद | 344–355 |

# इकाई 1

# भारत में संविधान निर्माण – 1 : उदारवादी प्रजातांत्रिक प्रारूप ग्रहण करना

**इकाई संरचना**


1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 संविधान सभा के निर्माण की पृष्ठभूमि

1.3 केबिनेट मिशन योजना और भारतीय संविधान सभा का निर्माण

1.4 संविधान सभा का गठन और चुनाव

1.5 संविधान सभा के प्रमुख सदस्य

1.6 संविधान का निर्माण

1.7 संविधान निर्माण की प्रक्रिया

1.8 संविधान सभा में निर्णय लेने की प्रक्रिया

1.9 संविधान सभा की अवधारणाएँ

1.10 निष्कर्ष

1.11 अभ्यास प्रश्न

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ


## 1.0 उद्देश्य

**इस इकाई का उद्देश्य है–**

1. संविधान सभा के निर्माण की पृष्ठभूमि को समझना।
2. संविधान सभा का संरचना और विशेषताओं पर दृष्टिपात करना।
3. संविधान सभा के निर्माण की प्रक्रिया को समझना ।
4. संविधान सभा के निर्णय लेने की प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त करना।

## 1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान के सर्वमान्य सिद्धांतों के अनुसार कोई भी समाज राज्य के बगैर नहीं रह सकता । इससे जुड़ा अन्य सिद्धान्त है कि कोई भी राज्य संविधान के बगैर नहीं रह सकता। संविधान शब्द का प्रयोग यदि कई अर्थों में किया जाता है, परन्तु हमारा सम्बन्ध केवल राजनैतिक अर्थ से है जो राज्य के संविधान का सूचक है । प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होता है, अत : उसे **"संवैधानिक राज्य"** कहा जाता है । परन्तु आज के सन्दर्भ में **"संवैधानिक राज्य"** शब्द **"लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था"** का पर्याय बन गया है । प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होता है जिसमें यह उल्लेखित होता है कि राज्य का शासन कैसे चलाया जाए। संविधान में उल्लेखित कानूनों के अनुसार ही राज्य का शासन चलता है । अत "संविधान उन

सिद्धांतों का संग्रह होता है जिसमें शासन की शक्तियाँ, शासितों के अधिकार तथा दोनों के बीच के सम्बन्ध समावित होते है ।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति कई उद्देश्यों को लेकर प्रवृत्त हुई । इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य थे–राष्ट्रीय एकता, स्वस्थ एवं न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, आर्थिक विकास तथा राजनैतिक भागीदारी । इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रजातांत्रिक मार्ग अपनाया गया ।

## 1.2 संविधान के निर्माण की पृष्ठभूमि

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में कांग्रेस ही प्रमुख राजनैतिक दल था जो स्वतंत्रता के आन्दोलन से जुड़ा हुआ था । कांग्रेस ने संविधान सभा की माँग सर्वप्रथम 1934 में प्रस्तुत की। बाद में कांग्रेस वे अपने सभी अधिवेशनों में यह प्रस्ताव पारित किया कि एक संविधान सभा का निर्माण किया जाए जो भारत के संविधान का ढांचा तैयार करे ।

भारत में संविधान सभा की माँग एक कार से राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग थी, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता का यह स्वाभाविक अर्थ था कि भारत के लोग स्वयं अपने राजनीतिक भविष्य का निर्णय करें । संविधान सभा के सिद्धांत के सर्वप्रथम दर्शन 1895 के **'स्वराज्य विधेयक'** (Swarajya Bill) में होते है जिसे तिलक के निर्देशन में तैयार किया गया था । इसे तिलक की दूरदर्शिता कहा जाना चाहिए कि वे 19वी सदी में इस सम्बन्ध में सोच सके । 20वीं सदी में इस विचार की ओर सर्वप्रथम संकेत महात्मा गांधी ने किया, जब उन्होंने 1922 में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि **"भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा"** । 1924 में पं. मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख संविधान सभा के निर्माण की माँगे प्रस्तुत की, किन्तु उस समय सरकार की ओर से इस पर कोई ध्यान नही दिया गया । इसके बाद औपचारिक रूप में संविधान सभा के विचार का प्रतिपादन एम. एन. राय ने किया और इस विचार को लोकप्रिय बनाने एवं इसे मूर्त रूप देने का कार्य पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया । प्रमुखतया उन्हीं के प्रयत्नों से कांग्रेस ने औपचारिक रूप में घोषणा की थी **"यदि भारत को आत्मनिर्णय का अवसर मिलता है तो भारत के सभी विचारों के लोगों की प्रतिनिधि सभा बुलाई जानी चाहिए, जो सर्वसम्मत संविधान का निर्माण कर सके। यही संविधान सभा होगी। "** अत : अनेक प्रान्तीय विधानसभाओं और केन्द्रीय विधानमंडल द्वारा इस प्रकार के प्रस्ताव पारित किए गए । दिसम्बर 1936 के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में संविधान सभा के अर्थ और महत्व की व्याख्या की गई और 1937 व 1938 के अधिवेशन में संविधान सभा की माँग को दोहराया गया। 1938 के कांग्रेस अधिवेशन में इस माँग को दोहराते हुए इस आशय का प्रस्ताव पारित किय गया कि **"एक स्वतंत्र देश के संविधान निर्माण का एक मात्र तरीका संविधान सभा है । सिर्फ प्रजातन्त्र और स्वतंत्रता में विश्वास न रखने वाले ही इसका विरोध कर सकते है ।"** इस समय महात्मा गांधी ने कहा कि **"संविधान सभा से इस, देश की साम्प्रदायिक अशान्ति दूर होगी और वह देश को उचित राजनीतिक दिशा प्रदान करेगी।"** उन्होंने आगे कहा कि "**हम एक ऐसी संविधान सभा चाहते है जो भारतीय मस्तिष्क का वास्तविक दर्पण हो।**"

संविधान सभा की इस माँग का ब्रिटिश शासन द्वारा विरोध किया जाना तो स्वाभाविक था ही, नरेशों और यूरोपवासियों जैसे कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्गों द्वारा भी इस प्रस्ताव से अपने विशेषाधिकार खतरे में पड़ते देख इसका विरोध किया गया और उदारवादियों ने इसे अति प्रजातान्त्रिक बताया। शुरू में मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया, किन्तु 1940 में पाकिस्तान प्रस्ताव के प्रतिपादन के लिए दो पृथक–पृथक संविधान सभाओं की माँग प्रारम्भ कर दी । इस सम्बंध मे यह स्मरणीय है कि अछूत जाति संघ के अध्यक्ष डी. अम्बेडकर ने भी संविधान सभा की माँग के प्रति उदासीनता और आशिक विरोध का भाव अपनाते हुए कहा था कि **"एक संविधान सभा की आवश्यकता नही है और 1935 ई. के अधिनियम के आधार पर कार्य किया जा सकता है । "** बाद के वर्षों में उन्होंने संविधान निर्माण में जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, उससे स्पष्ट है कि उन्होंने भ्रांतिवश ही यह बात कही थी ।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता की संविधान सभा की माँग को स्पष्टतया स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थी, किन्तु द्वितीय विश्व–युद्ध की आवश्यकताओं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया । अत : अगस्त 1940 के प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि **"भारत का संविधान स्वभावतः स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे ।"** इसके बाद 1942 के प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने कहा कि **"भारत का संविधान स्वभावतः स्वयं भारतवासी ही तैयार करेंगे।"** इसके बाद 1942 की क्रिप्स योजना के द्वारा ब्रिटेन ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा का गठन होगा, जो युद्ध के बाद भारत के लिए संविधान तैयार करेगी । लेकिन भारतीयों द्वारा अन्य महत्वपूर्ण आधारों पर क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया गया । अन्त में 1946 की केबिनेट मिशन योजना में भारतीय संविधान सभा के प्रस्ताव को स्वीकार कर इसे व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया गया।

## 1.3 केबिनेट मिशन योजना और भारतीय संविधान सभा का निर्माण

24 मार्च, 1946 को 'केबिनेट मिशन' दिल्ली पहुँचा। 16 मई, 1946 को मिशन ने अपनी योजना प्रकाशित की । संविधान निर्माण के प्रस्तावित संगठन के बारे में मिशन का विचार था कि वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का गठन वर्तमान स्थितियों में सम्भव है । अतः व्यावहारिक उपाय यही है कि प्रान्तीय विधानसभाओं का निर्वाचनकारी संस्थाओं के रूप में उपयोग किया जाए ।

इस संविधान सभा में कुल 389 सदस्य हों जिनमें 292 ब्रिटिश प्रान्तों के प्रतिनिधि, 4 चीफ कमिश्नर क्षेत्रों के प्रतिनिधि और 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधि हों । योजना में कहा गया है । कि–

1.3.1 प्रत्येक प्रान्त द्वारा भेजे जाने वाले सदस्यों की संख्या उसी जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जाए और इस सम्बन्ध में 10 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि लेने का नियम अपनाया जाए ।

1.3.2 प्रान्तों को इस आधार पर दिए गए स्थान उनमें निवास करने वाली प्रमुख जातियों में उनकी संख्या के आधार पर विभाजित कर दिए जाएं । प्रत्येक

जाति के प्रतिनिधि उस जाति के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किए जाएं । मतदाताओं को तीन वर्गों में बाँटने का निश्चय किया गया–साधारण, मुसलमान तथा सिख (केवल पंजाब) ।

1.3.3 रियासतों को भी जनसंख्या के आधार पर ही प्रतिनिधित्व देने का निश्चय किया गया, किन्तु उनके प्रतिनिधियों के चुनाव को ब्रिटिश भारत से संविधान सभा के लिए चुने गए प्रतिनिधियों की 'समझौता समिति ' और देशी रियासतों की तरफ से बैठाई गई समिति के बीच में आपसी बातचीत द्वारा तय होना था ।

1.3.4 प्रान्तों के अलग संविधान की भी इस योजना में व्यवस्था की गई । इसके लिए कहा गया कि संविधान सभा की प्रारम्भिक बैठक के बाद सदस्य अपने आपको तीन वर्गों में बाँट लेंगे – प्रथम हिन्दू बहुमत वाले प्रान्तों के प्रतिनिधि, द्वितीय मुस्लिम बहुमत वाले उत्तरी–पश्चिमी प्रान्तों के प्रतिनिधि और तृतीय मुस्लिम बहुमत वाले उत्तर–पूर्वी प्रान्तों के प्रतिनिधि। इन तीन वर्गों द्वारा पहले अपने–अपने प्रान्तों और वर्गो के संविधान का निर्माण और तत्पश्चात् संघीय संविधान का निर्माण किया जाएगा ।

संविधान राज्य के गठन और संविधान निर्माण की इस योजना में कुछ दोष अवश्य ही थे लेकिन इसके साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अच्छी कोई प्रस्तुत नहीं कोई जा सकती थी । योजना का एक प्रमुख गुण वह था कि मुस्लिम लीग की इच्छा के विरूद्ध केवल एक संविधान सभा की व्यवस्था की गई थी, अत : काँग्रेस द्वारा इस योजना से स्वीकार कर लिया गया । मुस्लिम लीग द्वारा योजना की व्याख्या अपने ढंग से की गई और वर्गीय आधार पर संविधान निर्माण में पाकिस्तान की स्थापना के बीज देखते हुए इस योजना को स्वीकार कर लिया गया। अन्य छोटे दलों द्वारा भी केबिनेट मिशन योजना से स्वीकार कर लिया गया।

## 1.4 संविधान का गठन और चुनाव

केबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई 1946 में संविधान सभा के चुनाव हुए । संविधान सभा के लिए कुल 389 सदस्यों में से, प्रान्तों के लिए निर्धारित 296 सदस्यों के लिए ही ये चुनाव हुए । चुनावों के परिणाम स्वरूप संविधान सभा में जो दलीय स्थिति उत्पन्न हुई उसे निम्न तालिका में देख जा सकता है । –

| | |
|---|---|
| कांग्रेस | 208 |
| मुस्लिम लीग | 073 |
| यूनियननिस्ट | 001 |
| यूनियननिस्ट | 001 |
| यूनियननिस्ट | 001 |
| कृषक प्रजा पार्टी | 001 |
| अछूत जाति संघ | 001 |
| सिख (कांग्रेस के अतिरिक्त) | 001 |

| | |
|---|---|
| साम्यवादी | 001 |
| स्वतंत्र (निर्दलीय) | 008 |
| कुल | 296 |

संविधान सभा में अपनी स्थिति देखकर मुस्लिम लीग ने संविधान सभा के बहिष्कार का निश्चय किया और 9 दिसम्बर 1947 को संविधान आ के प्रथम अधिवेशन में मुस्लिम लीग कें प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए । अब लीग ने पाकिस्तान के लिए बिल्कुल पृथक् संविधान सभा की माँग प्रारम्भ कर दी। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार ने इस बात के प्रयत्न किए कि लीग व्यर्थ का हठ छोड़ दे और संविधान के कार्य में सहयोग करे, किन्तु सभी प्रयत्न विफल हुए ।

वस्तुत : भारत की संविधान सभा का गठन तीन चरणों में पूरा हुआ। सर्वप्रथम केबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन हुआ और कुल सदस्यों की संख्या 389 निश्चित की गई थी । द्वितीय चरण की शुरूआत 3 जून, 1947 की विभाजन योजना से होती है और संविधान सभा का पुनर्गठन किया गया, जिसके अनुसार 324 प्रतिनिधि थे । तृतीय चरण देशी रियासतों सें सम्बन्धित था और उनके प्रतिनिधि संविधान सभा में अलग–अलग समय में सम्मिलित हुए । हैदराबाद ही एक ऐसी रियासत थी जिसके प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए । संविधान सभा के गठन के बाद 14 अगस्त 1947 को जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि "स्वाधीनता और सत्ता अपने साथ उत्तरदायित्व लाती है । वह उत्तरदायित्व अब इस भारत के लोगों की प्रतिनिधि, प्रभुसत्ता–सम्पन्न संविधान सभा के कन्धों पर है ।

## 1.5 संविधान सभा के प्रमुख सदस्य

संविधान सभा में पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. भीमराव – अम्बेडकर के.एम. – मुंशी, गोपालास्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, पट्टाभि सीतारमैया, श्रीमती दुर्गाबाई, ठाकुरदास भार्गव, मौलाना अबुल कलाम आजाद का योगदान महत्वपूर्ण रहा । संविधान क्या में नेहरू और पटेल शक्ति के केन्द्र बिन्दु थे । किसी प्रश्न पर उनमें परस्पर मतभेद की स्थिति में उनके इर्द–गिर्द समर्थक एकत्रित हो जाते थे, परिणामस्वरूप संविधान सभा में बहस लम्बी चलती थी । डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपने प्रभाव का खुलकर प्रयोग नहीं कर पाते थे क्योंकि वे संविधान सभा के अध्यक्ष थे । नेहरू आदर्शवादी थे तो प्रसाद और पटेल अनुभववादी और व्यावहारिक । डॉ अम्बेडकर कानून के प्रकाण्ड पण्डित थे तो गोपालस्वामी आयंगर भी बहुत योग्य और अनुभवी पुरुष थे । पटेल के प्रमुख परामर्शदाता के. एन. मुन्नी[ और वी. पी. मेनन थे तो नेहरू के परामर्शदाता कृष्णास्वामी अव्यय और बी. एन. राव थे । वे संविधान निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य को कर रहे थे । मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवक्ता होने के कारण मौलाना आजाद की बात को बड़े ध्यान से सुना जाता था ।

'संविधान सभा में लगभग 250 सदस्यों ने भाषण दिए जिनमें से 200 से अधिक सदस्य सक्रिय रूप से बोले । संविधान सभा में हुई संवैधानिक बहसो में सदस्यों द्वारा सामान्यत: भाग लेने के बावजूद यह एक तथ्य है कि संविधान निर्माण से सम्बन्धित अधिकांश

कार्य लगभग 50 व्यक्तियों ने किया। इनमें भी 12 से कम व्यक्तियों ने सशक्त नेतृत्व प्रदान किया और महत्वपूर्ण निर्णय लिये ।

## 1.6 संविधान का निर्माण

जुलाई 1946 में संविधान सभा के निर्वाचन हुए । कांग्रेस चाहती थी कि संविधान सभा यथाशीघ्र संविधान निर्माण का कार्य प्रारम्भ करे । जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस की ओर से एक विशेष समिति नियुक्त की जिसे संविधान सभा के लिए आवश्यक सामग्री जुटानी थी । इस समिति न संविधान सभा के कार्य–संचालन की आवश्यक प्रक्रिया तय की ।

संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 को संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में प्रारम्भ हुआ। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा को सर्वसम्मति से अस्थायी अध्यक्ष चुना गया। इसके बाद सदस्यों ने अपने परिचय पत्र पेश किए तथा रजिस्टर पर हस्ताक्षर किए । 11 दिसम्बर, 1946 को कांग्रेस के तपे नेता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए । संविधान निर्माण की दिशा में सबसे पहला काम था जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत उद्देश्यों प्रस्ताव । यह प्रस्ताव 13 दिसम्बर, 1946 को प्रस्तुत किया गया था । प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए श्री नेहरू ने कहा, 'मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूं उसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गई है ।, योजना की रूपरेखा दी गई है और बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं । " उद्देश्य प्रस्ताव में भारत को एक स्वतंत्र प्रभुसत्ता–सम्पन्न गणराज्य घोषित करने की आकांक्षा व्यक्त की गई । यह भी कहा गया कि प्रभुसत्ता का वास जनता में होगा तथा भारत के सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना और व्यवसाय की गारण्टी दी जायेगी । 13 दिसम्बर, 1946 तक संविधान सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव पर कुल आठ दिन विचार–विमर्श किया । 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा में सदस्यों ने खड़े होकर सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव को पास किया ।

उद्देश्य प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद ही संविधान सभा ने संविधान निर्माण की समस्या के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में अनेक समितियां नियुक्त की । प्रमुख समितियां थी –

1.6.1 संघ संविधान समिति

1.6.2 प्रान्तीय संविधान समिति

1.6.3 संघ शक्ति समिति

1.6.4 मूल अधिकारों, अल्पसंख्यकों आदि से सम्बंधित परामर्श समिति

1.6.5 प्रारूप समिति, आदि ।

देशी रियासतों से बातचीत करने के लिए संविधान सभा ने एक 'वार्ता समिति' पूर्व में ही गठित कर ली थी ।

संविधान सभा के कार्यालय की परामर्श शाखा ने 17 मार्च, 1947 को संविधान की मुख्य विशेषताओं के सम्बन्ध में एक प्रश्न–सूची विभिन्न प्रान्तीय विधानमण्डलों तथा केन्द्रीय विधान मण्डल के सदस्यों के पास भी भेजी ताकि वे प्रस्तावित संविधान के बारे में अपने विचार

व्यक्त कर सकें । इसी समय ब्रिटिश सरकार ने 3 जून, 1947 की योजना प्रकाशित की जिसके अनुसार देश का विभाजन होना था ।

अक्टूबर 1947 में संविधान के सचिवालय की परामर्श शाखा ने संविधान का पहला प्रारूप तैयार किया । इस प्रारूप के तैयार होने के पहले संविधान सभा के सचिवालय ने तीन जिल्दों में विश्व के विभिन्न संविधानों के पूर्व दृष्टान्त एकत्र कर उन्हें संविधान सभा के सदस्यों में वितरित कर दिया । संवैधानिक परामर्शदाता बी. एन. राव ने विश्व के विभिन्न संविधान विशेषज्ञों से विचार–विमर्श कर एक प्रतिवेदन भी प्रस्तुत किया ।

29 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने 'प्रारूप समिति नियुक्ति की । डॉ. अम्बेडकर इस समिति के अध्यक्ष चुने गए । 'प्रारूप समिति' का यह काम था कि वह संविधान सभा की परामर्श शाखा द्वारा तैयार किए गए संविधान का परीक्षण करे और फिर संविधान को विचार के लिए संविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करे । 'प्रारूप समिति' ने भारत के संविधान का जो प्रारूप तैयार किया वह फरवरी 1948 में संविधान सभा के अध्यक्ष को सुपुर्द किया गया । प्रारूप संविधान के प्रकाशित होने के बाद प्रारूप संविधान में संशोधन करने के लिए अनेक सुझाव प्राप्त हुए । एक विशिष्ट समिति ने इन सुझावों पर विचार किया तथा प्रारूप संविधान का एक पुनर्मुद्रित संस्करण प्रकाशित किया ।15 नवम्बर, 1948 को प्रारूप संविधान पर धारावार विचार प्रारम्भ हुआ। 8 जनवरी 1949 तक संविधान सभा 67 अनुच्छेदों पर विचार कर चुकी थी । इसे प्रथम वाचन कहा जाता है क्योंकि इस कालावधि में संविधान पर सामान्य वाद–विवाद हुआ । 16 नवम्बर, 1949 को संविधान का 'द्वितीय वाचन ' समाप्त हो गया । संविधान का तीसरा वाचन 26 नवम्बर 1949 तक चला अब कि संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को अंतिम रूप से पास किया गया। संविधान सभा के अन्तिम दिन 24 जनवरी 1950 को संविधान की तीन प्रतियां सभा पटल पर रखी गयी । सभा के अध्यक्ष ने सभी सदस्यों से प्रार्थना की कि वे एक–एक करके तीनों प्रतियों पर हस्ताक्षर करे । सदस्यों ने संविधान की प्रतियों पर हस्ताक्षर किए और उसके बाद जन–गण–मन तथा वन्देमातरम् के गायन के साथ 'सभा' का संविधान सभा के रूप में समापन हो गया । 26 जनवरी, 1950 को उसका भारतीय गणराज्य की (अन्तरिम) संसद के रूप में आविर्भाव हुआ ।

सम्पूर्ण संविधान निर्माण में 2 वर्ष 11 मास और 18 दिन लगे । इस कार्य पर लगभग 64 लाख रुपये खर्च हुए । संविधान के प्रारूप पर भी 114 दिन तक चर्चा होती रही । अपने अंतिम रूप में संविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थी । संविधान के कुछ अनुच्छेद 26 नवम्बर, 1949 के दिन से लागू कर दिए गए, पर शेष संविधान 26 जनवरी के दिन ऐतिहासिक महत्व के कारण 26 जनवरी, 1950 ई से लागू किया गया ।

## 1.7 संविधान निर्माण की प्रक्रिया

संविधान निर्माण के सम्बन्ध में संविधान सभा ने जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया वह संक्षेप में यही थी कि सबसे पहले उसने उद्देश्य–प्रस्ताव ही आगे चलकर प्रस्तावना का आधार बने । इसके बाद संविधान सभा ने संवैधानिक समस्या के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में

विभिन्न समितियाँ नियुक्त की । इनमें से अनेक समितियों के अध्यक्ष या तो श्री नेहरू थे या सरदार पटेल। संविधान सभा के अध्यक्ष के अनुसार इन दो महारथियों ने ही संविधान के मूल सिद्धान्त तय किए थे । सभी समितियों ने बड़ी निष्ठा से कार्य किया और महत्वपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किए । संविधान सभा ने इन प्रतिवेदनों पर विस्तार से विचार किया और इन प्रतिवेदनों की सिफारिशें प्रारूप संविधान के लिए आधान बनी । प्रारूप संविधान की सतर्क छानबीन प्रारूप समिति के सदस्यों ने ही नहीं की बल्कि संविधान सभा के अन्य सदस्यों ने भी प्रारूप संविधान के एक–एक अनुच्छेद का गहराई से विवेचन किया । कही–कहीं तो प्रत्येक वाक्य ही नहीं अपितु प्रत्येक शब्द पर बहस हुई । प्रारूप संविधान की इस विशद परीक्षा का परिणाम यह हुआ कि उसका आकार बहुत बढ़ गया। संविधान सभा सचिवालय की परामर्श शाखा ने प्रारूप सीमित के विचार के लिए संविधान का जो पहला प्रारूप तैयार किया था, उसमें 243 अनुच्छेद और 13 अनुसूचियाँ थी । संविधान सभा की प्रारूप समिति ने जो पहला प्रारूप संविधान तैयार किया उसमें 350 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थी । जब प्रारूप संविधान का दूसरा वाचन समाप्त हुआ तब अनुच्छेदों की संख्या 386 हो गई । दूसरे वाचन के बाद जब संविधान अन्तिम रूप में स्वीकार हुआ तब उसमें 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थीं ।

## 1.8 संविधान सभा में निर्णय लेने की प्रक्रिया

संविधान निर्माण में अपनाई गई प्रक्रिया की आलोचना करने के बजाए ग्रेनविल ऑस्टिन के इस विचार को स्वीकार करना होगा कि भारतीय संविधान के निर्माण में अत्यधिक श्रेष्ठ प्रक्रिया को अपनाया गया है । इस श्रेष्ठता के प्रतीक रूप में दो बातें है – सहमति से निर्णय और समायोजन का सिद्धान्त ।

### 1.8.1 सहमति से निर्णय (Decision–making by Consensus)

भारत के राष्ट्रीय नेताओं को इस बात का ज्ञान था कि वे महज कोई दस्तावेज नहीं बना रहे है, वरन् एक संविधान का निर्माण कर रहे है, इसलिए उनके द्वारा बहुमत निर्णय को नहीं वरन् सहमति से निर्णय को अपनाया जाना चाहिए । सहमति के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विविध तरीके अपनाए गए । प्रथम, कांग्रेस विधानमण्डल दल की बैठकों में संविधान की प्रत्येक धारा पर खुल कर वाद–विवाद होते थे और इन बैठकों में डॉ. अम्बेडकर, ए. के. अय्यर और आयंगर जैसी गैर–कांग्रेसी प्रतिभाओं को भी आमंत्रित किया जाता था । द्वितीय, संविधान निर्माण से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण समितियों में विभिन्न, समुदायों, हितों एवं वर्गो को समुचित प्रतिनिधित्व दिया गया था और अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के प्रतिनिधि रूप में उन व्यक्तियों को भी समिति में ले किया गया था जो संविधान सभा के सदस्य नही थे । संविधान निर्माण के कार्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समिति प्रारूप समिति के कुल 9 सदस्यों में से केवल एक प्रमुख कांग्रेसी श्री मुन्शी थे और इस समिति की अध्यक्षता ऐसे व्यक्ति को दी गई थी, जो अब तक कांग्रेस का कटु आलोचक रहा था ।

संविधान सभा और सभा की समितियों की बैठकों के अन्तर्गत 'बहुमत की जीत' के स्थान पर एक दूसरे को समझाने की प्रवृत्ति अपनाई गई । जिन सुझावों और संशोधनों को

अस्वीकृत किया गया उन्हें अस्वीकृत करने के कारण बतलाए गए, जिससे कोई सदस्य यह अनुभव न करे कि उसके सुझाव का निरादर किया गया । एम. वी.पायली ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि "संविधान सभा में वाद–विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला, आलोचना के प्रति सहनशीलता अपनाई गई, लम्बे वाद–विवाद के प्रति असंतोष नहीं दिखाया गया, अपने विचार दूसरों पर लादते एवं शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया। यह एक पूर्ण लोकतान्त्रिक प्रक्रिया थी, जिस पर भारतीय लोग गर्व कर सकते है ।"

संविधान निर्माण में सर्वसम्मति की जिस पद्धति को अपनाया गया उसके प्रमुख उदाहरण है – संविधान के संघीय और भाषाई प्रावधान तथा अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित व्यवस्थाएं ।

संविधान सभा ने भारत के संघीय ढांचे पर 1947 की बसन्त ऋतु से विचार प्रारम्भ किया और नवम्बर 1949 तक इस सम्बन्ध में विचार चलता रहा । इस सम्बन्ध में यह प्रयत्न किया गया कि सम्बन्धित प्रावधान संघ के प्रतिनिधियों और प्रान्तीय सरकारों के अधिकाधिक प्रतिनिधियों मे संतुष्ट कर सकें । ऐसी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया कि न तो कोई प्रान्त संघ से अलग हो सके और न ही संघ के बनाए रखने का कार्य दमन के आधार पर किया जाए ।इस सम्बन्ध मैं उचित व्यवस्था करने के लिए 'संघीय शक्ति समिति ' (Union Power Committee) में विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की राजनीति के महत्वपूर्ण व्यक्तियों (पन्त, मित्तल, टी. टी. कृष्णामाचारी और रामास्वामी मुदालियर) को स्थान दिया गया ।

भाषाई प्रावधान भी सर्वसम्मति से निर्णय के महत्वपूर्ण उदाहरण है । भाषाई विवाद के सर्वसम्मत हल ढूंढने के लिए तीन वर्ष तक प्रयत्न किए गए । सभा की अन्तिम बैठक के प्रारम्भ में अध्यक्ष श्री प्रसाद– ने कहा था कि वे भाषाई प्रावधानों को मतदान के लिए नहीं रखेंगे, क्योंकि यदि कोई हल समस्त देश को स्वीकार्य नहीं है तो उसे लागू करना बहुत अधिक कठिन हो जाएगा । डॉ. सुभाष कश्यप लिखते है, "एक कठिन समस्या जिसे सुलझाने में संविधान सभा को काफी समय लगा, देश के लिए राजभाषा की थी । आखिर में संविधान सभा, देश में सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जानी वाली भाषा, हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राजभाषा के रूप में सर्वसम्मति द्वारा स्वीकार करने में सफल हुई । साथ ही व्यवहारिकता के आधार पर यह भी जरूरी समझा गया कि संक्रांति काल में अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहे । "

अल्पसंख्यक के सम्बन्ध में की गई व्यवस्थाएं, संविधान की प्रस्तावना और संसद के सम्बन्ध में किए गए प्रावधान भी सर्वसम्मति के आधार पर किए गए निर्णयों के प्रमुख उदाहरण है । ग्रेनविल ऑस्टिन के अनुसार तीन तत्वों ने सर्वसम्मति के आधार पर निर्णय लेने में सहायता प्रदान की । ये थे – संविधान सभा में एकता का वातावरण, आदर्शवादिता का वातावरण और राष्ट्रीय उद्देश्य की विद्यमानता ।

### 1.8.2 समायोजन का सिद्धांत

समायोजन के सिद्धांत का आशय दो ऐसे तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करने से है, जिन्हें अब तक परस्पर विरोधी समझ जाता था वास्तव में, भारतीय संविधान सभा ने संविधान

निर्माण में सिद्धांतवादिता के स्थान पर व्यावहारिकता के दृष्टिकोण को अपनाया था और इसके अनुकूल ही समायोजन के सिद्धांत के कुछ प्रमुख उदाहरण इस प्रकार है –

(i) **संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच समन्वय –** सामान्यता संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था को परस्पर विपरीत समझते हुए यह माना जाता है कि या तो एकात्मक व्यवस्था को अपनाया जा सकता है या संघात्मक व्यवस्था को । लेकिन भारत में अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुकूल संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था के बीच समन्वय को अपनाया गया है ।

(ii) **गण तंत्रीय व्यवस्था के साथ राष्ट्र मण्डल की सदस्यता –** 1947 तक यही समझ जाता था कि किसी गणतन्त्रीय राज्य के द्वारा राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को नहीं अपनाया जा सकता । लेकिन भारतीय संविधान सभा द्वारा राष्ट्रमण्डल के लचीले स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को गणतन्त्रीय व्यवस्था अपनाने के मार्ग में बाधक नही समझा गया । इस सम्बन्ध में संविधान सभा के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए श्री बी. एन. राय मे कहा था , "राष्ट्रमण्डल की धारणा का स्पष्टतया विकास होता जा रहा है और वह अब इस स्तर तक पहुंच चुका है कि उसमें गणतान्त्रिक संविधान वाले राज्य भी अपना स्थान पा सकते है ।

(iii) **केन्द्रीय शासन और पंचायत व्यवस्था के बीच समन्वय -** पंचायत व्यवस्था के सम्बन्ध में भारत की अपनी परम्परा रही है । संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा कुछ अन्य –सदस्य नवीन संविधान के अन्तर्गत पंचायत व्यवस्था को अपनाने के प्रबल समर्थक थे ।उनका सुझाव था कि वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर ग्राम पंचायतों और नगरपालिका बोर्ड का निर्माण हो । ये पंचायतें तथा बोर्ड अपने प्रतिनिधि उच्चतर संस्थाओं को भेजें और इस प्रकार संसद की रचना की जाए। दूसरी और शक्तिशाली केंद्रीय सरकार के समर्थक नेहरू और अन्य संसद का निर्माण प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चाहते थे इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धांतों के बीच भी समन्वय स्थापित किया गया।

उपर्युक्त दोनों ही सिद्धांतों को स्वीकार करते हुए उन्हें शासन के अलग–अलग स्तरों पर लागू किया गया। "संघ तथा प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध में केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया और प्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाया गया । प्रान्तीय सरकारों से नीचे के स्तर पर विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को स्वीकार किया गया और इस सम्बन्ध में व्यवस्थापन का कार्य प्रान्तीय व्यवस्थाओं के क्षेत्राधिकार में रखा गया ।

## 1.9 संविधान सभा की अवधारणाएँ

'अवधारणा' से अभिप्राय यह है कि संविधान–निर्माता किन आदर्शों, मूल्यों व विचारधाराओं से प्रभावित थे । इसी को 'संविधान का दर्शन अथवा सैद्धांतिक आधार' (Philosophy or the Ideological basis of the Constitution) में कहते है । विचारधाराओं और जीवन–मूल्यों राजनीतिक प्रक्रिया से गहरा सम्बन्ध है ।

हमारे देश ने एक लम्बी अवधि तक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया । इस संघर्ष में मुख्य भूमिका बुद्धिजीवियों और मध्यम वर्ग के लोगों ने निभाई । बाद में किसानों और मजदूरों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना योगदान दिया । 1920 से लेकर 1948 तक महात्मा गाँधी भारतवासियों का नेतृत्व करते रहे । उनके नेतृत्व के कारण हमारा स्वाधीनता संग्राम अधिकांशत: अहिंसक रहा ।

जिन लोगों ने संविधान निर्माण में खास भूमिका निभाई वे सभी उच्च अथवा उच्च मध्यम वर्गों से सम्बन्धित थे । सभी सुशिक्षित थे । संविधान सभा के प्रभावशाली सदस्य या तो उच्च कोटि के वकील थे अथवा शिक्षा–शास्त्री । उनमें से कई उच्च कोटि के प्रशासक मे और कुछ व्यापारी भी थे। संविधान सभा के बहुत से सदस्यों ने विदेशों में शिक्षा पाई थी और वे इंग्लैण्ड व अमेरिका की शासन–पद्धति से बहुत प्रभावित थे । हमारे अधिकांश नेताओं की लोकतंत्र में गहरी निष्ठा थी । साथ ही वे देश की धार्मिक व भाषायी भिन्नताओं और गरीबी से भी परिचित थे । इन सब बातों का परिणाम यह निकला कि उन्होंने एक ऐसे संविधान की रचना की जो उदारवाद, लोकतंत्र और सामाजिक न्याय की भित्ति पर आधारित है । संविधान सभा की अवधारणाओं को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है –

### 1.9.1 संसदीय लोकतंत्र

संविधान–निर्माता 'लोकतंत्र' के अलावा और किसी मार्ग की कल्पना भी नहीं कर सकते थे । पर मुख्य प्रश्न यह था कि लोकतंत्र का स्वरूप क्या होगा? राजनीतिक संगठन का आधार ग्राम पंचायतें होंगी अथवा बालिग मताधिकार पर आधारित संसद? महात्मा गांधी चाहते थे कि प्रत्येक गाँव एक पूर्ण गणराज्य हो और उसका शासन पाँच व्यक्तियों की पंचायत द्वारा संचालित हो । पंचों का चुनाव बालिग ग्रामवासी करेंगे । बहुत–सी पंचायतों को मिलाकर एक मण्डल पंचायत ' बनाई जाए, जिसके सदस्यों का चुनाव साधारण मतदाता नहीं, बल्कि पंच करेंगे । मण्डल पंचायतों के उपर जिलों और प्रान्तों की पंचायत होंगी और सबके ऊपर एक राष्ट्रीय पंचायत ' होनी चाहिए । राष्ट्रीय पंचायत को केवल सुरक्षा, मुद्रा विदेशी व्यापार और राष्ट्रीय उद्योगों को चलाने के अधिकार दिए जायेंगे । इस प्रकार जैसा कि शंकर घोष ने कहा है, "महात्मा गांधी की कल्पना वाले राज्य में लोकतंत्र का विकास नीचे से ऊपर की ओर होगा, प्रत्येक गाँव एक पूर्ण गणराज्य होगा। सभी आवश्यक अधिकार ग्रामवासियों के हाथों में होंगे । केन्द्रीय सरकार कम से कम! शक्तियों का प्रयोग करेगी । " गाँधीजी के अनुसार 'स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है – सरकार के नियंत्रण से मुक्ति चाहे वह सरकार विदेशी हो या स्वदेशी।

नेहरू, पंत, अम्बेडकर, के. एम. मुन्शी और सभी महत्वपूर्ण सदस्य इस बात पर सहमत थे कि गाँधीजी की 'राज्य की धारणा ' वास्तविकता से कोसों दूर है । इस तरह का राज्य आज के युग की आर्थिक, सैनिक व राजनीतिक चुनैतियों का सामना नहीं कर सकता। इसलिए उन्होंने पश्चिम के मॉडल, मुख्य रूप से ब्रिटेन व अमेरिका के शासन–तंत्र, को भारतीय शासन व्यवस्था का आधार बनाया । भारतीय संविधान ने केन्द्रीय विधान–मण्डल का नाम संसद

रखा है । इंग्लैंड की ही भांति मंत्रीमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है और वह तभी तक देश पर शासन करता है जबतक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहे ।

### 1.9.2 वयस्क मताधिकार एवं मूलभूत अधिकार

संविधान सभा ने संविधान की प्रस्तावना में भारत को 'गणराज्य' घोषित किया है । उसमें यह भी कहा गया है कि "समस्त शक्तियों का स्रोत जनता है।' भारत की अशिक्षित जनता को 'मताधिकार' प्रदान करके संविधान–निर्माताओं ने काफी साहस का परिचय दिया । संविधान सभा के एक अत्यन्त प्रभावशाली सदस्य अलादी कृष्णस्वामी अय्यर के शब्दों में, अवयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को अपनाकर संविधान सभा ने यह बता दिया है कि सामान्य व्यक्ति की योग्यता और लोकतंत्र की सफलता में उसे भरपूर विश्वास है ।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूलभूत अधिकारों के वर्णन से ही अधिकारों की सुरक्षा नहीं हो जाती । जैसा कि हैरोल्ड लास्की ने कहा है, "अधिकारों को बनाए रखने कई लिए कानूनी संरक्षण से भी ज्यादा इस बात की जरूरत है कि नागरिकों में स्वाभिमान की भावना हो ।" फिर भी लास्की स्वयं इस बात को स्वीकार करते है कि अधिकारों की रक्षा का एक महत्वपूर्ण उपाय यह भी है कि संविधान में उनका विस्तार से उल्लेख किया जाए तथा न्यायालय उनकी रक्षा करे । कांग्रेस बहुत लम्बे समय से नागरिक अधिकारों की माँग करती आ रही थी । 1917 में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था कि ब्रिटिश संसद को चाहिए वह भारतीयों को नागरिक अधिकार मूल रूप से विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करे । 1928 में प्रकाशित मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट ' में मूलभूत अधिकारों पर विशेष बल दिया गया था । 1931 के कराची अधिवेशन और उसके बाद 1945 की 'सप्रू रिपोर्ट ' में भी नागरिक अधिकारों की माँग उठाई गई । भारत की संविधान सभा ने न केवल मूलभूत अधिकारों की ही घोषणा की, बल्कि संविधान के चौथे भाग में कुछ नीति निदेशक सिद्धांतों का भी वर्णन किया गया। मूलभूत अधिकारों को लागू करने के लिए नागरिक न्यायालय की शरण ले सकते है ।

### 1.9.3 प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा

नागरिक स्वतंत्रता से भी ज्यादा श्रेय राष्ट्र की सुरक्षा और प्रादेशिक अखण्डता को दिया गया है । डॉ. अम्बेडकर ने कहा था, अव्यक्तिगत एवं मौलिक अधिकारों का महत्व राष्ट्रीय सुरक्षा और सार्वजनिक कल्याण से अधिक कभी नहीं हो सकता । मैं कोई ऐसे संविधान नहीं जानता जो मूल अधिकारों को सीमित न कर सके ?' संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार असीम और अमर्यादित नहीं है। सार्वजनिक शांति व व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से सरकार इन अधिकारों पर उचित प्रतिबन्ध लगा सकती है ।

राष्ट्रीय महत्व के सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद को है । राजनीतिक स्थिरता के लिए राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ (Emergency Power) प्रदान की गई । इन शक्तियों का उपयोग तीन तरह की परिस्थितियों में किया जा सकता है – (i) युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में, (ii) राज्यों में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाने पर, तथा (iii) वित्तीय संकट की स्थिति में ।

### 1.9.4 धर्म–निरपेक्षता

भारत का संविधान 'सहिष्णुता' (Tolerance) पर आधारित है । संविधान निर्माता जानते थे कि धार्मिक विद्वेष और सांप्रदायिक बैर–भाव के कारण ही भारत अपने गौरव को खो बैठा है । उनका विश्वास था कि धर्म–निरपेक्षता के बिना देश अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं रख सकता। धार्मिक कलह में उलझकर अपनी शक्ति को मिटा देना मूर्खता है । विविधता में एकता ' (Unity in diversity) बनाए रखने के लिए ही संविधान द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक नागरिक को, चाहे उसका कोई भी धर्म या विश्वास क्यों न हो, समान अवसर सुलभ होंगे । इसका यह अभिप्राय नहीं कि राज्य अधार्मिक अथवा धर्म–विरोधी है । वास्तव में धार्मिक मामलों में वह पूर्णतया तटस्थ है । संविधान का लक्ष्य 'सहिष्णुता' है, न कि 'धर्मान्धता' । नेहरू के शब्दों में, "हम देश में किसी भी प्रकार की सांप्रदायिकता सहन नहीं करेंगे । हम एक ऐसे स्वतंत्र धर्म–निरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे है जिसमें प्रत्येक धर्म तथा मत को पूरी स्वतंत्रता तथा समान आदरभाव प्राप्त होगा और प्रत्येक नागरिक को समान स्वतंत्रता तथा समान अवसर की सुविधा प्राप्त होगी ।

### 1.9.5 समाजवाद

1934 में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई । इस दल के प्रमुख नेता थे–आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्धन, जयप्रकाश नारायण और डॉ. लोहिया। जवाहरलाल नेहरू भी समाजवाद के आदर्श से अनुप्राणित थे । उन्हीं के शब्दों में, "हमारे आर्थिक कार्यक्रम का उद्देश्य सब तरह की आर्थिक असमानताओं का नाश और संपत्ति का समान बँटवारा होना चाहिए" । डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने चंपारन में और सरदार पटेल ने बादोली में किसान–आन्दोलनों का नेतृत्व किया था । किसानों व मजदूरों के हितों में उन्हें पूरी सहानुभूति थी, पर उन्होंने कभी भी अपने को समाजवादी नहीं कहा । संविधान निर्माताओं ने मध्यम मार्ग अपनाया । भारतीय नागरिकों को निजी संपत्ति रखने का अधिकार प्रदान किया गया, पर साथ ही राज्य को भी यह अधिकार प्रदान किया गया कि सार्वजनिक हित के लिए वह किसी भी संपत्ति पर कब्जा कर ले । बदले में राज्य संपत्ति के मालिक को कुछ राशि अवश्य देता था ।

42 वें संशोधन द्वारा भारत को एक 'समाजवादी गणराज्य ' घोषित किया गया है । 44 वें संशोधन द्वारा संपत्ति का अधिकार मूल अधिकारों की परिधि से निकाला जा चुका है । परन्तु भारतीय समाजवाद एक ऐसा समाजवाद है, जिसमें कुछ तत्व उदारवाद के है । भारत एक मिश्रित अर्थव्यवस्था का उदाहरण पेश करता है । हमारे देश में कई उद्योग–धन्धे राज्य द्वारा संचालित होते है, और कुछ निजी तौर पर ।

### 1.9.6 पंचायती राज की धारणा

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, पंचायतों पर आधारित एक विकेन्द्रित संविधान की धारणा व्यावहारिक नहीं मानी गई । पर संविधान निर्माता यह जरूर चाहते थे कि ग्राम पंचायतों का गठन किया जाए और उन्हें ऐसी शक्तियाँ प्रदान की जाएँ कि वे स्वशासन की

प्रभावी इकाईयों के रूप में कार्य कर सकें । नीति–निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत यह घोषणा की गई कि राज्य ग्राम पंचायतों के गठन के लिए प्रभावी कदम उठायेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम और उसके बाद पंचायती राज की शुरुआत हुई । 1958 में बलवन्त राय मेहता ने अपनी रिपोर्ट में पंचायती राज की स्थापना के लिए एक त्रिस्तरीय ढांचे की सिफारिश की । त्रिस्तरीय ढांचे का अर्थ हे कि तीन स्तरों पर समितियाँ बनाई जाएं–ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायतें हों, खण्ड स्तर पर पंचायत समितियाँ तथा जिला स्तर पर एक जिला परिषद् कायम की जाए । कुल मिलाकर हम पंचायत–व्यवस्था से एक सफल योजना कहेंगे । पंचायतें 'जनशक्ति' का प्रतीक बन गई है ।

### 1.9.7 सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय

संविधान का उद्देश्य न्याय की स्थापना है । 'सामाजिक न्याय' का अर्थ है कि मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव न किया जाए । संविधान में स्पष्टत : यह घोषणा की गई है कि केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग व जन्म–स्थान के आधार पर नागरिकों के बीच पक्षपात नहीं किया जाएगा। परन्तु साथ ही यह भी व्यवस्था की गई है कि स्त्रियों, बच्चों, पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए सरकार कुछ विशेष सुविधाएं जुटाए । संविधान के अनुच्छेद 17 के द्वारा छुआछूत पर प्रतिबंध लगा दिया गया है । सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि एक मानव द्वारा दूसरे मानव का शोषण समाप्त किया जाए । अत : मानव व्यापार तथा किसी व्यक्ति से बेगार अथवा जबरदस्ती काम लेना गैरकानूनी घोषित किया गया है ।

'आर्थिक न्याय' का अभिप्राय है कि देश के भौतिक साधनों का उचित बँटवारा हो तथा अधिक से–अधिक लोगों के हित में उनका उपयोग हो सके । संविधान के अनुच्छेद 39 में राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह ऐसी नीति अपनाए जिससे सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सकें । यह भी जरूरी है कि पुरुषों और महिलाओं को 'समान कार्य के लिए समान वेतन' मिले । काम की दशाएं मानवोचित होनी चाहिए तथा किसी से भी उसकी क्षमता से ज्यादा कार्य न लिया जाए । जस्टिस कृष्णा अय्यर के शब्दों में - "भारत जैसे अल्पविकसित देशों में सामाजिक व आर्थिक न्याय का मतलब यह है कि हर एक के आंसू पोंछने का प्रयत्न किया जाए ।

न्याय का एक 'राजनीतिक' पक्ष भी है । सभी लोगों को यह अधिकार है कि वे अपने देश की शासन–व्यवस्था में हाथ बटाएं । भारतीय संविधान ने बालिग मताधिकार के सिद्धांत को मान्यता दी है । संविधान 'कानून के समक्ष समता ' की घोषणा करता है । इसका अर्थ है कि कानून की दृष्टि में सब समान है, राज्य नागरिकों के साथ मनमाना व्यवहार नहीं करेगा ।

### 1.9.8 अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गो के लिए संरक्षण:

भारत में जातिवाद की जड़ें गहरी है । अनुसूचित जातियों के लोग जन्म से ही हीन माने जाते रहे है । ये लोग सदियों से शोषण का शिकार है । पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत वे लोग

शामिल है जो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अन्य वर्गों की अपेक्षा नीचे स्तर पर है । अन्य बहुत–सी जातियाँ आदिम जातियाँ समझी जाती है । इन जातियों व वर्गों को गरीबी और पिछड़ेपन से मुक्त कराने की समस्या थी । इन वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में नियुक्तियों तथा लोकसभा व विधानसभाओं में स्थान आरक्षण की व्यवस्था की गई है । शुरू में केवल 10 वर्ष तक ही संरक्षण व आरक्षण का प्रावधान था, परन्तु वह अब भी बरकरार है ।

कुछ विद्वानों ने आरक्षण–नीति को दोषपूर्ण माना है । उनका कहना है कि विशेष सुविधाएं जाति के आधार पर नहीं, गरीबी के आधार पर उपलब्ध करायी जाएं । किसी भी जाति के सभी लोग निर्धन कैसे हो सकते है । अनुसूचित जातियों के अलावा और जातियों के लोग भी गरीबी में रहते है । उन्हें किस लिए आरक्षण सुविधाओं से वंचित रखा जाता है ।

### 1.9.9 विश्व शांति की स्थापना:

गाँधी और नेहरू के राष्ट्रवाद में अहंकार का भाव नहीं था। राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति के लिए वे मानवता की तिलांजलि दे सकते थे । भारतीय संविधान राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों का उल्लेख करता है। शुरू से ही भारत की विदेश नीति के दो प्रेरक सिद्धांत रहे है–प्रथम, गुटनिरपेक्षता (Non–alignment) तथा द्वितीय, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful Co–existence) । शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का अर्थ है–दूसरों के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए तथा राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा की जाए हमारी नीति यह रही है कि उन देशों को नैतिक समर्थन दिया जाए जो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे है । हम चाहते है कि बड़ी शक्तियाँ एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों पर अपनी नीतियाँ न थोपे ।

## 1.10 निष्कर्ष

संविधान सभा की अवधारणाओं को, जिसमें प्रभुत्व है, संविधान का ध्येय या लक्ष्य है । संविधान के स्वरूप के विषय में लम्बे समय से वाद–विवाद चला आ रहा है । उदारवादियों का यह तर्क है कि संविधान निर्माताओं ने सरकार को बहुत अधिक शक्तिशाली बनाया है जबकि मार्क्सवादी विचारक इसके पक्ष में है, जिसके कारण पूंजीपति शासन तंत्र पर हावी न हो सकें । अन्त में यही कहा जा सकता है कि संविधान साध्य नहीं बल्कि एक साधन है । इसकी सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि इसके प्रावधानों को कितनी ईमानदारी. और दृढ़ता के साथ लागू किया जाता है ।

## 1.11 अभ्यास प्रश्न

1. संविधान सभा की रचना और प्रकृति का वर्णन कीजिए ।
2. संविधान सभा की अवधारणाओं की समीक्षा कीजिए ।
3. भारतीय संविधान के ध्येय और लक्ष्यों को स्पष्ट कीजिए ।
4. भारत के संविधान निर्माताओं ने उसे एक उदारवादी प्रजातांत्रिक स्वरूप प्रदान किया है।

## 1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

**1. जौहरी जे. सी., सीमा : आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धांत**

2. फड़िया बी. एल., जैन पुखराज : भारतीय शासन एवं राजनीति
3. तायल, बी. बी. : भारतीय शासन और राजनीति
4. बनर्जी,'ए. सी. : द मेकिंग ऑफ इण्डियन कान्सटिट्यूशन

# इकाई 2

# भारत में संविधान निर्माण – II : संविधान सभा एवं अंतरिम संसद

**इकाई संरचना**

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण

2.3 सत्ता का हस्तान्तरण एवं अन्तरिम सरकार का गठन

2.4 भारतीय संविधान के स्रोत

2.5 भारतीय संविधान की विशेषताएं

2.6 संविधान के आधारभूत सिद्धांत की अवधारणा

2.7 भारतीय संविधान की आलोचना

2.8 निष्कर्ष

2.9 अभ्यास प्रश्न

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. भारत में संविधानवाद के उदय को दर्शाना।
2. संविधान के दर्शन को समझाना।
3. भारतीय संविधान के मुख्य आधारों का विवरण प्रस्तुत करना।
4. अंतरिम संसद के बारे में जानकारी देना।

## 2.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान में एक मौलिक, राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक दर्शन को स्वीकार किया है । भारतीय संविधान व्यक्तिगत गरिमा और सामाजिक न्याय के विचारों को एक साथ सुनिश्चित करने की उद्घोषणा करता है जो राजनैतिक दर्शन में प्राय: एक–दूसरे के प्रतिकूल समझे जाते है । भारत के संविधान दार्शनिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों के विकास को एक साथ सुनिश्चित करने का संकल्प व्यक्त करता है । यह संविधानिक संकल्प संविधान की प्रस्थापना में राज्य उद्देश्यों के पूर्व कथन के रूप में व्यक्त होने के साथ ही इसे संविधान की मुख्य योजना में भी व्यक्ति और समाज का विकास के प्रति समर्पित किया गया है ।

भारत में संविधान के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक बात यह है कि इसमें अद्भुत कौशल के साथ राजनैतिक दर्शन की परंपरागत टकराव पूर्ण इकाइयों व्यक्ति और समाज के हितों को एक साथ समानान्तर रूप से पुष्ट करने के आग्रह को व्यक्त किया गया है, और

इस प्रयास में विचारधारा के स्तर पर व्यक्ति और समाज के हितों के मध्य किसी समझौते का संकेत नहीं मिलता बल्कि एक अद्वितीय समन्वय और पारम्परिकता का बोध होता है ।

## 2.2 राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण

1937 के चुनावों में कांग्रेस की भारी जीत हुई । सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसके पीछे संघर्ष और बलिदान का लम्बा इतिहास था । भारतीय जनता कांग्रेस को राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रतीक समझती थी । उसे गांधीवादियों, क्रांतिकारियों, मजदूरों और का व्यापक समर्थन प्राप्त था। लाखों ऐसे लोग भी, जिन्हें सरकार का पिट्ठू समझा जाता था, किसी हद तक कांग्रेस के समर्थन मे उठ खड़े हुए । जिन आठ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें बनीं वहाँ शासन–कार्य काफी सुचारु ढंग से चल रहा था। सरकारों के लिए वित्तीय संकट अवश्य बना रहा, परन्तु गवर्नरों ने प्रान्तीय शासन मे बहुत ज्यादा हस्तक्षेप नहीं किया । लेकिन यह व्यवस्था दो वर्ष से अधिक नही चल पाई । 1939 में द्वितीय विश्व–युद्ध छिड़ गया । अंग्रेजों ने भारत को भी 'युद्धकारी राष्ट्र' घोषित कर दिया था । इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय नेताओं से कोई सलाह–मशवरा नहीं किया । इसलिए आठ प्रान्तों के मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए ।

1940 से 1947 तक के राष्ट्रीय आन्दोलन का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है:

**2.2.1 व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन –** 1940 में कांग्रेस ने पुन: यह माँग रखी कि भारत के संविधान का निर्माण करने के लिए एक संविधान सभा की स्थापना की जाए । अगस्त, १९४0 में सरकार ने कांग्रेस के समक्ष कुछ प्रस्ताव रखे जो कांग्रेस ने ठुकरा दिए । युद्ध के दौरान गाँधीजी कोई व्यापक जन–आंदोलन चलाने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु राष्ट्रीय चेतना को जगाए रखना बहुत आवश्यक था। इसलिए कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन की योजना बनाई। इस आन्दोलन का सार यह था कि सभी जाने–माने लोग एक–एक करके सत्याग्रह करें । वे अपने भाषण में लोगों को समझाएं कि ' युद्ध में जन या धन से सरकार की कतई मदद न की जाए ।" सत्याग्रह करने वालों की सूची में सबसे पहला नाम विनोबा भावे का था, दूसरा नाम जवाहरलाल नेहरू का और इसी प्रकार अन्य नेताओं को भी बारी–बारी से सत्याग्रह करना था। इस आन्दोलन के सिलसिले में लगभग पच्चीस हजार लोगों को कारागार में डाला गया।

**2.2.2 भारत छोडो आन्दोलन** – दिसम्बर, 1941 में इंग्लैंड और मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध जापान ने भी लड़ाई छेड़ दी। उसने एक के बाद एक कई छोटे राष्ट्रों को पराजित करके भारत के लिए एक खतरे की स्थिति उत्पन्न कर दी। कांग्रेसी नेताओं को विचार था. कि "भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति' ही जापान को भारत की ओर खींच रही है । अत: भारत की रक्षा के लिए यह जरूरी है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का तुरन्त नाश होना चाहिए।" 8 अगस्त 1942 की कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने बम्बई की एक बैठक में **'भारत –छोड़ो'** (Quit India) प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में यह कहा कि **"आज भारत के समक्ष जो खतरा है उसका सामना केवल स्वतंत्र भारत की कर सकता है । भारत मे अंग्रेजों की प्रभुता का अन्त होना चाहिए। अब कोरे वायदों और आश्वासनों से ही स्थिति नही सुलझेगी."** प्रस्ताव में महात्मा गाँधी को यह

अधिकार दिया गया था कि यदि सरकार देशवासियों की यह माँगे न माने तो वे जन–आन्दोलन आरंभ कर सकते है । प्रस्ताव के ऊपर बोलते हुए गाँधी जी ने कहा था कि आगामी आन्दोलन उनके जीवन की आखिरी लड़ाई होगी, परन्तु वे अहिंसा के मार्ग से नहीं हटेंगे । गांधीजी ने देशवासियों को करो या मरो ' (Do or Die) का मंत्र दिया।

'करो या मरो' ये गाँधीजी का यह अभिप्राय नहीं था कि देशवासी हिंसा का मार्ग अपनाएं । "अहिंसा को गंवाकर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे । " कांग्रेस ने आन्दोलन शुरू करने के लिए कोई तैयारी नहीं की थी । सरकार ने तुरन्त कार्रवाई करने का निर्णय लिया । 9 अगस्त की सुबह ही गाँधी, नेहरू तथा अन्य कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर दिए गए और कांग्रेस को एक अवैध संस्था घोषित कर दिया गया। कांग्रेस के ऊपर यह आरोप लगाया गया कि उसने हिंसा और तोड़–फोड़ का कार्यक्रम अपनाया है । सरकार की दमन नीति से देश में विद्रोह की लपटें फैल गईं। गाँधीजी हिंसक विरोध के समर्थक नही थे, परन्तु सच बात यह है कि आन्दोलन का नेतृत्व उनके हाथों में था ही नहीं नेतृत्व का पूर्ण अभाव था और इसलिए सब प्रकार के लोग आन्दोलन में कूद पड़े। लोगों ने रेल की पटरियाँ उखाड़ना व तार–टेलीफोन की लाइनें उखाड़ना शुरू कर दिया, सरकारी इमारतों, डाकघरों और थानों पर भी हमले किए गए ।

1942 की क्रांति में जयप्रकाश नारायण, अरूणा आसफ अली और डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे समाजवादियों ने बहुत ही यशस्वी भूमिका अदा की । पर इस दौर में कम्युनिस्ट पार्टी का रवैया देशभक्तिपूर्ण नहीं रहा। उन दिनों रूस और अंग्रेज मिलकर जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहे थे । इसलिए भारतीय कम्युनिस्ट ऐसा कोई कार्य करने के पक्ष में नहीं थे जिससे रूस के मित्र देख इंग्लैंड को हानि पहुंचे । विरोधियों की बात छोड़िए, कई कम्युनिस्ट भी पार्टी की इस नीति को राष्ट्र विरोधी " समझते है । जवाहरलाल नेहरू ने कम्युनिस्टों की नीति को 'अवसरवादिता' (Opportunism) का नाम दिया। वे कहते है, "अवसरवादी सरकार की ओर हो गए और सरकार को चुनौती देने वालों को बुरा–भला कहने लगो । " अगस्त क्रान्ति के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा – **"1942 में जो हुआ उसके लिए मुझे बहुत गौरव है। मुझे अफसोस होता अगर जनता चुपचाप राष्ट्रीय अपमान सह लेती।"**

सरकार को अपनी खोई सत्ता पुन : प्राप्त करने में कई सप्ताह लग गए। लगभग साट हजार व्यक्ति गिरफ्तार हुए, जिनमें से लगभग बीस हजार लोग बिना मुकदमा चलाए ही कैदखानों में रखे गए । सरकारी अनुमान के अनुसार लगभग एक हजार लोग गोली का शिकार बने और कई हजार लोगों को चोटें आईं । पर भारतीय नेताओं के अनुसार लगभग 25 हजार व्यक्ति मौत के घाट उतार दिए गए। विप्लव को तो सरकार ने दबा दिया,' परन्तु वह सर्वथा विफल नहीं हुआ। जैसा– कि डॉ ईश्वरी प्रसाद लिखते 'है, **"भारत को ब्रिटेन की अधीनता में स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा (Dominion Status) दिए जाने की जो चर्चा सुनने में आती थी, विप्लव की आग ने उसे सदा के लिए समाप्त कर दिया। अब भारत को पूर्ण स्वतंत्रता से कम और किसी बात पर राजी नही किया जा सकता था। यह निश्चित था कि अंग्रेजों को भारत छोड़ना ही होगा। इस आन्दोलन से ब्रिटिश साम्राज्यवाद प्रतिष्ठा धूल मे मिल गई।"**

**2.2.3 स्वतंत्रता संग्राम में आज़ाद हिन्द फौज की भूमिका –** आजाद हिन्द फौज का संगठन भारत के एक क्रांतिकारी नेता रासबिहारी बोस ने किया था । वे भारत छोडकर जापान में जाकर बस गए थे । 1941 में सुभाषचन्द्र बोस भी पुलिस की आंखों में धूल झोंककर भारत से लापता हो गए। अफगानिस्तान, रूस और जर्मनी होते हुए 1943 में वे जापान पहुंचे । सुभाषचन्द्र बोस के जापान पहुँचते ही आजाद हिन्द फौज में एक नयी चेतना का संचार हुआ । रासबिहारी बोस ने खुशी–खुशी आजाद, हिन्द फौज का सेनापतित्व सुभाषचन्द्र बोस को सौंप दिया । सुभाष को सैन्य संचालन का अनुभव नहीं था, फिर भी उन्होंने आजाद हिन्द फौज को एक अद्भुत सेना बना दिया था । सुभाषचन्द्र बोस अब नेताजी कहे जाते थे । द्वितीय महायुद्ध में बर्मा, सिंगापुर और मलाया के पतन के बाद इन देशों में जो भारतीय सैनिक व अफसर थे उनको आजाद हिन्द फौज में भर्ती किया गया । फौज का लक्ष्य भारत पहुंचकर दिल्ली पर कब्जा करना था। उसके प्रसिद्ध नारे थे 'जय हिन्द 'दिल्ली चलो' तथा 'लालकिला हमारा है ' । 1943 में आजाद हिन्द फौज के सैनिक जापानी सेना के साथ भारत की उत्तर–पूर्वी सीमा तक बढ़ गए । 1944 में उन्होंने इम्फ़ाल (असम) पर कब्जा कर लिया, परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की पराजय के कारण आजाद हिन्द फौज को भी हथियार डालने पड़े ।

आजाद हिन्द फौज अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल नही हुई किन्तु, इतना निश्चित है कि द्वितीय महायुद्ध के दौरान आन्दोलन पर उसकी गतिविधियों का गहरा प्रभाव पड़ा। बर्मा, सिंगापुर और मलाया की घटनाओं से अंग्रेजों को यह दिखने लगा। था कि भारतीय सैनिकों में भी राष्ट्रवाद पनप रहा है । बम्बई में तो फरवरी, 1946 में नौसेना की एक टुकड़ी ने अंग्रेजों के विरुद्ध बाकायदा बगावत कर दी थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद सेना के बलबूते पर टिका ला था। अत : भारत की स्वतंत्रता के प्रश्न को अंग्रेज अब अधिक दिनों तक टाल नहीं सकते थे । मौलाना आजाद कहते है, **"सेना के जवानों व अफसरों ने यह कहना शुरू कर दिया था कि उन्होंने द्वितीय महायुद्ध में अंग्रेजों के लिए इसलिए अपना बन बहाया था कि युद्ध के बाद इंग्लैंड भारत को तुरन्त स्वतंत्रता देगा। अब वह समय आ गया है कि अंग्रेज हमारी आशाओं को पूरा करें ।"**

## 2.3 सत्ता का हस्तान्तरण एवं अन्तरिम सरकार का गठन

7 मई 1944 को गाँधीजी कारागार से मुक्त कर दिए गए । उन्होंने मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मिस्टर जिन्ना से बातचीत चलाई, परन्तु जिन्ना अपनी मांग पर अड़े रहे । जून, 1945 में वायसराय ने शिमला में एक सम्मेलन बुलाया, परन्तु कांग्रेस और लीग के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। इसके– कुछ समय पश्चात् इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार बनी । प्रधानमंत्री मिस्टर एटली ने राजनीतिक गतिरोध को दूर करने की जमकर कोशिश की । 23 मार्च,1946 को केबिनेट मिशन' (जिसमें ब्रिटिश मंत्रीमण्डल के तीन सदस्य थे) भारत पहुँचे । देश के प्रमुख नेताओं से बातचीत करने के बाद केबिनेट मिशन ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार कर दिया। भारत का संविधान बनाने के लिए उसने एक, संविधान सभा की स्थापना का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि नया संविधान बनने तक एक 'अन्तरिम सरकार ' (Interim Government) – की स्थापना की जाएगी। 2 सितम्बर 1946

को जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में 'अन्तरिम सरकार का गठन किया गया। अक्टूबर, 1946 में मुस्लिम लीग मंत्रिमण्डल में तो शामिल हो गयी. परन्तु संविधान सभा की कार्रवाई का उसने बहिष्कार किया।उधर देश में साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये। साम्प्रदायिक स्थिति– इस हद तक बिगड़ गयी कि कांग्रेस ने देश–विभाजन की माँग स्वीकार कर ली। 3 जून, 1947 को भारत के नये गवर्नर–जनरल लॉर्ड माउंटबेटन ने देश के विभाजन की योजना घोषित कर दी और 15 अगस्त, 1947 को भारत तथा पाकिस्तान दो स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की गई । **"भारत की अखण्डता की रक्षा के लिए, हमारे राष्ट्रीय नेता जीवन–भर संघर्ष करते रहे, पर आखिर जो होना था, वह होकर रहा, देश का विभाजन टल न सका। "**

## 2.4 भारतीय संविधान के स्त्रोत

संविधान–निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि वे भारत जैसे विशाल और वैविध्यतापूर्ण देश के लिए एक ऐसा विधान बना रहे थे जो न केवल सामयिक समस्याओं और संकटों के भंवर में से राष्ट्र की नौका को सफलतापूर्वक रख सके वरन् युग–युग तक देश का दिशासूचक बना रहे । यह तभी सम्भव था जबकि संविधान की आत्मा और व्यावहारिकता, निजी सांस्कृतिक धरोहर एवं परदेशी अनुभवों का वह श्रेष्ठ समन्वय बन पड़े ।

संविधान–निर्माता अनेक स्थानों से संविधान निर्माण के लिए विषय–वस्तु का संकलन करते है । संविधान सभा द्वारा निर्मित लिखित दस्तावेज ही संविधान नहीं होता। संविधान की विचारधारा, मान्यताएं एवं दर्शन को कहीं–न–कहीं से प्रेरणा अवश्य मिलती है । संविधान निर्मित शासनतंत्र के आधार भी किसी–न–किसी अन्य तंत्र से स्फूर्ति ग्रहण करते है । यह बात सच है कि ब्रिटिश हुकूमत समाप्त होने के बाद 26 जनवरी, 1950 को भारत का जो नया संविधान लागू किया गया वह विभिन्न देशी–विदेशी प्रभावों से मुक्त है । नवीन संवैधानिक ढांचा ब्रिटिशकालीन शासन–व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विरासत थी। अनेक विरासतों ने देश के नवीन संविधान निर्माण को दिशा दी थी। विदेशी संविधानों की अनेक अच्छी बातें संविधान–निर्माताओं ने ग्राह्य कर ली तथा एक सुन्दरतम संवैधानिक आलेख का निर्माण किया।

भारतीय संविधान के मुख्य स्त्रोत इस प्रकार है :–

**2.4.1 भारतीय संविधान का मूल दस्तावेज–**भारतीय संविधान, संविधान–निर्मात्री सभा द्वारा निर्मित लिखित आलेख है । इसमें 395 अनुच्छेद और 10 अनुसूचियाँ तथा 3 परिशिष्ट है । इस संविधान को स्वरूप की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा संविधान कहा जा सकता है क्योंकि इसमें लगभग 22 भाग और 400 पृष्ठ हैं। हमारे संविधान को स्वरूप में केवल केन्द्रीय शासन के विभिन्न अंगों के संगठन तथा कार्यो का ही वर्णन नहीं किया गया बल्कि अवयवी एककों अर्थात् राज्यों के संगठन का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है । भारतीय संविधान–निर्माता देश को एक सूत्र में बांधने के लिए सारे देश के लिए एक ही संविधान देना चाहते थे। यही कारण है कि हमारे संविधान के मूलभूत दस्तावेज में ऐसी बहुत–सी बातों का समावेश कर दिया गया जो साधारणत: सामान्य विधि–निर्माण के लिए छोड़ दी जाती है, जैसे–वित्त,

संपत्ति, संविदाएं, भारत राज्य क्षेत्र के भीतर व्यापक–वाणिज्य, संघ और राज्यों के अधीन सेवाएं, राजभाषा आदि।

**2.4.2 संविधान सभा के वाद–विवाद–**भारतीय संविधान को समझने के लिए संविधान सभा की **'डिबेट्स'** का गम्भीर पारायण अनिवार्य है । संविधान सभा के वाद–विवाद प्रतिवेदन के अध्ययन से संविधान–निर्माताओं के ध्येयों एवं इच्छाओं का बोध होता है । संविधान सभा की कार्यवाही एवं वाद–विवाद काफी विस्तृत है और उनके सूक्ष्म अध्ययन से संविधान में प्रयुक्त शब्दावली का स्पष्ट भाव निकाला जा सकता है ।

**2.4.3 पुराने संवैधानिक अधिनियम–**नारमन डी पामर के अनुसार, **"यह एक महत्वपूर्ण राजनीतिक तथ्य है कि भारत के प्रशासन के प्रति ब्रिटेन का विशाल वैधानिक योगदान, जिसकी व्यापक निन्दा हुई थी और पारित होते समय भारतीयों ने जिसको अधिकांशत: अस्वीकार कर दिया था, पन्द्रह वर्ष उपरान्त स्वाधीन भारत द्वारा इतना अधिक स्वीकार किया गया।"** हमारे संविधान पर संवैधानिक कानूनों जैसे– 1858, 1892, 1909, 1919 तथा 1935 का अत्यधिक प्रभाव है । संविधान में अनेक बातें इन संवैधानिक अधिनियमों से ले ली गई है । सच में भारत का वर्तमान संविधान एक बहुत बड़े अंश तक 1935 के भारत शासन अधिनियम पर आधारित है और उस नियम के अधिकांश उपबन्ध न्यूनतम आवश्यक संशोधन के साथ संविधान में सम्मिलित कर लिए गए है । यहां तक कि संविधान के आकार, उसकी विषयसूची, आदि पर इस अधिनियम की गहरी छाप है । अधिनियम की लगभग 200 धाराएं बहुत कुछ अक्षरशः या वाक्य रचना में साधारण परिवर्तन करके नए संविधान में ली गई है । उदाहरणार्थ, नए संविधान की 256वीं धारा और 1935 के ऐक्ट की 126वीं धारा में कोई विशेष अन्तर नहीं है । इन धाराओं द्वारा केन्द्र राज्यों को उचित निर्देशन देने का अधिकार रखता है । नए संविधान की 352 एवं 353वीं धाराएं, जिनका राष्ट्रपति की संकटकालीन घोषणा से सम्बन्ध है, वाक्य रचना की दृष्टि से अधिनियम की धारा 103 से बहुत कुछ मिलती है । डॉ. पी. देशमुख के शब्दों में, **"संविधान 1935 का भारत सरकार अधिनियम ही है । सिर्फ वयस्क मताधिकार को जोड़ दिया गया है ।" डॉ. अम्बेडकर** ने कहा था कि **"मैं इस बात में किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नही करता कि हमने नवीन संविधान बात को अपनाने में संकोच नही होना चाहिए।**

**2.4.4 संविधियां, अध्यादेश, नियम–**विनियम, आदेश आदि–संविधान के मूल प्रलेख के अतिरिक्त संविधियां, अध्यादेश, नियम–विनियम, आदेश आदि भी हमारे संविधान के कानूनी तत्व है । संविधियां केन्द्रीय और राज्य विधानमण्डलों द्वारा बनाई जाती हैं । केन्द्रीय संसद ने अनेक कानून बनाए है जो संविधान के अभिन्न भाग बन गए है । इन अधिनियमों में भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1959; प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1957 ; राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम, 1952 अस्पृश्यता दण्ड सम्बन्धी अधिनियम, 1959 प्रमुख है । इनके अतिरिक्त, संसद को अपने कार्य–संचालन एवं कार्यप्रणाली हेतु नियम बनाने की भी शक्ति प्राप्त है ।

अधिकांश नियम और आदेश तथा विभिन्न प्रकार के अध्यादेश केन्द्रीय और राज्य कार्यपालिकाओं द्वारा बनाए जाते हैं । संविधान द्वारा राष्ट्रपति को नियम तथा विनियम बनाने की शक्ति प्रदान की गई है । राष्ट्रपति केन्द्रीय सरकार के कार्यों तथा शासन सम्बन्धी विधियों के संचालन के लिए नियम बनाता है । यदि संसद एवं राज्य विधानमण्डल की बैठक नहीं हो रही हो, तो राष्ट्रपति एवं राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार है । संसद तथा राज्य विधानसभा की स्वीकृति से ये अध्यादेश बाद में विधि का रूप ग्रहण कर सकते हैं । इस प्रकार संविधियों के साथ–साथ अध्यादेश भी भारतीय संविधान के अभिन्न अंग हैं ।

**2.4.5 संवैधानिक संशोधन–**सन् 1950 से अब तक भारतीय संविधान में 77 संशोधन हो चुके हैं और वे सब भारतीय संविधान के अभिन्न स्त्रोत हैं, इन संवैधानिक संशोधनों से संविधान की बुनियादी धारणा और स्वरूप में अन्तर आया है । उदाहरणार्थ, संविधान के प्रथम, चतुर्थ, सत्रहवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें, उन्नीसवें और चौवालीसवें संशोधनों द्वारा सम्पत्ति के अधिकार में आधारभूत अन्तर आया है और अब सम्पत्ति का अधिकार एक मौलिक अधिकार नहीं रहा है । चौबीसवें संशोधन द्वारा संसद को संविधान के किसी भी उपबन्ध में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त हो गया है जबकि सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ के विवाद में संसद के इस अधिकार को सीमित कर दिया था । इन संविधान संशोधनों द्वारा हमारा संविधान आर्थिक और सामाजिक न्याय का महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है । आज संसद संविधान संशोधन द्वारा हमारे राजनीतिक–सामाजिक जीवन का पथ प्रशस्त कर रही है । आज हम सचमुच संविधान संशोधन के शान्तिमय माध्यम से सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन लाने में और एक नूतन न्यायमय समाज का निर्माण करने में लगे हुए है ।

**2.4.6 विश्व के अन्य संविधानों का प्रभाव–**यह बात तो निर्विवाद रूप में स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि हमारे संविधान पर विदेशी विचारधाराओं एवं शासन–विधानों की स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है । हमारे संविधान–निर्माता तो समस्त ज्ञान, शासन–विधानों के कार्यकारण से प्राप्त अनुभव अपने संविधान में संजोना चाहते थे । इसी कारण हमारे संविधान विदेशी संविधानों की आदर्श व्यवस्थाओं का अपूर्व संग्रह बन गया है । सर्वप्रथम ब्रिटिश संविधान ने हमारे संवैधानिक कलेवर का निर्माण किया है । हमने ब्रिटिश आदर्श की संसदीय शासन–प्रणाली अपनायी है, जिसके अन्तर्गत मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है तथा राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भांति औपचारिक प्रधान की है ब्रिटिश संसद की भांति हमारी लोकसभा देश की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बना दी गई है । हमारी संसद एवं विधानमण्डलों के प्रक्रिया नियमों और परिपाटियों का निर्धारण भी ब्रिटिश नमूने पर ही किया गया है । जब तक हमारे यहाँ संसदीय विशेषाधिकारों का संहिताकरण नहीं किया जाता तब तक हमारे संसद सदस्यों को वे ही विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ मिलेंगी जो ब्रिटिश संसद के लोक–सदन तथा इनके सदस्यों को प्राप्त हैं । अमरीकी संविधान के बुनियादी सिद्धान्तों का प्रभाव भी हमारे संविधान पर दृष्टव्य है । संघात्मक शासन–व्यवस्था, मौलिक अधिकारों का अध्याय, स्वतंत्र और निष्पक्ष सर्वोच्च न्यायालय एवं न्यायिक पुनर्निरीक्षण का सिद्धांत असंदिग्ध रूप से अमरीकी संवैधानिक आदर्श पर ही अपनाए गए हैं । फ्रांसीसी संविधान की मिसाल पर हमारे नए स्वतंत्र लोकतंत्र को गणतंत्र बनाया गया । अन्य संघों की भांति हमारे संविधान द्वारा भी संघ

और राज्यों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है । संविधान के इस अंश का निर्माण कनाडा के संघ की प्रेरणा पर आधारित है । परन्तु हमारे संविधान में एक समवर्ती सूची और जोड़ दी गई है, जो आस्ट्रेलिया के संविधान की देन कही जा सकती है । आयरलैण्ड के संविधान से ही हमारे संविधान –निर्माताओं ने राज्य–नीति के निदेशक सिद्धांतों की प्रेरणा ली है । ' न्याय का समान संरक्षण ' का क्षेत्र परिभाषित करते हुए हमारे सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या उस विषय पर अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या से मेल खाती है । इस प्रकार कभी–कभी विदेशी न्यायालयों के निर्णय भी हमारे न्यायालयों का मार्ग निदेशन करते है ।

**2.4.7 न्यायिक निर्णय–**भारतीय संविधान का एक प्रमुख स्त्रोत वे न्यायिक निर्णय है जो न्यायाधीशों ने समय–समय पर दिए हैं । न्यायाधीश संवैधानिक कानून की व्याख्या करते है और उनके निर्णय तब तक प्रभावी रहते है जब तक कि न्यायपालिका स्वयं इस सम्बन्ध में कोई अन्य निर्णय न दे दे । भारत के सर्वोच्च न्यायालय और विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा ऐसे अनेक न्यायिक निर्णय दिए गए हैं जो हमारे देश के कानून का उसी प्रकार महत्वपूर्ण भाग हैं जिस प्रकार के संविधान कि विभिन्न अनुच्छेद । उदाहरणार्थ, **'गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य'** के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का क्षेत्र परिभाषित किया है । चिन्तामनराव के मुकदमें में अनुच्छेद 19 में उल्लेखित उचित सीमाओं की व्याख्या की गई है । आत्माराव के मुकदमे में निवारक निरोध अधिनियम में नजरबन्द व्यक्ति को प्राप्त सुरक्षाओं की व्याख्या की गई है ।

**2.4.8 प्रथाएं एवं अभिसमय–**संविधान के अलिखित भाग के रूप में प्रथाओं, अभिसमयों या परम्पराओं का विशिष्ट महत्व होता है । यद्यपि भारतीय संविधान लिखित है तथापि इसमें अनेक परम्पराएं विकसित हो गई है । कुछ महत्वपूर्ण परम्पराएं इस प्रकार है– **प्रथम,** संविधान के अनुसार कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति मे निहित है परन्तु परम्परा यह है कि वह मंत्रिमण्डल के परामर्शानुसार की कार्य करता है । **द्वितीय,** राष्ट्रपति लोकसभा को भंग करता है किन्तु ऐसा वह प्रधानमंत्री की सलाह से ही करेगा। **तृतीय,** प्रधानमंत्री की नियुक्ति करने का अधिकार राष्ट्रपति को है किन्तु परम्परानुसार राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है जो लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है । **चतुर्थ,** राज्य में राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह परम्परा विकसित हुई है कि सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श लिया जाए । **पंचम,** देश में संसदात्मक शासन–प्रणाली का विकास पूर्ण रूप से प्रथागत ही हुआ है ।

**2.4.9 संवैधानिक टीकाएं एवं संविधान विशेषज्ञों के विचार–**भारतीय संविधान का एक अन्य महत्वपूर्ण स्त्रोत भारतीय संवैधानिक कानून पर लिखी गई टीकाऐं और ग्रन्थ हैं । इन टीकाओं और ग्रन्थों में डी.डी. बसु द्वारा लिखित 'कमेण्ट्री आन दि कॉनस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया ', ग्लेडहिल की 'दि रिपब्लिक ऑफ इण्डिया', एलेक्जेण्ड्रोविच की 'कॉनस्टीट्यूशनल डेवलपमेण्ट इन इण्डिया ', जैनिग्ज की 'सम करेक्टरिस्टिक्स ऑफ दि कॉनस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया', कौल एवं शंकर की 'प्रेक्टिस एण्ड प्रोसीजर ऑफ पार्लियामेण्ट ' इत्यादि प्रमुख हैं । संवैधानिक कानून के विशेषज्ञों में एन. ए. पालकीवाला, सिरबई, नीरेन डे, लक्ष्मीमल सिंघवी, अशोक कुमार सेन,

एच आर. गोखले इत्यादि द्वारा समय–समय पर व्यक्त विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं । इसके अतिरिक्त डायसी की 'लॉ ऑफ दि कॉन्स्टीट्यूशन' जैसी पुस्तकों से भी भारतीय संविधान के सूक्ष्म पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है ।

संक्षेप में, हमारे संविधान के निर्माताओं ने कभी यह दावा नहीं किया था कि वे कोई मौलिक अदभूत संविधान खोज निकालेंगे। वे तो अच्छा और कामचलाऊ संविधान ही बनाना चाहते थे । वे इस लक्ष्य में काफी सफल हुए । यह आरोप कि हमारा संविधान अन्य देशों के संविधानों का अन्धानुकरण है, संविधान के आंशिक अध्ययन पर आधारित है । **डॉ. अम्बेडकर** के शब्दों में, "अब वह संविधान पूर्णतया व्यवहार जनक है ..... यदि नवीन संविधान के अन्तर्गत कुछ त्रुटियाँ हों तो उनका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान खराब है, वरन् हमें यह कहना पड़ेगा कि मानव स्वभाव दुष्ट है।" यह सच है कि हमारे संविधान के अत्यन्त अल्प प्रावधानों पर ही भारतीय इतिहास और संस्कृति की छाप झलकती है । फिर भी, भारतीयता और गाँधीवाद की भावना को संविधान में यथोचित स्थान दिया गया है । हमने शासन की लोकतान्त्रिक पद्धति को अपनाया है जिसे नितान्त अभारतीय नहीं कहा जा सकता। प्राचीन भारत में गणराज्यों एवं जनपदों के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं । धार्मिक सहिष्णुता की भावना हमारे इतिहास की थाती रही है जिसे मौलिक अधिकारों के अध्याय में समाविष्ट किया गया है । महात्मा गांधी के कतिपय महत्वपूर्ण आदर्शों, जैसे – मद्यनिषेध, गौवध निषेध, विकेन्द्रित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था, कुटीर उद्योगों और स्वशासित ग्राम्य व्यवस्था (पंचायती राज) को भी विधान में स्थान दिया गया है । अत: विदेशी संविधानों की व्यवस्थाओं को अपनाने के उपरान्त भी हमारा संविधान कत अधिक भारतीय बन गया है ।

## 2.5 भारतीय संविधान की विशेषताएं

भारतीय संविधान का स्वरूप किसी विदेशी संविधान का अनुकरण मात्र न होकर अपने में एक अनुपम और नवीन प्रयोग है । इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित है:

**2.5.1 लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान–**भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुता पर आधारित संविधान है अर्थात् यह भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधान है और इस संविधान द्वारा अन्तिम शक्ति भारतीय जनता को ही प्रदान की गई है । संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है, **"हम भारत के लोग..... दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज दिनांक 26 नवम्बर 1949 ई. को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है।"**

**2.5.2 निर्मित, लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान–**भारत में संविधान का निर्माण एक विशेष समय पर विशेष संविधान सभा के द्वारा किया गया है और इस संविधान की अधिकांश बातें लिखित रूप में हैं । इस दृष्टि से यह ब्रिटिश संविधान के विपरीत और अमरीका संविधान की भाँति एक निर्मित और लिखित संविधान है । इसके अतिरिक्त, **डॉ. आइवर जैनिंग्ज** के शब्दों में, **"भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है।"** भारत के संविधान में 395 अनुच्छेद, 10 अनुसूची और 3 परिशिष्ट हैं, जबकि अमरीका के संविधान

में केवल 7, कनाडा के संविधान में 147, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 और दक्षिण अफ्रीका के संविधान में 253 अनुच्छेद ही हैं । 42वें संवैधानिक संशोधन से तो भारतीय संविधान की व्यापकता में ओर वृद्धि हो गई है । इस संवैधानिक संशोधन के द्वारा संविधान में 11 नवीन अनुच्छेद और दो नवीन भाग (भाग चौथा 'ब' और चौहदवाँ 'अ') जोड़े गए है ।

स्वरूप की दृष्टि से संविधान संसार का सबसे बड़ा संविधान है । भारतीय संविधान के इतना बड़ा प्रलेख होने के अनेक कारण है :

(1) भारतीय संविधान संघात्मक है और संघ तथा राज्यों के बीच सम्बन्धों का न केवल संविधान में बहुत व्यापक रूप से वर्णन किया गया है, वरन् इकाइयों के प्रशासनिक ढांचे का भी वर्णन किया गया है । (2) संविधान में मौलिक अधिकारों और विभिन्न परिस्थितियों में उन पर लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों की व्यवस्था के कारण संविधान के कारण संविधान के आकार में वृद्धि हो गई है । इसके अतिरिक्त संविधान में 'राज्य की नीति के निदेशक तत्वों ' का भी पृथक अध्याय रखा गया है । (3) संविधान निर्माताओं ने संविधान में अल्पसंख्यकों और आंग्ल भारतीयों, अनुसूचित जातियों व जनजाति क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेष वर्गों के हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था करना आवश्यक समझा और संविधान के 16वें भाग में इन वर्गों के लिए विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं । (4) नवजात प्रजातन्त्र के लिए संकट रूप में उत्पन्न होने वाली विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए संविधान के 18वें भाग में संकटकालीन प्रावधानों से सम्बन्धित 9 अनुच्छेदों को स्थान दिया गया है । (5) संविधान की व्यापकता का सबसे बड़ा कारण यह है कि भारतीय संविधान में न केवल मूल सिद्धान्तों का वर्णन, वरन् प्रशासनिक प्रबन्धों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है । श्रीनिवासन के शब्दों में, **"भारतीय संविधान केवल एक संविधान नही है वरन् देश की संवैधानिक और प्रशासनिक पद्धति के महत्वपूर्ण पहलुओं से सम्बन्धित एक विस्तृत वैज्ञानिक संहिता भी है।"** संविधान में नागरिकता, राष्ट्रीय भाषा और क्षेत्रीय भाषाएं, चुनाव, लोकसेवाएं भी की गई है। वस्तुत : भारत में परिस्थितियों की जटिलता और तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय जनता की राजनीतिक अपरिपक्वता के कारण संविधान– निर्माताओं ने विस्तार की बातों को परम्पराओं या आगे आने वाली संसद पर छोड़ने की अपेक्षा स्वयं ही उनके सम्बन्ध में व्यवस्था कर लेना उचित समझा । श्री हरिविष्णु कामथ ने तो संविधान सभा में कहा था कि **"हमें इस बात का गर्व है कि हमारा संविधान विश्व का सबसे विशालकाय संविधान है ।"**

**2.5.3. सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन, लोकतान्त्रिक गणराज्य–** संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व समन लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है ।

**सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न**–सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न का अर्थ यह है कि आन्तरिक या बाहरी दृष्टि से भारत पर किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं है, भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकता है और वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या सन्धि को मानने के लिए बाध्य नहीं । भारत के संविधान में किसी भी स्थान पर ब्रिटिश सत्ता का उल्लेख नहीं किया गया है ।

**लोकतन्त्रात्मक राज्य–**ब्रिटेन जैसे विश्व के कुछ ऐसे लोकतन्त्रात्मक राज्य है, जहाँ राज्य का प्रधानमंत्री वंशानुगत राजा होता है । लेकिन भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य होने के साथ–साथ एक गणराज्य है । भारतीय राज्य का गणतन्त्रात्मक स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी वंशक्रमानुगत राजा न होकर भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति है ।

एक ओर तो भारत ने गणतन्त्रीय रूप स्वीकार किया, किन्तु इसके साथ ही 16 मई, 1949 को भारत की संविधान सभा ने यह मान लिया कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे । राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के कारण अनेक व्यक्तियों का मत है कि क्यों राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों द्वारा ब्रिटिश सम्राट को अपने प्रधान के रूप में स्वीकार किया जाता है, अत: भारत न तो सर्वप्रभुत्व–सम्पन्न राज्य है और न ही गणतन्त्र है ।

वास्तव में, उपर्युक्त विचार उचित नहीं है । इसका कारण यह है कि राष्ट्रमण्डल एक लचीला संगठन है और जिस समय भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्रदान की गई, उसी समय राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया था कि राष्ट्रमण्डल में भारत की स्थिति वैधानिक रूप में अन्य उपनिवेशों की अपेक्षा कुछ अलग है । वास्तव में, भारत राज्य की प्रभुत्व–संपन्नता या उसका गणतन्त्रात्मक रूप उसकी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से अप्रभावित है। **श्री एम. रामास्वामी** के शब्दों में, **"सम्राट राष्ट्रमण्डल का प्रधान अवश्य है किन्तु यह प्रधान पद केवल औपचारिक है और इसका संवैधानिक महत्व प्राय: बिल्कुल नही है ।"**

इस प्रकार राष्ट्रमण्डल का सदस्य होते हुए भी भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है ।

**2.5.4 समाजवादी राज्य –** संविधान सभा में इस बात पर पर्याप्त वाद–विवाद हुआ था कि भारत के द्वारा समाजवाद को राज्य दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाए अथवा नहीं । अन्त में यही सोचा गया था कि किसी एक विशेष दर्शन को स्वीकार करने से नवीन विवादों को जन्म मिलेगा । लेकिन इस बात पर सभी भारतीय सहमत रहे है कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है । इस सामान्य भावना को स्वीकार करते हुए भी 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित किया गया है ।

वस्तुत : प्रस्तावना में भारत को 'समाजवादी राज्य' घोषित करने से वस्तुस्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया । **प्रथम,** प्रस्तावना को 'न्याय योग्य' स्थिति प्राप्त नहीं है । **द्वितीय,** समाजवाद शब्द अपने आप में बहुत अधिक अस्पष्ट है । भारत के द्वारा अपनी विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही समाजवाद को अपनाया जाएगा और भारतीय समाजवाद अन्य अधिक परिचित समाजवादों से अपने आप में भिन्न होगा ।

**2.5.5 धर्मनिरपेक्ष राज्य–**भारतीय संविधान के धर्म स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रावधान धर्मनिरपेक्ष अथवा असाम्प्रदायिक राज्य की आधारशिला है । 42वें संविधान संशोधन द्वारा प्रस्तावना में अब स्पष्ट रूप से 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य घोषित किया गया है ।

धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह है कि राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान है और राज्य के द्वारा विभिन्न धर्मावलम्बियों में कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा । **श्री एम. सी.**

**सीतलवाड** का कहना है कि पश्चिम की उदारवादी प्रजातान्त्रिक परम्परा के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के विरुद्ध नहीं है, वरन् वह धार्मिक मामलों में तटस्थ है । डोनान्ड ई. स्मिथ के अनुसार, **"धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो व्यक्ति के नागरिक होने के नाते सम्बंधित है, किसी धार्मिक भावना के आधार पर नही । जो संवैधानिक रूप से किसी धर्म से सम्बन्धित नही, न किसी धर्म में हस्तक्षेप करता है न उसका प्रचार, बल्कि संस्थाओं और व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है ।" "श्री वेंकटरमन** के शब्दों में, **"धर्मनिरपेक्ष राज्य न धार्मिक है और न अधार्मिक और न धर्मविरोधी परन्तु धार्मिक कार्यो और सिद्धान्तों से सर्वथा पृथक है और इस प्रकार धार्मिक मामलों मे पूर्णतया तटस्थ है ।"** धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्मविरोधी नहीं होता और न ही धर्म के प्रति उदासीन ही रहता है, वरन् उसके द्वारा धार्मिक मामलों में तटस्थता की नीति को अपनाया जाता है ।

यद्यपि मूल संविधान में कहीं पर भी भारत को स्पष्टता धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित नहीं किया गया था, फिर भी ऐसी व्यवस्थाएं की गई है जिनके कारण धर्मनिरपेक्ष राज्य का रूप प्राप्त हो जाता है । प्रस्तावना में सभी नागरिकों को धर्म, जाति, लिंग या इनमें से किसी के आधार पर अपने नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं करेगा । संविधान ने उपबन्धित किया है कि **"सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के नियमों के अधीन रहते हुए सभी नागरिकों को अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण करने तथा प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।"** संविधान में धार्मिक अल्पमतों को आश्वासन दिया है कि वे अपनी भाषा की रक्षा कर सकेंगे और उन्हें अपनी इच्छा की शिक्षण संस्थाएं संचालित करने का अधिकार होगा । प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और पोषण का, उनके प्रबन्ध करने का, चल और अचल सम्पत्ति के स्वामित्व तथा अर्जन का पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा ।

कुछ लेखकों के द्वारा इस धर्मनिरपेक्षता के आधार पर भारत को धर्मविरोधी राज्य की संज्ञा दी गई है, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है । भारत एक धर्मविरोधी राज्य होने के स्थान पर मानवता के व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसा वास्तविक नैतिक राज्य है जिसका उद्देश्य संकीर्ण धार्मिक विवादों से दूर रहते हुए अपने सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति की ओर उन्मुख करना है । जो लोग धर्मनिरपेक्षता को धर्मविरोधी की संज्ञा देते है, वे धर्मनिरपेक्षता को ठीक अर्थों में नही समझ पाते । **डॉ. अम्बेडकर ने 'हिन्दू कोड बिल'** पर बोलते हुए ठीक कहा था, **"धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नही है कि लोगों की भावनाओं का ख्याल ही नही किया जाएगा। इसका अर्थ केवल यह होगा कि संसद को जनता पर किसी विशेष धर्म को लादने की शक्ति नही होगी, संविधान द्वारा केवल यही नियंत्रण लगाया गया है ।" डॉ. राधाकृष्णन्** के शब्दों में, **"भारत राज्य वास्तविक धार्मिक राज्य है, जो सभी धर्मो के सार मानव धर्म में विश्वास करता है।"**

**2.5.6. कठोरता और लचीलेपन का समन्वय**–संशोधन प्रणाली के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते है–कठोर संविधान तथा लचीला संविधान। लचीला संविधान उस संविधान को कहते है, जिसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में कोई अन्तर नहीं किया जाता और

संविधान विधि निर्माण की साधारण प्रक्रिया के आधार पर संशोधन किया जा सकता है । इसके विपरीत, कठोर संविधान में संवैधानिक संशोधन के लिए साधारण कानून निर्माण से भिन्न तथा जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है ।

उपर्युक्त दृष्टि से भारतीय संविधान कठोर संविधानों की श्रेणी में आता है क्योंकि भारतीय संविधान की अधिकांश धाराओं को संशोधित करने के लिए संसद के सदस्यों के बहुमत के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत की भी आवश्यकता होती है । अनुच्छेद 368 के अनुसार कुछ विषयों में संशोधन के लिए संसद के समस्त सदस्यों के बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत के अतिरिक्त कम–से–कम' आधे राज्यों के विधानमण्डलों का अनुसमर्थक भी आवश्यक है, जैसे–राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि, संघ और इकाइयों के बीच शक्ति विभाजन, राज्यों के संसद में प्रतिनिधि, आदि संशोधन की उपर्युक्त प्रणाली निश्चित रूप से कठोर है ।

लेकिन संविधान–निर्माताओं द्वारा पारिभाषिक दृष्टि से एक कठोर संविधान का निर्माण किए जाने पर भी इस बात को ध्यान में रखा गया कि तेली से बदलती हुई परिस्थितियों के कारण भारतीय संविधान में बहुत जल्दी ही किसी प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता हो सकती है । इसलिए व्यवहारिक दृष्टि से भारतीय संविधान के संशोधन की पद्धति उतनी जटिल नहीं है, जितनी की अमरीका या अन्य संघ राज्य संविधानों की संशोधन पद्धति । कुछ विषयों में तो संविधान में संसद के साधारण बहुमत से ही संशोधन हो जाता है । उदाहरणस्वरूप नवीन राज्यों के निर्माण, वर्तमान राज्यों के पुनर्गठन और भारतीय नागरिकता के अर्थ परिवर्तन आदि कार्य संसद – साधारण बहुमत से कर सकती है ।

इस प्रकार भारतीय संविधान न तो ब्रिटिश संविधान की भांति लचीला है और न अमरीकी संविधान की भांति अत्यधिक कठोर। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान में मध्यम मार्ग को अपनाया गया है । इस पर प्रकाश डालते हुए **पं. नेहरू** ने संविधान सभा में कहा था, **"यद्यपि जहाँ तक सम्भव हो हम इस संविधान को एक ठोस और स्थायी संविधान का रूप देना चाहते है, संविधान मे कोई स्थायित्व नही होता, उसमें लचीलापन होना ही चाहिए। यदि संविधान में सभी कुछ स्थायी और कठोर बना दिया जाए तो राष्ट्र का विकास रुक जाएगा, जबकि राष्ट्र जीवित विकासशील प्राणियों का समूह है। किसी भी स्थिति में हम अपने संविधान को इतना कठोर नही बनाना चाहते कि वह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन न हो सके।"**

भारतीय संविधान पर्याप्त परिवर्तनशील है और अभी तक भारतीय संविधान में 7' संवैधानिक संशोधन हो चुके है ।

**2.5.7 संसदात्मक शासन व्यवस्था –** भारतीय संविधान सभा में इस प्रश्न पर विस्तृत विचार विमर्श हुआ था कि भारतीय लोकतन्त्र में किस प्रकार की शासन प्रणाली अपनाई जाए– अध्यक्षीय शासन प्रणाली या संसदीय प्रणाली । भारत के लोगों को 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियमों के अन्तर्गत संसदीय शासन का अनुभव था और फिर अध्यक्षीय शासन प्रणाली में इस बात का भी डर था कि कहीं कार्यपालिका अपनी निश्चित पदावधि के

कारण निरंकुश न हो जाए । अत : संविधान सभा ने काफी सोच–विचार के बाद निर्णय किया कि भारत के लिए अमरीका के समान अध्यक्षीय शासन के स्थान पर ब्रिटिश मॉडल की संसदीय शासन प्रणाली अधिक उपयुक्त रहेगी। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी रहती है तथा उसका विश्वास देने पर कायम नही रह सकती। भारतीय संविधान संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना करता है क्योंकि राष्ट्रपति ध्वजमात्र के अध्यक्ष है और वास्तविक शक्तियाँ मन्त्रिमण्डल में निहित है जो संसद के प्रति उत्तरदायी है ।

**2.5.8 एकात्मक लक्षणों सहित संघात्मक शासन –** भारतीय संविधान के **प्रथम अनुच्छेद** के अनुसार, **"इण्डिया अर्थात् भारत राज्यों का एक संघ होगा।"** इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन की स्थापना की गई है और इसमें संघात्मक शासन के सभी लक्षण विद्यमान है । संविधान ने शासन शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न करे, केन्द्र और राज्य सरकारों में विभाजित कर दी है जो दोनों ही अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्र है । संविधान लिखित और बहुत सीमा तक कठोर है और इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गई है । उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है जिसे संविधान की व्याख्या करने और केन्द्र एवं राज्यों के बीच उत्पन्न संवैधानिक झगड़ों के निर्णय का अधिकार दिया गया है ।

इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन–व्यवस्था स्थापित की गई है । किन्तु इसमें कुछ ऐसे तत्व भी है जिनसे इसका झुकाव एकात्मक शासन की ओर स्पष्ट होता है, जैसे– इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएं, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति, संसद द्वारा राज्यों के नाम, क्षेत्र तथा सीमाओं में परिवर्तन आदि । अन्त में राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के अन्तर्गत, संकटकाल की घोषणा द्वारा तो स्पष्ट रूप से संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था के रूप में बदला जा सकता है ।

भारतीय संविधान के इन एकात्मक लक्षणों के आधा पर **प्रो. हीयर** तो कहते है कि **"भारत का नया संविधान ऐसी शासन–व्यवस्था को जम देता है जो अधिक–थे–अधिक अर्द्धसंघीय है। यह एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमें कतिपय संघीय विशेषताएं है न कि यह एक ऐसा संघात्मक राज्य है जिसमें कतिपय एकात्मक विशेषताएं हो।"** इसी प्रकार **दुर्गादास बसु** ने भी कहा है कि **"भारतीय संविधान न तो पूर्ण संघात्मक है और न एकात्मक, अपितु यह दोनों का सम्मिश्रण है। यह नवीन प्रकार का संघ है।"**

**2.5.9 संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता मे समन्वय –** भारतीय संविधान की एक विशेषता यह है कि संविधान में इंग्लैण्ड की संसदीय प्रभुसत्ता तथा संयुक्त राज्य अमरीका की न्यायिक सर्वोच्चता के मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है । इंग्लैण्ड में व्यवस्थापिका सर्वोच्च है और – ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा निर्मित कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती । इसके विपरीत, अमरीका के संविधान में न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, जिसका अर्थ है कि न्यायालय संविधान का रक्षक और अभिभावक है और न्यायालय संघीय व्यवस्थापिका अर्थात् कांग्रेस द्वारा निर्मित कानून या कार्यपालिका के आदेशों का परीक्षण कर यह निश्चित करना है कि कोई विधि या आदेश संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध तो नहीं है । संविधान का उल्लंघन करने वाली विधियों या आदेशों को उसके द्वारा

अवैध घोषित कर दिया जाता है । न्यायालय की इस शक्ति को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार' कहते है और इसके कारण अमरीका में न्यायपालिका बहुत अधिक शक्तिशाली हो गई है ।

भारत में संसदात्मक व्यवस्था को अपनाकर संसद की सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है, लेकिन इसके साथ ही संघात्मक व्यवस्था के आदर्शो के अनुरूप न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने तथा उन विधियों और आदेशों को अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है, जो संविधान के विरुद्ध ही । न्यायालय के इस अधिकार के साथ ही संसद को यह भी अधिकार प्राप्त हैं कि वह न्यायालय को शक्तियों को आवश्यकतानुसार सीमित कर सकती है । इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा न तो ब्रिटेन के समान संसदीय प्रभुता को स्वीकार किया गया है और न ही अमरीका की भांति न्यायपालिका की सर्वोच्चता को वरन् उपर्युक्त दोनों पद्धतियों के बीच की प्रणाली को अपनाया गया है । **श्री दुर्गादास बसु** के शब्दों में, **"भारतीय संविधान में अदभुत ढंग से अमरीकी न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एवं इंग्लैण्ड के संसदीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के बीच का मार्ग अपनाया गया है ।"**

**2.5.10 मौलिक अधिकार और मूल कर्तव्य–**भारतीय संविधान के निर्माताओं ने ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत अनेक अत्याचार सहन किए थे, अत :उनके द्वारा शासन : की शक्तियों को मर्यादित करने की आवश्यकता अनुभव की गई । अत : अमरीका और आयरलैण्ड आदि देशों के संविधानों की तरह हमारे संविधान द्वारा भी नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए गए है । मौलिक अधिकारों का आशय नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार और स्वतन्त्रताओं से है, जिन्हें राज्य तथा केन्द्र सरकार के विरुद्ध भी लागू किया जा सकता है । संविधान द्वारा नागरिकों को इस प्रकार के 7 मौलिक अधिकार प्रदान किए गए थे, लेकिन अब सम्पत्ति का अधिकार एक मौलिक अधिकार नहीं रहा है और नागरिकों को 6 मौलिक अधिकार प्राप्त है।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि संविधान द्वारा अधिकार प्रदान किए जाने के साथ–साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इन अधिकारों पर किन परिस्थितियों में, और किस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जा सकेंगे। इसके अतिरिक्त, भारतीय संविधान में संवैधानिक उपचारों के अधिकार के रूप में अधिकारों की क्रियान्विति के लिए पृथक् से वैधानिक व्यवस्था की गई है ।

मूल संविधान में तो केवल मौलिक अधिकारों की ही व्यवस्था की गई थी, लेकिन 42में संवैधानिक संशोधन, 1976 के द्वारा मूल संविधान में एक नया भाग 'चौथा–क' –जोड़ा गया है और इसमें नागरिकों के मूल कर्तव्यों को उल्लेख किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा नागरिकों के 10 मूल कर्तव्य निश्चित किए गए है ।

**2.5.11 नीति निदेशक तत्व –** भारतीय संविधान के चौथे अध्याय में शासन संचालन के लिए मूलभूत सिद्धांतों का वर्णन किया गया है और इन्हें ही राज्य के नीति निदेशक तत्व अर्थात् नीति निश्चित करने वाले तत्व कहा गया है । भारतीय संविधान में नीति निदेशक तत्व का विचार आयरलैण्ड के संविधान से लिया गया है और इस तत्व की प्रकृति के सम्बन्ध में संविधान के 37वें अनुच्छेद में कहा गया है कि **"नीति निदेशक तत्वों को किसी न्यायालय द्वारा**

**बाध्यता न दी जा सकेगी, किन्तु फिर भी यह तत्व देश के शासन में मूलभूत है ।"** इस प्रकार निदेशक तत्वों को वैधानिक शक्ति तो प्राप्त नहीं है, लेकिन इन्हें राजनीतिक शक्ति अवश्य प्राप्त है ।

इन तत्वों में भारत राज्य को एक वास्तविक लोक–कल्याणकारी राज्य का स्वरूप देने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों की घोषणा का गई है । **श्री जी.एन. जोशी** के शब्दों में, **"यह तत्व आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए व्यापक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते है ।"**

**2.5.12 स्वतंत्र न्यायपालिका और अन्य स्वतंत्र अभिकरण –** संघात्मक शासन–व्यवस्था में न्यायपालिका का संविधान की व्याख्यता और रक्षक होने के कारण उसका स्वतंत्र होना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त, संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किए गए मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता नितान्त आवश्यक हो जाती है । न्यायपालिका की स्वतंत्रता हेतु संविधान में अनेक विशेष व्यवस्थाएं की गई है, यथा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होना, न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीशों के कार्यकाल में उनके वेतन में कमी न हो सकना और न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होना, न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीशों के कार्यकाल में उन्हे वेतन में कमी न हो सकना और न्यायाधीशों के आचरण पर व्यवस्थापिका, द्वारा विचार न कर सकना, आदि ।

इस प्रकार न्यायपालिका स्वतंत्र है और पिछले 47 वर्ष की अवधि में न्यायपालिका अपनी स्वतंत्रता का अनेक बार परिचय दे चुकी है ।

स्वतंत्र न्यायपालिका के अतिरिक्त संविधान के द्वारा अन्य स्वतन्त्र अभिकरणों की भी व्यवस्था की गई है, जिनमें **निर्वाचन आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक व लोक सेवा आयोग प्रमुख है।**

**2.5.13 साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ –** ब्रिटिश शासनकाल में 1909 के कानून द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को लागू किया गया था जिसने भारत के विभिन्न प्रमुख सम्प्रदायों को एक–दूसरे का विरोधी बना दिया । अत: नवीन संविधान के अन्तर्गत – साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त कर वयस्क मताधिकार के आधार पर संयुक्त प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया गया है । करोड़ों व्यक्तियों को एक साथ मताधिकार प्रदान करना संविधान सभा का निश्चित रूप से एक साहसिक कार्य था। **प्रो. श्रीनिवासन** के शब्दों में, **"साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति और वयस्क मताधिकार के प्रारम्भ नए संविधान की महान् और क्रांतिकारी विशेषता है ।"**

**2.5.14 एकल नागरिकता –** भारतीय संविधान के द्वारा संघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है और सामान्यतया ऐसा समझा जाता रहा है कि संघ राज्य के नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए–प्रथम, संघ की नागरिकता और द्वितीय, इकाई या राज्य की नागरिकता। संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य संघ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है, लेकिन भारतीय

संविधान के निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता 'भारत की एकता को बनाए रखने में बाधक सिद्ध हो सकती है । अत : संविधान–निर्माताओं द्वारा संघ राज्य की स्थापना करते हुए भी दोहरी नागरिकता को नहीं वरन् एकल नागरिकता के आदर्श को ही अपनाया गया है ।

**2.5.15 सामाजिक समानता की स्थापना –** सामान्यतया संविधानों के द्वारा अपने नागरिकों की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही बल दिया जाता है, सामाजिक समानता पर नहीं । लेकिन भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि संविधान के द्वारा सामाजिक क्षेत्र में भी सभी नागरिकों के समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि " अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप मे अस्पृश्यता का आचरण विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" भारत में दलित लोगों की 'गिरी हुई स्थिति में सुधार करने के लिए संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था करना आवश्यक भी था ।

**2.5.16 कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श –** संविधान के नीति निदेशक तत्वों के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि संविधान–निर्माताओं द्वारा भारत के लिए एक आदर्श निश्चित किया गया है और वह आदर्श है कल्याणकारी राज्य की स्थापना । भारतीय संविधान–निर्माता स्पष्ट रूप से यह चाहते थे कि भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारें भारतीय नागरिकों को पुष्टिकर भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान करें, उनके जीवन–स्तर को ऊँचा उठाएं और उनके द्वारा अधिक–से–अधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जाए । केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें संविधान में निर्दिष्ट इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियोजन' (Planning) की। पद्धति को अपनाया गया और समाजवादी समाज के ढांचे की स्थापना ' (Socialistic Pattern) की नीति निर्धारित की गई ।

## 2.6 संविधान के आधारभूत सिद्धांत की अवधारणा

संविधान के मूल ढांचे की धारणा का आशय यह है कि **संविधान की कुछ व्यवस्थाएं अन्य व्यवस्थाओं की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण है, वे संविधान के मूल ढांचे के समान है और समस्त संवैधानिक व्यवस्था उन पर ही आधारित है।** सर्वप्रथम इस धारणा का प्रतिपादन सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 24 अप्रैल 1973 को मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित एक विवाद **'केशवानन्द भारती** बनाम **केरल राज्य'** पर निर्णय देते हुए किया गया । इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'संसद मौलिक अधिकारों को संशोधित या सीमित कर सकती है, किन्तु संविधान के अनुच्छेद 368 से संसद को संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन का अधिकार प्राप्त नहीं होता । **"मिनर्वा मिल्स तथा अन्य बनाम भारत सरकार"** (मई, 1980) के विवाद में भी सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा पुन: इस बात का प्रतिपादन किया गया। इसके अतिरिक्त, 1975 – 76 की राजनीतिक स्थिति के आधार पर यह अनुभव किया गया कि शासन वर्ग संसद पर अनुचित प्रभाव और नियंत्रण स्थापित कर संसद की सर्वोच्चता के नाम पर संविधान को अपने

खिलवाड़ का साधन बना सकता है, अत : शासन की इस शक्ति पर रोक लगाने के लिए संविधान के मूल ढांचे की धारणा को अपनाया जाना चाहिए।

1973 तथा 1980 के निर्णय में यह नहीं बतलाया गया कि संविधान के मूल ढाँचे' या आधारभूत ढाँचे के अन्तर्गत संविधान की कौन–कौन सी व्यवस्थाएं आती है । मूल ढांचे की धारण को कुछ स्पष्ट करने की एक चेष्टा 45 वें संशोधन विधेयक में की गई थी, लेकिन राज्यसभा की –असहमति के कारण उसे संविधान संशोधन विधेयक, से निकाल दिया गया। संविधान के मूल ढाँचे' की धारणा से सहमति रखने वाले सभी व्यक्ति ऐसा मानते है कि संविधान के मूल ढाँचे में निम्न बातें अवश्य ही आती है:

2.6.1 संविधान का लोकतांत्रिक स्वरूप,

2.6.2 संविधान का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप,

2.6.3 नागरिकों. के मूल अधिकार व स्वतत्रताएं

2.6.4 लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं के वयस्क मताधिकार पर आधारित स्वतंत्र चुनाव

2.6.5 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता।

कुछ राजनीतिक नेताओं और विधि विशेषज्ञों का विचार हैं कि संघात्मक व्यवस्था और संसदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था को भी संविधान के मूल ढांचे का अंग समझा जाना चाहिए, लेकिन कुछ अन्य पक्ष इस बात को स्वीकार नहीं करते है ।

इस प्रकार संविधान के मूल ढांचे के अन्तिम रूप से परिवर्तन का अधिकर संसद या राज्य विधानसभाओं को नहीं, वरन् स्वर जनता को ही है । इस सम्बन्ध में प्रक्रिया यह हो सकती है कि संसद द्वारा संविधान में किए गए उपर्युक्त परिवर्तन पर लोकनिर्णय के माध्यम से जन–स्वीकृति प्राप्त की जाए। जन–स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अन्य किसी तरीके को अपनाया जा सकता है, लेकिन संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन के लिए जन–स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है । इसी कारण इस विचार को **'जन–सर्वोच्चता'** या **'जन सम्प्रभुता की धारणा'** (Concept of People's Supremacy or People's) का नाम भी दिया जा सकता है ।

## 2.7 भारतीय संविधान की आलोचना

हमारे संविधान के अनेक गुणों के बावजूद आलोचकों ने इसकी अनेक कमियों पर प्रकाश डाला है । कतिपय आलोचक हमारे संविधान को 'अभारतीय' मानते है, तो कुछ इसे विविध संविधानों की खिचड़ी' कहकर पुकारते है । आलोचकों ने यहाँ तक कहा है कि यह संविधान भारतीय वातावरण में अनुपयुक्त है और इसका पुनर्निरीक्षण होना चाहिए। भारतीय संविधान की कुछ महत्वपूर्ण आलोचनाएं निम्नलिखित हैं :

**2.7.1 भारतीय संविधान अत्यधिक लम्बा और जटिल है –** 'सर आइवर जैनिग्ज ने लिखा हैं कि ' 'भारतीय संविधान अत्यधिक लम्बा, विस्तृत तथा परिवर्तनशील है । '' संविधान निश्चित रूप से लम्बा और विस्तृत तो है, परन्तु दुष्परिवर्तनशीलता सिद्ध नही हुई है । संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों की दृष्टि में संविधान के विस्तार के अनेक ठोस आधार थे । कई

धाराओं का समावेश तो इसलिए किया गया था क्योंकि उनके विषय में यह सोचा गया कि वे आधारभूत महत्व की है और इस कारण उन्हें सामान्य व्यवस्थापन के स्तर पर नहीं छोड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए लोकसेवाओं तथा न्यायपालिका से सम्बन्धित धारणाएं इसलिए समाविष्ट की गई कि उन्हें संसद की पहुँच से दूर रखकर उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित की जा सके । इसके अतिरिक्त संविधान में केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त राज्यों की शासन–प्रणाली का भी विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे संविधान विस्तृत बन गया है ।

**2.7.2 भारतीय संविधान अवैध है –** कतिपय आलोचक भारतीय संविधान को अवैध मानते है । उनके अनुसार संविधान का निर्माण करने वाली संविधान सभा वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त. पर निर्वाचित नहीं हुई थी और उसे सम्प्रभु संस्था भी नहीं कहा जा सकता। यह संविधान सभा 'मन्त्रिमण्डल मिशन योजना' के आधार पर गठित की गई थी और उसे इसी योजना द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार संविधान का निर्माण करना था । अत: प्रभुताहीन संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को अवैध कहा जा सकता है । परन्तु यह आरोप भी सच नहीं है । भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के द्वारा देश को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी और ब्रिटिश सत्ता का अन्त हो चुका था। 14–15 अगस्त, 1947) की मध्यरात्रि को संविधान सभा ने प्रभुत्व शक्ति प्राप्त कर ली और इसके पश्चात् वह पूर्ण प्रभुता–सम्पन्न संस्था बन गई अत: भारतीय संविधान को अवैध नहीं कहा जा सकता ।

**2.7.3 भारतीय संविधान अभारतीय है –** आलोचकों का मत है कि यह संविधान अभारतीय है और अपने सिद्धान्तों में न सही तो कम–से–कम स्वरूप में विदेशी हैं । के. एल. साहू ने कहा है कि " उन आदर्शों का भारत की मूल भावना से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है जिनमें संविधान का यह प्रारूप तैयार हुआ है। मैं यह विश्वास दिला सकता हूं कि यह संविधान उपर्युक्त सिद्ध नहीं होगा और जैसे ही इसे क्रियान्वित किया जाएगा, यह विघटित हो जाएगा। " बहस के दौरान संविधान सभा के एक सदस्य ने कहा कि "हम वीणा अथवा सितार संगीत चाहते थे, लेकिन हमें अंग्रेजी बैण्ड की धुनें मिली है । " इन आलोचनाओं के बावजूद भी हमारे संविधान में जगह–जगह भारतीयता का पुट मिलता है । उदाहरणार्थ, संविधान द्वारा प्रदत्त लोकतान्त्रिक पद्धति, विश्व शान्ति का आदर्श, धार्मिक सहिष्णुता, मद्यनिषेध, गौवधनिषेध, विकेन्द्रित आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था, पंचायती राज,' आदि को नितान्त अभारतीय नहीं कहा जा सकता। यदि संविधान अभारतीय होता तो इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया अवश्य हुई होती । इसके विपरीत, भारतीय जन–समुदाय ने चाहे वह श्रमिक हो या किसान, बुद्धिजीवी हो या व्यापारी–संविधान के उद्देश्य को अपने श्रेष्ठ जीवन की गारण्टी के रूप में तत्परता से स्वीकार किया है ।

**2.7.4. भारतीय संविधान मे मौलिकता का अभाव है –** आलोचकों का कहना है कि भारतीय संविधान में मौलिकता का नितान्त अभाव है। अनेक स्थानों पर यह संविधान 1935 के अधिनियम की नकल बन गया है । संसदीय प्रणाली इंग्लैण्ड से ली गई है तो संघ व्यवस्था के प्रावधान अमरीका, आस्ट्रेलिया और कनाडा के संविधान से प्रभावित है । संविधान का 21वां अनुच्छेद जापान के संविधान की देन है तो मौलिक अधिकारों के स्थगन सम्बन्धी राष्ट्रपति के

अधिकार वीमर संविधान की नकल है । श्रीधरानी ने लिखा है कि " हमारे संविधान की मौलिकता यही है कि इसमें स्वतन्त्रतापूर्वक संसार के प्राय: समस्त संविधानों के श्रेष्ठतम भागों को चुन लिया गया है । " विदेशी संविधानों की व्यवस्थाओं को अपनाने के उपरान्त भी हमारा संविधान बहुत अधिक मौलिक बन गया है । हमारे संविधान की संशोधन प्रक्रिया अपने किस्म की अनूठी ही है । हमारा संविधान न तो इतना लचीला है जितना कि ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना संयुक्त राज्य अमरीका का । जहाँ ब्रिटिश संविधान में संसदीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अपनाया गया है वही अमरीकी संविधान में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता मिली है । इसके प्रतिकूल भारतीय संविधान ने अदभुत ढंग से अमरीकी न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एवं ब्रिटेन के संसदीय प्रभुसत्ता सिद्धान्त के बीच का मार्ग अपनाया है । अमरीकी संघवाद को अपनाने के उपरान्त भी भारतीय संविधान ने एक संघीय प्रणाली को एकात्मक सरकार का बल प्रदान किया है । बी. एन. तव ने लिखा है, " यदि दूसरे देशों के संविधानों की बातों को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाल दिया गया है तो इसे किसी प्रकार भारतीय संविधान का दोष नहीं कहा जा सकता। अधिकांश आधुनिक संविधानों में दूसरे देशों का पूरा लाभ उठाया जाता है । दूसरे देशों के अनुभवों या स्वयं के विगत अनुभवों सें लाभ उठाना बुद्धिमत्ता का मार्ग है ।"

**2.7.5 भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है –** संविधान सभा में एक सदस्य ने कहा था कि ' यह संविधान लोगों को अधिक विवादी बनाकर न्यायालयों की ओर आकर्षित करेगा... यह संविधान तो सत्य ही वकीलों का स्वर्ग है..... यह तो परस्पर विवाद के नए मार्ग खोलकर हमारे योग्य वकीलों को पर्याप्त कार्य प्रदान करेगा। " यह सत्य है कि वह संविधान दुर्बोध, अस्पष्ट एवं जटिल भाषा से युक्त है । संविधान के विभिन्न उपबन्धों को विस्तृत एवं असंदिग्ध —भाषा में लिपिबद्ध किया गया है । इसमें प्रयुक्त भाषा न्यायालय की भाषा है, संवैधानिक भाषा है । लगभग प्रत्येक अनुच्छेद के साथ अपवाद, अर्हताएं तथा व्याख्याएं प्रस्तुत की गई है । भारत के सामान्य नागरिक के लिए संविधान का समझना कठिन है । इस संविधान को विधि विशेषज्ञ ही समझ सकते है । परन्तु **प्रो. पायली** का मत है कि ' यह आवश्यक नहीं है कि संविधान की जटिलता परस्पर विवादों का कारण ही बने। किसी वैधानिक प्रलेख की जटिलता और विस्तार का लोगों के परस्पर 'विवादों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। " अमरीकी संविधान संक्षिप्त एवं सरल है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार अमरीका में मुकदमेबाजी कम हुई । भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सामने आने वाले विवादों में सबसे अधिक संख्या मौलिक अधिकारों से सम्बद्ध मामलों की है । यदि संविधान के किसी भाग को वकीलों का स्वर्ग कहा जा सकता है तो वह मौलिक अधिकार सम्बन्धी भाग ही है । मौलिक अधिकारों को लेकर कानूनी पेचीदगियां इसलिए उत्पन्न हुई कि सरकार ने आर्थिक और सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया। अत: यह कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता है कि हमारा संविधान वकीलों के किसी षड़यन्त्र का परिणाम है ।

**2.7.6 केन्द्र को आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली बनाया है –** आलोचकों का कहना है कि भारत में संविधान द्वारा अधिकांश शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को सौंप दी गई है और

राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य हो गई है । भारत के राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति, एकीकृत न्याय–व्यवस्था, इकहरी नागरिकता, अखिल भारतीय लोक सेवाएं तथा राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ हमारे संविधान के प्रमुख एकात्मक लक्षण है । हमारे संविधान–निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से परिचित थे कि भारत में जब–जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गई, तब–तब भारत की एकता भंग हो गई और उसे पराधीन होना पड़ा। वे भारत में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे, अत: उन्होंने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाया। इस प्रकार भारत में संघीय प्रणाली का विकास देश की राजनीतिक स्थिति के अनुसार हुआ है ।

## 2.8 निष्कर्ष

भारतीय संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों एवं विशेषताओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे संविधान में जिन उदत्त और चिरन्तन तथ्यों का निरूपण किया गया है उनमें किसी को मतभेद नहीं हो सकता। भारत का यह संविधान भारत की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धान्तों पर आधारित है तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है । संविधान. की विगत वर्षो की कार्यप्रणाली को देखते हुए प्रो. मॉरिस जोन्स का कथन है कि "भारत को तीन तत्वों द्वारा एकता प्रदत्त की गई है–शासन का ढांचा एकदलीय व्यवस्था और संसदीय संविधान । आशा है भारत संस्थाओं का उत्तरोत्तर विकास कर पाएगा। "भारतीय संविधान की क्षमताओं के बारे में अनेक विवादास्पद प्रश्न उठाए गए है–क्या यह संविधान हमारे देश के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ? क्या अब समय आ गया है कि इस संविधान से विदा लेनी चाहिए? अथवा क्या भारत में लोकतन्त्र की असफलता का कारण वे लोग है अर्थात हम सब है, जो गत वर्षो से इसकी व्याख्या और कार्य–करण के लिए जिम्मेदार रहे है? एस.एल. शकधर के अनुसार, 'कोई संविधान चाहे कितने ही महान् उद्देश्यों को लेकर बनाया गया हो, वह व्यावहारिक राजनीति के रचनात्मक तनावों में ही सजीव और शक्तिशाली बनता है । भारत में स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद का इतिहास. इतने अधिक घटना–चक्रों का युग रहा है कि यह कत जा सकता हैं कि संविधान के लगभग हर उपबन्ध च राष्ट्रीय जीवन की वास्तविक स्थितियों की यथार्थता के साथ निपटने ,की क्षमता के आधार पर परीक्षण हो चुका है। " **स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी** के शब्दों में, ' हमारे संविधान ने अपनी सामर्थ्य का पर्याप्त प्रमाण दिया है । इसे आन्तरिक शक्ति स्वतन्त्रता–प्राप्ति में किए गए बलिदान और उस बुद्धिमत्ता से प्राप्त होती है जो हमारे निर्माणकर्ताओं ने ऐसा लचीला दस्तावेज तैयार करने में प्रदर्शित की जो हमारी जनता की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम है।"

भारतीय संविधान के जनकों ने नव–निर्माण की भूमिका में एक नए और सुव्यवस्थित समाज की कल्पना की है । यह बड़े सौभाग्य और सन्तोष की बात. है कि हमारे संविधान के निर्मातागण भी उन्हीं श्रेष्ठ आदर्शो के समर्थक रहे, जिनके द्वारा व्यक्ति की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखते हुए भी सामाजिक उत्थान और सामाजिक न्याय की स्थापना सम्भव होती है । भारतीय संविधान की सम्भव का मुख्य कारण उसकी प्रस्तावना का व्यापक परिप्रेक्ष्य ,उदारवादी दर्शन

तथा लचीला स्वरूप है । **डॉ. सुभाष कश्यप** के अनुसार, 'प्रस्तावना में निहित पावन आदर्श हमारे राष्ट्रीय आदर्श है और जहाँ वे एक ओर हमें अपने गौरवमय अतीत से जोड़ते है वहाँ उस भविष्य की आशंका को भी संजोते है..... ।"

## 2.9 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय संविधान के दर्शन और सैद्धान्तिक आधार पर आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. भारतीय संविधान के ध्येय और लक्षणों का वर्णन कीजिए।
3. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम चरण एवं अन्तरिम सरकर के गठन की व्याख्या कीजिए।
4. भारतीय संविधान के स्त्रोत को दर्शाते हुए उसकी विशेषताएं स्पष्ट कीजिए।

## 2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ


1. तायल, बी. बी : भारतीय शासन और राजनीति।
2. फड़िया, बी. एल : भारतीय शासन एवं राजनीति।
3. नारंग, ए. एस. : इण्डियन गवर्मेन्ट एवं पॉलिटिक्स ।
4. राय, एम. पी., जैन, शशि : भारतीय सरकार एवं राजनीति ।
5. राबर्ट. हार्डग्रेव्ह : इण्डिया, गवर्मेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन ए डेवलपिंग नेशन।

# इकाई 3
# मूल अधिकार और मूल कर्तव्य

**इकाई संरचना**

3.0 उद्देश्य
3.1 सामान्य परिचय
3.2 मौलिक अधिकारों की आवश्यकता, महत्व और अर्थ
3.3 सामान्य उपबन्ध – अनुच्छेद 12, 13, 33, 34, 35
3.4 मूल अधिकारों की व्यवस्था के लक्षण (विशेषताऐं)
3.5 संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार (Fundamental rights granted by the Constitution)
3.5.1 समानता का अधिकार
3.5.2 स्वतन्त्रता का अधिकार
3.5.3 शोषण के विरुद्ध अधिकार
3.5.4 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार
3.5.5 शिक्षा और संस्कृति का अधिकार
3.5.6 संवैधानिक उपचारों का अधिकार
3.6 मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का मूल्यांकन
3.7 हमारे मौलिक कर्तव्य
3.8 मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था का मूल्यांकन
3.9 अभ्यास प्रश्न
3.10. सन्दर्भ ग्रन्थ

## 3.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत के संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों का वान करवाना तथा मूल अधिकारों और कर्तव्यों का मूल्यांकन करना है। इनके अध्ययन से –

1. मौलिक अधिकारों के उदय, उद्देश्य, विकास और क्रियान्वयन व महत्व से परिचित हो सकेंगे;
2. भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों की गिनती कर सकेंगे;
3. कर्तव्यों की व्यवस्था से परिचित हो सकेंगे;
4. संविधान की अन्तरात्मा से परिचित हो सकेंगे;
5. मूल अधिकारों के संरक्षण की आवश्यकता व तरीके बता सकेंगे;
6. मूल अधिकारों और कर्तव्यों के विषय में वर्तमान वस्तुस्थिति का ज्ञान कर सकेंगे ।

## 3.1 सामान्य परिचय

मूल अधिकारों को नागरिकों के विकास के लिए अति आवश्यक समझा जाता है । व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों के संदर्भ में राज्य की शक्ति पर कुछ ऐसी सीमाएं लगा देना आवश्यक है जिससे राज्य मनमाने तरीके से काम करके नागरिकों की स्वतंत्रता और अधिकारों के विरुद्ध कार्य न कर सके । मूल अधिकारों की अवधारणा का विकास उदारवादी और लोकतंत्रीय अवधारणाओं के साथ हुआ है । संविधानवाद, विधि का शासन और उत्तरदायी शासन की भावना ने इनके विकास में और सहयोग दिया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व को आधार मानते हुए मानवीय अधिकारों की घोषणा (Declaration of right of men) को स्वीकार करके अधिकारों को संवैधानिक रूप देने की प्रथा प्रारम्भ की गई । इसके बाद अमरीकी संविधान निर्माण के उपरान्त 1791 में प्रथम दस संशोधनों द्वारा व्यक्तियों के अधिकारों को संविधान में सम्मिलित किया गया और इन्हें अधिकार पत्र नाम दिया गया। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जिन नए संविधानों का निर्माण हुआ उन आधुनिक संविधानों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का समावेश हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा भी 10 दिसम्बर 1948 को मानवीय अधिकारों की 'सार्वलौकिक घोषणा' करके 30 अनुच्छेदों वाला अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार पत्र स्वीकार किया गया और मूल अधिकारों के विचार ने सर्वमान्यता का रूप ग्रहण कर लिया और इससे स्पष्ट हो गया कि –

(a) ये नागरिकों की मूल आवश्यकताएं है ।

(b) ये संविधान द्वारा प्रदत्त व सुरक्षित है ।

(c) ये निषेधाज्ञाएं है जो राज्य की मनमानी तथा पुलिस शक्ति को मर्यादित करते है।

(d) कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के अतिक्रमण से नागरिकों को बचाया जाता है।

(e) अतिक्रमण होने पर नागरिक न्यायालय का संरक्षण ले सकते है ।

(f) इनकी सुरक्षा हेतु न्यायालय लेख जारी कर सकता है ।

(g) संविधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया से ही इनमें संशोधन किया जा सकता है ।

(h) ये मर्यादित होते है ।

(i) असाधारण परिस्थितियों में इन्हें स्थगित भी किया जा सकता है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में निर्धारित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भारतीय, संविधान में भी इनको (मूल अधिकार व: कर्तव्य) स्थान दिया गया है ।

## 3.2 मौलिक अधिकारों की आवश्यकता, महत्व और अर्थ

मौलिक अधिकारों के विचारों का मूल राजकीय सत्ता के विरुद्ध व्यक्ति के हितों की रक्षा का विचार है । भारतीय संविधान निर्माताओं के लिए इनको स्थान देना स्वाभाविक व अनिवार्य था क्योंकि भारत में वैधानिक परम्पराओं और जागरुकता का स्तर इतना उच्च नहीं था कि संविधान में मौलिक अधिकारों के उल्लेख के बिना अधिकारों व स्वतंत्रताओं का उपभोग किया जा सकता। यही समझा गया कि अधिकारों उल्लेख के बिना व्यवहार में अधिकारी के उपभोग की आशा नहीं है ।

जिन परिस्थितियों में ब्रिटिश–शासन की निरंकुशता की जिस परम्परा से छुटकारा पाकर भारत स्वतंत्र हुआ, इसके निराकरण की दृष्टि से भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था किया जाना अत्यन्त आवश्यक था। हमारी संविधान सभा के सदस्यों ने ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत राजकीय सत्ता के अत्याचारों को स्वयं देखा था। उनमें ये– अनेक ने तो स्वयं भोगा था । अत : उनके द्वारा संविधान की ऐसी व्यवस्था किया जाना स्वाभाविक व आवश्यक था, जिससे नागरिकों को राजसत्ता के वैसे अत्याचारों को फिर न भुगतना पड़े और उस व्यवस्था को उन्होंने अधिकारों के नियमन के कार्यो को विधायिका या कार्यपालिका पर छोड़ने के बजाय स्वयं संविधान में मौलिक अधिकारों का प्रावधान करके किया।

**महत्व –** संविधान के अंग के रूप में मूल अधिकारों का बड़ा महत्व है क्योंकि –

(i) मौलिक अधिकार प्रजातन्त्र के आधार स्तम्भ है ।

(ii) ये ऐसी स्थितियां उपलब्ध करवाते है जिनके बिना उचित रूप में नागरिक जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता और न व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास हो सकता है ।

(iii) मौलिक अधिकार एक देश (प्रजातन्त्रीय) में दल विशेष की तानाशाही रोकने के लिए अत्यन्त आवश्यक है अर्थात् ये बहुमत के अत्याचारी शासन की आशंका का अन्त करते है ।

(iv) इनके द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण में सामंजस्य पैदा होता है । कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को कानून द्वारा निश्चित सीमाओं में रहने को बाध्य किया जाता है ।

(v) नागरिकों को शासन के स्वेच्छाचारी संचालन के विरुद्ध जनमत निर्माण हेतु उचित अवसर प्रदान किए जाते है ।

(vi) जीवन की जिन परिस्थितियों की प्रतिष्ठा मौलिक अधिकारों के रूप में की जाती है उन्हें उत्पन्न करना व बनाए रखना राज्य संस्था का कर्तव्य हो जाता है ।

**अर्थ –** मौलिक अधिकारों का एक प्रमुख स्वरूप है कि व्यक्ति के जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक और मौलिक होते है । ये नैतिक और कानूनी दोनों प्रकार के अधिकारों को अपने में समाविष्ट कर लेते है । संविधान द्वारा इनको मान्यता प्रदान को जाती है तथा इन अधिकारों में राज्य द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता इसलिए ये मौलिक अधिकार कहलाते है । इनको प्राय : निम्न आधारों पर मूल या मौलिक अधिकार कहा जाता है–

a) ये व्यक्ति के मानसिक, भौतिक और नैतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, अत : लोकतान्त्रिक राज्य में सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव मूल अधिकार प्रदान किए जाते है ।

b) इनका उल्लेख देश की मूल विधि अर्थात् संविधान में किया जाता है ।

c) संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया के अतिरिक्त इनमें और किसी प्रकार से संशोधन नहीं किया जा सकता अर्थात संविधान में संशोधन किए बिना इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

d) सरकार के अंग (व्यवस्थापिका व कार्यपालिका) या बहुमत दल इनका अतिक्रमण नहीं कर सकते ।

e) ये अधिकार न्याय योग्य है अर्थात् यदि सरकार इनका अतिक्रमण या अपहरण करती है तो व्यक्ति अथवा समुदाय न्यायालय की शरण ले सकते है और न्यायपालिका इनकी रक्षा के लिए सभी आवश्यक कदम उठा सकती है ।

## 3.3 सामान्य उपबन्ध–अनुच्छेद 12, 13, 33 34, 35

अनुच्छेद 12 – राज्य की परिभाषा कराता है ।

अनुच्छेद 13 – यदि मूल अधिकारों के विरुद्ध कोई व्यवस्था की जाती है तो वह अवैध होगी*।

अनुच्छेद 33 – संसद द्वारा उचित संशोधन कर सैन्य शक्ति पर लागू करना।

अनुच्छेद 34 – सैन्य शासन लागू होने पर प्रतिबन्ध का उल्लेख।

अनुच्छेद 35 – संसद की कानून निर्माण की शक्ति का उल्लेख।

## 3.4 मूल अधिकारों की व्यवस्था के लक्षण (विशेषताऐं)

सभी देशों के मूल अधिकार एक जैसे नही होते क्योंकि इनकी संख्या, स्वरूप 'आदि किसी देश की विशेष परिस्थिति पर निर्भर होते है। मौलिक अधिकारों की व्यवस्था जिस विशेष उद्देश्य से तथा जिन विशेष परिस्थिति में की गई है उनके कारण उनकी कुछ विशेषताएं भी विशिष्ट है । भारतीय संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों की निम्न विशेषताएं है–

**1. अधिकारों की विस्तृत व्यवस्था (Comprehensive system of rights)** – संविधान एक पूरे भाग 3(12 से 32 अनुच्छेद व 30 से 35) अर्थात् 23 अनुच्छेदों में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का वर्णन विस्तार से किया गया है। अधिकारों के साथ–साथ उनके प्रतिबन्धों की व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है जिससे यह वर्णन विस्तृत हो गया है ।

**2. अधिकारों का रूप सीमित है निरंकुश नहीं (Limited not absolute nature of right) –** क्योंकि सभी मौलिक अधिकारों के प्रयोग पर कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए है, उदाहरणार्थ कानून के समक्ष समानता के अधिकार पर अनुसूचित जातियों, जनजातियों और ओ बी. सी. के लिए विशेष व्यवस्था किए जाने का प्रतिबन्ध है । इसी प्रकार राज्य के अधीन नौकरियों में समानता क अधिकार पर भी उक्त जातियों व वर्गों के लिए विशेष व्यवस्था किए जाने का प्रतिबन्ध है । इस प्रकार के प्रतिबन्ध चूंकि प्राय: सभी अधिकारों पर है इसलिए मौलिक अधिकारों की यह एक विशेषता है कि से सब नागरिकों को असीमित रूप में प्राप्त न होकर केवल सीमित रूप में ' ही प्राप्य है ।

**3. प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की अमान्यता (No recognition of the Theory of Nature Rights) –** प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की यह मान्यता है कि मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक सभी बातें उसके प्राकृतिक अधिकर है । इस सिद्धान्त के अनुसार किन्हीं विशेष अधिकारों को मान्य किया जाना आवश्यक नहीं होता तथा मनुष्य को

प्राप्त अधिकार अगणित हो सकते है । हमारे संविधान में इस सिद्धान्त को मान्य नहीं किया गया है और जो भी अधिकार आवश्यक समझे गये है उन्हें संविधान में गिना दिया गया है ।

**4. कुछ अधिकारी की व्यवस्था केवल नागरिकों के लिए -** हमारे संविधान में कुछ अधिकारों की व्यवस्था भारत में रहने वाले सभी व्यक्तियों के लिए की गई है तथा कुछ अधिकारों की व्यवस्था केवल भारतीय नागरिकों के लिए उपलब्ध है । उदाहरणस्वरूप कानून के समक्ष समता (अनुच्छेद 14), जीवन व व्यक्तिगत स्वतंत्रता (अनुच्छेद 21) धार्मिक स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25), अपराध के लिए दण्ड के विरूद्ध सुरक्षा (अनुच्छेद 20) के अधिकार यदि सभी नागरिकों को प्राप्त है तो भेदभाव से बचाव (अनुच्छेद 15) सरकारी सेवाओं के अवसर की समानता (अनुच्छेद 16), विचार अभिव्यक्ति आदि विविध प्रकार की स्वतन्त्रताओं (अनुच्छेद 19) तथा संस्कृति व शिक्षा (अनुच्छेद 29) के अधिकारों की व्यवस्था केवल उन लोगों के लिए है, जो भारत के नागरिक हो।

**5. व्यावहारिकता पर आधारित अधिकारों की व्यवस्था (The system of rights based on pragmatism) –** हमारे संविधान में की गई मौलिक अधिकारों की व्यवस्था केवल आदर्शात्मक न होकर व्यवहारिक भी है। व्यवस्था के प्रावधानों को ऐसा बनाया गया है कि. उससे समाज के व्यवहारिक हित की साधना हो सके। जैसे नागरिकों की समानता की व्यवस्था को अर्थपूर्ण बनाने के लिए संविधान में दलित व पिछड़े वर्गो के विकास का प्रावधान किया गया है । इसी प्रकार शिक्षा व संस्कृति की व्यवस्था को वास्तविक बनाने के लिए अल्पसंख्यकों के शिक्षा व भाषा सम्बन्धी हितों की रक्षा का प्रावधान किया गया है । धार्मिक स्वतंत्रता सब धर्मो के अनुयायियों के लिए वास्तविक हो सके इसके लिए संविधान में धर्मनिरपेक्षता को अपनाया गया है जिससे, समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिले।

**6. मौलिक अधिकारों की न्यायिक सुरक्षा की व्यवस्था (Provision for judicial protection of fundamental rights) –** मौलिक अधिकारों पर शासन के किसी अंग पर आघात न हो पाये, इसके लिए संविधान द्वारा नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है कि वे इस प्रकार के आघात की स्थिति में न्यायालय की शरण ले सकें तथा देश के उच्च न्यायालयों व सर्वोच्च न्यायालयों का यह कर्तव्य बताया गया है कि शासन के ऐसे किसी भी कार्य को अवैध घोषित कर दें, जिससे व्यक्ति के किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन होता हो । इसके लिए संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा व्यक्ति को जो अधिकार दिया गया है उसे संवैधानिक उपचारों का अधिकार (Rights to constitutional remedies) कहा जाता है ।

**7. दोहरा स्वरूप (Dual nature of fundamental rights) —** कुछ बातें ऐसी है जो राज्य को कुछ करने से रोकती है जैसे कानून के समान संरक्षण से वंचित न करे, तथा दूसरी तरफ अनुसूचित जातियों, जनजातियों व पिछड़े वर्ग के लिए व्यवस्थाएं कर सकता है । अत: स्वरूप नकारात्मक व सकारात्मक दोनों है ।

---

* संविधान के 24वें संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि संसद मूल अधिकारों की व्यवस्था में संशोधन कर सकती है।

**8. आर्थिक स्वतंत्रता का अभाव(No provision for economic freedom) –** अर्थात् ये राजनीतिक लोकतन्त्र की गारन्टी देते है आर्थिक लोकतन्त्र की नहीं । आर्थिक स्वतंत्रताओं को वादहीन क्षेत्र अर्थात् नीति के निदेशक तत्वों से सम्बन्धित भाग iv में रखा गया है । इसी कारण भारतीय मूल अधिकारों के भाग को मुक्त मानवता के अधिकारों का यथार्थ चार्टर नहीं कहा जाता ।

## 3.5 संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार (Fundamental rights granted by the constitution)

संविधान द्वारा जिन मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है वे निभ प्रकार है :–

### 3.5.1 समानता का अधिकार (Right to equality)

भारतीय संविधान के पाँच अनुच्छेद (अनुच्छेद 14 से 18 तक) नागरिकों, के समानता के अधिकार का उल्लेख करते है तथा उससे सम्बन्धित प्रमुख उपबन्ध निम्नलिखित है :

**विधि के समक्ष समानता (Equality before Law) (अनुच्छेद 14) –** संविधान के 14वें अनुच्छेद द्वारा राज्य का यह कर्तव्य बताया गया है कि प्रत्येक नागरिक को विधि के समक्ष समानता तथा विधि का समान संरक्षण उपलब्ध कराये। विधि के समक्ष समता तथा विधि का समान संरक्षण (जिसमें प्रथम संविधान तथा द्वितीय अमरीकी संविधान की व्यवस्था से लिया गया है ।) की व्यवस्था करके हमारे संविधान द्वारा विधि के शासन (The rule of Law) की स्थापना की गई है, जिसकी प्रमुख विशेषता यह होती है कि प्रत्येक व्यक्ति पर विधि समान रूप से लागू की जाए और प्रत्येक व्यक्ति को विधि द्वारा प्राप्त संरक्षण समान रूप से प्राप्य रहे ।

**धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अर्थात सामाजिक समानता (Prohibition of discrimination on grounds of religion, race,caste,sex or place of birth)–**अनुच्छेद 15 में यह व्यवस्था की गई है कि "राज्य के द्वारा केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा। अर्थात् यह प्रावधान है कि केवल उक्त आधारों पर दुकानों, सार्वजनिक होटलों, जलपान गृहों, सार्वजनिक क्रीड़ा स्थलों, कुओं , तालाबों, स्नान के घाटों, सड़क आदि के प्रयोग का अधिकार किसी नागरिक के लिए वंचित नहीं किया जाएगा।

परन्तु इसके साथ–साथ अनुच्छेद 15(3) व (4) में यह प्रावधान भी किया गया है कि राज्य द्वारा स्त्रियों व बच्चों के लिए तथा सामाजिक व शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के वर्गो के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था की जा सकेगी तथा विधि के समक्ष समता की व्यवस्था उसमें बाधक नही होगी । यह अधिकार देश में सामाजिक न्याय की स्थापना करने की दृष्टि से परमावश्यक है ।

**सरकारी रोजगार के विषय में अवसर की समानता (अनुच्छेद 16 अर्थात् आर्थिक समानता) (Equality of opportunity in matters of public employment) –** संविधान का अनुच्छेद 16 पाँच भागों में विभक्त है :

16 (1) में लिखा गया है कि "राज्य नौकरियों अथवा पदों, पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी।" 16(2) में उल्लेख है कि "केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान, निवास अथवा इनमें से एक के आधार पर किसी एक नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी ओर न विभेद किया जायेगा।"

अनुच्छेद 16 के अन्य तीन भागों में इसके अपवाद का उल्लेख है । अनुच्छेद 16(3) के अनुसार संसद चाहे तो विधि द्वारा किसी राज्य या स्थानीय पद को वहीं के निवासियों के लिए आरक्षित कर सकती है । अनुच्छेद 16(4) के अनुसार जिन जातियों का लोकसेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व न हो उनके लिए पदों तथा नौकरियों का राज्य आरक्षण कर सकता है । अनुच्छेद 16(5) में उपबन्धित है कि किसी धर्म या साम्प्रदायिक संस्था के अन्तर्गत किसी पद का अधिकारी उस सम्प्रदाय या धर्म का सदस्य हो सकता है ।

**अस्पृश्यता का उन्मूलन (Abolition of untouchability) (अनुच्छेद 17) –** समानता के अधिकार को सामाजिक रूप से सबको उपलब्ध कराने के लिए संविधान के अनुच्छेद 17 की व्यवस्था द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है । किसी भी रूप में इसका व्यवहार निषिद्ध कर दिया गया है तथा उसके आधार पर किसी को किसी दृष्टि से अयोग्य माना जाना एक ऐसा अपराध माना गया है जिसके अनुसार विधि के अन्तर्गत दण्ड दिया जा सकता है । यह अनुच्छेद बड़ा मूल्यवान है क्योंकि यह निकृष्ट सामाजिक असमानता और सामाजिक बुराई का अन्त करता है । छुआछूत के व्यवहार को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है । परन्तु स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी पूरी तरह से छुआछूत का अन्त नहीं हो पाया है । सजग और प्रभावशाली जनमत से ही इसे समाप्त किया जी सकता है ।

उपाधियों का अन्त (Aboilition of titles) (अनुच्छेद 18)–इस अनुच्छेद द्वारा कृत्रिम भेदभाव फैलाने वाली परिस्थितियों पर अंकुश लगाने की व्यवस्था की गई है । यह अनुच्छेद चार भागों में बाटा गया है –

18 (1) "सेना या विद्या सम्बन्धी उपधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नही करेगा।"

18 (2) "भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा।"

18 (3) "कोई व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।"

18(4) "राज्य के अधीन लाभ या विश्वास पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या उसके अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।"

समानता के अधिकार के पाँचों अनुच्छेदों (14 से 18) से यह स्पष्ट है कि संविधान के अन्तर्गत देश में सामाजिक और राजनीतिक समानता को स्थापित करने का जितना प्रभावशाली प्रयत्न किया गया उतना आर्थिक समानता लाने की दिशा में नहीं किया गया है ।

### 3.5.2 स्वतंत्रता का अधिकार (Right of freedom) (अनुच्छेद 19 से 22)

इन अनुच्छेदों में स्वतन्त्रता से सम्बन्धित व्यवस्थाएं निम्न प्रकार है –

**(i) भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता–अनुच्छेद 19 (1क) (Freedom of speech & expression) –** इस अनुच्छेद के अन्तर्गत सब नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है कि वे स्वतन्त्र रूप से स्वयं विचार कर सकें और अपने विचारों को स्वतन्त्र रूप से व्यक्त कर सकें । विचारों की अभिव्यक्ति जिन साधनों से होती है उन पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। इसी कारण प्रेस की स्वतन्त्रता भी इस व्यवस्था में सम्मिलत है । मूल संविधान में विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्वरूप व्यापक था और इसे अपमान लेख तथा वचन, न्यायालय अपमान, शिष्टाचार या सदाचार पर आघात और राज्य की सुरक्षा के हित में ही इसे प्रतिबन्धित किया जा सकता था। संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा इसे सीमित कर दिया गया । राज्य की प्रभुता, एकता, सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या नैतिकता, न्यायालय का अपमान, मानहानि या अपराध के लिए उत्तेजना की दृष्टि से राज्य इसे विधि द्वारा उचित रूप में प्रतिबन्धित कर सकता है । 1975 के आपातकाल में प्रेस द्वारा संसद और राज्य विधानमण्डलों की कार्यवाही के प्रकाशन पर रोक लगा दी थी किन्तु 44वें संशोधन द्वारा इस रोक को हटा दिया गया। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार रेडियो, चलचित्र, टेलीफोन, टेलीवीजन पर भी लागू होता है । अत : बिना किसी कानूनी आधार के इन पर दिखाए जाने वाले कार्यक्रमों पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। यह सत्य है कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा समय–समय पर दिए गए निर्णयों में इसे बिना किसी उचित करण और आधार के प्रतिबन्धित न करने के निर्णय दिए गए है ।

**(ii)निशस्त्र शांतिपूर्ण सम्मेलन या एकत्रित होने का अधिकार–अनुच्छेद 19(1ख) (Freedom to assemble peacefully and without arms) -** अनुच्छेद 19(ख) के अन्तर्गत सब नागरिकों को निशस्त्र शांतिपूर्वक सभा व सम्मेलन करने का अधिकार प्रदान किया गया है । इसमें प्रदर्शन आदि सभी की स्वतन्त्रता आती है । परन्तु यह स्वतन्त्रता भी असीमित नहीं है तथा भारत की संप्रभुता व अखण्डता या सार्वजनिक व्यवस्था के हित में राज्य की ओर से इस पर उचित प्रतिबन्ध लगाए जा सकते है ।

**(iii) समुदाय व संघ निर्माण की स्वतन्त्रता–अनुच्छेद 19 (1ग) (Freedom to form associations and unions) –** अनुच्छेद 19 (1ग) द्वारा सब नागरिकों को समुदायों व संघों के निर्माण की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है । परन्तु इस स्वतन्त्रता पर भी भारत की प्रभुसत्ता व अखण्डता अथवा सार्वजनिक व्यवस्था या नैतिकता के हित में राज्य की ओर से उचित प्रतिबन्ध लगाए जा सकते है ।

**(iv) भारतीय क्षेत्र मे अबाध भ्रमण की स्वतन्त्रता–अनुच्छेद 19 (1घ) (Freedom to move freely throughout the territory of India) -** संविधान के अनुच्छेद 19 (1च) द्वारा सब नागरिकों को बिना किसी रोकटोक या पार पत्र जैसे बिना किसी अनुमति पत्र के भारतीय सीमाओं के भीतर भ्रमण करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, परन्तु इस स्वतन्त्रता पर भी सामान्य जनता तथा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के हितों की रक्षा की दृष्टि सें प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है ।

**(v) भारतीय क्षेत्र मे आवास व निवास की स्वतन्त्रता–अनुच्छेद 19 (1च) (Freedom to reside and settle in any part of Indian territory) -** अनुच्छेद 19 (1च) द्वारा सब नागरिकों को भारतीय क्षेत्र के किसी भी भाग में आवास व निवास की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है । हालांकि यह स्वतन्त्रता भारत की इकहरी नागरिकता के नितान्त अनुकूल है किन्तु राज्य द्वारा इस स्वतन्त्रता पर भी सामान्य जनता अथवा अनुसूचित जातियों व जनजातियों, के हित में प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है ।

**(vi) वृत्ति, उपजीविका या कारोबार की स्वतन्त्रता–अनुच्छेद 19 (1 ज) (Freedom of profession, occupation, trade and business) –** अनुच्छेद 19 (1 ज) के द्वारा सब नागरिकों को वृत्ति, उपजीविका, व्यापार व व्यवसाय की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है । किन्तु इस स्वतन्त्रता पर भी राज्य द्वारा सामान्य जनता के हित में प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है । विशेष रूप से किन्हीं व्यवसायों के करने के लिए राज्य द्वारा आवश्यक योग्यताएं निर्धारित की जा सकती है अथवा किसी व्यवसाय को राज्य द्वारा पूर्ण या आंशिक रूप से अपने हाथ में लिया जा सकता है ।

**नोट –** सम्पत्ति के अर्जन, स्वामित्व और निपटान की स्वतन्त्रता अनुच्छेद 19 (1 छ) को 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा समाप्त कर दिया गया है । इससे सम्पत्ति का अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में समाज हो गया है, फिर भी सम्पत्ति के अधिकार को विधि द्वारा विनियमित अधिकार बनाने की व्यवस्था संविधान में एक नया उपलब्ध 300 (क) जोड़कर की गई है जिसके अनुसार विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता।

**(vii) अपराधसिद्धि के विषय में सुरक्षा–अनुच्छेद 20 (Protection in respect of conviction for offences) –** इस अनुच्छेद के अन्तर्गत चार प्रकार की सुरक्षा व्यवस्थाएं है–

(a) किसी व्यक्ति को अपराधी तभी माना जा सकता है जब उसने उस समय लागू किसी विधि का उल्लंघन किया हो।

(b) किसी व्यक्ति को उस समय लागू विधि में व्यवस्थित दण्ड से अधिक दण्ड नहीं दिया जा सकता।

(c) किसी व्यक्ति को किसी एक अपराध के लिए दो बार दण्ड नहीं दिया जा सकता।

(d) किसी अभियुक्त को अपने ही विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

**(viii) जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा–अनुच्छेद 21 (Protection of life and personal liberty)–** अनुच्छेद 21 द्वारा व्यक्ति के जीवन तथा उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की व्यवस्था की गई है। इसमें कहा गया है कि "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से किसी व्यक्ति को उसके जीवन और उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जाएगा।" (No person shall be deprived of his life or personal liberty except according to procedure established by law.) 44वें संवैधानिक संशोधन 1979 की व्यवस्था के अनुसार अब आपात काल में भी जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता है।

**(ix) गिरफ्तारी एवं बन्दीकरण के विरुद्ध सुरक्षा–अनुच्छेद 22 (Protection against arrest and detention) –** अनुच्छेद 22 द्वारा निम्नलिखित सांविधानिक अधिकार प्रदान किए गए है–

a) किसी भी व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारण से यथाशीघ्र अवगत कराये बिना बन्दी बनाकर नहीं रखा जा सकेगा ।

b) उसे अपनी रुचि के वकील से परामर्श करने तथा उससे अपने पक्ष की सफाई दिलवाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकेगा ।

c) उसे गिरफ्तारी से 24 घण्टे के अन्दर नजदीक के मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जायेगा ।

d) उसे न्यायालय की आज्ञा के बिना 24 घण्टे से अधिक हिरासत में नहीं रखा जाएगा । परन्तु ये अधिकार निम्न दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंगे–

i) अपराधी शत्रु देश का निवासी हो ।

ii) अपराधी निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया हो ।

**निवारक निरोध (Preventive detention)–** निवारक निरोध का तात्पर्य किसी प्रकार के अपराध के किए जाने से पूर्व और बिना किसी न्यायिक प्रक्रिया के व्यक्ति को नजरबंद किए जाने से है । इसका उद्देश्य व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दण्ड देना नहीं वरन् उसे अपराध करने से रोकना है ।

भारतीय संविधान युद्ध और शान्ति दोनों कालों के लिए इसकी व्यवस्था करता है। इससे सम्बन्धित व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 22(4) में की गई है। 22(5), (6) में भी इसका उल्लेख है। संसद ने 1950 में Preventive detention act पारित किया था तथा अवधि बढ़ाते–बढ़ाते यह 1969 तक चलता रहा। 1969 में संसद में कांग्रेस को आवश्यक बहुमत प्राप्त न होने से इसकी अवधि नहीं बढ़ाई जा सकी।

1971 मे (MISA) (मीसा) (Mintenance of internal security act) अपनाया गया जिसकी व्यवस्था निवारक निरोध से भी कठोर थी। चूंकि 44वें संवैधानिक संशोधन प्रतिकूल था अत: 1979 में स्वत: ही रद्द हो गया। फिर भी निवारक निरोध की व्यवस्था लागू रही। जनवरी 1980 में रा. सु. का: (National security Act) जारी किया । गया तथा यह

व्यवस्था दी गई कि जम्मू–कश्मीर के अतिरिक्त भारतीय संघ के सभी राज्यों पर यह लागू होगा। 1984 में इसे ओर कठोर बना दिया गया।

आर्थिक क्षेत्र में 1974 से ही विदेशी मुद्रा संरक्षण व निरोधक अधिनियम लागू है।

**आतंककारी एवं विध्वंसकारी गतिविधियां निरोधक कानून (टाडा) (Terrorist and disruptive activities act–TADA)–** भारत के पंजाब, कश्मीर एवं अन्य राज्यों में बढ़ी आतंकवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए 1985 में लागू किया गया। परन्तु इस, दुरुपयोग हुआ और कुछ ऐसे व्यक्ति बन्दी बना लिए गए जिनका सम्बन्ध आतंकवादी गतिविधियों से नहीं था। अत: यह माँग बढ़ी कि इसकी अवधि 23 गई, 195 के बाद नहीं बढ़ाई जानी चाहिए। इसकी अवधि नहीं बढ़ाई गई तथा इस प्रकार टाडा भी समाप्त हो गया। संघ सरकार टाडा के स्थान पर नया कानून लाने का विचार कर रही है।

**निवारक निरोध, मीसा, रा. सु. का., टाडा आदि की आलोचना –** (1) इसमें अवांछनीय व्यवस्था को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो जाती है।

2. बन्दी को निरोध की अवस्था में शारीरिक यातना दी जा सकती है। इससे बचाव का उपाय नहीं किया गया है।
3. निरोध की अवस्था में बन्दियों के परिवार के भरण–पोषण की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।
4. शान्तिकाल में निवारक निरोध के उपयोग को रोकने या दलीय हितों के लिए इसका प्रयोग लेने से रोकने की व्यवस्था नहीं है।
5. जब तक से लागू रहे इनकी आलोचना होती रही।

**औचित्य–**आज जिस प्रकार की स्थितियाँ है उनमें राष्ट्र रक्षा की दृष्टि से निवारक निरोध की व्यवस्था का औचित्य है और यह व्यवस्था उपयोगी है। इतना अवश्य है कि यह व्यक्ति की रक्षा भी कर सकता है और हत्या भी, अत: विवेक पूर्वक और सावधानी से ही इसका प्रयोग होना चाहिए।

### 3.5.3 शोषण के विरुद्ध अधिकार–अनुच्छेद (23, 24) (Right against exploitation)–

अनुच्छेद 23(i) द्वारा मनुष्यों के क्रय विक्रय का निषेध, किया गया है (Prohibition of traffic in human beings) इससे अनैतिक कार्य को कम करने में मदद मिली है। इसी अनुच्छेद द्वारा बेगार का निषेध किया गया है (Prohibition of forced labour) ऐसे कार्य मानवीय शोषण का प्रतीक है। इस प्रकार के कार्यों को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया है । परन्तु राज्य का यह अधिकार है कि बिना किसी भेदभाव के सार्वजनिक उद्देश्य से वह अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है ।

**अनुच्छेद (24) बालश्रम का निषेध (Prohibition of child labour)–** इस अनुच्छेद के द्वारा बालश्रम के निषेध के लिए यह व्यवस्था की गई है कि 14 वर्ष से कम उम्र के बालक को, कारखानों, खान आदि जैसे कठोर परिश्रम के काम में नहीं लगाया जा सकेगा । वस्तुत:

शोषण के विरुद्ध अधिकार का प्रमुख उद्देश्य एक वास्तविक सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है ।

### 3.5.4 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार– (अनुच्छेद 25 से 28) (Right to freedom of religion)

अनुच्छेद 25 द्वारा अन्त:करण, धर्मपालक व प्रचार की स्वतन्त्रता दी गई है (Freedom of conscience, profession, practice and propagation of religion)। इस अनुच्छेद में व्यवस्था है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार व स्वास्थ्य तथा इस भाग वर्णित अन्य प्रतिबन्धों के अधीन रहते हुए, सब व्यक्तियों को अन्त: करण की स्वतन्त्रता तथा किसी भी धर्म को स्वीकार करने, उसका पालन करने और उसका प्रचार करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रसंग में सिक्खों द्वारा कृपाण धारण करना उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता का अंग माना गया है ।

**अनुच्छेद 26– धार्मिक मामलों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता (Freedom to manage religious affairs)–** इस अनुच्छेद के द्वारा प्रत्येक धर्म के अनुयायी को –

(i) धार्मिक व दानदायी संस्थाओं की स्थापना व उनके संचालन,

(ii) धर्म के मामलों में स्वयं प्रबन्ध,

(iii) धार्मिक संस्थाओं द्वारा चल व अचल सम्पत्ति के अर्जन, तथा

(iv) विधि के अनुसार उसके प्रबन्ध का अधिकार प्रदान किया गया है ।

**अनुच्छेद 27– धर्म विशेष की वृद्धि के लिए कर देने की स्वतन्त्रता (Freedom to payment of taxes for promotion of any particular religion)–** इस अनुच्छेद द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि किसी धर्म विशेष की समृद्धि के लिए प्रयोग किए जाने वाले किसी कर को देने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता । इस व्यवस्था द्वारा जजिया जैसे कर लगाए जाने को निषिद्ध कर दिया गया है ।

**अनुच्छेद 28– राजकीय शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा व धार्मिक पूजन में उपस्थिति की स्वतन्त्रता (Freedom as to attendence at religious instructions or religious worship in educational instructions)–** चूंकि भारतीय राज्य का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का है अत: राजकीय निधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी । न्यास आदि द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं, धार्मिक शिक्षा व पूजन में कोई विद्यार्थी तभी भाग ले सकेगा जब उसके अभिभावक द्वारा उसे ऐसी अनुमति दे दी गई हो ।

परन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता भी प्रतिबन्ध लगा सकता है । राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य इत्यादि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है । अन्य सार्वजनिक हित में भी राज्य हस्तक्षेप कर सकता है । अत: उचित प्रतिबन्धों के साथ संविधान में सभी व्यक्तियों कें लिए धार्मिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गई है ।

### 3.5.5 सांस्कृतिक व शैक्षिक अधिकार (अनुच्छेद 29, 30) (cultural and educational rights)

अनुच्छेद 28– अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा (Protection of interests of minorities)। इस अनुच्छेद के अनुसार, "नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी पृथक भाषा, लिपि या संस्कृति को सुरक्षित करने का अधिकार प्राप्त है।" केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक के आधार पर राजकीय अथवा राजकीय सहायता प्राप्त किसी शिक्षा संस्था में किसी नागरिक को प्रवेश की मनाही नहीं की जा सकती है ।

**अनुच्छेद 30– अल्पसंख्यकों द्वारा शिक्षा–संस्थाओं की स्थापना व उनके संचालन का अधिकार (Rights of minorities to establish and administer educational institutions) –** इस अनुच्छेद के अनुसार भाषा या धर्म पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व उनके संचालन का अधिकार प्रदान किया गया है । यह भी व्यवस्था है कि शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा कि वे किसी धर्म या भाषा पर आधारित अल्प वर्ग के प्रबन्ध में है ।

**अनुच्छेद 31– सम्पत्ति का अधिकार समाप्त और वर्तमान स्थिति–** प्रारम्भ में सम्पत्ति का अधिकार भी अनुच्छेद 19 (1छ) तथा अनुच्छेद 31 के आधार पर मूल अधिकार था परन्तु 4वें संवैधानिक संशोधन द्वारा इसे समाप्त कर दिया गया है । सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था हमारे संविधान के लागू होने के समय से ही विवाद का विषय थी । प्रारम्भ में की गई व्यवस्था की विशेषता यह थी कि किसी भी सम्पत्ति को बिना किसी मुआवजे के नहीं लिया जा सकता। चूकि इसमें जमींदारी उन्मूलन का कार्य अवरुद्ध था इसलिए 1951 में संशोधन (प्रथम) द्वारा यह व्यवस्था दी गई कि जमींदारी व जागीदारी उन्मूलन के कानून मुआवजे की व्यवस्था के बिना भी वैध समझे जाएंगे । इसी दिशा में चतुर्थ संशोधन 1955, 24वां संशोधन 1071, 25वां संशोधन 1971, 29वां संशोधन 1972, 34वा संशोधन 1974 और 40वां संशोधन 1976 इसी आशय के थे। 1979में 44वें संशोधन के बाद सम्पत्ति की वर्तमान स्थिति निम्न प्रकार है, जो अनुच्छेद 300क की व्यवस्था करके की गई है । सम्पत्ति का अधिकार अब एक मूल अधिकार नहीं रहा, वरन् कानूनी अधिकार हो गया है । अब कानूनी प्रक्रिया के बिना शासन द्वारा किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं छीनी जा सकेगी । जिन व्यक्तियों के पास भूमि सीमाकरण कानून की सीमा के भीतर भूमि है और उस भूमि पर वे स्वयं कृषि कार्य करते है तो बाजार मूल्य पर मुआवजा दिए बिना उन व्यक्तियों की भूमि राज्य द्वारा नहीं ली जा सकेगी ।

### 3.5.6 संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32) (Right to constitutional remedies)

संविधान में जिन मूल अधिकारों की व्यवस्था की गई है उनका उल्लंघन शासन की ओर से न हो पाये, इसके लिए संविधान द्वारा व्यक्ति को संवैधानिक उपचारों का अधिकार भी एक मूल अधिकार के रूप में प्रदान किया गया है । यह अत्यधिक महत्व का है इसीलिए डॉ.

भीमराव अम्बेडकर ने इसे संविधान का हृदय तथा आत्मा कहा है । अनुच्छेद 32 (1) के अनुसार, "संविधान के इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को लागू किए जाने के लिए उचित प्रक्रिया के लिए सम से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष जाने का अधिकार प्रत्याभूत है।"

अनुच्छेद 32(2) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि इन अधिकारों को लागू करने के लिए उचित लेख (Writ) जारी कर सकेगा।

अनुच्छेद 32(3) के अधीन संसद विधि द्वारा किसी अन्य न्यायालय को उसकी स्थानीय सीमाओं के भीतर उच्चतम न्यायालय द्वारा खण्ड (2) के अधीन प्रयोग की जाने वाली किसी या सभी शक्तियों का प्रयोग करने के लिए अधिकार प्रदान कर सकती है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनुच्छेद 226 के तहत राज्यों के उच्च न्यायालयों को भी मूल अधिकारों के प्रवर्तन का अधिकार दिया गया है ।

अनुच्छेद 32(4) यह भी उपबन्धित किया गया है कि संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित के सिवाय इस अनुच्छेद के द्वारा गारन्टी किए गए अधिकारों को निलम्बित नहीं किया जायेगा। इसको आपातकाल के अनुच्छेद 352 तथा 359 द्वारा निलम्बित किया जा सकता है । संवैधानिक उपचार के अधिकार के निलम्बन से नागरिक स्वतन्त्रताएं प्रभावित होती है और देश में निरंकुश शासन की आशंका हो जाती है ।

सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों द्वारा मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए जो लेख जारी किए जाते है वे निम्न प्रकार है –

(i) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas corps)– यह अनुचित रूप से बन्दीकरण के विरुद्ध जारी किया जाता है । यह लेख उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है जो न्यायालय को यह प्रार्थना पत्र दे कि उसे अनुचित रूप से बन्दी बनाया गया है । इसके अन्तर्गत न्यायालय व्यक्ति के बन्दीकरण के आदेश जारी करने वाले अधिकारी को यह आदेश देता है कि वह बन्दी व्यक्ति को उसके आदेश के अनुसार न्यायालय में उपस्थित करे जिससे न्यायालय दोनों पक्षों को सुनने के बाद उसके बन्दीकरण की वैद्यता या अवैद्यता पर निर्णय ले सके और यदि बन्दीकरण अनुचित हो तो उसे मुक्त करने की आज्ञा दे सके ।

(ii) परमादेश (Mandamus) – यदि कोई ऐसा मामला न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए जिसमें किसी पदाधिकारी द्वारा अपने सार्वजनिक कर्तव्य का पालन न किया गया हो, तो दोनों पक्षों को सुनने के बाद यदि न्यायालय सम्बन्धित अधिकारी को अपने कर्तव्य का पालन न करने का दोषी पाये, तो उसे उस कर्तव्य का पालन करने का आदेश देते हुए यह लेख जारी करता है ।

(iii) प्रतिवेश (Prohibition) – यह लेख सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों द्वारा नीचे के न्यायालयों या अर्थ न्यायिक न्यायाधिकरण को जारी किया जाता है और इसके द्वारा उन्हें यह आदेश दिया जाता है कि वह अमुक मामले में अपने यहाँ चलने वाली कार्यवाही स्थगित कर दे, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर है ।

(iv) उत्प्रेरण (Certiorari) – यह लेख ऊपर के न्यायालय द्वारा उन मामलों में जारी किया जाता है जिनमें नीचे का कोई न्यायालय अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर कार्य करे या अपने

अधिकार का दुरुपयोग करते हुए प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों को भंग करे । ऐसे मामलों में इस लेख को जारी करके विवादों को नीचे के न्यायालय से ऊपर के न्यायालय को भेजने के अथवा आवश्यक सूचना देने के आदेश दिए जा सकते है ।

(v)अधिकार पृच्छा (Qua–warranto)– यह लेख उन मामलों में जारी किया जाता है जिनमें कोई व्यक्ति अनुचित रूप से ऐसे पद को प्राप्त कर ले जिसका वह अधिकारी न हो । इसके द्वारा न्यायालय उस व्यक्ति से पूछता है कि वह उस पद पर किस आधार पर कार्य कर रहा है और जब तक वह उसका उत्तर नहीं देता वह कार्य नहीं कर सकता। संविधान के द्वारा संकटकाल में मौलिक अधिकारों (अनुच्छेद 21 में वर्णित जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकार को छोड़कर) को स्थगित करने की व्यवस्था की गई है।

## 3.6 मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का मूल्यांकन (Evolution of system of fundamental rights)

मौलिक अधिकारों के पक्ष–विपक्ष दोनों में ही बहुत कुछ कहा जाता है । अत: विपक्ष व पक्ष को प्रस्तुत करके ही मूल्यांकन किया जा सकता है ।

**मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का विपक्ष:**

**(1) मौलिक अधिकारों में आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था नही है:** प्रथम आलोचना उनकी अपूर्णता के आधार पर है अर्थात यह कहा जाता है कि उसमें काम करने, शारीरिक अयोग्यता की स्थिति में राजकीय सहायता पाने, निशुल्क शिक्षा प्राप्ती जैसे अधिकारों की व्यवस्था नहीं की गई है ।

**(2) मौलिक अधिकारों पर बहुत अधिक अपवाद व प्रतिबन्ध लगा दिए गए है:** आलोचना का आधार व्यवस्था में मौलिक अधिकारों पर लगाए गए बहुत अधिक अपवाद व प्रतिबन्ध है क्योंकि इनके होने से अधिकार प्राय: शून्य हो जाते है । इसी आधार पर संविधान निर्माण के समय प्रो. के. टी. शाह ने इस व्यवस्था की आलोचना यह कहते हुए की थी कि "ये स्वतन्त्रताएं वस्तुत: इतनी संदेहपूर्ण हो गई है कि इन्हें ढूंढने के लिए सूक्ष्म दर्शक यंत्र की आवश्यकता होगी।"

**(3) आपातकाल मे मौलिक अधिकार स्थगित किए जा सकते है:** संविधान के अन्तर्गत आपातकालीन स्थिति में राष्ट्रपति को मौलिक अधिकारों को स्थगित करने का अधिकार है । चूंकि प्रारम्भ में यह युद्ध व शांति दोनों ही की अवस्था में लागू की जा सकती थी अत: इसका दुरुपयोग भी हुआ । परन्तु 44वें संशोधन द्वारा धारा 352 में संशोधन करके 'सशस्त्र विद्रोह' को आधार बनाया गया तथा यह व्यवस्था की कि 20वें और 21वें अनुच्छेदों द्वारा प्रदत्त व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को स्थगित नहीं किया जाएगा। उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 20 अपराध सिद्धि विषयक सुरक्षा का तथा 21 वां उपबन्ध व्यक्ति को जीवन व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता विषयक सुरक्षा का मौलिक अधिकार प्रदान करता है ।

**(4) निवारक निरोध की व्यवस्था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार का हनन करती है:** हालांकि अनुच्छेद 22 में गिरफ्तारी व बन्दीकरण से सुरक्षा की व्यवस्था की गई है

परन्तु अपवाद में यह कहा गया है कि यह उस व्यक्ति पर लागू नहीं होगी, जिसे निवारक निरोध का प्रावधान करने वाले किसी कानून के अन्तर्गत बन्दी बनाया गया हो। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निवारक निरोध 1950, मीसा 1971, रासुका 1980 और टाडा 1985 की व्यवस्था की गई जो प्रारम्भ से ही आलोचना का विषय रही और जब तक ये कानून रहे आलोचना होती ही रही।

**मौलिक अधिकारों, की व्यवस्था का पक्ष:**

इस व्यवस्था के पक्ष में प्रस्तुत तर्क निम्नानुसार है:–

**(1) मौलिक अधिकारों की व्यवस्था व्यावहारिकता पर आधारित है:** वास्तविकता पर आधारित होने के कारण ही इसमें काम करने, शारीरिक अयोग्यता की स्थिति में सरकारी सहायता प्राप्त करने, निशुल्क शिक्षा प्राप्त करने तथा न्यूनतम वेतन पाने जैसे अधिकारों को मौलिक अधिकारों की व्यवस्था में सम्मिलित नही किया गया है । वस्तुत: भारत के संसाधन ऐसे नहीं है जिससे वह उक्त प्रकार के अधिकारों की व्यवस्था मौलिक अधिकारों के रूप में कर सके । हमारा संविधान ऐसे अधिकारों के प्रति उदासीन भी नही है और उनकी व्यवस्था किए जाने का अपना संकल्प उसके द्वारा नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

**(2) मूल अधिकारी के अपवाद व प्रतिबन्धों का उद्देश्य वांछनीय तथा आधार औचित्य है:** मौलिक अधिकारों पर जिन अपवादों व प्रतिबन्धों की व्यवस्था की गई है उनका उद्देश्य उन्हें अनावश्यक रूप से सीमित करना नहीं वरन् उन्हें राष्ट्र की सुखा, परराष्ट्र, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या नैतिकता आदि जैसे हितों की रक्षा की दृष्टि से सीमित करना है । इसके अतिरिक्त इन अपवादों प्रतिबन्धों का आधार भी औचित्य है तथा जिस औचित्य के आधार पर ये उपबन्ध या प्रतिबन्ध लगाए जाएं, उन पर नजर रखना न्यायालय का काम है ।

भूतपूर्व न्यायाधीश छागला ने अपनी पुस्तक 'विधि, स्वतन्त्रता व जीवन' (Law Liberty and life) में लिखा है कि "हमारा संविधान एक हाथ से अधिकार देता है और दूसरे अनेक अपवादों व प्रतिबन्धों के माध्यम से उन्हें सीमित कर वापस कर लेता है, यह कहा जाता है । मेरे विचार से यह आलोचना उचित नहीं है । भारतीय संविधान द्वारा असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धों के माध्यम से मौलिक अधिकारों को सीमित तो कर दिया गया है, परन्तु इस प्रकार के प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय का अधिकार संविधान द्वारा व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं वरन् न्यायपालिका को दिया गया है और न्यायपालिका के स्वतन्त्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका पर विश्वास कर सकते है ।

**(3) राष्ट्र रक्षा की दृष्टि से निवारक निरोध की व्यवस्था भी वांछनीय है:** उन परिस्थितियों में जिनमें कुछ विध्वंसकारी तत्व अपने अवांछनीय कार्यों से देश की रक्षा के लिए संकट खड़ा कर दें, निवारक निरोध, आन्तरिक सुरक्षा, रासुका, टाडा जैसी व्यवस्थाओं की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता । गोपालन बनाम मद्रास राज्य के बाद में न्यायाधीश पतंजलि शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि "इस भयावह उपकरण की व्यवस्था, जिसका उस जनतांत्रिक संविधान में कोई स्थान नहीं हो सकता, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मौलिक

अधिकार की पवित्रता प्रदान करता है और जो (व्यवस्था) प्रस्तावना में किए गए संकल्पों के विरुद्ध है, उन समाजविरोधी तथा विध्वंसकारी तत्वों के द्वारा स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के विरुद्ध की गई है जिनमें नवजात जनतन्त्र के राष्ट्रीय हित के लिए खतरा पैदा हो सकता है।"

वास्तव में जैसा कि कहा जाता है यह एक भरी हुई बन्दूक के समान है जिसका प्रयोग व्यक्ति की हत्या या रक्षा दोनों के लिए किया जाता है और यदि उसका प्रयोग रक्षात्मक है तो उसे बुरा नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: देश के हित को भारी हानि पहुँचाते हुए जो लोग तस्करी विध्वंस अथवा देशद्रोह जैसे अपराध करें तो ऐसे व्यक्तियों से निपटने के लिए निवारक निरोध, मीसा, रासुका, टाडा जैसी किसी व्यवस्था का हनन न हो तो इसे आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिए।

**मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की वस्तुस्थिति:**

यह मानना होगा कि मौलिक अधिकार व्यक्ति के विकास लिए आवश्यक है । वे मानवीय अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता पर आधारित है तथा उनकी प्रभावी व्यवस्था संविधान द्वारा की जानी चाहिए, यह बात निर्विवाद रूप से मान्य है । 1993 में इसी दिशा में मानवाधिकार आयोग व न्यायालय के गठन सम्बन्धी विधेयक भी पारित किया गया है । 1994 से मानवाधिकार आयोग ने काम करना प्रारम्भ कर दिया है और 'एमनेस्टी इन्टरनेशनल' तथा कुछ मानवाधिकार समर्थकों द्वारा मानवाधिकार के हनन की शिकायत को दूर करने का प्रयास किया गया है । हाँ, इतना माना जाता है कि भारतीय संविधान में राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरती गई है । यह उचित ही होगा कि राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण आवश्यक सावधानी बरती जाए और अधिकारों पर आवश्यक अंकुश लगाया जाए, परन्तु साथ–साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि शासन के कार्यों को न्यायिक पुनरीक्षण के अधीन रखा जाए जिससे राज्य की सत्ता एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उचित सामंजस्य बना रह सके । साथ ही यह भी आवश्यक है कि मानवीय स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं भारतीय जनता को सजग रहना चाहिए क्योंकि न्यायालय के साथ–साथ सजग लोकमत भी अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक है ।

## 3.7 हमारे मौलिक कर्तव्य (Fundamental duties)

26 जनवरी 1950 को लागू किए गए भारत के मूल संविधान में मूल कर्तव्यों की व्यवस्था नहीं थी, केवल अधिकारों की व्यवस्था थी । परन्तु भारतीय लोकतन्त्र की चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए 1976 में व्यापक (42वां) संवैधानिक संशोधन किया गया और मौलिक कर्तव्यों की भी व्यवस्था की गई । इन निमित्त संविधान में नया भाग (4क) (अनुच्छेद 51 (क) जोड़ा गया । संविधान में मूल कर्तव्यों के रूप में जो कुछ जोड़ा गया उसके अनुसार नागरिक के निम्न 10 कर्तव्य निर्धारित किए गए है:–

1) भारत का प्रत्येक नागरिक संविधान का पालन करेगा और उसके आदर्शो, संस्थाओं, राष्ट्रीय ध्वज व राष्ट्र गीत का सम्मान करेगा।

2) भारत का प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखे और उनका पालन करे ।
3) भारत का प्रत्येक नागरिक भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।
4) भारत का प्रत्येक नागरिक देश की रक्षा करेगा आवाहन किए जाने पर राष्ट्रीय सेवा करेगा।
5) प्रत्येक नागरिक भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का परित्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है ।
6) भारत का प्रत्येक नागरिक हमारी मिश्रित संस्कृति की समृद्ध परम्परा को मान्य समझेगा और उसकी रक्षा करेगा।
7) भारत का प्रत्येक नागरिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील नदी और वन्य जीव है, रक्षा करेगा, उसका संवर्धन करेगा और प्राणी के प्रति दया रखेगा।
8) भारत का प्रत्येक नागरिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करेगा।
9) प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करेगा व हिंसा से दूर रहेगा।
10) भारत का प्रत्येक नागरिक वैयक्तिक और सामूहिक क्रियाकलाप के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करेगा जिससे राष्ट्र निरंतर प्रयत्न और उपलब्धियों की नई ऊँचाइयों को छू ले।

## 3.8 मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था का मूल्यांकन

मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था कुछ दृष्टियों से अलग आलोचना योग्य व कुछ दृष्टियों से प्रशंसनीय है । इसके दोनों पक्षों को निम्नानुसार देखा जा सकता है:–

**विपक्ष:**

**(1) मूल कर्तव्यों की आड़ में शासन के अत्याचार की संभावना:** मूल कर्तव्यों में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है उससे यह सम्भव हो सकता है कि उसकी आड़ में शासन लोगों को अनावश्यक रूप से तंग कर सके । जैसे संविधान के पालन के कर्तव्य के नाम पर लोगों को उनकी व्यवस्थाओं के प्रति मतभेद व्यक्त करने से रोका जा सकता है । भारत की प्रभुसत्ता की मान्यता के नाम पर शासन की प्रभुसत्ता पर अनावश्यक बल दिया जा सकता है तथा उसके कार्यों की आलोचना व विरोध को संविधान का उल्लंघन माना जा सकता है । इसी प्रकार धार्मिक, भाषायी, क्षेत्रीय एवं वर्गीय विभिन्नता एवं सदभावना, मिश्रित संस्कृति जीवधारियों के प्रति सहानुभूति तथा सुधार की भावना आदि ऐसे विचार है, जिनका कोई सर्वसम्मत अर्थ सामान्यत: नहीं हो सकता है तथा शासन की ओर से जनता के साथ अनावश्यक रूप से कठोर व्यवहार किया जा सकता है ।

**(2) अनेक मूल कर्तव्य अस्पष्ट है:** अनेक मूल कर्तव्य ऐसे है जिन्हें न अच्छी तरह सक समझा जा सकता है और न उनका पालन किया जा सकता है । जैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के

संग्राम के आदर्श इतने विविध प्रकार के थे कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार समझ सकता है । मिश्रित संस्कृति की बात भी ऐसी ही है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवता आदि से सम्बन्धित कर्तव्य भी ऐसे है, जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि से परे की वस्तु है तथा अन्वेषण और सुधार की भावना आदि ऐसे शब्द है जिनका अर्थ सर्वथा अस्पष्ट है ।

**(3) मूल कर्तव्यों की व्यवस्था अत्यधिक आदर्शवादी है:** अनेक मूल कर्तव्य व्यावहारिक न होकर केवल आदर्शवादी है जैसे सौहार्द, भाई चारे की भावना, अहिंसा तथा मानवता सम्बन्धी कर्तव्यों को ले सकते है जो केवल आदर्श की वस्तुऐं हैं तथा जिन्हें व्यवहार में क्रियान्वित किया जाना सम्भव नहीं है ।

**(4) कुछ कर्तव्यों को मात्र दोहराया गया है:** कुछ ऐसे कर्तव्य है जिन्हें मात्र दोहराया गया है जैसे तीसरा कर्तव्य कहता है कि नागरिक को भारत की संप्रभुता की रक्षा करनी चाहिए, लगभग वही बात चौथे कर्तव्य के अन्तर्गत इन शब्दों में रखी गई है कि नागरिक को देश सेवा करनी चाहिए । छटे कर्तव्य के अन्तर्गत जिस मिली–जुली संस्कृति की बाट कही गई, लगभग वही बात पांचवे कर्तव्य में भी आ जाती है ।

**(5) मौलिक कर्तव्य पर्याप्त नही:** स्वर्ण सिंह समिति के प्रतिवेदन में करों की अदायगी के बारे में जो सुझाव दिए गए थे उन्हें यहाँ स्थान नहीं दिया गया।

**(6) मूल कर्तव्यों मे से कुछ के पालन कराने के लिए कोई कानूनी–व्यवस्था सम्भव नही है:** अनेक ऐसे कर्तव्य है, जिनके पालन के लिए विधि द्वारा किसी को बाध्य किया नहीं किया जा सकता। जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्शों के पालन, वैज्ञानिकता तथा मानवीय दृष्टिकोण के विकास अथवा सांस्कृतिक विभिन्नता के आदर सम्बन्धी कर्तव्य है, जिनका पालन कसने के लिए कोई व्यवस्था किया जाना सम्भव नहीं है तथा न ही दण्ड की व्यवस्था की जा कती है ।

**(7) मौलिक कर्त्तव्य नैतिक मान्यता बनकर रह गए है:** मौलिक कर्तव्यों की सबसे बड़ी दुर्बलता संविधान के चतुर्थ भाग के अन्त में उनका लिपिबद्ध क्योंकि इस भाग मे लिपिबद्ध होने नीति निदेशक तत्वों की तरह इन्हें भी नैतिक निर्देश मान्यताएं ही माना जाता है ।

**मौलिक कर्तव्यों का महत्व या पक्ष:**

**(1) कुछ कर्तव्य स्पष्ट है:** जैसे संविधान व संस्थाओं का आय, देश की एकता व अखण्डता की रक्षा, महिलाओं के सम्मान, प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा आदि से सम्बन्धित कर्तव्य स्पष्ट है जिन्हें सभी समझ सकते है और जिन पर सभी चल सकते है ।

**(2) कर्तव्यों का आदर्शवादी होना राष्ट्रीय जीवन को आदर्शोन्मुख बनाने के लिए लाभकारी है:** जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कुछ आदर्शों को सामने रखना आवश्यक है । आदर्शमूलक कर्तव्य हमें इस बात को बोध कराते है कि किन उद्देश्यों पर चलना है और राष्ट्रीय जीवन को किस प्रकार आदर्शोन्मुख बनाना है ।

**(3) कर्तव्यों की व्यवस्था लोकतन्त्र के लिए लाभकारी है:** संविधान का आदर, सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा, राष्ट्र की संप्रभुता व अखंडता की रक्षा आदि के लिए कर्तव्य लोकतन्त्र की व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाले है ।

**(4)** पर्यावरण की सुरक्षा सम्बन्धी कर्तव्य वातावरण को दूषित होने से बचाने के लिए उपयोगी है।

**(5)** राष्ट्रीय जीवन को उच्चस्तरीय बनाने की दृष्टि से वैयक्तिक व सार्वजनिक रूप से योग्यता व श्रेष्ठता प्राप्त करने का कर्तव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

**(6) यह कहना पूर्णतया सत्य नही है कि कर्तव्यों के पालन के लिए कानूनी व्यवस्था का अभाव है:** संविधान के चतुर्थ भाग में संलग्न होने के कारण मौलिक कर्तव्यों का अपना महत्व है । न्यायपालिका से यह अपेक्षा की जाती है कि यह संविधान या कानूनों की व्याख्या करते समय इनसे निर्देशित भी होगी । उपरोक्त मौलिक कर्तव्यों की अवहेलना करने पर या इन्हें न मानने पर संसद को उपयुक्त दण्ड देने या निर्धारित करने का अधिकार भी दिया गया है । अत: यह कहना गलत होगा कि इन कर्तव्यों का पालन कराने के लिए कोई कानूनी व्यवस्था नहीं की गई है ।

## 3.9 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए और इस आलेख की सीमाओं को इंगित कीजिए ।
2. भारत के संविधान में नागरिक और निजि स्वतन्त्रता की प्रकृति क्या है?
3. भारतीय संविधान में निवारक निरोध, मीसा, रासुका, टाडा की व्यवस्था और इस सम्बन्ध में अब तक की व्यवहारिक व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।
4. मूल संविधान द्वारा प्रदान किए गए सम्पत्ति के मूल अधिकार और अब तक इस अधिकार के सम्बन्ध में किए गए संवैधानिक संशोधनों को वर्णन कीजिए । 44वें संवैधानिक संशोधन के बाद सम्पत्ति के अधिकार की स्थिति क्या है?
5. भारतीय संविधान के 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) के अन्तर्गत की गई मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था का मूल्यांकन कीजिए?

## 3.10 संदर्भ ग्रन्थ


पाइली, एम. वी., 1987 – **इण्डियन कांस्टीट्यूशन,** विश्वनाथ प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, मद्रास।

फड़िया, बी. एल., 1996 – **इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स,** साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

जौहरी, जे. सी. एवं आर. के. पुखार, 1998 – **भारतीय शासन और राजनीति,** विशाल पब्लिकेशन्स, 6 यू. बी बंगलो रोड, दिल्ली एवं अड्डा होशियारपुर जालंधर।

जोशी, जी. एन., 1983 – **द कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया,** दिल्ली।

# इकाई 4
# राज्य की नीति के निदेशक तत्व

**इकाई की रूपरेखा**

4.0 उद्देश्य
4.1 सामान्य परिचय– आवश्यकता, अर्थ, स्वरूप आदि
4.2 संविधान की भूमिका तथा नीति निदेशक तत्वों का सम्बन्ध
4.3 संविधान में वर्णित नीति निदेशक तत्व: वर्गीकरण
4.4 नीति के निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन और उपलब्धियाँ
4.5 मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्व–निदेशक तत्वों की प्रमुखता का प्रश्न
4.6 नीति निदेशक तत्वों की आलोचना
4.7 नीति निदेशक तत्वों का महत्व
4.8 सारांश
4.9 अभ्यास प्रश्न
4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ ।

## 4.0 उद्देश्य

इकाई का मूल उद्देश्य नीति निदेशक सिद्धान्तों का अर्थ, स्वरूप एवं व्यवस्था व विषय क्षेत्र का ज्ञान कराना है अर्थात् उद्देश्य निम्नानुसार गिनाए जा सकते है: –

(i) नीति निदेशक तत्वों के अर्थ, स्वरूप व क्षेत्र से परिचित हो सकेंगे ।

(ii) नीवि निदेशक तत्वों की संविधान में स्थिति और उल्लेख की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

(iii) जिन आदर्शों की प्राप्ति भारतीय राज्य का लक्ष्य है उन आदर्शों की गणना कर सकेंगे ।

(iv) निदेशक तत्वों के महत्व से परिचित हों सकेंगे ।

(v) नीति निदेशक तत्वों और मौलिक अधिकारों के बीच बदलते सम्बन्धों का अध्ययन कर सकेंगे।

(vi) ये तत्व किस तरह हमारे संविधान की प्रतिज्ञाओं और आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करते है, इससे परिचित हो सकेंगे ।

## 4.1 सामान्य परिचय

नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था हमारे संविधान की एक विशेषता है । इस व्यवस्था का उद्देश्य उस दिशा का निर्धारण करना है, जिसकी ओर राज्य को उन्मुख होना तथा वह दिशा भारतीय राज्य को एक लोक कल्याणकारी राज्य होने की और ले जाने की है । भारतीय संविधान की यह व्यवस्था आयरलैण्ड के संविधान जैसी है परन्तु इन तत्वों में संविधान की संजीवनी व्यवस्थाएं है । इनमें हमारे संविधान का और उसके सामाजिक, आर्थिक और

राजनीतिक न्याय दर्शन का वास्तविक तत्व निहित है । इनका लक्ष्य देश में सामाजिक परिवर्तन तथा क्रान्ति की भावना को साकार करना है । संविधान के चतुर्थ भाग में अनुच्छेद 36 से 51 तक इनका उल्लेख किया गया है और **जैसा कि शाब्दिक अर्थ से स्पष्ट है ये तत्व वे निर्देश है जिन्हें संविधान ने राज्य को दिया है और उससे यह आशा की गई है कि वह कि बन्धन के रूप मे नही वरन् अपने कर्तव्य के रूप में उन पर चलेगा तथा उनमें अन्तर्निहित लक्ष्यों को प्राप्त करेगा। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद** के अनुसार, **"राज्य के नीति निदेशक तत्वों का उद्देश्य जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है ।"** इनको सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय की दृष्टि से देश के शासन के मूल आधार के रूप में रखा गया है । अत: ये सिद्धान्त मार्गदर्शी है, ऊंचे–ऊंचे आदर्शों की घोषणाएं है, जो आदर्श कानून और आदर्श नीति की ओर संकेत करते है । संविधान में अनुच्छेद 37 में स्पष्ट उल्लेख है कि **"इस भाग में दिए गए उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा लागू नही किया जा सकेगा, किन्तु फिर भी इसमें दिए हुए तत्व देश के शासन में मूलभूत है और विधि निर्माण में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।"**

संविधान के प्रावधानों से नीति निदेशक तत्वों के स्वरूप को लेकर दो बातें स्पष्ट होती है । **पहली बात** जो कि इसके विषय में स्पष्ट होती है यह है कि इनके अन्तर्गत राज्य से जिन बातों की अपेक्षा की गई है, उनकी पूर्ति कराने के लिए व्यक्ति न्यायालय की शरण लेकर राज्य को बाध्य नहीं कर सकेगा । दूसरे शब्दों में ये न्यायिक प्रक्रिया द्वारा लागू किए जाने योग्य नहीं है । **दूसरी बात** जो संविधान के प्रावधानों सै स्पष्ट होती है वह यह है कि न्यायालयों द्वारा लागू किए जाने योग्य न होने पर भी, देश के शासन में उनकी मान्यता संविधान के मूलभूत तत्वों जैसी है तथा शासन के लिए यह आवश्यक है कि वह शासन के यन्त्र का प्रयोग उनकी पूर्ति के लिए करता हुआ अपना कार्य करें । संविधान सभा में संविधान निर्मात्री समिति के अध्यक्ष डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा था उससे भी निदेशक तत्वों का ऐसा ही स्वरूप प्रकट होता है । उन्होंने कहा था कि "निदेशक तत्व राज्य के नाम निर्देश है। इसलिए हमारे राज्य–नीति के निदेशक तत्व कार्यपालिका के साथ–साथ व्यवस्थापिका पर भी प्रभाव डालेंगे ।" श्री जी.एन. जोशी ने भी अपनी कृति 'भारत का संविधान' में लिखा है कि "विधानमण्डलों को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को उन्हें लागू करते समय निदेशक तत्वों का ध्यान रखना चाहिए । ये उस नीति की ओर संकेत करते है जिसका अनुसरण संघ व राज्यों को करना चाहिए।" नीति निदेशक तत्वों की प्रकृति का अगर गहराई से अध्ययन किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इनका मूल लक्ष्य देश में शोषणयुक्त और समतायुक्त लोकतान्त्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष गणराज्य की स्थापना कर, लोककल्याणकारी राज्य की भावना को साकार करना है । चाहे नीति निदेशक तत्व न्यायालयों द्वारा परिवर्तनीय न हों, पर उनकी सांविधानिक महत्ता और पवित्रता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता । ये शासन के लिए सकारात्मक निर्देश है ।

## 4.2 संविधान की भूमिका तथा निदेशक तत्वों का सम्बन्ध

भारत में लोगों ने जिस प्रकार के संविधान को अपने लिए स्वीकार किया है उसके कुछ उद्देश्यों को संविधान की भूमिका में गिनाया गया है । उनमें से प्रमुख देश को समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाना, देशवासियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता प्राप्य बनाना, एवं व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करना तथा बंधुता की भावना बढ़ाना है । इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संविधान निर्माताओं ने संविधान में व्यक्ति के लिए मौलिक अधिकारों और कर्तव्यों की तथा राज्य के लिए नीति के निदेशक तत्वों को अवस्था की है । लोकतन्त्र व राजनीति न्याय के लिए जहाँ मौलिक अधिकार आवश्यक माने गये है वहाँ आर्थिक न्याय सबको सुलभ हो सके इस उद्देश्य की पूर्ति को संभव बनाने की ओर बढ़ने का प्रयत्न हमारे संविधान की नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था में निहित है । संविधान द्वारा मान्य कुछ उद्देश्यों, जैसे राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करना तथा बन्धुत्व की भावना का संवर्धन करना– की पूर्ति की व्यवस्था मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था में निहित है जिसमें भारत की प्रभुसत्ता, एकता व अखण्डता को मान्य समझना, धार्मिक, भाषायी तथा क्षेत्रीय या वर्गीय विभिन्नता से ऊपर उठकर भारत के सब लोगों में सद्भाव तथा एकता पर आधारित भाईचारे को बढ़ावा देना तथा मिश्रित संस्कृति की समृद्ध परम्परा को मान्य समझना, प्रत्येक नागरिक का मौलिक कर्तव्य माना गया है । अत: स्पष्ट है कि मौलिक अधिकार व कर्तव्य तथा राज्य नीति के निदेशक तत्व संविधान की । प्रस्तावना में निहित उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों के रूप मे परस्पर घनिष्ठता सम्बद्ध है । जिन उद्देश्यों की पूर्ति किया जाना तुरन्त संभव समझा गया उनकी व्यवस्था यदि मौलिक अधिकारों के माध्यम से की गई है तो उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य को सर्वदा प्रयत्नशील रहने का निर्देश निदेशक तत्वों के माध्यम से दिया गया है जिनकी पूर्ति आगे किया जाना आवश्यक समझा गया है ।

## 4.3 संविधान में वर्णित प्रमुख नीति निदेशक तत्व

संविधान के अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि "जितने अधिक प्रभावी ढंग से संभव हो, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना व उसका संरक्षण करके, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, राज्य जन कल्याण की समृद्धि करने का प्रयास करेगा।" जैसा कि संविधान के इस प्रावधान से स्पष्ट है, समष्टि रूप से संविधान द्वारा राज्य को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने व उसे बनाए रखने का निर्देश दिया गया है जिसमें राष्ट्रीय जीवन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय पर आधारित हो तथा तीनों ही प्रकार के न्याय की स्थापना के लिए राज्य को निदेश दिए गए है, परन्तु युक्तियुक्त योजना के अनुसार नहीं गिनाया गया है अत: उनका वर्गीकरण कठिन है फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है:

**आर्थिक न्यायपूर्ण समाज की व्यवस्था से सम्बन्धित निदेशक तत्व :** आर्थिक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के उद्देश्य से संविधान द्वारा राज्य को निम्न निर्देश दिए गए है:

1. राज्य आय की असमानताओं को कम–से–कम करने का विशेष प्रयत्न करेगा तथा वह स्तर, सुविधाओं व अवसर की असमानताओं की समाप्ति का प्रयास विविध क्षेत्रों में रहने वाले व विविध पेशों में लगे हुए व्यक्तियों के लिए ही नहीं, वरन् व्यक्ति समूह के लिए भी करेगा ।
2. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि राज्य के स्त्री व पुरुष सभी नागरिकों को जीविका के उचित साधन प्राप्त हो सकें ।
3. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि राष्ट्र के मौलिक संसाधनों के स्वामित्व व नियंत्रण का वितरण सामान्य हित की साधना के हित के अनुकूल हो सके ।
4. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि आर्थिक व्यवस्था के संचालन से सम्पत्ति व उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण सामान्य हित की दृष्टि से हानिकारक न हो ।
5. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार भी करेगा कि स्त्री–पुरुष दोनों को ही समान कार्य के लिए समान वेतन मिले ।
6. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि काम करने वाले स्त्री–पुरुषों व कम उम्र के बालकों के स्वास्थ्य व उनकी शक्ति का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता के कारण नागरिकों को ऐसे पेशे न अपनाने पड़ें जो उनकी आयु व शक्ति के अनुकूल न हों।
7. उचित व्यवस्थापन या आर्थिक व्यवस्था के निर्माण द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से राज्य कृषि या उद्योग सभी क्षेत्रों के श्रमिकों के लिए जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वेतन, अच्छे जीवन स्तर सुनिश्चित करने, अवकाश व आराम के समय और सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति के अवसर का सुनिश्चियन करने वाली सेवा की शर्तों को सुलभ बनाए।
8. उचित व्यवस्थान द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से राज्य ऐसे कदम उठाएगा, जिससे उद्योगों में लगे संस्थानों, कारखानों व संगठनों के प्रबन्ध में श्रमिक भागीदार हो सकें ।
9. राज्य ग्रामीण क्षेत्रों में वैयक्तिक या सहयोगिक आधार पर कुटीर उद्योगों का संवर्धन विशेष रूप से करने का प्रयत्न करेगा।
10. अपनी आर्थिक क्षमता व विकास की स्थिति के अनुसार राज्य रोजगार का अधिकार उपलब्ध कराने की प्रभावी व्यवस्था करेगा।
11. राज्य कृषि व पशुपालन को आधुनिक वैज्ञानिक आधार पर संगठित करने का प्रयत्न करेगा तथा इस सम्बन्ध में नस्ल सुधार व गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू व उपयोगी पशुओं के वध को निषिद्ध करने के लिए विशेष कदम उठाएगा।

**सामाजिक न्यायपूर्ण समाज–व्यवस्था की स्थापना से सम्बन्धित निदेशक तत्व :** सामाजिक न्याय पर आधारित समाज–कल्याण समाज व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से राज्य के निम्न निदेश दिए गए है:

(1) जनता के भोजन व जीवनयापन के स्तर को ऊंचा उठाने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य का सुधार करने को राज्य अपने पहले कर्तव्यों में समझेगा तथा औषधि रूप में प्रयोग किए जाने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थों के प्रयोग को वह निषिद्ध करेगा।

(2) अपनी आर्थिक क्षमता व विकास की स्थिति के अनुसार राज्य शिक्षा, वृद्धावस्था, बीमारी तथा अंगहानि आदि जैसी अयोग्यता की दशाओं में राजकीय सहायता उपलब्ध कराने की प्रभावी व्यवस्था करेगा ।

(3) सामान्यत : लोगों के कमजोर वर्गों तथा विशेषत: अनुसूचित जातियों व जनजातियों के शैक्षिक व आर्थिक हितों की साधना की राज्य विशेष परवाह करेगा तथा सामाजिक अन्याय व सब प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा ।

(4) राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि संविधान के लागू होने के समय 10 वर्ष से 14 वर्ष तक के बालकों का नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा की प्राप्ति हो सके।

(5) राज्य काम करने वालों के लिए उचित व मनुष्यतापूर्ण परिस्थितियों व स्त्रियों के लिए प्रसूति सुविधाओं की व्यवस्था करेगा।

(6) राज्य पर्यावरण की सुरक्षा व उसे उन्नत बनाने तथा वनों व वनचरों के जीवन की रक्षा करने का प्रयत्न करेगा ।

**राजनीतिक न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना सम्बन्धी निदेशक तत्व :** भारत के लोगों को राजनीतिक न्याय प्राप्त हो सके इसके लिए अनेक व्यवस्थाएं नागरिकों के मौलिक अधिकारों के रूप में नहीं की जा सकी है, उनकी व्यवस्था निदेशक तत्वों के माध्यम से की गई है तथा वे व्यवस्थाएं निम्न प्रकार है:

(1) राज्य ग्राम पंचायतों के गठन के लिए कदम उठाएगा तथा उन्हें ऐसे अधिकार व प्राधिकार प्रदान करेगा, जो उसके द्वारा स्वशासन की स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में कार्य करने के लिए आवश्यक हो।

(2) सबको न्याय प्राप्ति एक सी हो, इसके लिए राज्य सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र में एक सी व्यवहार विधि संहिता प्रचालित करने का प्रयत्न करेगा।

(3) राज्य राजकीय सेवाओं में न्यायपालिका व कार्यपालिका को अलग–अलग करने के कदम उठाएगा।

(4) राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि कानूनी व्यवस्था अवसर की समानता पर आधारित न्याय की प्रोन्नति करे तथा उचित व्यवस्थापन या योजनाओं या अन्य किसी भी प्रकार से वह यह भी सुनिश्चित करेगा कि आर्थिक अथवा अन्य किसी अक्षमता के कारण किसी नागरिक को न्याय प्राप्ति के अवसर अप्राप्य न हों ।

(उपरोक्त बिन्दुओं में समाजवादी और गाँधीवादी दर्शन स्पष्ट झलकता है) साथ ही बौद्धिक उदारवाद भी समाया हुआ है और ये तत्व आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक हितों से सम्बन्धित है।

**अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व :** संविधान की धारा 51 में 'वसुधैव कुटम्बकम' व 'जीयो और जीने दो' के आदर्शों को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा की स्थापना के उद्देश्य से भी राज्य को निदेश दिए गए हैं जो निम्न प्रकार है: –

(1) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को उन्नत बनाने का प्रयत्न करेगा ।

(2) राज्य विविध राष्ट्रों के बीच न्याय पर आधारित व सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयत्न करेगा।

(3) राज्य संगठित राष्ट्रों के बीच परस्पर व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधि व संधि बन्धनों के प्रति आदर भावना के विकास का प्रयत्न करेगा ।

(4) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को पंच फैसले द्वारा निर्णय किए जाने को प्रोत्साहित करेगा ।

**राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों, स्थानों व वस्तुओं की रक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व :** इस सम्बन्ध में राज्य के लिए संविधान का निदेश है कि वह कलात्मक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उस प्रत्येक स्मारक या स्थान अथवा वस्तु को कुरूप होने, नष्ट होने, क्रय–विक्रय किए जाने और निर्यात किए जाने से बचाएगा जिसे संसद या विधि के अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्व का घोषित किया गया है ।

## 4.4 नीति के निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन और उपलब्धियाँ (Implementation and achievements of the directive principles of state policy)

संविधान निर्माण के समय कुछ लक्ष्यों की पूर्ति के लिए राज्य नीति के निदेशक तत्वों के माध्यम से राज्य को निदेश दिए जाने की आवश्यकता ही वस्तुत: इसलिए प्रतीत हुई थी कि इन लक्ष्यों की तुरन्त प्राप्ति की व्यवस्था संविधान द्वारा नहीं की जा सकती थी तथा उनके विषय में राज्य से यह आशा की गई थी कि उनकी पूर्ति यथाशीघ्र करेगा । संविधान के लागू होने के समय से ही नीति निदेशक तत्वों में प्रस्तावित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न किए जा रहे है तथा कई दिशाओं में उसके महत्वपूर्ण परिणाम निकले है । विविध दिशाओं में इस दिशा में जो कार्य हुआ है वह निम्न प्रकार है:

(1) पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से कृषि व उद्योगों की उन्नति, शिक्षा व्यवस्था का सुधार, स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार व सुधार, रोजगार के साधनों में वृद्धि, राष्ट्रीय आय व लोगों के रहन–सहन को अच्छा बनाने के प्रयास चलते आ रहे है ।

(2) युवक व बालकों को शोषण से बचाने के लिए अनेक कानून पारित किए गए है तथा बीमारी व दुर्घटना की आपत्ति से रक्षा के उद्देश्य से कई प्रकार की बीमा योजनाएं तथा युवक रोजगार योजनाएं चालू की गई है । राज्य सामाजिक कल्याण की दिशा में तेजी से आगे बढ़ रहा है ।

(3) सामाजिक रूप से देश को सशक्त बनाने के लिए तथा हिन्दू समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने के लिए हिन्दू कोड बिल के कुछ अंशों को 1955 के हिन्दू अधिनियम

तथा 1956 के हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम जैसे कानूनों को पारित करके दूर करने का प्रयास किया गया है तथा समान विधि संहिता प्राप्त करने के प्रयत्न किए जा रहे है ।

(4) न्यायपालिका व कार्यपालिका को अलग किया गया है ।

(5) अनुसूचित व पिछड़ी जातियों को ऊपर उठाने के लिए छात्रवृत्ति आदि प्रदान करके तथा अनेक सुविधाएं प्रदान करके उन्हें शिक्षित करने का प्रयास किया जा रहा है । सामान्य बालकों के लिए भी प्रारम्भिक स्तर पर नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है ।

(6) लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण तथा सामुदायिक विकास योजना के माध्यम से ग्राम पंचायत व पंचायत राज्य को सशक्त बनाया गया है ।

(7) आर्थिक लोकतन्त्र को सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए है, बैकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रिवीपर्स की समाप्ति, कृषि योग्य भूमि का सीमा निर्धारण, भूमिहीनों गरीबों को आवास निर्माण के लिए भूमि उपलब्ध कराना, बंधक मजदूर प्रथा की समाप्ति, ग्रामीण निर्धनों के ऋणों की माफी, स्त्री–पुरुषों को समान कार्य के समान वेतन प्राप्ति कराने तथा शहरी भूमि के सीमा निर्धारण के लिए कानूनी व्यवस्था की गई है ।

गरीबों को मुफ्त कानूनी सहायता दिलाने की दिशा में प्रयास किए गए है, वृद्ध और असहाय लोगों के लिए पेंशन की व्यवस्था की है । बाल श्रमिकों के हितों के संरक्षण हेतु केन्द्रीय बाल श्रमिक बोर्ड का गठन किया गया है तथा राज्यों से कहा गया है कि वे जिला स्तर पर ऐसे ही बोर्डों का गठन करें । देश को आर्थिक लोकतन्त्र की ओर ले जाने के उद्देश्य से जमींदारी उन्मूलन, जागीरदारी की समाप्ति, बैकों के राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रिवीपर्सों की समाप्ति आदि के सम्बन्ध में जो कानून समय–समय पर पारित किए गए उन्हें सम्पत्ति के मौलिक अधिकार के हनन के आधार पर अनेक बार न्यायालयों में चुनौती दी गई, जिससे आर्थिक लोकतन्त्र की ओर ले जाने के मार्ग में बाधा पड़ी । इस बाधा को समाप्त करने के लिए संविधान में 1,4,17,24,25,29,34,40, 42 व 44वें संशोधन किए गए । संसद को मूल अधिकारों में भी संशोधन का अधिकार दिया गया तथा सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में समाप्त करके कानूनी अधिकार बनाया गया जिससे देश में आर्थिक विषमता कम करने के लिए कदम उठाए जाने में पड़ने वाली बाधा दूर हो सकेगी । 73वें और 74वें संशोधन भी महत्वपूर्ण है । 73वें संविधान संशोधन द्वारा पंचायती राज व्यवस्था की एक नई संकल्पना की गई है जिसे देश में लागू कर दिया गया है । सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में यह महत्वपूर्ण सीमा चिन्ह है।

**परन्तु,**

(1) अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना का उद्देश्य पूरा नही हो पाया है बल्कि विषमता और बढ़ गई है ।

(2) भारत के सभी नागरिकों को रोजगार का अधिकार देने से ही आर्थिक व सामाजिक न्याय सम्भव हो सकता था। परन्तु अभी तक यह सम्भव नहीं हो पाया है ।

बेरोजगारों और शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में कमी होने के बजाय निरन्तर वृद्धि हो रही है ।

(3) छोटे किसान और श्रमिक के दु:ख–दर्द पहले से कम होने के बजाय बढ़ गए है । 'भूमि पर जोतने वाले का अधिकार हो' निरन्तर यह नारा लगाए जाने के बावजूद आज तक भी यह स्थिति स्थापित नहीं हो पाई है ।

(4) शिक्षा सुविधाओं की वृद्धि एवं साक्षरता अभियान के बावजूद साक्षरता का प्रतिशत अधिक नहीं बढ़ पाया है तथा स्त्रियों का साक्षरता प्रतिशत तो और भी कम है ।

(5) प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष बंधुआ मजदूरी की स्थिति भी अभी तक भी बनी हुई है भले ही कानूनन इसे समाप्त कर दिया गया है ।

(6) बालक, महिलाएं और सभी निर्धन व्यक्ति अभी भी शोषण के शिकार हो रहे है ।

(7) न्याय व्यवस्था ऐसी है कि निर्धन व्यक्ति न्याय प्राप्ति की बात कम ही सोच पाता है।

अत: आवश्यकता इस बात की है कि नीति निदेशक तत्वों को लेकर केवल नारेबाजी के स्थान पर ठोस कार्यक्रम की आवश्यकता है । इस दिशा में अब तक जो कुछ हुआ है, उसके अतिरिक्त अभी बहुत कुछ होना शेष है । हाँ, यह अवश्य प्रकट है कि शासन इनके क्रियान्वयन के प्रति सजग है। केन्द्र व राज्य सरकारों को लोक–कल्याणकारी राज्य की पालना के लिए नीति निदेशक तत्वों की भावना को साकार करने हेतु भगीरथ प्रयास करने चाहिए ।

## 4.5 मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्व– निदेशक तत्वों की प्रमुखता का प्रश्न

परस्पर घनिष्टता होने के साथ ही मौलिक अधिकार तथा नीति के निदेशक तत्व कुछ दृष्टियों से पूर्णत: भिन्न है । मौलिक अधिकार जहाँ नागरिकों को ऐसी सुविधाएं प्रदान करते है जिन्हें उनके सर्वांगीण विकास की, आवश्यक शर्त कहा जा सकता है वहाँ तथ्य की नीति के निदेशक तत्व मनुष्यों के इस सर्वांगीण विकास की आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण के लिए निषेध आज्ञाएं है। ग्लेडहिल के अनुसार, "मौलिक अधिकर राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएं है । इनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया जाता है कि उसे लोगों के इन अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । राज्य–नीति के निदेशक सिद्धान्त इसके विरुद्ध यह बतलाते है कि राज्य को क्या करना चाहिए।" इन दोनों के महत्वपूर्ण भेदों का विवेचन निम्न प्रकार किया जा सकता है:

(1) मौलिक अधिकार न्यायिक प्रक्रिया द्वारा लागू किए जाने योग्य है जबकि निदेशक तत्वों की स्थिति वैसी नहीं है । मौलिक अधिकारों की सुरक्षा का प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 32 में की गई 'संविधानिक उपचारों' की व्यवस्था द्वारा किया गया है । विधायिका की कोई विधि अथवा कार्यपालिका का कोई कृत्य यदि ऐसा हो जिससे व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का हनन होता है तो व्यक्ति उसके विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय की शरण लेकर आने अधिकार की रक्षा प्राप्त कर सकता

है । परन्तु यह स्थिति निदेशक तत्वों के विषय में नहीं है अर्थात् राज्य–नीति के निदेशक तत्वों को न्यायालय द्वारा लागू नहीं करवाया जा सकता। अत: स्पष्ट है कि प्रथम अर्थात् मूल अधिकार वाद योग्य हैं तथा द्वितीय अर्थात् राज्य–नीति के निदेशक सिद्धान्त वाद योग्य नहीं है ।

(2) मौलिक अधिकार नकारात्मक हैं जबकि निदेशक तत्व सकारात्मक है । मौलिक अधिकारों का रूप अधिकांशत: निषेधाज्ञाओं का है, जिनके द्वारा राज्य को कुछ कार्यों के न करने के लिए कहा गया है । इसके विपरीत नीति निदेशक तत्वों का रूप उन सकारात्मक निदेशों का है, जिनके माध्यम से राज्य को कुछ कार्य करने के लिए कहा जाता है ।

(3) विधि की दृष्टि से मौलिक अधिकार मुख्य तथा निदेशात्मक तत्व गौण हैं । इसका तात्पर्य यह है कि नीति निदेशक तत्वों की किसी बात की पूर्ति मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित किसी प्रावधान का उल्लंघन करके नहीं की जा सकती फिर भी इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि निदेशक सिद्धान्तों के ऊपर मौलिक अधिकारों को प्राप्त इस प्रमुखता का अर्थ यह नहीं है कि किसी निदेशक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए आवश्यकता होने पर भी मौलिक अधिकारों की व्यवस्था में परिवर्तन न किया जा सके । सम्पत्ति के मौलिक अधिकार के विवाद में इसमें नीति निदेशक तत्वों से अनुकूलता रखते हुए इसे कानूनी अधिकार बनाया गया।

(4) मौलिक अधिकार राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना के परिचायक हैं तथा नीति निदेशक तत्व आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के परिचायक है ।

(5) मौलिक अधिकारों का कानूनी महत्व है जबकि नति निदेशक तत्व नैतिक आदेश मात्र है।

(6) मौलिक अधिकारों को, अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत घोषित आपातकाल की स्थिति के प्रवर्तन काल में अनुच्छेद 20 तथा 21 में वर्णित अधिकारों को छोड़कर), स्थगित किया जा सकता है । जबकि निदेशक तत्वों का जब तक क्रियान्वयन नहीं होता तब तक वे स्थाई रूप से स्थगन की अवस्था में ही बने रहते है ।

(7) मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं हैं, उन पर कुछ प्रतिबन्ध है। जबकि निदेशक सिद्धान्तों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

(8) व्यवहार में मौलिक अधिकार एवं निदेशक तत्वों में जहाँ परस्पर विरोध हों वहाँ निदेशक तत्वों को वरीयता देने का रुझान रहा है ।

दोनों में प्रमुखता के प्रश्न को लेकर इनके बीच सम्बन्धों को समझना आवश्यक है । व्यावहारिक और समझने की सुविधा के दृष्टिकोण से इन्हें निभ पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है।

**(1) पहला चरण 1950 से 1966 :** इस काल में मूल अधिकारों को प्रमुख समझे जाने के बावजूद इस मान्यता का विकास हुआ कि निदेशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन हेतु मौलिक अधिकारों को संशोधित किया जा सकता है । संविधान के पहला, चौथा और सत्रहवां संशोधन इसके उदाहरण हैं।

**(2) दूसरा चरण 1967 से 1971:** इस काल में इस बात पर जोर रहा कि मूल अधिकार अपरिवर्तनीय हैं । गोलकनाथ का मामला 1967 तथा 10 फरवरी 1970 का उच्चतम न्यायालय का निर्णय इसके प्रमुख उदाहरण हैं ।

**(3) तीसरा चरण 1972 से 1975 :** इस काल में इस धारणा का प्रचलन हुआ कि मौलिक अधिकारों में परिवर्तन–संशोधन संभव है और कतिपय मौलिक अधिकार तो निदेशक तत्वों के अधीन है । 24वां और 25वां संवैधानिक संशोधन इसके उदाहरण है ।

**(4) चौथा चरण 1976 से 1980 :** 42वां संवैधानिक संशोधन इस काल का प्रमुख सीमा चिन्ह है जिससे मौलिक अधिकारों की स्थिति गौण बनी ।

**(5) पाँचवाँ चरण 1980 और उसके बाद :** वैधानिक अर्थों में मौलिक अधिकारों की वरीयता की ओर रुझान बढ़ा अर्थात् अनुच्छेद 39 के भाग 'ब' व 'स' की क्रियान्विति के लिए मौलिक अधिकारों में परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन अन्य निदेशक तत्वों की क्रियान्विति के लिए किसी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकेगा जो अधिकारों को सीमित या संशोधित करता हो ।

वैसे नीति निदेशक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए शासन आगे बढ़ा है परन्तु मौलिक अधिकार व नीति निदेशक तत्व एक–दूसरे के पूरक है और दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह है – व्यक्तित्व का विकास और लोक–कल्याणकारी राज्य की स्थापना।

## 4.6 नीति निदेशक तत्वों की आलोचना

संविधान निर्माण के समय से ही नीति के निदेशक तत्वों की आलोचना होती रही है । संविधान सभा में प्रो. के. टी. शाह ने कहा था, **"राज्य नीति के निदेशक तत्व एक ऐसे चैक के समान है जिनका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।"** कतिपय आलोचकों ने इन्हें संविधान निर्माताओं की पवित्र भावनाओं और आकांक्षाओं का संग्रह मात्र कहा है, उन्हें थोथे वचनों की संज्ञा दी है । नीति निदेशक तत्वों की आलोचना को निम्नानुसार रख सकते है:

(1) **वैध मान्यता का अभाव :** संविधान में नीति निदेशक तत्वों को मूलभूत माना गया है, परन्तु इन्हें मूलभूत किए जाने की कोई कानूनी व्यवस्था संविधान द्वारा नहीं दी गई है तथा इस कारण उनका कोई कानूनी महत्व नहीं है । संविधान सभा के एक सदस्य प्रो. नसीरुद्दीन ने संविधान निर्माण के समय कहा था कि **"यह नव वर्ष के प्रथम दिन पारित किया हुआ एक ऐसा प्रस्ताव है, जिसकी अवहेलना दूसरे दिन ही की जा सकती है ।"** सर बी. एन. राव के विचार से, **"राज्य नीति के निदेशक तत्व राज्य के अधिकारियों के लिए कुछ नैतिक के समान है और उनके लिए संविधान में उचित स्थान नही है।"** श्री एन. आर. घवाचारी ने निदेशक तत्वों के उपबन्धों के लिए कहा है कि **"वे ललित पदावली में उच्च स्तर से व्यक्त भावनाओं की ऐसी पंक्तियां मात्र है जिनका कोई वैधानिक महत्व नही है।"** इस प्रकार कानूनी मान्यता के अभाव के कारण नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था का रूप कोरे देशों एवं शुभ इच्छाओं जैसा हो जाता है।

(2) **राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता की वृष्टि से अस्वाभाविक :** एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य अपने लिए किन्हीं निदेशों की व्यवस्था करे और अपनी प्रभुसत्ता को इस प्रकार स्वयं सीमित

करे, यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है । कोई उच्च सत्ता अपने अधीन किसी सत्ता को उपदेश दे सकती है, परन्तु एक प्रभुसत्ता सम्पन्न संस्था स्वयं अपने लिए किन्हीं निदेशों की व्यवस्था करे, यह उसकी प्रभुत्व संपन्नता की स्थिति से मेल नहीं खाता और अस्वाभाविक लगता है । विधिवेत्ताओं की दृष्टि में एक प्रभुता सम्पन्न राज्य के लिए इस प्रकार के आदेशों का कोई औचित्य नहीं है ।

(3) **संवैधानिक गतिरोध की संभावना :** नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था को लेकर संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो सकता है, इस आधार पर भी नीति निदेशक तत्वों, की व्यवस्था की आलोचना की जाती है । इस प्रकार की आशंका संविधान सभा के एक सदस्य श्री के सन्थानम ने व्यक्त की थी । मौलिक अधिकारों की व्यवस्था व नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था में तुलनात्मक दृष्टि से कौन–सी व्यवस्था महत्व की है तथा यदि दोनों में विरोध हो, तो किसे श्रेष्ठतर माना जाकर लागू किया जाए, इसके सम्बन्ध में जो विवाद सम्पत्ति के मौलिक अधिकार के विषय में चला, उससे नीति निदेशक तत्वों की आलोचना की पुष्टि होती है।

इससे राज्यपाल व मुख्यमंत्री तथा राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री के बीच मतभेद पैदा हो सकता है । यदि एक पक्ष नीति निदेशक सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है तो दूसरा पक्ष उसके पक्ष में खड़ा हो सकता है और इस प्रकार का विवाद संसदीय लोकतन्त्र को गम्भीर आघात पहुँचा सकता है ।

(4) **नीति निदेशक तत्वों की अव्यवहारिकता :** अव्यवहारिकता के आधार पर भी नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था की आलोचना की जाती है क्योंकि इनमें से कुछ तत्व ऐसे है जिन्हें सरलता से क्रियान्वित नहीं किया जा सकता । उदाहरणार्थ, मद्यनिषेध सम्बन्धी नीति निदेशक तत्व को लागू किए जाने से राष्ट्रीय कोष पर उल्टा प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है । जहाँ कहीं भी इसे लागू किया गया है वहां मादक पदार्थों के अनाधिकृत प्रयोग व अवैध व्यापार को प्रोत्साहन मिला है । आलोचकों के अनुसार इस प्रकार की नैतिकता को जबरन थोपा जाना अव्यवहारिक है ।

(5) **निदेशक तत्वों के प्रावधानों की अस्पष्टता व अव्यवस्था :** प्रावधानों की अस्पष्टता व अव्यवस्था के आधार पर भी नीति निदेशक तत्वों की आलोचना की जाती है । यह कहा जाता है कि उनसे सम्बन्धित संविधान के प्रावधान अस्पष्ट है क्योंकि उनमें से अनेक के विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि क्या किया जाना है । इसके अतिरिक्त विषयों की दृष्टि से भी वे अव्यवस्थित है क्योंकि जैसा उनके प्रावधानों में देखा जा सकता है । पुराने स्मारकों की रक्षा जैसे महत्वहीन प्रश्न को अन्य अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक व सामाजिक प्रश्नों के साथ मिला दिया गया है जो व्यवस्थित प्रतीत नहीं होता। प्रो. श्रीनिवासन ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा है कि **"इस अध्याय में कुछ बेढंगे तरीके से आधुनिक को पुरातन के साथ और तर्क तथा विज्ञान द्वारा सुझाये गये उपबन्धों को पूर्णत: भावुकता व पूर्वाग्रह पर आधारित उपबन्धों के साथ मिला दिया गया है ।"**

इसके साथ ही इनकी आलोचना में निम्न अन्य बातें भी कही जा सकती है:–

(6) निदेशक तत्वों की पूर्ति बढ़ा–चढ़ाकर दिखाकर अथवा मिथ्या आश्वासन देकर मतदाताओं को गुमराह किया जाता है ।

(7) संविधान सभा में कांग्रेस का प्रचण्ड बहुमत था अत: नीति निदेशक तत्वों पर कांग्रेस की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है ।

(8) निदेशक तत्वों के विषय में दिए गए, न्यायिक निर्णय जब–तब बदलते रहे है और फलस्वरूप नौकरशाही तथा जनता के बीच तनाव के बिन्दु पनपते रहे है ।

(9) निदेशक तत्वों के अध्याय में केवल लक्ष्यों की चर्चा है लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों की नहीं । जब तक साधन स्पष्ट नहीं होते है, तब तक लक्ष्यों की प्राप्ति संभव नहीं है।

(10) कुछ निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों के अध्याय में गिनाया जाना उचित था, यथा– काम पाने का अधिकार, आर्थिक सुरक्षा आदि, परन्तु ऐसा नहीं किया गया।

(11) आइवर जैनिंग्स का मत है कि निदेशक तत्व किसी निश्चित और तर्कसंगत दर्शन पर आधारित नहीं है, अस्पष्ट है, न समुचित रूप से क्रमबद्ध है और न ही ठीक जा ढंग से वर्गीकृत हैं।

(12) निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की प्रगति इतनी धीमी रही है कि संविधान में इन्हें स्थान देने की उपयोगिता ही संदेहास्पद हो जाती है । संविधान के लागू होने के इतने वर्षों पश्चात् भी आज देश में व्याप्त गरीबी और विपन्नता की स्थिति, सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न तथा आर्थिक विषमता की स्थिति निदेशक सिद्धान्तों के महत्व के आगे प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है ।

## 4.7 निदेशक तत्वों का महत्व

नीति निदेशक तत्वों की आलोचना से यह नहीं समझना चाहिए कि संविधान में की गई उनकी व्यवस्था एकदम व्यर्थ है और उसका कोई महत्व या उपयोगिता नहीं है । संविधान में उनकी व्यवस्था का महत्व है और उनकी उपयोगिता है । डॉ. पायली के अनुसार, "इन निदेशक तत्वों का महत्व इस बात में है कि ये नागरिकों के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व है ।"

**(1) निदेशक तत्व प्रगति के आदर्श की ओर ले जाने की प्रेरणा देते है :** आलोचक निदेशक तत्वों को केवल नैतिक आदर्श मानते है, जिन पर चलना शासन की इच्छा पर निर्भर है परन्तु जैसा प्रत्येक आदर्श के विषय में होता है निदेशक तत्वों में निहित आदर्श का भी महत्व यह है कि उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए शासन सदा उससे प्रेरणा लेता रहे । आदर्श के रूप में यदि इनकी व्यवस्था संविधान में की ही नहीं गई होती तो शासन द्वारा उन्हें प्राप्त किए जाने के लिए प्रेरणा लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । ब्रिटेन के संविधान में मैग्नाकार्टा, फ्रांस के संविधान में नागरिक अधिकारों की घोषणा तथा अमरीकी संविधान में उसकी प्रस्तावना को भी कोई कानूनी शक्ति प्राप्त नहीं है, फिर भी उनका इन देशों के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है । इस प्रकार उचित रूप में यह आशा की जा सकती है कि भारतीय प्रशासन की नीति को ये तत्व निर्देशित व प्रभावित करेंगे । एलेन ग्लेडहिल ने कहा है कि **"अनगिनत व्यक्तियों के जीवन नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप सुधरे है तथा ऐसे उदाहरण मिलने कठिन नही है, जब उच्च नैतिक आदर्शों ने राष्ट्रों के इतिहास पर गहरे प्रभाव डाले है।"**

इतिहास से यह सिद्ध होता है कि नैतिक आदर्श व्यक्तियों व राष्ट्रों के जीवन को सदा उत्थान की ओर ले जाने में सहायक रहे है तथा भारतीय राष्ट्र को भी निदेशक तत्व उनमें निहित आदर्श की ओर ले जाने में सहायक होते रहेंगे, ऐसी आशा करना उचित ही है ।

**(2) निदेशक तत्व शासन के मूल्यांकन व चयन के आधार के रूप में कार्य करते है :** नीति निदेशक तत्व जनता के हाथ में उस मापदण्ड के रूप में है जिससे वह शासन के कार्यकलाप का मूल्यांकन कर सकती है । निदेशक तत्वों की व्यवस्था के क्रियान्वयन के लिए किसी शासन ने अपने कार्यकाल में क्या किया, यह देखकर जनता आम चुनाव के समय वर्तमान शासन के कार्यों का मूल्यांकन कर सकती है । इसके अतिरिक्त चुनाव में भाग लेने वाले विविध दलों के अपने–अपने चुनाव घोषणा पत्रों से जनता यह देख सकती है कि विविध दल कहाँ तक नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन के लिए तत्पर हैं । इस प्रकार वर्तमान शासन के क्रियाकलाप के मूल्यांकन तथा आगामी शासन के कार्यक्रम के आधार पर जनता किसी भी शासन को पदारूढ़ कर सकती है या उसे पद से हटा सकती है ।

**(3) निदेशक तत्वों के पीछे कानून की शक्ति नही परन्तु जनता व जनमत की शक्ति है :** निदेशक तत्व देश के शासन के लिए मूलभूत हैं । शासन को उन्हें क्रियान्वित करने के लिए निरन्तर कार्य करना है । परन्तु ऐसा करने के लिए कानून द्वारा उसे बाध्य नहीं किया जा सकता, इस आधार पर उनकी व्यवस्था की आलोचना भी की जाती है । परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि निदेशक तत्वों के पीछे कानून की शक्ति नहीं, वरन् जनमत की शक्ति है । यदि कोई सरकार निदेशक तत्वों की उपेक्षा जानबूझकर करेगी, तो जनमत उसे सहन नहीं करेगा और आम चुनाव के समय वह ऐसे शासन को सत्ता से अलग कर देगा । डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रसंग में ठीक ही कहा है कि "लोकतन्त्र में जनता ही निश्चित करती है कि शक्ति किसके हाथ में रहे । परन्तु जिसके हाथ में शक्ति है उसे मनमानी करने का अधिकार नहीं है । अपनी शक्ति का प्रयोग करने में उसे उन लिखित अनुदेशों का पालन करना होगा, जिन्हें राज्य की नीति निदेशक तत्व कहा गया है । यदि वह उन तत्वों की अवहेलना करता है, तो उसके ऊपर न्यायालय में मुकदमा नहीं चल सकता, परन्तु निर्वाचन के समय उसे मतदाताओं को उसका उत्तर देना पड़ेगा ।" अलादिकृष्ण स्वामी अय्यर ने इसी कारण संविधान सभा में कहा था कि "कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता ।" वस्तुत जैसा पायली ने कहा है, "निदेशक तत्व राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत सार है और जिनके द्वारा इनका उल्लंघन किया जाएगा, वे ऐसा कार्य उत्तरदायित्व की स्थिति से अलग होने की जोखिम पर ही कर सकते है ।" श्री राघवाचारी ने कहा है कि "निदेशक तत्वों का कोई संवैधानिक महत्व नहीं है, तथापि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जो भी शासन सत्तारूढ़ होगा उसे इस अनुदेश पत्र का आदर करना ही होगा ।..... तथा आगामी आम चुनाव में इसे इस सम्बन्ध में निर्वाचकों को अपना जबाव देना ही होगा ।"

**(4) निदेशक तत्व शासन को अतिवाद से बचाने व उसे मध्य मार्ग पर चलाने में सहायक है :** हमारे संविधान निर्माताओं को इस बात का ध्यान था कि लोकतन्त्र में जनमत के रुझान के अनुसार विविध राजनीतिक दल समय–समय पर सत्तारूढ़ होते है । सत्तारूढ़ होने

वाले दलों में से कोई दल अत्यन्त दक्षिणपंथी होता है तो कोई दल अत्यन्त वामपंथी होता है । राजनीतिक अनुभव यह बताता है कि राजनीति में अतिवाद प्राय: उपयोगी सिद्ध नहीं होता । ऐसी दशा में संविधान में नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था, अति दक्षिणपंथी व अति वामपंथी दोनों ही प्रकार के दावों पर अंकुश रखने और उन्हें मध्यवर्गी बनाए रखने के लिए की गई है । जैसा कि अमरनंदी ने कहा है, "संविधान के नीति निदेशक तत्व इस बात का सुनिश्चय करते हैं कि न तो कोई अनुदार दल अपनी नीति के निर्धारण में इन तत्वों की पूरी अवहेलना कर सकेगा और न कोई उग्रवादी दल अपने आर्थिक या अन्य कार्यक्रम को पूरा करने के लिए संविधान को समाप्त करना ही आवश्यक समझेगा । इस प्रकार निदेशक तत्व वाम व दक्षिण दोनों पंथों के अतिवाद से सुरक्षा प्रदान करते है ।

**(5) निदेशक तत्व सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्रान्ति के माध्यम से जनकल्याण के साधन :** संविधान के लागू होते समय हम विदेशी शासन से मुक्त हो चुके थे तथा हमें संविधान द्वारा एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करनी थी जिसमें 'सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय' राष्ट्रीय जीवन का आधार हो सके । नीति निदेशक तत्वों से सम्बन्धित अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि "जितने अधिक प्रभावी ढंग से सम्भव हो, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना व उसका संरक्षण करके, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, राज्य जनकल्याण की समृद्धि करने का प्रयास करेगा ।" यही कारण है कि नीति निदेशक तत्वों में जो निदेश राज्य को दिए गए है, वे ऐसे है, जिन पर चलकर राज्य राष्ट्र के जीवन को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक तीनों ही दृष्टियों से उन्नत बना सकता है ।

**(6) निदेशक तत्व शासन का मार्गदर्शन करते है :** नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत करती है, जो सर्दी शासन का मार्गदर्शन कर सकती है तथा विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका आदि शासन के सभी अंग अपने क्रियाकलाप में मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते है । अब तक के अनुभव से यह सिद्ध भी होता है कि शासन के विविध अंगों ने इनसे प्राप्त मार्गदर्शन के आधार पर कार्य भी किया है । जमींदारी व जागीरदारी उन्मूलन के लिए तथा उन्हें प्रभावी बनाने के लिए विधायिका द्वारा समय–समय पर विविध अधिनियमों को पारित किया जाना इसी के उदाहरण हैं । भारतीय न्यायालयों ने भी अनेक बार मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित विवादों में निर्णय देते समय निदेशक सिद्धान्तों से मार्गदर्शन लिया है । 'बम्बई राज्य बनाम बालसराय' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मादक द्रव्य निषेध अधिनियम को वैध ठहराया जाना, बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह' के विवाद में जमींदारी के अन्त को जनहित का घोषित किया जाना तथा 'विजय वस्त्र उद्योग बनाम अजमेर राज्य' के विवाद में 'न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम' की व्यवस्था को उचित ठहराया जाना इस बात के उदाहरण है । श्री एम. सी. सीतलवाड़ ने कहा भी है कि "विधि की शक्ति न प्राप्त होते हुए भी, राज्य नीति के इन मूल सिद्धान्तों ने न्यायालयों के लिए एक उपयोगी प्रकाश स्तम्भ का कार्य किया है ।"

**(7) कार्यपालिका प्रधान इनका दुरुपयोग नही कर सकते है :** यद्यपि संविधान–वेत्ताओं ने यह भय प्रकट किया था कि कार्यपालिका (संवैधानिक) अध्यक्ष राष्ट्रपति य राज्यपाल इस आधार पर किसी विधेयक पर अपनी सम्मति देने से इन्कार कर सकते हैं कि वह नीति निदेशक तत्वों के प्रतिकूल है, लेकिन व्यवहार में ऐसी घटना की संभावना कम है क्योंकि संसदात्मक प्रणाली में नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान लोकप्रिय मंत्रिपरिषद द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने का दुस्साहस नहीं कर सकता है ।

**(8) असंगत तथा असामाजिक होने का तर्क गलत है :** निदेशक तत्वों पर यह आरोप है या इनकी यह आलोचना की जाती है कि ये असंगत और असामयिक है या आगे आने वाले समय में सामयिक नहीं रहेंगे । इस सम्बन्ध में हमें प्रो. एम. वी. पायली के शब्द याद रखने चाहिए कि "यदि कभी ये सिद्धान्त पुराने पड़ जाएंगे तो इनका आवश्यकतानुसार संशोधन किया जा सकता है क्योंकि संशोधन प्रक्रिया अत्यन्त सरल है । जब तक इनके संशोधन करने का समय आएगा, तब तक भारत इनका पूरा लाभ उठा चुका होगा और भारत भूमि में आर्थिक लोकतन्त्र की जड़ें गहरी हो चुकी होंगी, संविधान का निर्माण वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए होता है । यदि हम वर्तमान का निर्माण सुदृढ़ नींव पर करें तो भविष्य की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही रहेगी ।"

**(9)** संविधान के 25वें संशोधन के बाद मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों में द्वन्द्व प्राय: समाप्त हो गया है ।

**(10) 'कांग्रेस की छाप' का आरोप कोई वजन नही रखता :** निदेशक तत्वों पर 'कांग्रेस की छाप' का आरोप कोई वजन नहीं रखता क्योंकि निदेशक तत्व समूचे देश के कल्याण की भावना को दृष्टिगत रखकर संविधान में रखे गये है । ये तत्व प्रगतिशीलता के द्योतक है और कट्टर देशभक्त संविधान–निर्माताओं पर अविश्वास का 'लेबल' लगाना छिछलापन है । इन पर वर्तमान में भी राष्ट्रीय सहमति की स्थिति है । देश के सभी राजनीतिक दल तथा राजनीतिक व्यक्तित्व इनकी उपयोगिता पर एकमत हैं ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि निदेशक तत्व न्यायालयों द्वारा परिवर्तनीय नहीं हैं फिर भी ये भारतीय राजनीति के सर्वोच्च सिद्धान्त है और इनकी सांविधानिक महत्ता और पवित्रता के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता ।

## 4.8 सारांश

अन्त में सार रूप में यही कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति के स्वरूप को समझने के लिए निदेशक तत्वों और उनके महत्व को समझना आवश्यक है । संवैधानिक संशोधनों (विशेषकर 1, 4, 7, 24, 25, 34, 42, 44, 73, 74) के माध्यम से इनको निरन्तर महत्व दिया गया है और इनके सर्जनात्मक महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता । संविधान लागू होने से लेकर वर्तमान तक ये सामान्य हित में समाज में सुधार, परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण की प्रेरक शक्ति एवं साधन रहे है ।

## 4.9 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों के स्वरूप एवं महत्व को स्पष्ट कीजिए ।

2. राज्य की नीति के निदेशक तत्वों का वर्णन कीजिए । मौलिक अधिकारों व राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों में अन्तर बताइए ।
3. राज्य नीति के निदेशक तत्वों को स्पष्ट करते हुए इनके क्रियान्वयन व उपलब्धियों को स्पष्ट कीजिए ।
4. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि मौलिक अधिकारों की सफलता काफी सीमा तक राज्य नीति के निदेश सिद्धान्तों के प्रभावी क्रियान्वयन पर निर्भर है?
5. "भारतीय संविधान प्रथमत: तथा प्रमुखत: एक सामाजिक प्रलेख है।'' ग्रेनविल आस्टिन के इस कथन पर विचार कीजिए ।
6. भारतीय संविधान के सामाजिक व आर्थिक आधारों का जिनका राज्य के नीति के निदेशक सिद्धान्तों में वर्णन किया है उनकी समीक्षा कीजिए ।

## 4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ


जोशी, जी. एन., 1983 : **द कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया,** मैकमिलन इण्डिया लि., दिल्ली ।

पायली, एम. वी., 1984 : **कांस्टीट्यशनल गवर्नमेंट इन इण्डिया,** चौथा संस्करण, एस. चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली ।

फडिया, बी. एल., 1996 : **इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स,** साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

त्रिवेदी, डॉ. आर. एन. एवं राय, डॉ. एम. पी., 1997 : **भारतीय सरकार एवं राजनीति,** कालेज बुक डिपो, दिल्ली, जयपुर ।

जौहरी, जे सी. एवं पुरवार, आर. के. 1988 : **भारतीय शासन और राजनीति,** विशाल पब्लिकेशन्स, 6 यू. बी. बंगलो रोड, दिल्ली एवं अड्डा होशियारपुर, जालंधर ।

# इकाई 5

# संघीय कार्य पालिका : भारतीय गणराज्य का राष्ट्रपति

**इकाई संरचना**

5.0 विषय प्रवेश
5.1 राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएँ
5.2 कार्यकाल या पदावधि
5.3 वेतन एवं भत्ते
5.4 विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ
5.5 शपथ ग्रहण
5.6 राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया
5.7 राष्ट्रपति की पद रिक्तता की पूर्ति
5.8 राष्ट्रपति द्वारा पद त्याग
5.9 राष्ट्रपति का निर्वाचन
5.10 राष्ट्रपति की शक्तियाँ – सामान्यकालीन
5.11 राष्ट्रपति की शक्तियाँ – आपातकालीन
5.12 राष्ट्रपति की स्थिति का मूल्यांकन
5.13 अभ्यास प्रश्न
5.14 संदर्भ ग्रन्थ

## 5.0 विषय प्रवेश

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार, "संघ की शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह इसका प्रयोग या तो स्वयं या अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा करायेगा।"

संविधान द्वारा भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष गणराज्य घोषित किया गया है। गणराज्य से अर्थ है कि राज्य का राष्ट्राध्यक्ष या राष्ट्रपति किसी वंश परम्परा से भारत का राष्ट्रपति नहीं बनता है जैसा कि इंग्लैंड का राजा या रानी बनते है। भारत का राष्ट्रपति जनता के प्रतिनिधि द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है।

भारतीय संविधान ने भारत में संसदीय सरकार की स्थापना की है। इसलिए राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान हैं और मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारी है। अनुच्छेद 75 में यह व्यवस्था है कि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। हमारे संविधान में इंग्लैण्ड की संसदीय परम्पराओं को स्थान दिया गया है। अत: भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा जाता है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर, जो कि संविधान निर्मात्री–सभा में संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष भी थे, ने कहा था, "हमारे देश में राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो इंग्लैण्ड में सम्राट की । वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं । वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, उसका

शासन नहीं । वह साधारणत: मन्त्रियों के परामर्श मानने के लिए बाध्य होगा । वह न उनके परामर्श के विरूद्ध कुछ कर सकता है और न ही उसके परामर्श के बिना कुछ कर सकता है ।"

इस प्रकार हमारे देश में राष्ट्रपति का पद गौरव और सम्मान का पद है । उसके पास वास्तविक शक्तियाँ नहीं है । देश की वास्तविक शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद् एवं संसद में निहित है ।

## 5.1 राष्ट्रपति पद की योग्यताएँ

संविधान के अनुच्छेद 58 के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निश्चित की गई हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. वह लोकसभा का निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो ।
4. वह संघ सरकार तथा राज्य सरकार के अन्तर्गत किसी भी लाभ के पद पर आसीन न हो ।
5. अनुच्छेद 59 में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा ।

## 5.2 कार्यकाल या पदावधि

संविधान के अनुच्छेद 56 के अनुसार भारतीय संघ के राष्ट्रपति का कार्यकाल उसके पद ग्रहण की तिथि से 5 वर्ष तक होता है परन्तु –

1. वह राष्ट्रपति को संबोधित कर लेख द्वारा आपने पद से त्याग पत्र दे सकता है।
2. उसे महाभियोग लगाकर, उसके पद से हटाया जा सकता है।
3. 5 वर्ष का कार्यकाल समाप्त होने पर भी अपने उत्तराधिकारी द्वारा पद ग्रहण किए जाने तक वह पद पर रह सकता है।

संविधान में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि कोई व्यक्ति जो एक बार राष्ट्रपति पद पर रह चुका हो, दूसरी या तीसरी बार राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव नहीं लड़ सकता। उदाहरण के लिए डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तीन बार भारतीय संघ के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। अमेरिकी राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्ष का है। फ्रांस और आयरलैंड के राष्ट्रपति का कार्यकाल सात वर्ष का होता है। आयरलैंड के संविधान में यह लिख दिया गया है कि एक व्यक्ति केवल दो बार ही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो सकता है। 1940 तक अमेरिकी संविधान में भी यही अभिसमय था, परन्तु रूजवेल्ट चार बार राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो गए लेकिन अब अमेरिकी संविधान में यह व्यवस्था कर दी गई है कि कोई भी व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित नहीं हो सकता। परन्तु भारतीय संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नही है कि एक व्यक्ति इस पद पर कितना बार निर्वाचित हो सकता है ।

## 5.3 वेतन एवं भत्ते

मई 1990 को पारित अधिनियम के द्वारा राष्ट्रपति का वेतन 15,000 रुपये से बढ़ाकर 20,000 रुपये कर दिया गया । राष्ट्रपति क वेतन में समय–समय पर बढ़ोतरी की गई

। प्रारम्भ में राष्ट्रपति का वेतन 10,000 रुपये प्रतिमाह था, जिसे 55वें संविधान संशोधन द्वारा 15,000 रुपये कर दिया गया । विश्वनाथ प्रताप सिंह की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने इसमें बढ़ोतरी करते हुए राष्ट्रपति का वेतन 20,000 रुपये कर दिया । तथा अब पूर्व राष्ट्रपतियों को भी प्रत्येक माह 10,000 रुपये पेंशन और आवास, बिजली, पानी, टेलीफोन, कार तथा सचिवालय की सुविधाएँ नि:शुल्क मिलेंगी । संविधान के अनुच्छेद 59 के अनुसार राष्ट्रपति को जो वेतन, भत्ते आदि मिलते है उन्हें राष्ट्रपति के कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता ।

## 5.4 विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ

अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है । उसे इंग्लैण्ड के सम्राट की तरह कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई है । राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी कार्यों के लिए किसी भी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं हो सकता । उसे न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न कारागार भेजा जा सकता है । उसके कार्यकाल मे उसके विरूद्ध दंड–विधि की कोई प्रक्रिया लागू नहीं हो सकती । उसके विरूद्ध कोई भी कार्यवाही दो माह का नोटिस देकर ही की जा सकती है ।

## 5.5 शपथ ग्रहण

प्रत्येक राष्ट्रपति या प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के पद पर कार्य करता है अथवा राष्ट्रपति के कार्यों का आवाहन करता है, राष्ट्रपति पद को ग्रहण करने के पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधीश या उनकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के ज्येष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष शपथ या प्रतिज्ञापन करेगा कि – "मै.....अमुक.....ईश्वर की शपथ लेता हूँ/सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मै श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्यपालन करूँगा और पूरी तरह योग्यता से संविधान और विधि का परीक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा तथा कल्याण में लिप्त रहुँगा ।"

## 5.6 राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित है । इस पाँच साल की अवधि के पूर्व राष्ट्रपति को सिर्फ मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग को छोड़ किसी अन्य विधि द्वारा अपने पद से हटाया नहीं जा सकता । संविधान के अनुच्छेद 61 में कहा गया है कि संविधान का उल्लंघन या इसका अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है । महाभियोग का प्रस्ताव संसद के दोनों में से किसी भी सदन द्वारा लाया जा सकता है परन्तु कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है । इसकी लिखित सूचना कम से कम 14 दिन पहले प्राप्त होनी चाहिए । महाभियोग का यह प्रस्ताव किसी सदन के कुल सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पारित होना चाहिये । इसके उपरान्त महाभियोग प्रस्ताव को दूसरे सदन में भेज दिया जाता है । दूसरा सदन इस महाभियोग की या तो स्वयं जाँच करता है या कोई विशेष समिति नियुक्त कर सकता है । राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह सदन में स्वयं उपस्थित होकर अपनी सफाई प्रस्तुत करे । यदि जाँच समिति इस नतीजे पर पहुँचे कि राष्ट्रपति पर लगाए गए आरोप सत्य है और वह प्रस्ताव उस सदन के दो–तिहाई

बहुमत से पारित हो जाये तो महाभियोग का प्रस्ताव स्वीकृत समझा जाता है और राष्ट्रपति को अपना पद त्यागना पड़ता है।

महाभियोग लगाने की यह प्रक्रिया काफी कठिन है और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति पर लगाए जाने वाले महाभियोग से काफी मिलती जुलती है । इस प्रक्रिया में काफी देरी भी हो सकती है तथा इसका स्वरूप इतना व्यापक है कि इसमें घूसखोरी, देशद्रोह तथा अन्य कई अपराध शामिल हो सकते है ।

## 5.7 राष्ट्रपति की पद रिक्तता की पूर्ति

राष्ट्रपति 62(2) के अनुसार यदि पदारूढ़ राष्ट्रपति की मृत्यु त्यागपत्र तथा महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त होता है तो इस स्थिति में नए राष्ट्रपति का निर्वाचन 6 माह के अन्तर्गत ही होगा तथा नया राष्ट्रपति 5 वर्ष के लिए चुना जाएगा। जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हो जाता तब तक उपराष्ट्रपति ही कार्य भार संभालेगा और इस पद पर अपने नए उत्तराधिकारी के आने तक बना रहेगा । यदि किसी कारणवश उपराष्ट्रपति भी कार्य करने की स्थिति में न हो तो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति का कार्यभार संभालेंगे । राष्ट्रपति की यह पद रिक्तता संबंधी व्यवस्था अमेरिकी पद्धति से भिन्न है । अमेरिका में राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर बची हुई अवधि के लिए ही उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का पद ग्रहण करता है । भारत की तरह अमेरिका में 6 माह के अन्दर निर्वाचन की व्यवस्था नहीं है ।

## 5.8 राष्ट्रपति द्वारा पद–त्याग

भारतीय राष्ट्रपति का पद तीन प्रकार से रिक्त हो सकता है– मृत्यु, त्यागपत्र, महाभियोग द्वारा। किसी भी समय राष्ट्रपति अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है । वह त्यागपत्र उसे अपने हस्ताक्षर के साथ उपराष्ट्रपति की सेवा में भेजना चाहिये । उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति द्वारा पद त्याग की सूचना लोकसभा के अध्यक्ष को देता है ।

## 5.9 राष्ट्रपति का निर्वाचन

भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन एक मंडल द्वारा सम्पादित होता है जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य होते है । प्रत्येक सदस्य की मत संख्या निम्नानुसार निर्धारित की जायेगी ।

1. किसी राज्य की विधानसभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे जितने कि 1000 के गुणित उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने पर आये जैसे –

$$\frac{\text{राज्यों की कुल जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}} \div 1000 = \text{उस राज्य के प्रत्येक निर्वाचक के मतों की संख्या}$$

एक हजार के उक्त गुणितों को गिनने के बाद यदि शेष 500 के कम न हो तो प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जायेगा ।

2. जब सभी राज्यों के मतों की संख्या प्राप्त हो जाये तो सब के योग संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर जो संख्या प्राप्त होगी वही संसद के प्रत्येक सदस्य की मत–संख्या होगी । अपूर्ण संख्या, जो आधे से अधिक है, एक मानी जायेगी और उससे कम छोड़ दी जायेगी । जैसे–

$$\frac{\text{समस्त राज्यों की विधानसभाओं के कुल सदस्यों के प्राप्त मतों की संख्याओं का योग}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}} = \text{संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या}$$

मतों की गणना के सम्बन्ध में उपर्युक्त सूत्र और प्रक्रिया को इस उद्देश्य से अपनाया गया है कि राष्ट्रपति के चुनाव में विभिन्न राज्यों के प्रभाव में जनसंख्या के आधार पर एकरूपता रहे और समस्त राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्याओं का योग भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है । यह उचित है कि दोनों पक्षों को, जो समान रूप से भारत के जनता का प्रतिनिधित्व करते है, राष्ट्रपति के चुनाव में समान शक्ति प्राप्त हो ।

राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत से गुण मतदान द्वारा होता है । प्रत्याशियों के नाम पर मतदान–पत्र छाप दिये जाते है और नामों के आगे वरीयता मतदान के लिए स्थान छोड़ दिया जाता है । मतदाता चुनाव लड़ने वाले सभी प्रत्याशियों के सामने अपनी पसंद का अंक लिख सकता है । साधारणत: प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है, जितने प्रत्याशियों के नाम मतदान–पत्र पर छपे होते हैं।

मतदान प्रक्रिया के बाद मतों की गिनती होती है और पहले अवैध मतों को निकाल दिया जाता है । शेष वैध मतपत्रों का मूल्य निकाला जाता है और उसमें दो का भाग देकर आने वाले भजनफल में एक जोड़कर चुनाव कोटा निकाला जाता है । जीतने वाले प्रत्याशी को कोटा के बराबर मत प्राप्त करने होते है । यदि किसी प्रत्याशी को प्रथम गणना में निश्चित कोटा प्राप्त नहीं होता है तो सबसे कम मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशी के मतों की द्वितीय वरीयता देखी जाती है । जिनको भी उन मतों में द्वितीय पसन्द दी गई है, उनके मतों में ये मत जोड़ दिये जाते है । यदि द्वितीय गणना में भी किसी को निश्चित कोटा प्राप्त नहीं होता है तो तीसरी और चौथी गणना होती है और यह गणना क्रम तब तक चलता है जब तक किसी प्रत्याशी को निश्चित कोटा प्राप्त नहीं हो जाता । यदि दो प्रत्याशी शेष रह जाते हैं और किसी को भी निश्चित कोटा प्राप्त न हो तो सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले व्यक्ति को निर्वाचित घोषित किया जायेगा। भारत के पाँच राष्ट्रपतियों के, चुनाव का निर्णय तो पहली ही गणना में हो गया था। केवल 1969 में राष्ट्रपति के निर्वाचन में द्वितीय पसंद के मतों की गणना हुई तब श्री वी. वी. गिरि को निश्चित कोटा प्राप्त हुआ।

इस प्रकार के मतों के मूल्य के आधार पर मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता मतों की गणना में किसी उम्मीदवार की जीत के लिए आवश्यक पचास प्रतिशत से अधिक मत नहीं मिल पाते तो द्वितीय वरीयता के मतों की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का फैसला किया जाता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में कोई मतभेद हो तो

उसके विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिवेदन किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय का फैसला अन्तिम होगा।

**राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष क्यों? –** राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता और निर्वाचन मण्डल में संसद और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य भाग लेते है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन के निम्न कारण हैं।

1. राष्ट्रपति का निर्वाचन अगर जनता द्वारा होता है तो करोड़ों मतदाताओं का निर्वाचन में भाग लेना मुश्किल हो जाता।
2. राष्ट्रपति मात्र औपचारिक प्रधान है तथा वास्तविक कार्यपालिका मंत्रिमण्डल के हाथ में है। इस शासन व्यवस्था में जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित राष्ट्रपति की स्थिति बेमेल हो जाती है।
3. राष्ट्रपति के निर्वाचन मण्डल में राज्यों की विधानसभा के सदस्यों को भी सम्मिलत किया है, ताकि राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रधान बहुमत के बजाय स्पष्ट बहुमत से निर्वाचित हो। इस पद्धति से छोटे–छोटे राजनीतिक दलों की शक्ति भी चुनाव में महत्वपूर्ण साबित हो जाती है और राष्ट्रपति चुनाव बहुमत दल की स्वेच्छा से बचाया जा सकता है।

**निर्वाचन प्रणाली की आलोचना –**

यह एक जटिल पद्धति है। यदि किसी चुनाव में दो उम्मीदवार या इससे अधिक हैं और मतदाता एक उम्मीदवार का मत देते हैं और किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट, बहुमत नहीं मिलता है तो आनुपातिक पद्धति व्यर्थ हो जायेगी। जहाँ एक ही व्यक्ति को चुना जाना है वहाँ आनुपातिक पद्धति अपनाना महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि लिखित में यह निर्वाचन प्रक्रिया अत्यन्त जटिल प्रतीत होती है किन्तु व्यवहार में यह सरल प्रक्रिया है। इसका गुण यह है कि यह निर्वाचन प्रक्रिया संघीय सिद्धान्त के अधिक अनुरूप है। राष्ट्रपति चुनाव के समय देश को कोई' हलचल नहीं होती और चुनाव शांतिपूर्ण हो जाता है।

**भारत के राष्ट्रपतियों के निर्वाचन का वर्ष, मतमूल्य एवं प्रतिशत–**

| क्र. | राष्ट्रपति के नाम | वर्ष | मतमूल्य | प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|
| 1. | डॉ. राजेन्द्र प्रसाद | मई 1952 | 5,07,400 | 83.8 |
| 2. | डॉ. राजेन्द्र प्रसाद | मई 1957 | 4,59,698 | 99.3 |
| 3. | डॉ. एस. राधाकृष्णन | मई 1962 | 5,53,067 | 98.3 |
| 4. | डॉ. जाकिर हुसैन | मई 1967 | 4,71,244 | 56.2 |
| 5. | श्री वी.वी. गिरि | अगस्त 1969 | 4,20,077 | 50.2 |
| 6. | श्री फखरूद्दीन अली अहमद | अगस्त 1974 | 7,65,587 | 80.2 |
| 7. | श्री नीलम संजीवा रेड्डी | अगस्त 1977 | ..... | सर्वसम्मत |
| 8. | श्री ज्ञानी जैल सिंह | जुलाई 1982 | 7,54,113 | 72.7 |
| 9. | श्री रामास्वामी वैंकटरमण | जुलाई 1987 | 7,40,148 | 71.3 |
| 10. | डॉ. शंकर दयाल शर्मा | जुलाई 1992 | 6,75,864 | 64.78 |
| 11. | के. आर नारायणन | जुलाई 1997 | 9,56,290 | |

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से अब तक राष्ट्रपति चुनाव में नीलम संजीवा रेड्डी ही सर्वसम्मति से निर्वाचित हुए।

**प्रथम राष्ट्रपति : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद –**

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का चयन भारत के राष्ट्रपति के लिए तीन बार हुआ । पहली बार वे अन्तरिम राष्ट्रपति 1950 में बनाये गये, दूसरी बार 1952 में प्रथम आम निर्वाचन के पश्चात् और तीसरी बार सर 1957 में चुने गए।

भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अहम भूमिका रही थी । तथा 1 दिसम्बर 1946 को संविधान–निर्मात्री सभा के स्थाई अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए । संविधान निर्मात्री–सभा का अन्तिम कार्य भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन था । 24 जनवरी 1950 को संविधान सभा के सचिव श्री आयंगर ने जो निर्वाचन अधिकारी थे, सभा में घोषणा की कि राष्ट्रपति निर्वाचन के नियमों के नियम (8) के उपनियम (1) में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारत के राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये है । केवल डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के नाम का ही नामांकन पत्र दाखिल किया गया था ।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद संविधान निर्मात्री सभा के अध्यक्ष पद के साथ–साथ अन्तरिम संसद के स्पीकर पद एवं मंत्री पद पर भी अपना दावा प्रस्तुत कर रहे थे । मन्त्रिमण्डल की बैठक में उनकी सरदार पटेल से कहासुनी होने के पश्चात् स्पीकर का पद उन्होंने श्री मावलंकर को सौंप दिया ।

प्रथम आम चुनाव (1952) के पश्चात् राष्ट्रपति का निर्वाचन विपक्षी दलों में भी रूचि का विषय बन गया । उसी समय किसान–मजदूर–प्रजा पार्टी का गठन हुआ जिसे लोक सभा में 10 तथा राज्य विधानसभाओं में 77 स्थान प्राप्त हुए । साम्यवादी दल को लोक सभा में 27 स्थान मिले । यह भावना सभी में थी कि कांग्रेस की शक्ति कम करने के लिए सभी विपक्षी गुटों को एक होकर किसी निर्दलीय को राष्ट्रपति पद के चुनाव में उतारा जाए । इस प्रकार प्रो. के. टी. शाह को विपक्ष ने और सत्ताधारी कांग्रेस दल की ओर से डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का चयन किया गया था । परन्तु अनेक निर्दलीय सदस्यों ने भी राजेन्द्र प्रसाद का समर्थन किया और उन्हें 61.31 प्रतिशत मत प्राप्त हुए एवं 51.98 प्रतिशत मतों के अन्तर से वे विजयी हुए । दूसरे आम चुनाव (1957) के पश्चात् तीसरी बार राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के चयन का सवाल आया तब डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, एवं पं. जवाहरलाल नेहरू के बीच अनेक मतभेद सामने आ गये थे । राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति के बारे में भी डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कतिपय सवाल उठाये थे जिनसे प्रधानमंत्री नेहरू सहमत नहीं थे । इसी कारण उन्होंने कहा था कि वृद्ध पदाधिकारियों को राजनीति में सन्यास ले लेना चाहिए । उस समय नेहरूजी चाहते थे कि किसी दक्षिण भारतीय को राष्ट्रपति होना चाहिए । नेहरूजी उप–राष्ट्रपति राधाकृष्णन को इस पर लाना चाहते थे । कांग्रेस संसदीय बोर्ड इस बार विभाजित था और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद एक बार और राष्ट्रपति पद पर रहना चाहते थे । अन्त में उन्हें राष्ट्रपति पद का प्रत्याशी घोषित कर दिया गया । इस बार 99 प्रतिशत मतों से डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारत के राष्ट्रपति चुने गए ।

**दूसरे राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन –**

डॉ. राधाकृष्णन एक शिक्षक के साथ अच्छे दार्शनिक, कूटनीतिज्ञ, विद्यमान माने जाते थे । उपराष्ट्रपति के रूप में और राज्य सभा के सभापति की हैसियत से राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर रहकर जिस कुशलता से उन्होंने कार्य किया उसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई और राजेन्द्र प्रसाद उत्तरी भारत के थे अत: इस बार किसी दक्षिण भारतीय को राष्ट्रपति बनाना उचित प्रतीत हो रहा था तथा प्रधानमंत्री यह सोचते थे कि उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति बनाने की परम्परा डाली जानी चहिए। वस्तुत: डॉ. राधाकृष्णन बिना किसी राजनीतिक पृष्ठभूमि के राष्ट्रपति चुने गये । विपक्षी दलों ने उनका विरोध भी नहीं किया ।

**तीसरे राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन –**

चौथे आम चुनाव (1967) के पश्चात् कांग्रेस को उम्मीद की अपेक्षा बहुत कम स्थान प्राप्त हुए । अनेक राज्यों में कांग्रेस की हार हुई और वहाँ गैर–कांग्रेसी मंत्रिमण्डल अस्तित्व में आये । गैर–कांग्रेसी दलों ने कांग्रेस को कड़ी चुनौती देते हुए सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश सुब्बाराव को अपना प्रत्याशी बनाया । कांग्रेस दल ने तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन को राष्ट्रपति के रूप में चुना । स्वतंत्रता के बाद पहली बार राष्ट्रपति पद के लिए संघर्ष हुआ । इस कड़े संघर्ष के बाद डॉ. जाकिर हुसैन राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए । इसमें साम्यवादी और गैर साम्यवादी ने एक जुट होकर चुनाव लड़ा ।

**चौथे राष्ट्रपति वी. वी. गिरि –**

1969 में डॉ. जाकिर हुसैन के देहावसान के बाद कांग्रेस दल में बहुत संघर्ष का सामना करना पड़ा । तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी की इच्छा के विरूद्ध लोक सभाध्यक्ष नीलम संजीवा रेड्डी को प्रत्याशी बनाया तथा तत्कालीन उपराष्ट्रपति वी. वी. गिरि ने निर्दलीय प्रत्याशी के रूप में राष्ट्रपति का चुनाव लड़ने की घोषणा की । उन्हें वामपंथी और समाजवादी दलों का समर्थन प्राप्त था और भारी संख्या में कांग्रेसियों ने भी वी. वी. गिरि के पक्ष में मतदान किया परिणामस्वरूप चुनाव का दृश्य ही बदल गया। संजीवा रेड्डी की विजय की संभावनाएं खत्म हो गई । द्वितीय वरीयता की गणना के बाद वी. वी. गिरि विजयी हो सके । इस चुनाव में वी. वी. गिरि को 4,20,027 मत प्राप्त हुए । इसी चुनाव के बाद भारतीय राजनीति की दिशा बदल गई तथा प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की भूमिका सर्वोपरि हो गई, क्योंकि वी. वी. गिरि को अंतर्आत्मा की आवाज के नाम के पर जिताने को श्रेय श्रीमती इन्दिरा गाँधी को ही जाता है ।

**पाँचवे राष्ट्रपति फखरूद्दीन अली अहमद–**

जुलाई 1975 में कांग्रेस ने राष्ट्रपति पद के लिए फखरूद्दीन अली अहमद को प्रत्याशी चुना । तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भी श्री अहमद का पक्ष लिया था। 25 जून 1974 के बाद तो अनेक संस्थानात्मक समूह चयन के नाम सवाल पर सक्रिय हो गए थे । श्री अहमद के सामने श्री जगजीवनराम और श्री स्वर्णसिंह भी थे । श्री अहमद आरम्भ में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के बहुत करीबी रहे तथा यह भी कहा गया था कि डॉ. जाकिर हुसैन अपना साल का कार्यकाल पूरा नहीं कर पाये थे इसी कारण किसी मुस्लिम को यह मौका मिलना चाहिए। तथा श्री अहमद को उत्तर–पूर्व का होने के कारण भी यह मौका मिला था। विपक्षी दलों को

कोई उपयुक्त उम्मीदवार ही नहीं मिला श्री अहमद ने विपक्ष के श्री त्रिदेव चौधरी को पराजित किया। श्री अहमद को 7,65,587 मत प्राप्त हुए तथा विपक्ष के श्री चौधरी को 1,89,196 मत प्राप्त हुए।

**छठे राष्ट्रपति श्री नीलम संजीवा रेड्डी –**

11 फरवरी 1977 को राष्ट्रपति फखरूद्दीन अहमद का देहावसान हो गया। 1977 में सत्ता परिवर्तन हुआ। मोरारजी देसाई के नेतृत्व में केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार सत्तारूढ़ हुई। प्रधानमंत्री देसाई ने राष्ट्रीय सहमति के आधार 'पर राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए प्रयत्न किये सभी दलों ने जनता पार्टी प्रत्याशी और लोक सभाध्यक्ष नीलम संजीवा रेड्डी के नाम पर सहमति व्यक्त की और वे निर्विरोध रूप से निर्वाचित घोषित किये गये श्री नीलम संजीवा रेड्डी भारत 'के पहले राष्ट्रपति है जो निर्विरोध निर्वाचित हुए।

**सातवें राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह –**

ज्ञानी जैलसिंह के एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी विपक्ष के संयुक्त उम्मीदवार हंसराज खन्ना थे। ज्ञानी जैलसिंह को 7,54,113 मूल्य के मत तथा खन्ना को 2,82,685 मूल्य के मत मिले। जैलसिंह को पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा को छोड़कर बाकी राज्यों में बहुमत मिला। पश्चिमी बंगाल और त्रिपुरा में मार्क्सवादी कम्युनिस्टों की सरकारें विद्यमान थी। कांग्रेस प्रत्याशी जैलसिंह को राज्यों में 3 लाख 82 हजार 457 तथा संसद में 3 लाख 70 हजार 656 मत मिले। तथा खन्ना को राज्यों से 1 लाख 35 हजार 256 और संसद से 1 लाख 47 हजार 420 वोट मिले। कुल मतों के योग के आधार पर जैलसिंह को कुल 7 लाख 54 हजार 113 और खना को 2 लाख 82 हजार 685 वोट प्राप्त हुए।

**आठवें राष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरमण (1987) –**

इस चुनाव में कांग्रेस ने उपराष्ट्रपति आर वेंकटरमण को राष्ट्रपति पद के लिए अपना प्रत्याशी बनाया। सभी दलों ने अपना प्रत्याशी सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व वी. आर कृष्णअय्यर को चुना परन्तु भारतीय जनता पार्टी ने उन्हें समर्थन नहीं दिया तथा भारतीय जनता पार्टी ने' चुनावों के विरोध की घोषणा भी की। इससे कांग्रेसी प्रत्याशी की जीत निश्चित हो गई, निर्दलीय उम्मीदवार मिथलेशकुमार सिन्हा भी मैदान में थे। वैकटरमण भारी मतों से विजयी रहे। उन्हें 7,40,148 मत प्राप्त हुए जबकि अय्यर को मात्र 2 ,81,550 मत प्राप्त हुए। अय्यर को आन्ध्रप्रदेश, असम, कर्नाटक, केरल, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और हरियाणा से समर्थन प्राप्त हुआ, क्योंकि इन राज्यों में कांग्रेस की सरकारें नहीं थी। शेष सभी राज्यों से श्री वैकटरमण को समर्थन प्राप्त हुआ तथा 25 जुलाई 1987 को आर. वैकटरमण ने राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली।

**नवें राष्ट्रपति डी. शंकरदयाल शर्मा –**

आर. वैकटरमण का कार्यकाल 24 जुलाई 1992 को समाप्त हो रहा था। तथा कांग्रेस ने अपने प्रत्याशी उपराष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा को बनाया। डॉ. शर्मा के काँग्रेस प्रत्याशी घोषित होने के पूर्व कांग्रेस (इ) अध्यक्ष पी.वी. नरसिंहराव ने वामपंथी और अन्य दलो से विचार–विमर्श करके उनके साथ सहमति प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

16 जुलाई 1992 को डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने भारी बहुमत से राष्ट्रपति पद के लिए जीत अर्जित की। डॉ. शर्मा को 6,75, 864 मूल्य के मत मिले तथा प्रो. जी.जी. स्वेल को 3,46,485 मूल्य के मत मिले, राम जेठमलानी को 2,704 तथा जोगिन्दरसिंह धरतीपकड़ को 1,135 मूल्य के मत प्राप्त हुए । डॉ. शर्मा ने अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी प्रो.जी. स्वेल को 3,29,379 मतों से पराजित किया।

**दसवें राष्ट्रपति के आर. नारायणन –**

डॉ. शंकरदयाल शर्मा का पाँच वर्ष का कार्यकाल 24 जुलाई 1997 को समाप्त हो रहा था । इस बार राष्ट्रपति चुनाव में के आर. नारायणन (उपराष्ट्रपति) तथा उनके मुकाबले में खड़े हुए एकमात्र उम्मीदवार पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त टी.एन. शेषन थे ।

14 जुलाई 1997 को राष्ट्रपति पद के लिए मतदान हुआ । पाँच घंटे की मतगणना के बाद के आर. नारायणन को निर्वाचित घोषित किया गया । श्री नारायणन को 9,56,290 मत मिले जो अब तक विजयी राष्ट्रपति के प्राप्त मतों का रेकार्ड है । श्री नारायणन को 676 सांसदों और श्री टी. एन. शेषन को 26 के मत मिले, 32 सांसदों के मत अवैध घोषित किए गए । श्री शेषन को केरल, अरूणाचल प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उड़ीसा, सिक्किम तथा पांडिचेरी से एक भी मत नहीं मिला । राष्ट्रपति चुनाव के लिए संसद के दोनों सदनों तथा राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन मण्डल में कुल 4848 सदस्य थे, जिनमें से 4642 ने मतदान में हिस्सा लिया । श्री नारायणन को आन्ध्रप्रदेश से 254, अरूणाचल से 56, असम से 110, बिहार से 285, गोआ से 35, गुजरात से 156, हरियाणा से 77, हिमाचल प्रदेश से 63, जम्मू कश्मीर से 74 मत मिले इस प्रकार अधिकतम राज्यों मत उन्हें मिले । इस प्रकार उपराष्ट्रपति के आर नारायणन को राष्ट्रपति निर्वाचित होने की घोषणा की गई ।

## 5.10 राष्ट्रपति की शक्तियाँ : सामान्यकालीन

भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिमान माना जाता है, जबकि राजनीतिज्ञों का मानना है कि वह सिर्फ संवैधानिक अध्यक्ष है जो सिर्फ प्रभाव का प्रयोग कर सकता है शक्ति का नहीं । संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, जिनका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा। राष्ट्रपति की सामान्य परिस्थितियों में निम्नलिखित शक्तियाँ है–

**1. कार्यपालिका शक्तियाँ –**

अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है इसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा कर सकता है क्योंकि भारतीय राष्ट्रपति नाम–मात्र का प्रधान है और शासन की वास्तविक शक्तियाँ मंत्रीमण्डल में है जो सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है।

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों में प्रशासनिक, सैनिक शक्तियाँ आती है । सभी संघीय अधिकारी चाहे वे सैनिक सेवा के हों या असैनिक सेवा के, उसके अधीन है । संघीय अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार राष्ट्रपति को है । राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री तथा

अन्य संघीय मंत्री महाधिवक्ता, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, राज्यपाल, राजदूत, लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अनुसूचित वर्गों के लिए विशेष अधिकारी आदि । राष्ट्रपति विभिन्न आयोगों की नियुक्ति करता है, वित्त आयोग, योजना आयोग, मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं भाषा आयोग राष्ट्रपति को मंत्रियों, राज्यपालों, महाधिवक्ता, उन सैनिक अधिकारियों आदि को भी नियुक्त करने का अधिकार है । वह सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति है, और राज्य का अध्यक्ष होने के नाते सभी राजनयिक विशेषाधिकारों का उपयोग करता है तथा विदेशी राजदूत अपने पद के प्रमाण–पत्र उसके समक्ष प्रस्तुत करते है । सभी सन्धियाँ या समझौते उसी के नाम से किए जाते है तथा राष्ट्रपति भारत–रत्न, पद्मभूषण, पद्म विभूषण, पद्मश्री आदि उपाधियों से विशिष्ट नागरिकों को सम्मानित करता है।

राष्ट्रपति अपनी इन विभिन्न शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमण्डल की सलाह से करता है। राष्ट्रपति लोकसभा में बहुमत दल के नेता को अथवा लोकसभा में सर्वाधिक संख्या का बहुमत रखने वाले व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है।

प्रधानमंत्री की नियुक्ति करने की राष्ट्रपति शक्ति संवैधानिक औपचारिक मात्र है, यह शक्ति उस समय बहुत व्यवहारिक बन जाती है जब लोक सभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो । चौधरी चरणसिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त करने में राष्ट्रपति नीलम संजीवा रेड्डी ने स्वविवेक का ही प्रयोग किया था 1989 के बाद राष्ट्रपति ने विश्वनाथ प्रतापसिंह, चन्द्रशेखर और नरसिंहराव को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया था । अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र के बाद एच. डी. देवगौडा को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया, क्योंकि उन्हें भी लोकसभा में स्पष्ट बहुमत का समर्थन नहीं था। कांग्रेस द्वारा समर्थन देने के बाद राष्ट्रपति ने ऐसा किया ।

**2. विधायी शक्तियाँ –**

राष्ट्रपति संसद का एक महत्वपूर्ण अंग होने के नाते उसे अनेक व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य करने होते है। अनुच्छेद 58 (1) (2) में संसद को आमंत्रित एवं स्थगित करने और लोकसभा को भंग करने के अधिकार का प्रयोग करता है । यदि किसी विधेयक पर संसद के दोनों सदनों में मतभेद हो तो वह दोनों सदनों को संयुक्त रूप से आमंत्रित करता है तथा वह राज्यपाल एवं लोकसभा के स्थानापन्न अध्यक्षों कीं नियुक्ति करता है। उसे राज्य सभा में बारह सदस्य मनोनीत करने का अधिकार है ।

राष्ट्रपति की अनुमति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है । उसी कारण प्रत्येक विधेयक पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक है । धन विधेयकों पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नही कर सकता किन्तु साधारण विधेयक को संसद के पास पुन: विचार के लिए' भेज सकता है । इस प्रकार राष्ट्रपति को निलम्बन निषेधाधिकार है। पूर्ण निषेधाधिकार नहीं । कुछ विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व आज्ञा के बिना संसद में प्रस्तावित ही नहीं किए जा सकते, जैसे – वित्त विधेयक, किसी राज्य की सीमा अथवा नाम बदलने से सम्बन्धित, व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित विधेयक । संविधान के अनुच्छेद 123 के अनुसार ' संसद के विश्रान्तिकाल में राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है । इन अध्यादेशों का वही

बल और प्रभाव होता है जो संसद द्वारा पारित अधिनियम का होता है किन्तु ऐसे प्रत्येक अध्यादेश को संसद सत्र के आरम्भ होने से 6 सप्ताह के भीतर ही संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है और ऐसा न करने की स्थिति में अथवा संसद द्वारा उसे 6 सप्ताह के भीतर अस्वीकृत कर देने पर अध्यादेश अवैध हो जाता है । राष्ट्रपति अपनी इच्छानुसार अध्यादेश कभी भी वापस ले सकता है।

**3. वित्तीय शक्तियाँ –**

प्रतिवर्ष बजट वित्तमंत्री द्वारा संसद में प्रस्तुत किया जाता है, जो राष्ट्रपति के नाम से होता है । राष्ट्रपति की अनुमति के बिना कोई वित्त विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता । वह प्रतिवर्ष वित्त आयोग की सिफारिशें, लेखा परीक्षक की रिपोर्ट संसद में रखवाता है। आकस्मिक निधि पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है । वह संसद की स्वीकृति के बिना अचानक खर्च को सरकार को दे सकता है । वह कुछ राज्यों को केन्द्रीय अनुदान दिलाने के लिए आज्ञप्ति निकाल सकता है । वह करों की आय विभाजन का निर्धारण करता है । केन्द्र राज्य के करों के विभाजन के सम्बन्ध में सलाह के लिए वित्त आयोग की नियुक्ति का अधिकार भी राष्ट्रपति को है।

**4. न्यायिक शक्तियाँ –**

अनुच्छेद 73 के अनुसार राष्ट्रपति को कुछ न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की गई है । वह उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है । भारतीय संविधान के अनुच्छेद 72 के अनुसार उसे –क्षमादान का अधिकार दिया गया है । वह दण्ड को पूर्ण रूप से क्षमा कर सकता है या स्थगित कर सकता है अथवा दण्ड में परिवर्तन कर सकता है । संसद की स्वीकृति से देश में आम माफी की घोषणा भी कर सकता है। शक्तियों के आधार पर हम यह कह सकते है कि भारतीय राष्ट्रपति को व्यापक शक्तियाँ प्राप्त है।

**5. राज्यों से सम्बन्धित शक्तियाँ –**

राज्य के राज्यपालों तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है और कोई राज्य अधिनियम बनाना चाहे तो उसमें राष्ट्रपति की स्वीकृति भी आवश्यक है। जैसे–राज्य की सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए बनाये गए अधिनियम, किसी राज्य के साथ व्यापार करने या उस पर प्रतिबन्ध लगाने वाले विधेयकों को राज्य की विधानसभा में प्रस्तुत करने के पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है । डॉ. महादेव शर्मा के अनुसार – "राज्य के विशेष प्रकार के विधेयकों की अनुमति देने की शक्ति वास्तविक तथा अबाध है।

**6. सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लेना –**

अनुच्छेद 143 के अनुसार सार्वजनिक महत्व के किसी प्रश्न पर राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से कानूनी सलाह ले सकता है । सर्वोच्च न्यायालय का दिया गया परामर्श इच्छा पर है कि वे उस परामर्श को स्वीकार करें अथवा नहीं।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति को शान्तिकाल में कई शक्तियाँ प्राप्त है । इसमें वह संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है क्योंकि हमारे यहाँ संसदात्मक शासन–प्रणाली अपनायी गयी है । हरिविष्णु कामथ ने संविधान निर्मात्री सभा में कहा था "हम अपने राष्ट्रपति

को एक संवैधानिक अध्यक्ष का रूप देना चाहते है तथा वह संसद की सलाह के अनुसार कार्य करेगा।" अत: उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग मंत्रीमण्डल करेगा जो संसद के प्रति उत्तरदायी होगा।

**राष्ट्रपति की सामान्यकालीन शक्तियों का मूल्यांकन –**

अनुच्छेद 53 में कहा गया है "संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह उसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के माध्यम से करेगा, किन्तु यह भी व्यवस्था है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्री–परिषद् होगी और वह उसके अनुसार कार्य करेगा।

सामान्यकाल में राष्ट्रपति वर्तमान में सामान्यत: मंत्री–परिषद की सलाह पर कार्य करता है लेकिन यदि राष्ट्रपति चाहे तो मंत्री–परिषद् को अपनी मंत्रणा पर पुनर्विचार करने के' लिए बाध्य कर सकता है लेकिन राष्ट्रपति भी मंत्री–परिषद् द्वारा पुन: दी गई मंत्रणा को मानने के लिए बाध्य है । इसने राष्ट्रपति की शक्तियों पर नियंत्रण लगा दिया है। अत: उसके अधिनायक बनने की संभावना नगण्य सी है । वह राष्ट्र का प्रधान है, शासन का नहीं । वह संवैधानिक प्रधान मात्र है।

## 5.11 राष्ट्रपति की शक्तियाँ – आपातकालीन

संकटकालीन स्थिति का सामना करने का मुख्य दायित्व राष्ट्रीय कार्यपालिका का होता है। अत: भारत के राष्ट्रपति को संविधान द्वारा आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई है ।

राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ कुछ वर्षों में बहुत अधिक परिवर्तनशील रही है। 1975 के आपात में 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) के आधार पर संकटकालीन प्रावधानों की ओर अधिक कठोर बनाया गया है परन्तु 1975 में घोषित आपातकालीन प्रावधानों का जो दुरूपयोग किया गया उसके विपरीत कुछ प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होने लगी। 1977 मे जनता पार्टी ने आपातकालीन प्रावधानों को दुरूपयोग से बचाने का प्रयत्न किया । 44वे संवैधानिक संशोधन (1979) में कुछ आवश्यक व्यवस्थाएं की गई । राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ निम्नानुसार हैं।

**1. युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति मे आपातकाल –**

क. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 तथा 44वें संशोधन 1978 के अनुसार यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाए कि गम्भीर आपात की स्थिति आने वाली है ऐसे में युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह या राज्यों के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को सम्पूर्ण भारत या किसी ऐसे भाग में आपात की स्थिति लागू करने का अधिकार है अनुच्छेद 359 (क) में यह व्यवस्था कर दी गई है कि भारतीय संघ का राष्ट्रपति किसी उपद्रव की स्थिति में देश या देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए किसी भाग में आपात की घोषणा कर सकता है।

ख. राष्ट्रपति आपात की घोषणा तभी करेगा जब उसे मंत्रीमण्डल का विनिश्चय लिखित रूप में प्राप्त होगा।

ग. ऐसा आपातकाल युद्ध बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में या इस प्रकार आशंका होने पर घोषित किया जायेगा। आन्तरिक अशान्ति के नाम पर आपातकाल घोषित नही किया जा सकता।

44वें संविधान संशोधन द्वारा 38वें संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया जिसमें व्यवस्था की गयी थी कि 352वें अनुच्छेद में संकटकालीन घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी । अत: राष्ट्रपति द्वारा आपातकालीन घोषणा को न्याय योग्य बना दिया गया मूल संविधान में व्यवस्था थी कि अनुच्छेद 352 के अनुसार संकटकाल की घोषणा पूरे देश के लिए ही की जा सकती थी, देश के कुछ भागों के लिए नहीं । 42वें संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई थी कि राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अधीन संकट की घोषणा देश के कुछ भागो के लिए की जा सकती है।

**आपात घोषणा के परिणाम –**

1. इस घोषणा के लागू रहने के समय 19वें अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को 6 स्वतंत्रताएं(44वें संशोधन द्वारा सम्पत्ति की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया है।) स्थगित हो जायेंगी और राज्य के द्वारा इन स्वतंत्रताओं को प्रतिबन्धित करने वाले कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा। 44वें संशोधन में व्यवस्था है कि आपातकाल गृह या बाहरी आक्रमण के कारण लागू किया है तो अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदान स्वतंत्रताओं को समाप्त किया जा सकता है यदि आपात स्थिति के कारण लागू की गई है तो अनुच्छेद 19 की व्यवस्थाओं को स्थगित नहीं किया जा सकता। अत: जो कानून बनाये जायेंगे उनमें यह व्यवस्था जरूरी है कि आपात स्थिति में बनाए गए कानून आपात स्थिति के पश्चात् तत्काल समाप्त हो जायेंगे।
2. राष्ट्रपति आदेश द्वारा अनुच्छेद 32 में संवैधानिक उपचारों के अधिकारों को भी स्थगित कर सकता है अर्थात् संकटकाल में नागरिक अपने अधिकारों के लिए न्यायालय की शरण नहीं ले सकते है।
3. संसद को किसी भी क्षेत्र के लिए सभी विषयों, राज्य सूची में दिये गये सभी विषयों पर भी कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जायेगी और राज्य के कानून संघीय कानून के विरोधी हो तो वे विरोध की सीमा तक अमान्य होंगे। राज्य सूची के सम्बन्ध में संघ द्वारा निर्मित ये कानून उद्घोषणा की समाप्ति के 6 माह बाद प्रभावी नहीं रहेंगे ।
4. संघ कार्यपालिका को अधिकार रहेगा कि वे निर्देश दे सके कि राज्य कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करेंगे।
5. राष्ट्रपति आदेश दे सकता है कि संघ और आय वितरण सम्बन्धी कोई भी उपबन्ध चालू वित्तीय वर्ष में उसके अनुसार संशोधित रहेंगे।
6. 42वे संविधान संशोधन में व्यवस्था है कि "अनुच्छेद 352 के अनुसार भारत कि किसी भाग में आपात स्थिति की घोषणा की जायेगी, तो संघ कार्यपालिका शक्ति तथा संसद की कानून बनाने की शक्ति केवल उस राज्य में ही लागू नहीं होगी जिस राज्य में आपात स्थिति की घोषणा लागू की गयी है, अपितु संघ की कार्यपालिका शक्ति तथा संसद की

कानून बनाने की शक्ति अन्य राज्यों में भी उस समय तक लागू की जा सकती है जिस सीमा तक भारत या उसकी भूमि के किसी भाग की सुरक्षा के लिए संकट है।

अनुच्छेद 352 के अनुसार अभी तक संकटकाल की घोषणा 1962 में भारत पर चीन का आक्रमण, 1971 में भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण और 1975 में राष्ट्रपति ने संकट काल की घोषणा की। 8 नवम्बर 1962 को व्यक्तिगत स्वतंत्रता से सम्बन्धित अनुच्छेद 21,22 को स्थगित कर दिया गया और उसी दिन व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए न्यायालय की शरण लेने के अधिकार को भी स्थगित कर दिया गया। 1962 में जारी की गई संकटकालीन घोषणा 1968 तक जारी थी। दिसम्बर 1971 में पाकिस्तान द्वारा किये आक्रमण पर राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अनुसार दूसरी बार संकट की घोषणा की गई जो 27 मार्च 1977 तक जारी रही। जून 1975 में आंतरिक अशान्ति के आधार पर आपातकाल लगाया गया था।

**2. राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने पर आपात स्थिति –**

संघीय सरकार का दायित्व है कि वह प्रत्येक राज्य की बाहरी आक्रमण तथा आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करेगा। संघीय सरकार यह भी दायित्व हैं कि वह यह देखे कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबन्धों के अनुसार चले। अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या किसी प्रकार से समाधान हो जाए कि ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई है कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है तो वह संकटकाल की घोषणा कर सकता है।

संविधान के अनुसार संसद द्वारा एक बार प्रस्ताव पास कर राज्य में 6 माह के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता था, परन्तु 42वें संविधान द्वारा इसकी अवधि एक वर्ष कर दी गई थी । 44वें संशोधन द्वारा इसे पुन: 6 माह कर दिया गया है। 44वें संशोधन के पूर्व राज्य में राष्ट्रपति शासन की अवधि तीन वर्ष थी, लेकिन इसमें परिवर्तन किया गया है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन एक वर्ष की अवधि के बाद इसे और अधिक समय के लिए संसद द्वारा भी पारित किया जा सकेगा जब अनुच्छेद 352 के अनुसार संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग प्रमाणित कर दे कि राज्य में चुनाव करवाना सम्भव नहीं है । किसी भी परिस्थिति में तीन वर्ष के बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू नही रखा जा सकेगा।

**घोषणा के संवैधानिक प्रभाव –**

1. राष्ट्रपति घोषणा कर सकता है कि राज्य की विधायिका शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय संसद करेगी। संसद ऐसे व्यवस्थापन की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान कर सकती है।
2. राष्ट्रपति किसी राज्याधिकारी की कार्यकारिणी शक्तियों को हस्तगत कर सकता है।
3. राष्ट्रपति घोषणा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है।
4. जब लोक सभा की बैठक नहीं हो रही हो, उस समय राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि के व्यय के लिए आदेश दे सकता है।

5. संकट की अवधि में, राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रताओं पर रोक लगा सकता है और उसके द्वारा जीवन तथा शारीरिक स्वाधीनता के अतिरिक्त अन्य अधिकारों के सम्बन्ध में संवैधानिक उपचारों के अधिकार का भी अंत किया जा सकता है । अनुच्छेद 365 का प्रयोग अनेक बार राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करके किया जा चुका है।

**3. वित्तीय आयात –**

अनुच्छेद 360 व्यवस्था करता है कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाए कि ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई है जिससे भारत के वित्तीय स्थायित्व को खतरा है तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है । ऐसी घोषणा के लिए भी वही अवधि निर्धारित है जो प्रथम प्रकार के संकट की घोषणा के लिए निधारित है।

**वित्तीय संकट की घोषणा के प्रभाव –**

1. संकटकाल मे राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से किसी भी राज्य सरकार को आदेश दे सकता है।
2. संघ तथा राज्य सरकार के अधिकारियों के वेतन में आवश्यक कमी की जा सकती है।
3. राष्ट्रपति राज्य सरकार को बाध्य कर सकता है कि राज्य के समस्त वित्त विधेयक उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किए जायें।
4. संघ की कार्यकारिणी राज्य की कार्यकारिणी को शासन सम्बन्धी आदेश दे सकती है।
5. राष्ट्रपति केन्द्र तथा राज्यों में धन सम्बन्धी बंटवारे का प्रावधान कर सकता है। इस शक्ति का प्रयोग अभी तक एक भी बार नही किया गया है।

**आपातकालीन शक्तियों का मूल्यांकन –**

राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की संविधान–सभा में कड़ी आलोचना की गई थी। बी.दास ने कहा था कि "ये शक्तियाँ राष्ट्रपति को दक्षिण अफ्रीका के उन प्रधानों की तरह बना देगी जो वित्तीय शक्तियों सहित समस्त शक्तियों को हड़प कर सकते थे और प्रान्तों को वित्तीय संकट में डाल सकते थे। आलोचकों के अनुसार निम्न तथ्यों को भुलाया नहीं जा सकता है।

1. राष्ट्रपति द्वारा संकटकालीन घोषणा पर दो मास तक कोई प्रतिबन्ध नहीं है और प्रतिबन्धहीन अवस्था में राष्ट्रपति अपनी आपातकालीन शक्तियों का निर्बाध रूप से दुरूपयोग कर सकता है।
2. राष्ट्रपति को ही संकटकालीन परिस्थितियों में निर्णय करने का एकमात्र अधिकार है तथा राष्ट्रपति के इस निर्णय के अधिकार को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।
3. युद्ध के कारण आपात और आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात में भारतीय संविधान में कोई भेद नहीं किया गया है । राष्ट्रपति एक हड़ताल होने पर भी आपातकाल की घोषणा कर सकता है और इस घोषणा के भी वही परिणाम हो सकते है जो युद्ध सम्बन्धी आपात् घोषणा के हो सकते हैं।

4. संकटकालीन घोषणा होते ही संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त मौलिक स्वतंत्रताओं के अधिकार स्थगित हो जाना किसी रूप में न्यायोचित नहीं है।
5. संघीय शासन यदि चाहे तो किसी ऐसे राज्य में जहाँ कि मंत्रीमण्डल की स्थिति सुदृढ़ है, दलीय स्वार्थों के आधार पर सांविधानिक तंत्र के असफल होने की घोषणा कर सकता है।
6. राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के आदेश का पालन न करे तो इस पर राष्ट्रपति राज्य में सांविधानिक तंत्र के असफल होने की घोषणा कर सकता है।

अत: राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ अत्यन्त व्यापक है। यह कहना अनुपयुक्त है कि संविधान में संकटकालीन शक्तियों का प्रावधान नहीं किया जाना चाहिए था। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियाँ देना इसलिए उचित समझा कि संविधान निर्माता यह जानते थे कि केन्द्रीय सरकार के कारण हमेशा हानि उठाई है और भारत को एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है। राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों को अमान्य ठहराते हुए यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत में संसदीय राज्य प्रणाली की व्यवस्था की गई है जिसमें राष्ट्रपति की शक्तियाँ मंत्रिमण्डल के पास है।

राष्ट्रपति कभी भी मंत्रीपरिषद् की सहायता के बिना शासन नहीं चला सकता है। यह आपातकाल की घोषणा अपने मन से नहीं कर सकता है उसकी आपातकाल की घोषणा पर लोकसभा विचार करती है यह राष्ट्रपति शक्ति पर एक बहुत बड़ा प्रतिबन्ध है।

## 5.12 राष्ट्रपति की स्थिति का मूल्यांकन

भारत के पहले राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से लेकर के.आर नारायणन तक दस राष्ट्रपति सत्तारूढ़ हो चुके है। इनकी कार्यशैली तथा भूमिका का वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है।

1. भारत का राष्ट्रपति देश की सुरक्षा का प्रधान प्रतीक है, तथा लोकतांत्रिक गणराज्य के स्वरूप को सुरक्षित बनाये रखने में राष्ट्रपति से अहम भूमिका रहती है सभी राष्ट्रपतियों ने संविधान की भावनाओं के अनुरूप ही कार्य किया है।
2. राष्ट्रपतियों ने अपने आप मे औपचारिक अध्यक्ष के रूप में इससे कहा जा सकता है कि वह तो मात्र सांविधानिक अध्यक्ष है, और वास्तविक शक्तियाँ प्रधानमंत्री एवं मंत्रिमण्डल हैं निहित हैं।
3. अभी तक के सभी राष्ट्रपतियों ने इस पद की गरिमा और प्रतिष्ठा को बनाये रखा है जिसमें डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. जाकिरहुसैन, डी. शंकरदयाल शर्मा जैसी महान विभूतियों द्वारा इसकी गरिमा को चार चाँद लगाए हैं।
4. 1969 के बाद प्रधानमंत्री की बढ़ती हुई भूमिका के करण इस पद पर आसीन होने के लिए प्रधानमंत्री का कृपा पात्र होना आवश्यक बन गया। फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों का चयन न हो सका।
5. राष्ट्रपतियों ने अपनी भूमिका में इस देश की राजनीतिक व्यवस्था मे स्थिरता प्रदान की है। उन्होंने अपनी कार्यशैली से इस देश में संघर्ष की स्थिति नहीं होने दी जो लोकतंत्र के हित में ही रहा।

6. कई बार प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के बीच संघर्ष की स्थिति देखने को मिली डॉ. राजेन्द्रप्रसाद से ज्ञानी जैलसिंह के कार्यकाल तक ऐसी स्थिति देखने को मिली, लेकिन किसी भी राष्ट्रपति ने संघर्ष की स्थिति को विस्फोट नहीं बनने दिया।
7. सभी राष्ट्रपतियों में मंत्रीपरिषद् के सलाहकार, मार्गदर्शक और दार्शनिक की भूमिका का निर्वाह किया। समय–समय पर अपने उपयोगी सुझाव दिये है।
8. आर. वैकटरमण का कार्यकाल चुनौती पूर्ण रहा। श्री वैकटरमण को तीन प्रधानमंत्रियों के साथ कार्य करना पडा, इन तीनों को संसद में स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण संघर्ष की स्थिति का सामना करना पड़ा।

## 5.13 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन कैसे होता है। संविधान के अनुसार उसकी योग्यताएँ, वेतन, भत्ते, पदावधि की क्या व्यवस्था है?
2. राष्ट्रपति किस प्रकार निर्वाचित होता है। उस पर महाभियोग कैसे चलाया जा सकता?
3. भारत के राष्ट्रपति के अधिकारों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।
4. भारतीय राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की विवेचना कीजिए।
5. क्या भारतीय राष्ट्रपति एक संवैधानिक प्रधान मात्र है? कारण सहित उत्तर दीजिए।

## 5.14 संदर्भ ग्रन्थ

बनर्जी, ए.सी. – दि मेकिंग ऑफ दि इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन

बसु, दुर्गादास – कमेण्ट्री ऑफ दि कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया

राव, के.व्ही. – पार्लियामेण्ट्री डेमोक्रेसी ऑफ इण्डिया

सन्थानम् के. – दि कान्सीट्यूशन ऑफ इण्डिया

# इकाई 6

# संघीय कार्यपालिका : प्रधानमंत्री का पद

# (The Union Executive: The Office of the Prime Minister)

**इकाई की रूपरेखा**


6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 भारत में संघीय कार्यपालिका का विकास : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

6.3 भारत में मत्रिमण्डलात्मक शासन और प्रधानमंत्री का पद

6.4 भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति : चयन की राजनीति के संदर्भ में

6.5 प्रधानमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य

6.6 प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल

6.7 प्रधानमंत्री और संसद

6.8 प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

6.9 दलीय नेता के रूप में प्रधानमंत्री की भूमिका

6.10 भारत के प्रधानमंत्रिय शासन प्रणाली का उभरता प्रतिमान

6.11 भारतीय राज व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति

6.12 सारांश

6.13 शब्दावली

6.14 अभ्यास प्रश्न

6.15 संदर्भ ग्रन्थ


## 6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के बाद आप –

- भारतीय शासन व्यवस्था के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- भारत में संघीय कार्यपालिका के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- भारत में संघीय कार्यपालिका के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।
- भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति की प्रक्रिया के साथ–साथ चयन की राजनीति को समझ सकेंगे।
- भारतीय शासन प्रणाली में – प्रधानमंत्री के कार्य एवं शक्तियों से परिचित हो सकेंगे।
- प्रधानमंत्री जैसे पदधारी के राष्ट्रपति, संसद और मंत्रिमण्डल के साथ सम्बन्धों का सूक्ष्म विश्लेषण कर सकेंगे।
- दलीय नेता के रूप में प्रधानमंत्री की उभरती हुई भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारत में संसदीय प्रणाली के स्थान पर प्रधानमंत्रीय शासन प्रणाली के उभरते हुए प्रतिमान को समझ सकेंगे।

– शासन प्रणाली में भारत के प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति से परिचित हो सकेंगे।

## 6.1 प्रस्तावना

कार्यपालिका के सामान्यतया दो अर्थ किये जाते है – एक व्यापक अर्थ तथा दूसरा सीमित अर्थ। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका का तात्पर्य उन सभी लोक सेवा कर्मचारियों से होता है जिनका सम्बन्ध राज्य के प्रशासन से होता है । इस अर्थ में कार्यपालिका राज्य के सर्वोच्च अध्यक्ष (राष्ट्रपति) से लेकर दफ्तर के एक चपरासी तक सभी प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों को कहा जाता है । किन्तु राजनीति विज्ञान में कार्यपालिका का यह व्यापक अर्थ स्वीकार नहीं किया जाता है । यहीं कार्यपालिका का सीमित अर्थ में प्रयोग करते समय प्रशासनिक कर्मचारियों को कार्य पालिका से अलग रखने की प्रथा है । इस अर्थ में कार्यपालिका केवल उन संस्थागत संरचनाओं को ही कहा जाता है जो राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में नीति की शुरूआत या उसे निर्मित करने से संबंधित रहती है । अर्थात् कार्यपालिका में केवल वही राजनीतिक कार्यकारी (Political Functionary) होते है जिनका नीति निर्माण व उसके क्रियान्वयन से सम्बन्ध होता है तथा जो इस प्रकार के कार्य के लिये किसी के प्रति सुस्पष्ट उत्तरदायित्व निभाते है । लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में मंत्रिमण्डल नीति बनाते है और वे इस नीति निर्माण के लिये संसद के प्रति उत्तरदायी होते है, इसलिये इनको हम कार्यपालिका कह सकते है । अत: सीमित अर्थ में कार्यपालिका केवल राज्य के प्रधान तथा उसके मंत्रिमण्डल को ही कहा जाता है।

भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली के प्रतिमान को अपनाया गया है इसलिये कार्यपालिका दो भागों में विभक्त है – नाम मात्र की कार्यपालिका तथा वास्तविक कार्यपालिका। भारत में राष्ट्रपति सांविधानिक अध्यक्ष है और मंत्रिमण्डल, जिसका नेता प्रधानमंत्री होता है, वास्तविक कार्यपालिका शक्तियों का धारक है। सैद्धान्तिक रूप से संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गयी है तथापि यथार्थ में कार्यपालिका की समस्त सत्ता मंत्रिपरिषद् में निहित होती है।

## 6.2 भारत मे संघीय कार्यपालिका का विकास : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में केन्द्रीय कार्यपालिका में गर्वनर जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सर्वोच्च शासनाधिकारी परिषद गर्वनर जनरल को भारत के नागरिक तथा सैनिक प्रशासन पर अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। गर्वनर जनरल भारत सरकार का उच्चतम पदाधिकारी था और उसे उसके कार्य में परामर्श और सहायता देने के लिये कार्यकारिणी परिषद थी । गर्वनर जनरल की स्थिति और कार्य एक स्वेच्छाचारी शासक की भांति थी । अत: भारत का लोकमत एक उत्तरदायी कार्यपालिका की माँग कर रहा था।

बी. एन. राव ने लिखा है कि 'कार्यपालिका के प्रकार का चुनाव नवीन संविधान की रचना में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था। संविधान निर्माताओं को तीन प्रकार की कार्यपालिकाओं में से किसी एक का चुनाव करना था। ये भी– स्विस प्रकार की कार्यपालिका, अमरीका प्रकार की कार्यपालिका तथा ब्रिटिश प्रकार की कार्यपालिका। संविधान सभा के सदस्यों में इस प्रश्न पर मतभेद था। संविधान सभा के गैर कांग्रेसी सदस्य विशेषतया मुस्लिम स्विस

प्रकार की कार्यपालिका चाहते थे। कुछ अन्य सदस्य शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता अनुभव करते हुए अमरीकी ढंग की कार्यपालिका के पक्ष में थे। लेकिन अधिकांश सदस्य एकाधिकार कारणों से इस बात के पक्ष में थे कि इन विभिन्न पद्धतियों के बजाए भारतीय जनतन्त्र को व्यवहारिक रूप प्रदान करने हेतु ब्रिटिश ढांचे की कार्यपालिका पद्धति का प्रयोग किया जाये।

मत्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका को संविधान सभा द्वारा बहुमत से स्वतंत्र भारत की प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किए जाने का एक प्रमुख कारण ऐतिहासिक था। ऐतिहासिक दृष्टि से ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जो विभिन्न सांविधानिक सुधार किये गये थे उनसे संसदीय व्यवस्था के सुदृढ़ आधार के रूप में वह पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी जिस पर उसे स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् बिना किसी प्रकार के विशेष प्रयास और जोखिम को उठाये हुए प्रस्थापित किया जा सकता था। ब्रिटिश शासकों द्वारा जाने अनजाने जो भी समय–समय पर प्रशासनिक सुधारों की दृष्टि से कदम उठाये गये स्वाधीनतापंरात संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना उसका स्वाभाविक परिणाम थी।

संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा. अम्बेडकर ने मंत्रिमंडलात्मक कार्यपालिका का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा कि, 'अमरीकी और स्विस व्यवस्थाएं अधिक स्थायी किन्तु कम उत्तरदायी है । इसके विपरीत ब्रिटिश व्यवस्था अधिक उत्तरदायी और लोचपूर्ण है। ब्रिटेन में जहाँ संसदीय व्यवस्था कार्यरत है, कार्यपालिका का उत्तरदायित्व दैनिक और निश्चित अवधि के पश्चात् दोनों ही तरह से होता है। दैनिक मूल्यांकन संसद के सदस्यों द्वारा प्रश्नों, प्रस्तावों, अविश्वास प्रस्तावों, काम रोको प्रस्तावों और अभिभाषणों पर वाद–विवादों के माध्यम से किया जाता है और निश्चित अवधि के बाद मूल्यांकन निर्वाचकों के समय किया जाता है जो प्रति पांच वर्ष के बाद या उससे पूर्व भी हो सकता है। अमरीकी पद्धति के अन्तर्गत दैनिक मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है अत: कार्यपालिका के निरंकुश बनने का खतरा है । इसलिये भारत जैसे नव स्वतंत्र देश के लिये ऐसी कार्यपालिका ही उपयुक्त है जो उत्तरदायित्व एवं लोचशीलता के गुणों से परिपूर्ण हो। मंत्रिमण्डलात्मक,कार्यपालिका में उत्तरदायित्व एवं लचीलेपन के गुण थे, इसलिए भारत के लिये मंत्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका का प्रतिमान अपनाया गया।

## 6.3 भारत में मंत्रिमण्डलात्मक शासन और प्रधानमंत्री का पद

मत्रिमण्डलात्मक शासन पद्धति को उत्तरदायी सरकार भी कहते है। इस पद्धति में देश की सर्वोच्च कार्यकारिणी का वास्तविक प्रयोग मंत्रिमण्डल करता है। जिसका नेतृत्व 'मंत्रिमण्डल के हाथों में होता है। मत्रिमण्डलात्मक पद्धति की सरकार की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार है :–

**1. दोहरी कार्यपालिका :–** इस शासन पद्धति के अन्तर्गत कार्यपालिका दोहरी होती है जिसमें एक औपचारिक प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक। औपचारिक प्रधान राज्य का नाम मात्र का प्रमुख होता है और शासन की वास्तविक सत्ता एक मंत्रिमण्डल को प्राप्त होती है जो संसद के प्रति उत्तरदायी होता है । भारत में राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भांति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान मात्र है तथा वास्तविक सत्ता का प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है।

**2. सामूहिक उत्तरदायित्व :–** मंत्रिमण्डल के सदस्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होते है । मंत्री केवल अपने कार्यो के लिये ही नहीं वरन् दूसरे मंत्री के कार्यों के लिये भी उत्तरदायी होते है।

**3. विधायिका तथा कार्यपालिका का घनिष्ठ सम्बन्ध :–** विधायिका तथा कार्यपालिका के मध्य अभिन्न सम्बन्ध होता है। मंत्री परिषद् के सभी सदस्य संसद के किसी सदन के सदस्य होते है । वे संसद की समस्त कार्यवाही में भाग लेते है तथा सरकारी नीतियों का समर्थन करते है । संसद अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा उन्हें अपदस्थ कर सकती है और मंत्रिमण्डल निम्न सदन (लोकसभा) को भंग करवा सकता है ।

**4. प्रधानमंत्री का नेतृत्व :–** मंत्रिमण्डल का नेता प्रधानमंत्री होता है । मंत्रिमण्डल का निर्माण उसी की इच्छा से होता है । वह मंत्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है, मंत्रियों के बीच विभागों का वितरण करता है, मंत्रियों को उनके कार्यों में निर्देश देता है, उनके कार्यों का निरीक्षण करता है । जब कभी मंत्रियों में परस्पर मतभेद पैदा हो जाता है तो उन्हें दूर करता है। प्रधानमंत्री का नेतृत्व व उसकी नीतियाँ स्वीकार न करने पर वह अपनी मंत्री परिषद् या मंत्रियों से त्यागपत्र माँग सकता है।

संविधान के अनुसार भारतीय संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है किन्तु व्यवहार में उसकी समस्त शक्तियों का प्रयोग "प्रधानमंत्री" ही करता है । प्रधानमंत्री को राज्य रूपी जहाज का चालक कहा गया है । वह मंत्रिमण्डल रूपी मेहराब का मुख्य प्रस्तर है । मंत्रिपरिषद् के भीतर तथा उससे भी अधिक उसके बाहर, सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति प्रधानमंत्री ही है। डा. अम्बेडकर के शब्दों, प्रधानमंत्री सम्पूर्ण शासन तंत्र की धुरी है"।

## 6.4 भारत में प्रधानमंत्री की नियुक्ति: चयन की राजनीति के संदर्भ में

संवैधानिक दृष्टि से प्रधानमंत्री की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति करते है । सामान्यत: इस संबंध में राष्ट्रपति को स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उसे बहुमत दल के नेता को ही सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना पडता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो अत्यन्त हास्यास्पद कार्य करेगा, क्योंकि बिना बहुमत की सरकार के मंत्रिपरिषद् नहीं बन पायेगी। संसदीय सरकार की सुव्यवस्थित पद्धति के अनुसार लोकसभा का बहुमत दल अपने नेता के चुनाव अथवा निर्वाचन का निर्णय लेगा और इस निर्णय के आधार पर राष्ट्रपति उसे प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा। वस्तुत: वह लोकसभा की 'इच्छा और आकांक्षा का प्रतिपालक है जो उसके बहुमत द्वारा अभिव्यक्त' होती है। "राष्ट्रपति केवल उस समय अपने विवेक एवं बुद्धि का प्रयोग कर सकता है जब लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो । ऐसी स्थिति में वह जिस दल के नेता को अधिकाधिक योग्य समझेगा और मंत्रिमण्डल बनाने में सक्षम समझेगा, प्रधानमंत्री बनाने में सक्षम समझेगा, प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करेगा। भारत में अब तक केवल जुलाई–अगस्त 1979 में राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की नियुक्ति में अपने विवेक का प्रयोग किया गया है । सन 1969 में कांग्रेस विभाजन के बाद

श्रीमती इन्दिरा गांधी का दल अल्पमत में था, किन्तु फिर भी प्रधानमंत्री पद पर उन्हें आरूढ़ रखना समीचीन था, क्योंकि प्रथम तो वे लोकसभा में सबसे बड़े दल की नेता था, दुसरा, कतिपय प्रतिपक्षी दलों का भी उनको समर्थन प्राप्त था, तृतीय, लोकसभा ने अनेक अवसर पर उनका समर्थन कर ' दिया और उनकी सरकार की किसी भी नीति को अस्वीकार नहीं किया। प्रधानमंत्री पद के लिये संविधान में कोई विशिष्ट योग्यता नही रखी गयी है । वह संसद के किसी भी संसद का सदस्य हो सकता है । "यदि वह संसद का सदस्य नहीं है तो: छ: माह के भीतर उसे संसद की सदस्यता ग्रहण कर लेनी चाहिये, अन्यथा उसका पद रिक्त समझा जायेगा।

**प्रधानमंत्री पद पर जवाहरलाल नेहरू की नियुक्ति :**

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू महात्मा गाँधी के मनोनीत राजनीतिक उत्तराधिकारी थे। मौलाना आजाद के बाद कांग्रेस अध्यक्ष पद पर मई 1946 में नेहरू के निर्वाचित होने से ही प्रधानमंत्रित्व पद का निर्णय हो गया था । इस पद की प्राप्ति में गाँधीजी का सक्रिय शक्तिशाली समर्थन नेहरू का सबसे बड़ा सहायक था। यह तथ्य सर्वविदित था कि पन्द्रह में से बारह प्रान्तीय कांग्रेस समितियों ने कांग्रेसाध्यक्ष के रूप में उक्त अवसर पर सरदार पटेल का ही मनोनयन किया था।" असामान्य स्थिति में सरदार पटेल ही कांग्रेस दल के शक्तिशाली मान्य नेता थे । परन्तु गाँधीजी की इच्छा के अनुसार पटेल और आचार्य कृपलानी ने अपना नाम वापस ले लिया राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया की इस गाथा के आधार पर इस कथन को गलत नहीं कहा जा सकता कि यदि महात्मा गाँधी नेहरूजी के लिए अपनी अभिरूचि नहीं दिखलाते तो सरदार पटेल भारत के प्रथम प्रधानमंत्री होते । इस समय कांग्रेस अध्यक्ष का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण और आकर्षण का केन्द्र माना जाता था । अत: लाई वैबल ने नेहरू को अन्तरिम सरकार के गठन के लिये आमंत्रित किया। भारत के स्वाधीन होने पर उन्हें प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलायी गयी। सर 1950 में सरदार पटेल का निधन हो गया जिससे दल और देश के भीतर पं. नेहरू की स्थिति अद्वितीय हो गयी। सन 1952,1957 तथा 1962 के आम निर्वाचनों के पश्चात् नेता के निर्वाचन हेतु संसद के केन्द्रीय कक्षा में बहुमत प्राप्त कांग्रेस संसदीय दल की बैठकें हुई जिनमें नेहरू का निर्वाचन पूर्व निर्धारित रहा । श्री नेहरू के प्रति जनता की अटूट श्रद्धा थी और भारतीय जनता तो भरोसा था कि जब तक श्री नेहरू जीवित है, वह चैन की नींद ले सकती है।

**प्रधानमंत्री पद पर श्री लालबहादुर शास्त्री की नियुक्ति :**

पं नेहरू के निधन के बाद मंत्रिमण्डल की आपात समिति ने राष्ट्रपति से श्री, गुलजारीलाल नन्दा को प्रधानमंत्री बनाये जाने की अनुशंसा की। इस समय देश के पास कोई सर्वस्वीकृत नेता नही था और नन्दा उस समय मंत्रिमण्डल के वरिष्ठतम सदस्य थे । पर राष्ट्रपति यथासम्भव शीघ्र नव निर्वाचित नेता के लिये इच्छुक थे । नन्दा केवल तभी तक के लिये प्रधानमंत्री बनाये गये थे जबकि कि कांग्रेस संसदीय दल अपने नेता का चुनाव नहीं कर ले। फिर अल्पावधि में नन्दा प्रधानमंत्री के पद पर थे न कि कार्यकारी प्रधानमंत्री के पद पर"।

नेहरू की विचार–परिधि में विभिन्न समयों में बहुत सारे लोग– आते रहे जिनमें श्री कृष्ण मेनन, विजयलक्ष्मी पण्डित और श्री लालबहादुर शास्त्री के नाम विशेष रूप से लिये जाते है। अन्य संभावित उत्तराधिकारियों में मोरारजी देसाई, वाई. बी. चव्हान, इन्दिरा गांधी आदि चर्चित थे। जब नेहरू का स्वास्थ गिरने लगा था, तो कुछ लोगों ने वह अफवाह फैला दी की लालबहादुर शास्त्री को उत्तराधिकार के लिये तैयार किया जा रहा था, क्योंकि भुवनेश्वर में दिल का दौरा पड़ने के बाद प्रधानमंत्री उनको मंत्रिमण्डल में वापस ले आये थे । कुछ दूसरे लोगों का कहना था कि केवल एक व्यक्ति को नेहरू अपने बाद प्रधानमंत्री के पद पर चाहते थे और वह उनकी पुत्री थी । इसके अतिरिक्त, गुलजारीलाल नन्दा, जो उस समय गृहमंत्री और मंत्रीमण्डल में द्वितीय स्थान पर थे, औपचारिक दृष्टि से प्रधानमंत्री के पद पर अपने अधिकार को आसानी से त्यागने वाले नहीं थे। ओर फिद मोरारजी देसाई थी थे, जो मंत्रिमण्डल के बाहर होते हुए भी अवसर की प्रतीक्षा में थे । समझौता न करने वाले व्यक्ति के रूप में बदनाम होने के बावजूद कांग्रेस के संसदीय दल में मोरारजी के कई वफादार समर्थक थे। इसके विपरीत शास्त्रीजी को जो समर्थन प्राप्त था, वह उतना उत्साहपूर्ण नहीं था। कांग्रेस के अध्यक्ष कामराज तथा हाईकमान के कुछ प्रवर सदस्य शास्त्री के पक्ष में इसलिये थे कि उनके साथ उनके सम्बन्ध अच्छे थे और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि वे समझते थे कि शास्त्री के साथ निर्वाह करना ज्यादा आसान था। इन्दिराजी शोक मना रही थी, इसलिये वे इस दौड़ में नही थी और नन्दाजी को लगभग नहीं के बराबर समर्थन प्राप्त था। कामराज ने बड़ी चतुरता से चाल चली और सम विचार सहयोगियों (सिण्डीकेट) की सहायता से उन्होंने आम सहमति" (Consensus) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अन्तर्गत दल के मतों का मूल्यांकन करके उन्हें यह निश्चित करना था कि सर्वसम्मति से चुने जाने के लिये किस पदाकांक्षी को बहुमत प्राप्त था। देसाई को अपने प्रति कामराज का दृष्टिकोण मालूम था और जब कार्यकारिणी तथा कांग्रेस के मुख्यमंत्रियों के सामने यह फार्मूला प्रस्तुत किया गया, तो उन्होंने उनका सशक्त रूप से विरोध किया । लेकिन बहुत उनके विरूद्ध था । अत: 'कामराज ने अपने फार्मूले के अनुसार औपचारिक रूप से इस विषय पर मत ज्ञात किये और शास्त्रीजी को विजयी घोषित किया। इस प्रकार शास्त्रीजी को प्रधानमंत्री बनाने में कांग्रेस अध्यक्ष कामराज की प्रमुख भूमि रही । इस प्रक्रिया में कांग्रेस कार्य समिति संसदीय दल के पदाधिकारियों तथा राज्यों के मुख्यमंत्रियों जैसे संस्थानात्मक दबाव गुटों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

**प्रधानमंत्री पद पर श्रीमती इन्दिरा गांधी की नियुक्ति :**

शास्त्रीजी की असामयिक मृत्यु से सारा देश स्तम्भिक हो गया। सर्वसम्मति से नेता चुनना अब कांग्रेस अध्यक्ष कामराज के लिये असम्भव था। मोरारजी संघर्ष से पीछे हटने के लिये किसी कीमत पर तैयार नहीं थे । कामराज का निश्चित मत था कि इन्दिराजी को प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाये। इन्दिराजी को कामराज के अतिरिक्त कांग्रेस कार्यसमिति राज्यों के मुख्यमंत्रियों, संसदीय दल, सिण्डीकेट तथा अन्य दबाव तथा हित समूहों का ' भी समर्थन प्राप्त हो गया तो उनकी जीत सुनिश्चित हो गयी केवल वोट गिनना शेष रह गया। अन्तिम

मतगणना में इन्दिराजी को 355 वोट मिले और मोरारजी को 163। इस प्रकार इन्दिराजी प्रधानमंत्री पद पर आरूढ़ हुई ।

फरवरी 1967 के आम चुनाव में लोकसभा में कांग्रेस दल का बहुमत काफी क्षीण हो जाने के कारण पार्टी के उच्च स्तर के नेता चिन्तित हो उठे थे। श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री पद के लिये दुबारा खड़ी हो रही थी और दूसरी तरफ मोरारजी ने भी चुनाव लड़ने का फैसला कर लिया था । कामराज निजी तौर से इन्दिराजी से नाराज हो गये थे और देसाई के प्रति उनकी पुरानी अरूचि खत्म हो गयी थी । कामराज और उनके साथ यह योजना बना रहे थे कि मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री बनाया जाय । परन्तु उन्हें डर था कि प्रधानमंत्री पद के लिये खुला संघर्ष होने से पार्टी कमजोर हो जायेगी। अत: यह तय किया गया पार्टी की एकता किसी भी कीमत पर कायम रखी जाए । उसके लिये एक ही उचित हल था कि श्रीमती गाँधी और देसाई को एक दूसरे के निकट लाया जाये। डी.पी. मिश्रर का यह मत था कि उप प्रधानमंत्री बनाने का वायदा करने से देसाई को समझौते के लिये राजी किया जा सकता था। मिश्रा के मत को अन्य नेताओं ने भी स्वीकार कर लिया । इस प्रकार नेता पद हेतु सीधा संघर्ष टाला गया परन्तु यदि इस समय सीधा संघर्ष भी होता तो इससे मोरारजी की जती की सम्भावना अधिक नहीं थी।

जुलाई 1969 में कांग्रेस दल विभाजित हो गया । प्रधानमंत्री ने कतिपय प्रतिपक्षी दलों के सहयोग से दिसम्बर 1970 तक कुशलपूर्वक सरकार चलायी। इसी समय उन्होंने राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करने की सलाह दी जिसके फलस्वरूप फरवरी 1971 में नये चुनाव हुए और उनके दल को लोकसभा में दो तिहाई से भी अधिक बहुमत प्राप्त हुआ । इस बार नेतृत्व का कोई संकट नहीं था और अपनी लोकप्रियता से वे सहज में प्रधानमंत्री के साथ–साथ लोकनायक बन गयी ।

जनवरी 1980 के लोकसभा चुनावों के बाद प्रधानमंत्री पद पर श्रीमती इन्दिरा गांधी की वापसी लगभग निश्चित थी । वे कांग्रेस (आई) की सर्वमान्य नेता थी । सातवीं लोकसभा के चुनावों में उन्होंने अपने दल का नेतृत्व किया था । सातवीं लोकसभा का चुनाव यथार्थ में प्रधानमंत्री का चुनाव ही था। मतदाताओं के सामने प्रधानमंत्री पद के तीन प्रबल दावेदार थे – श्रीमती इन्दिरा गांधी, जगजीवनराम और चरणसिंह । चुनावों में श्रीमती गांधी के दल को 525 सीटों में 351 सीटें प्राप्त हुई। यह एक शानदार अप्रत्याशित विजय थी । श्रीमती गांधी स्वयं उत्तरी भारत से रायबरेली और दक्षिण भारत के मेदक चुनाव क्षेत्रों से विजय हुई । कांग्रेस (इ) में प्रधानमंत्री पद हेतु अन्य कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था। कांग्रेस (इ) संसदीय दल द्वारा प्रधानमंत्री पद के लिये श्रीमती गांधी का निर्वाचन मात्र औपचारिकता थी।

**प्रधानमंत्री पद पर मोरारजी देसाई का चयन**

छठी लोकसभा चुनाव से पूर्व चार गैर कांग्रेसी दलों ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया। मोरारजी देसाई इस नयी पार्टी के अध्यक्ष और चरणसिंह उपाध्यक्ष बनाये गये । चुनावों की घोषणा के कुछ दिनों बाद जगजीवनराम ने केन्द्रीय मंत्रिमण्डल तथा कांग्रेस दल से त्यागपत्र देकर कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी नामक नये दल की स्थापना की । जनता पार्टी और "कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी ने एक ही चुनाव चिन्ह में भाग लिया और चुनावों में अकेली जनता पार्टी को ही

स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया । अब मुख्य प्रश्न था कि संसदीय गुट का नेता किसे चुना जाये । मोरारजी देसाई और जगजीवनराम दोनों के पक्ष में बहुत सी ऐसी बाते थे जिनके आधार पर उनमें से किसी को भी देश का नया प्रधानमंत्री बनाया जा सकता था। चरणसिंह ने भी देता पद के लिए अपना दावा पेश किया। किसानों को अघोषित मंच यह दलील दे रहा था कि देश का नया प्रधानमंत्री एक किसान होना चाहिये । समाजवादी और युवा तुर्क चन्द्रशेखर एवं भारतीय लोकदल चरणसिंह को इस पद पर लाने के लिए उत्सुक था। संसदीय गुट के नेता के चुनाव का फैसला जयप्रकाश नारायण और आचार्य कृपलानी पर छोड़ दिया गया। नेता का चुनाव' का फैसला जयप्रकाश नारायण और आचार्य कृपलानी पर छोड़ दिया गया। नेता का चुनाव कराने के लिये जयप्रकाश नारायण पटना से दिल्ली आये। चरणसिंह ने एक पत्र लिखकर प्रधानमंत्री पद के लिये मोरारजी देसाई को समर्थन प्रदान किया। इस प्रकार चरणसिंह ने प्रधानमंत्री पद की उम्मीदवारी से अपने को हटाकर मोरारजी देसाई के पक्ष को अपने गुट का समर्थन प्रदान कर उनकी स्थिति को मजबूत कर दिया। संगठन कांग्रेस के भूतपूर्व सदस्यों के अतिरिक्त जनसंघ द्वारा समर्थित अधिसंख्य सदस्य भी मोरारजी देसाई का ही समर्थन करते दिखायी दिये। जगजीवनराम, बहुगुणा व अन्य नेताओं की मदद से अपने को प्रधानमंत्री पद पर लाने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्नशील थे, तथा "कान्सेन्स" (Concensus) की प्रक्रिया को अपने लिये लाभदायक समझते थे। जयप्रकाश "सर्व सम्मतता" के पक्ष में थे परन्तु कृपलानी द्वारा घोषित किया गया कि बहुमत मोरारजी देसाई के पक्ष में है। अत: सर्वसम्मता को त्यागकर जे.पी. द्वारा मोरारजी देसाई को बहुमत दल का नेता घोषित कर दिया गया । इस प्रकार 24 मार्च, 1977 को मोरारजी देसाई द्वारा भारत के चतुर्थ प्रधानमंत्री पद की शपथ ग्रहण की गयी।

**प्रधानमंत्री पद पर चरणसिंह की नियुक्ति**

प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देने पर 15 जुलाई, 1979 को मोरारजी की सरकार का पतन हो गया। जनता (एस) के नेता चरणसिंह और मोरारजी देसाई दोनों ने ही राष्ट्रपति के समक्ष अपने–अपने बहुमत का दावा पेश किया। मोरारजी का तर्क था कि चूंकि वे जनता संसदीय दल के अभी नेता है और बहुमत का विश्वास उन्हें प्राप्त है अत : राष्ट्रपति को उन्हें पुन: सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित करना चाहिए । राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने दोनों ही पक्षों से अपने समर्थकों की सूचियाँ माँगी । चरणसिंह और मोरारजी की सूचियों में उनके समर्थकों की संख्या लगभग बराबर दर्शायी गयी थी । राष्ट्रपति ने दोनों की सूचियों की जाँच पड़ताल प्रारम्भ कर दी । उल्लेखनीय है कि देसाई के त्यागपत्र के बाद राष्ट्रपति ने विपक्ष के नेता यशवन्तराव चव्हाण को एक स्थायी सरकार बनाने की खोज करने का निमन्त्रण दिया था। राष्ट्रपति को चव्हाण ने सूचित किया कि वे स्वयं सरकार बनाने में असमर्थ है । चरणसिंह ने राष्ट्रपति को एक पत्र लिखकर यह दावा किया था कि वह केन्द्र में एक स्थायी सरकार बना सकते है और सरकार बनाने के तत्काल बाद लोकसभा में शक्ति परिक्षण के लिये तैयार है । चरणसिंह का मत था कि चूंकि मोरारजी देसाई एक पराजित पार्टी के नेता है इसलिये उन्हें राष्ट्रपति आमंत्रित नहीं कर सकते। लेकिन राष्ट्रपति ने दोनों दावेदारों को आमंत्रित कर विवेक और निष्पक्षता का परिचय दिया। 26 जुलाई, 1979 को लोकसभा में अधिक संसदों का समर्थन पाने के सफल दावों के बाद चरणसिंह को केन्द्र में नयी सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया गया।

राष्ट्रपति संजीव रेड्डी ने नये प्रधानमंत्री के चयन में अपने विवेक का प्रयोग किया और 236 के मुकाबले 262 का समर्थन पाने वाले चरणसिंह को प्रधानमंत्री पद ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया। राष्ट्रपति ने चरणसिंह और मोरारजी दोनों को एक साथ अपने समर्थकों की सूचियाँ भेजने का अवसर प्रदान कर अदभुत राजनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया। नये प्रधानमंत्री के रूप में चरणसिंह ने 28 जुलाई, 1979 को अपने पद की शपथ ली।

**चरणसिंह कामचलाऊ सरकार के प्रधान**

29 अगस्त, 1979 को चरणसिंह सरकार को लोकसभा का विश्वास प्राप्त करना था । श्रीमती इन्दिरा गांधी ने चरणसिंह को दिया समर्थन वापस ले लिया। लोकसभा का सामना करने के बजाय प्रधानमंत्री चरण सिंह ने अपने पद से त्यागपत्र देकर (20अगस्त,1979 को) राष्ट्रपति से लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिश कर दी । इससे गम्भीर राजनीतिक और संवैधानिक संकट उत्पन्न हो गया । विपक्ष के नेता जगजीवनराम ने राष्ट्रपति से भेंट करके वैकल्पिक सरकार गठित करने का मौका देने का अनुरोध किया। जनता पार्टी के नेताओं का मत था कि चरणसिंह को मध्यावधि चुनावों के आयोजन की सिफारिश करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वे लोकसभा का विश्वास प्राप्त करने में विफल रहे है । राष्ट्रपति ने अनेक विधि विशेषज्ञों से सलाह मशविरा किया और कामचलाऊ प्रधानमंत्री चरणसिंह की सलाह मानते हुए लोकसभा भंग करने की घोषणा कर दी । राष्ट्रपति ने यह भी निर्णय लिया कि वे चुनाव होने तक चरणसिंह मंत्रिमण्डल कामचलाऊ सरकार के रूप में देश का शासन चलायेगा।

**प्रधानमंत्री का चयन (31 अक्टूबर, 1984)**

31 अक्टूबर, 1984 को प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी को दुखद निधन पर राष्ट्रपति द्वारा कांग्रेस (इ) संसदीय बोर्ड की सिफारिश पर श्री राजीव गांधी को प्रधानमंत्री पद पर मनोनीत किया । नवम्बर के प्रथम सप्ताह में इन्दिरा कांग्रेस संसदीय दल द्वारा इस निर्णय की पुष्टि की गयी।

**प्रधानमंत्री का चयन (31 दिसम्बर,1984)**

दिसम्बर, 1984 में सम्पन्न आठवीं लोकसभा के चुनावों में इन्दिरा काँग्रेस ने श्री राजीव गांधी के नेतृत्व में चुनाव लड़कर अभूतपूर्व बहुमत (लोकसभा के. लगभग 80 प्रतिशत स्थान) प्राप्त किया। 31 दिसम्बर, 1984 को कांग्रेस संसदीय दल की बैठक में सर्वसम्मति से श्री राजीव गांधी को नेता चुना गया और राष्ट्रपति ने उन्हें प्रधानमंत्री पद पर मनोनीत किया।

**प्रधानमंत्री पद पर वी.पी सिंह का चयन**

नवीं लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इ) लोकसभा में सबसे बड़ा दल के रूप में अवतरित हुआ किन्तु उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था। अत: राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय मोर्चे के नेता श्री वी. पी. सिंह को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया क्योंकि उन्हें भाजपा और साम्यवादी दलों का समर्थन प्राप्त था। राष्ट्रीय मोर्चे के नेता पद पर श्री वी पी. सिंह का चयन नाटकीय ढंग से हुआ। सर्वप्रथम देवीलाल का नाम प्रस्तावित किया गया किन्तु उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह का नाम प्रस्तावित करते हुए नेता पद के लिये उन्हें सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति बतलाया।

**प्रधानमंत्री की नियुक्ति : कुछ निष्कर्ष**

भारत के प्रधानमंत्री का उत्तराधिकार एवं नियुक्ति की प्रक्रिया को देखते हुए निम्नलिखित तथ्य उभरकर सामने आते है । प्रथम, लोकसभा के सदस्य औपचारिक दृष्टि से प्रधानमंत्री की नियुक्ति के लिये भले ही जवाबदेह हो, वास्तविक नियुक्ति केवल उनके द्वारा नहीं होती। द्वितीय, कांग्रेस दल का सशक्त अध्यक्ष नेता पर के चुनाव को बहुत प्रभावित कर सकता है । तृतीय, नेता–पद के चुनाव में अनेक दबाव तथा हित समूहों को योगदान होता है । इनमें से संस्थात्मक दबाव समूहों का सर्वाधिक योगदान रहा है । भारत में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति, कांग्रेस संसदीय दल, मुख्यमंत्रीगण, सिण्डीकेट आदि ऐसे ही सक्रिय दबाव है। चतुर्थ, संघात्मक शासन व्यवस्था में मुख्यमंत्रियों का राष्ट्रीय नेतृत्व के निर्वाचन में महत्व होता है । पंचम, कभी–कभी लोकसभा चुनाव यथार्थ में प्रधानमंत्री पद हेतु 'निर्वाचन हो जाता है ऐसी स्थिति में जनता स्वयं अपने प्रधानमंत्री का प्रत्यक्ष निर्वाचन कर देती है । फरवरी 1980 का चुनाव प्रधानमंत्री पद का ही चुनाव था। षष्ट, यदि लोकसभा में किसी भी गुट को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, तो राष्ट्रपति अपने स्वविवेक का प्रयोग कर प्रधानमंत्री चयन की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते है। सप्तम, जनता पार्टी के काल में प्रधानमंत्री चयन की प्रक्रिया को इसके घटक दलों एवं गुटों ने प्रभावित, किया था।

## 6.5 प्रधानमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य

प्रधानमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य इस प्रकार है : –

**1. राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना :** प्रधानमंत्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना है । वह निश्चय करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायेगी।

**2. मंत्रिमण्डल का निर्माण :** प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का निर्माण करता है । उसे अपने सहयोगियों के चयन की पूर्ण स्वतंत्रता है। किसी मंत्री के कार्यों या आचरण से असन्तुष्ट होने पर वह उससे त्याग पत्र मांग सकता है।

**3. नियुक्ति सम्बन्धी कार्य :** संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन पदाधिकारियों को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गयी है, व्यवहार में इन पदाधिकारियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री के द्वारा ही की जाती है । राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, महाधिकवक्ता, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक आदि की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह से ही की जाती है।

**4. समन्वयकारी कार्य :** प्रधानमंत्री समस्त विभागों में नीति सम्बन्धी समन्वय स्थापित करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि मंत्रिमण्डल के समस्त विभागों में नीति व अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न न हों तथा उनके द्वारा परस्पर सहयोग किया जाये।

**5. मंत्रिमण्डल की अध्यक्षता :** मंत्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमंत्री की इच्छानुसार होती है और प्रधानमंत्री के द्वारा ही इन बैठकों का कार्यक्रम निश्चित किया जाता है ।

संक्षेप में, सैद्धान्तिक दृष्टि से संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में है लेकिन व्यवहार में इस प्रकार की समस्त कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग प्रधानमंत्री के द्वारा ही किया जाता है । वह देश की सर्वोच्च कार्यपालिका तथा राष्ट्रीय नीति का निर्देशक होता है।

## 6.6 प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल

डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि "प्रधानमंत्री वास्तव में मंत्रिमण्डल भवन के मृत खण्ड की मुख्य आधारशिला है और जब तक हम उक्त पद को इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वविवेक से मंत्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति कर सके, तब तक मंत्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं हो सकता । "मंत्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति में राष्ट्रपति का कोई हाथ नहीं होता क्योंकि संविधान में स्पष्टत: उल्लिखित है कि राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सम्मति से ही अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। प्रधानमंत्री को अपने सहयोगियों का चयन करने की पूर्ण स्वतंत्रता है क्योंकि मंत्रिपरिषद के साथ उसी को कार्य करना है । प्रधानमंत्री किसी मंत्री के कार्यों या आचरण से असन्तुष्ट होने के कारण उससे त्याग पत्र माँग सकता है । जैसा कि श्रीमती गांधी ने उप प्रधानमंत्री एवं तत्कालीन वित्त मंत्री मोरारजी देसाई को 1969 में मंत्रिपरिषद् से इस कारण से हटा दिया कि वे उनकी वित्त सम्बन्धी नीतियों मे सन्तुष्ट नहीं थी । यदि कोई मंत्री प्रधानमंत्री से मतभेद होने पर भी त्यागपत्र नहीं देना है तो प्रधानमंत्री उस मंत्री को पदच्युत करने के लिये राष्ट्रपति को परामर्श दे सकता है । पं. नेहरू के कार्यकाल में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी, श्री सी. डी. देशमुख और श्री टी. टी. कृष्णामाचारी ने तथा श्रीमती गांधी के कार्यकाल में श्री छागता, श्री पुनाचा आदि मंत्रियों ने प्रधानमंत्री से मतभेद होने के कारण त्याग–पत्र दिये थे।

प्रधानमंत्री को किसी भी मंत्री की पदोन्नति या पदावनति का भी अधिकार है । मंत्रियों के बीच विभागों का वितरण भी प्रधानमंत्री ही करता है। प्रधानमंत्री ही मंत्रिपरिषद् की अध्यक्षता करता है । उसके द्वारा ही मंत्रिपरिषद् की कार्य–सूची निर्धारित की जाती है । मंत्रिपरिषद् की सारी गतिविधियों एवं कार्यवाहियों का संचालन प्रधानमंत्री ही करता है । यद्यपि मंत्रिमण्डल के निर्णय मतदान के आधार पर ही लिये जाते है, परन्तु प्रधानमंत्री का प्रभाव एवं सलाह निर्णय पर पहुँचने के लिये निर्णायक होते है । प्रधानमंत्री ही मंत्रिपरिषद् की एकता तथा सुदृढ़ता कायम रखता है । उसे मंत्रियों में राह भावना पैदा करनी होती है कि "हम सब एक साथ तैरते है या सब साथ–साथ डूबते है। मंत्रियों में यदि कोई मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो प्रधानमंत्री मध्यस्थता द्वारा उनमें पुन: एकता स्थापित करता है। वह किसी भी मंत्री से उसके विभाग की सूचना माँग सकता है । संक्षेप में, प्रधानमंत्री समस्त मंत्रिपरिषद् एवं प्रशासन का निरीक्षण, निर्देशन एवं नियन्त्रण करता है। वह उस कड़ी के सदृश है जिसके द्वारा समस्त प्रशासन को एक सूत्र में बांधा जा सकता है । मंत्रिपरिषद् तथा प्रशासन का मुखिया होने के नाते प्रधानमंत्री विभिन्न मंत्रालयों में समन्वय स्थापित करते हुए, शासन की विभिन्न क्रियाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध करता है। यह कहना सत्य प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद के निर्माण, जीवन तथा मृत्यु का केन्द्रबिन्दु है।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में मंत्रिमण्डल के मंत्रियों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है – (1) वे मंत्री जो मंत्रिमण्डल में लिये जाने से पूर्व भी दल में अपनी स्वतंत्र स्थिति रखते थे, (2) वे मंत्री जो मंत्रिमण्डल मे लिये जाने से पूर्व भी प्रभावशाली थे और मंत्रिमण्डल में आकर अधिक महत्वपूर्ण बन गये, (3) वे लोग जो केवल इसलिये महत्वपूर्ण बन गये क्योंकि उन्हें मंत्रिमण्डल में शामिल कर लिया गया । प्रथम वर्ग के मंत्रियों से परामर्श लेना तथा उन्हें विश्वास में रखना प्रधानमंत्री के लिये आवश्यक हो जाता है द्वितीय वर्ग के मंत्रियों का परामर्श लेकर भी प्रधानमंत्री सुविधानुसार उनकी उपेक्षा कर सकता है जबकि तृतीय श्रेणी के मंत्रियों की उपेक्षा बड़ी आसानी से की जा सकती है। वी. के. कृष्णमेनन ने प्रधानमंत्री के बारे में लिखा है, "मंत्रिमण्डल में प्रधानमंत्री सर्वशक्तिशाली नहीं है। सामान्य धारणा के अनुसार वह समकक्षों में ऐसा है। इसके बावजूद वह प्रमुख तो है ही चूंकि वह समकक्षों में ऐसा है। इसलिए प्रश्न उठता है कि कितने समकक्षी उसके साथ है तथा कितने साथ नहीं है। उसके अतिरिक्त, समकक्षियों के साथ होने के कारण वह उनसे उसी ढंग से बात भी कर सकता है।.

## 6.7 प्रधानमंत्री और संसद

भारत में प्रधानमंत्री लोकसभा का भी नेतृत्व करता है। लोकसभा में बहुमत दल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री कई महत्वपूर्ण कार्य करता है। प्रथम, शासन की नीतियों एवं मुख्य कार्यो की घोषणा लोकसभा में प्राय: प्रधानमंत्री करता है । द्वितीय, लोकसभा के सदस्यों द्वारा गम्भीर मामलों पर पूछे गये प्रश्नों का उत्तर प्राय: प्रधानमंत्री ही देता हैं। तृतीय, जब मंत्रियों द्वारा संसद को सन्तोषपूर्वक उत्तर नहीं दिये जाते है तब संसद प्रधानमंत्री को अन्तिम सुवक्ता और नीति के स्त्रोत के रूप में देखती है। चतुर्थ, शासकीय विधेयकों को प्रधानमंत्री को अन्तिम सुवक्ता और नीति के स्रोत के रूप में देखती है । पंचम, देश की वित्त व्यवस्था और वार्षिक बजट को निर्धारित करने में भी प्रधानमंत्री का हाथ होता है। षष्ठ, अपने दल की नीतियों को क्रियान्वयन कराने और दल में अनुशासन एवं एकता कायम रखने हेतु प्रधानमंत्री दलीय सचेतक के माध्यम से आदेश प्रसारित करता है । अन्त में प्रधानमंत्री की सलाह पर ही राष्ट्रपति साधारणतया लोकसभा को भंग करता है।

भारत में प्रधानमंत्री ने चतुर्थ लोकसभा को जिन परिस्थितियों में भंग करवाया, उससे उनकी शक्ति का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। इस शक्ति के यथार्थ प्रयोग से संसद सदस्य आतंकित किये जा सकते है। यदि उन्होंने प्रधानमंत्री के मार्ग में रोड़े अटकाने की कोशिश की तो उन्हें भयभीत करके अंकुश में रखा जा सकता है ।

संसद में बहुमत दल का नेता होने के कारण प्रधानमंत्री आवश्यक विधि–निर्माण करवा सकता है । संविधान संशोधन करवाना भी प्रधानमंत्री की ही इच्छा का परिणाम होता है परन्तु विधि–निर्माण और संविधान–संशोधन का निर्णय लेते समय प्रधानमंत्री को लोकमत और संसदीय विपक्ष की मनोभावनाओं को ध्यान में रखना होता है । वस्तुत: प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है और संसद (अविश्वास प्रस्ताव) के द्वारा उन्हें अपदस्थ कर सकती है।

## 6.8 प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति

भारतीय संविधान की कार्यप्रणाली से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रपति नाममात्र (औपचारिक) प्रधान है और वास्तविक कार्यप्रमुख प्रधानमंत्री ही है । डॉ. अम्बेडकर ने संविधान–निर्मात्री सभा में कहा था कि 'हमारे राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान के अन्तर्गत सम्राट की है । वह राज्य का प्रधान है, किन्तु कार्यपालिका का नहीं । वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता है । वह राष्ट्र का प्रतीक है" ।

राष्ट्रपति संसद का सदस्य नहीं होता इसलिये वह बैठक में भाग नहीं लेता। प्रधानमंत्री राष्ट्रपति और मंत्रिमण्डल के बीच एक कड़ी के सदृश कार्य करता है । हमारे संविधान में प्रधानमंत्री की इसी प्रकार की भूमिका को अनुच्छेद 78 के अन्तर्गत मान्यता दी गयी है । इस अनुच्छेद के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल द्वारा लिये गये निर्णय प्रधानमंत्री द्वारा, राष्ट्रपति को प्रेषित किए जायेंगे । इस प्रकार प्रधानमंत्री संसद की पूरी जानकारी राष्ट्रपति को देते है जिससे प्रधानमंत्री वह कड़ी बन जाता है जो राष्ट्रपति और संसद को जोड़ती है।

भारतीय राजनीति की कार्य–प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में यह एक तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता कि अब तक जो भी राष्ट्रपति हुए है वे न्यूनाधिक रूप से औपचारिक या संवैधानिक राज्य प्रधान ही रहे है और उन्होंने अपनी इस स्थिति को चाहे–अनचाहे स्वीकार किया है । भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ. राधाकृष्णन श्री नेहरू के समकालीन थे । किन्तु वे सलाहकार और रस्मी प्रधान ही बने रहे । तृतीय, चतुर्थ और पंचम राष्ट्रपति प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी की पसन्द के व्यक्ति थे। राष्ट्रपति गिरि के निर्वाचन में प्रधानमंत्री को अनेक संघर्ष झेलने पड़े एवं अपने दल के महन्तों से शत्रुता मोल लेनी पड़ी। राष्ट्रपति श्री अहमद श्रीमती गांधी के अपने विश्वास एवं भरोसे के राष्ट्रध्यक्ष थे।

प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्ध' अनेक तत्वों, राजनीतिक परिस्थितियों, तत्कालीन घटनाओं के साथ–साथ उनके व्यक्तिगत समीकरण, सतारूढ़ दल में दोनों की स्थिति, संसद का दलीय संगठन, जनता में दोनों की लोकप्रियता, राजनीतिज्ञों के राष्ट्रपतिय भूमिका के बारे में विचारों तथा प्रधानमंत्री के दल, केबिनेट, संसद, राज्यों और जनता में स्थान से निर्धारित होते है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद देश के दल में अपनी प्रतिष्ठापूर्ण स्थिति नेहरू की अनिच्छा के बावजूद दोनों बार अपने राष्ट्रपति पद पर निर्वाचन एवं सत्तापदानुक्रम में समान शक्ति, प्रतिष्ठा और अपने प्रभाव के कारण अपनी संवैधानिक औपचारिक भूमिका के बावजूद प्रधानमंत्री नेहरू पर संयत प्रभाव डाल सकने की स्थिति में थे। उन्होंने प्रधानमंत्री की अनिच्छा के बावजूद पटेल के दाह संस्कार, सोमनाथ मन्दिर के उद्घाटन में भाग लिया । चीन के प्रति नेहरू की नीति, जमींदारों उन्मूलन विधेयक तथा हिन्दू कोड बिल पर उन्होंने अपनी आपत्ति को स्पष्ट अभिव्यक्त किया । डॉ राधाकृष्णन एक मात्र ऐसे राष्ट्रपति थे जिन्होंने अपने 5 वर्ष के शासनाकाल में तीनों प्रधानमंत्रियों –नेहरू, शास्त्री एवं इन्दिरा गांधी के साथ राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया था । नेहरू के अन्तिम दिनों में चीनी आक्रमण के पश्चात् उनकी विदेश नीति की असफलता, पराजय से पतित लोकप्रिय तथा शारीरिक अक्षमता का कारण जब प्रधानमंत्री की

सत्ता धुंधली पड़ने लगी थी तो सत्ता का केन्द्र–बिन्दु प्रधानमंत्री से राष्ट्रपति राधाकृष्णन की ओर परिवर्तित होने लगा था । भारतीय नेतागणों ने उनसे मिलना और परामर्श करना बढ़ा दिया था । 1962 मे सुरक्षा मंत्री कृष्णमेनन को मंत्री कृष्णमेनन को केबिनेट से बाहर करवाने में करवाने में राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी । शास्त्रीजी के कार्यकाल में राष्ट्रपति डॉ राधाकृष्णन ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी जबकि प्रधानमंत्री राष्ट्रपति को प्रभावित करने में असमर्थ रहे । राष्ट्रपति की शैक्षणिक विद्वत्ता, विदेश यात्राएँ । (विशेषकर रूस) सुब्रह्मण्यम् और अलगेसन के त्यागपत्र पर मध्यस्थ की महत्वपूर्ण भूमिका एवं सरकार की सार्वजनिक आलोचनाओं में राष्ट्रपति के संयत प्रभाव को परिलक्षित किया जा सकता है। श्रीमती गांधी ने पांच राष्ट्रपतियों - डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. जाकिर हुसैन, वी.वी. गिरि, फखरूदीन अली अहमद एवं ज्ञानी जैलसिंह के साथ कार्य किया था । श्रीमती गांधी के प्रारम्भिक काल में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दोनों ही परस्पर संयत या सीमित प्रभाव डाल सकने की स्थिति में थे। दल, संसद कैबिनेट मे प्रधानमंत्री की कमजोर स्थिति और अस्थिर राजनीतिक परिस्थितियों ने गणतंत्र दिवस पर राष्ट्रपति की सरकारी आलोचनाओं को उग्र कर दिया था । उन्होंने नन्दा को गृह विभाग से न हटाने, आम निर्वाचन वर्ष में केबिनेट में क्रान्तिकारी परिवर्तन न करने का प्रधानमंत्री को परामर्श देकर अपने इस संयत प्रभाव का उपयोग किया । दूसरी और नवम्बर 1966 में, केबिनेट परिवर्तन से राष्ट्रपति को अनभिज्ञ रखने, राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू करवाने एवं उन्हें पुन: राष्ट्रपति शासन लागू करवाने एवं उन्हें पुन: राष्ट्रपति न बनाने के निर्णय में प्रधानमंत्री के राष्ट्रपति पर सीमित प्रभाव को परिलक्षित किया जा सकता है । डॉ जाकिर हुसैन, वी. वी. गिरी, फखरूदीन अली अहमद क्रमश प्रधानमंत्री का दुर्जेय प्रभाव स्थापित हो गया था । वी.वी. गिरि के निर्वाचन की सफलता एवं विभिन्न संयत्रों पर श्रीमती गांधी के शक्तिशाली प्रभाव स्थापित हो जाने के पश्चात् उन्होंने अपने प्रधानमंत्रिय भूमि की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया था। श्री अहमद ने अपने शासनकाल में औपचारिक प्रमुख की भूमिका का ही प्रतिपादन किया था। उनकी बढ़ती हुई उम्र और गिरते हुए स्वास्थ्य ने उन्हें राष्ट्रपति भवन की शोभा का प्रतीकमात्र ही बनकर रहने दिया। अपने कार्यकाल में उन्हें अनेक आदेशों, दस्तावेजों, अध्यादेशों एवं संवैधानिक संशोधन पर इच्छा या अनिच्छा से हस्ताक्षर करने पड़े 25 जून, 1975 की रात्रि को 11.45 बजे उन्होंने श्रीमती गांधी द्वारा प्रस्तुत आंतरिक आपातकाल की घोषणा पर हस्ताक्षर कर दिया। 42वें संशोधन द्वारा स्वयं राष्ट्रपति को "अलंकार" बना देने के प्रयत्नों का भी प्रकट रूप से उन्होनें कोई विरोध नहीं किया।

नीलम संजीवा रेड्डी सर्वसम्मति से विरोधी दलों के सहयोग से राष्ट्रपति पद पर गुने गये । यह पहला अवसर था जबकि भारत के राष्ट्रपति को बिना किसी चुनाव के निर्विरोध नियुक्त किया गया। वे प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के अधिक शक्तिशाली थे क्योंकि मोरारजी कमजोर थे उनकी दलीय स्थिति सुदृढ़ नहीं थी । बाद में चरणसिंह की कामचलाऊ सरकार की कालावधि में राष्ट्रपति राष्ट्र के भाग्य–विधाता ही बन गये । उन्होंने देश की आम जनता के मस्तिष्क पर यह छाप डाल दी थी कि वे भारत के शक्तिहीन राष्ट्रपति नहीं है ।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में यह कहना सत्य है कि प्रत्येक प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति भवन में एक मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व का होना पसन्द करता है। "श्री हरीश खरे के अनुसार, प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के व्यक्तित्व का पारस्परिक सामंजस्य, राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमंत्री द्वारा अदा गयी भूमिका, प्रधानमंत्री की राजनीतिक प्रतिष्ठा तथा देश की सामान्य राजनीतिक स्थिरता दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप का निर्धारण करेगी। कुल मिलाकर जिस प्रकार भारत में संविधान का कार्यान्वयन हुआ है उससे निस्सन्देह प्रधानमंत्री की स्थिति दृढ़ हुई और राष्ट्रपति "स्वर्णिम शून्य" ही रहे हैं।

## 6.9 दलीय नेता के रूप में प्रधानमंत्री की भूमिका

भारत में प्रधानमंत्री अपने दल का यथार्थ में ही नेता होता है । प्रधानमंत्री सें मतभेद होने पर दल के अध्यक्ष को सदैव मुँह की खानी पड़ी है । श्री नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में आचार्य कृपलानी और पुरूषोतमदास टण्डन जैसे शक्तिशाली दल के अध्यक्षों को झुकना पड़ा। श्री नेहरू ने तो कुछ समय तक दल की बागडोर भी अपने हाथों में रखी थी । बाद में प्रधानमंत्री कांग्रेस दल की आशाओं का दीपक बन गया। सन 1969 से जब दल में हाईकमाण्ड में उनकी 'इच्छाओं का अनादर कर संजीवा रेड्डी को राष्ट्रपति पद पर प्रत्याशी घोषित किया तो प्रधानमंत्री ने राजनीतिक चतुराई से उसका विरोध किया और राष्ट्रपति के चुनाव में खुले मतदान की मांग की थी, श्री गिरि को विजयी बनाया, श्री निजलिंगप्पा को अध्यक्ष पद से हटाया गया और नयी कांग्रेस की नींव डाली । आगे चलकर दल का वास्तविक नेता प्रधानमंत्री बन गया और कांग्रेस अध्यक्ष तो वैधानिक अध्यक्ष मात्र रह गया। सन 1971 में लोकसभा तथा सन 1972 के राज्य विधान मण्डलों के निर्वाचनों में दलीय प्रत्याशियों के चयन में प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका रही। बाद में प्रधानमंत्री द्वारा ही यह निर्णय लिया जाने लगा कि राज्यों में दल का नेतृत्व किसके हाथ में होगा? लोकसभा ओर विधानसभाओं के जिन निर्वाचन क्षेत्रों में प्रधानमंत्री पहुँच गया वहाँ दलीय प्रत्याशियों को अदभुत सफलता प्राप्त होती थी। पंचम, सप्तम और अष्टम (दिसम्बर 1984) लोकसभा का निर्वाचन तो प्रधानमंत्री' का ही निर्वाचन था। जनता कांग्रेस दल के बजाय प्रधानमंत्री के हाथ मजबूत करने के लिये उनके दल के पक्ष में मतदान करती। दल की नीतियों में 'क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का श्रय प्रधानमंत्री को ही है। सातवें लोकसभा चुनावों के बाद श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री पद के साथ–साथ कांग्रेस (इ) की अध्यक्ष और अपने दल की एकमात्र नेता भी थी। और 1984–88 के वर्षों से राजीव गांधी के सम्बन्ध 'में यही स्थिति रही। श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने जनता दल के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर सरकार और दल के मध्य अन्तर को बनाये रखने की प्रवृति शुरू करने का संकेत दिया।

वस्तुतः दल में प्रधानमंत्री की भूमिका तीन तथ्यों पर निर्भर करती है – प्रथम, प्रधानमंत्री और दलीय अध्यक्ष में से किसने किसके चुनाव मे क्या भूमिका अदा की? क्या कांग्रेस अध्यक्ष मंत्रिमण्डल में है? कांग्रेस कार्यसमिति तथा कांग्रेस संसदीय बोर्ड में उनके कितना समर्थन प्राप्त है, आदि द्वितीय, क्या प्रधानमंत्री संसदीय दल की शक्ति का मूल स्त्रोत है? नेहरूजी में संसदीय दल का व्यवहार उन स्कूलों के बच्चों के समान था जो अपने शिक्षक से डरते है तथा उसकी बात ध्यान से सुनते है । तृतीय, क्या प्रधानमंत्री को जनता का समर्थन

और विश्वास प्राप्त है। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को जन–समर्थन प्राप्त होने से ही 1979 में दल–विभाजन के समय उन्होंने दल के रूढ़िवादी नेताओं की अधिक चिन्ता नही थी।

## 6.10 भारत में प्रधानमंत्रीय शासन प्रणाली का उभरता प्रतिमान

विलियम हारकोर्ट ने बहुत पहले ब्रिटिश प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में कहा था कि "प्रधानमंत्री नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा है। लार्ड मार्ले ने भी यह मत व्यक्त किया था कि "वह समान पद वालों में प्रथम है । परन्तु राजनीतिक संस्थाओं के बदलते परिवेश में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के पद की महिमा ही बदल गयी है और उसके सम्बन्ध में दोनों उक्तियाँ व्यर्थ हो गयी है । अब तो हम्फ्री बर्कले के इस अभिमत में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के पद की वस्तुस्थिति प्रकट होती है - "वैस्टमिस्टर में संसदीय प्रजातंत्र समाप्त हो चुका है । ब्रिटिश व्यवस्था का मूल दुर्गुण प्रधानमंत्री के पास राजयाध्यक्ष से भी अधिक शक्तियों का होना है। " क्रासमैन ने भी लिखा है, द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षो में मंत्रिमण्डलीय शासन–प्रणाली प्रधानमत्रिय शासन प्रणाली में परिवर्तित हो गयी है"।

भारतीय संविधान निर्माताओं का ध्येय ब्रिटिश नमूने की संसदात्मक शासन प्रणाली की भारत में स्थापना करना था । संसदात्मक शासन प्रणाली में संसद शासन की धुरी होती है और प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल संसद के इर्द–गिर्द चक्कर लगाते है । लेकिन पिछले 40 वर्षों से संसदात्मक शासन प्रणाली के क्रियात्मक पक्ष का अवलोकन करने से यह तथ्य उभरता है कि प्रधानमंत्री का पद शासन की धुरी के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है।

प्रधानमंत्री मुख्य प्रशासक, मुख्य नीति–निर्माता, मुख्य विधायक तथा मुख्य राजनयिक के रूप में राष्ट्र के सम्मुख हुआ । प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू और श्रीमति इन्दिरा गांधी जैसे कुशल और आकर्षक प्रतिभा वाले नेताओं ने क्रियाशील होकर राष्ट्र को स्थायित्व प्रदान किया। विगत कुछ वर्षों राजनीतिक घटनाओं से यह निष्कर्ष निकलता हे कि भारत में प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का नेता है और देश की राष्ट्र, परराष्ट्र, वित्त एवं सुरक्षा नीति के निर्माण में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्यों का राजनीतिक नेतृत्व अपनी स्वायत्तता के बजाय प्रधानमंत्री के नेतृत्व में विश्वास रखता है। राष्ट्रपति के चयन और निर्वाचन में प्रधानमंत्री की पसन्द का ही विशिष्ट महत्व है। राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति का अन्तिम निर्णय उन्हीं का होता है। योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रीय अर्थ–नीति का निर्धारण प्रधानमंत्री द्वारा ही होता है।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के तुल्य, भारत के प्रधानमंत्री का भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अत्यधिक महत्व है। लास्की का ब्रिटिश प्रधानमंत्री के लिये यह कहना है कि "मंत्रिपरिषद् के निर्माण का वह केन्द्र बिन्दु है और मंत्रिपरिषद् के जीवन का वह केन्द्र बिन्दु है और मन्त्री परिषद् की मृत्यु का केन्द्र बिन्दु है। वास्तव में प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद् का केन्द्र बिन्दु ही नहीं है, अपितु वह सम्पूर्ण राष्ट्र का केन्द्र बिन्दु है, जैसा कि ग्रीब्ज कहते है - "सरकार राष्ट्र का स्वामी है और वह सरकार का स्वामी है। भारत के प्रशासनिक सुधार आयोग ने प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में अपने प्रतिवेदन में लिखा है, 'संविधान सरकार की कार्यपालिका में प्रधानमंत्री को विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है । वह न केवल मंत्रिमण्डल का अध्यक्ष तथा समकक्षों में प्रथम

ही है – अपितु वह राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता भी है । उसकी उच्च स्थिति उसे इस बात का विशिष्ट उत्तरादायित्व सौंपती है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करती है, संयुक्त उत्तरदायित्व का उचित रूप से क्रियान्वयन होता है, राजनीतिक सोद्वेयात्मकता के रहते हुए नीतियाँ वास्तविक तत्परता के साथ क्रियान्वयन की जाती है, तथा प्रशासन जनता की आकांक्षाओं के अनुकूल की कार्य करता है।

हम्फ्री बर्कले के अनुसार, "आधुनिक युग में प्रधानमंत्री की प्रधानमंत्री भूमिका के अन्तर्गत संसद की सर्वोच्चता का सिद्धान्त क्षीण हो गया है । अब प्रधानमंत्री में कार्यकुशल एवं प्रभावकारी संयत्र के रूप में नियन्त्रण रखने की संसदीय शक्तियाँ संवैधानिक परिकल्पनाओं का अंग मात्र रह गयी है । आधुनिक युग में महत्वपूर्ण एवं मतभेद पूर्ण विषय संसद की अपेक्षा प्रधानमंत्री द्वारा संसदीय दल की बैठक, संसदीय कार्यकारिणी एवं संसदीय समितियों की बैठकों में विचार विमर्श द्वारा पूर्व में ही निर्मित कर लिये जाते है । संसद केवल "रबर स्टैम्पस" (Rubber Stamps) के रूप में उस पर अपनी स्वीकृति की औपचारिकता मात्र की परिपूर्ति करती है।

यदि कोई राष्ट्रीय स्तर का ख्याति प्राप्त व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्य और उपलब्धियों के आधार पर चुनकर संसद में आया होगा तो संसदीय दल को प्रधानमंत्री के निर्वाचन में कोई भी विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होंगे । 1952,1957,1962 के आम निर्वाचन के पश्चात् श्री नेहरू और 1971 एवं 1980 के निर्वाचन के पश्चात श्रीमती गाँधी के निर्विरोध निर्वाचन तथा दिसम्बर 1984 में राजीव गांधी के निर्वाचन में संसदीय दल ने केवल प्रधानमंत्री चयन की औपचारिकता की परिपूर्ति मात्र की थी। डॉ. विमला शुक्ल के अनुसार, "इस प्रकार से निर्वाचित प्रधानमंत्री की निश्चित रूप से प्रधानमंत्रिय भूमिका होगी ।" इसमें वास्तव में संसदीय दल अपने नेता प्रधानमंत्री का निर्वाचन नहीं करता है बल्कि जनता ही प्रत्यक्ष रूप से अपने नेता प्रधानमंत्री का निर्वाचन कर देती है । वह प्रत्यक्ष, जनता द्वारा अपनी शक्ति को प्राप्त करता है । यदि प्रधानमंत्री समझे कि संसद जनता का उचित प्रतिनिधित्व नहीं कर रही है, तो वह राष्ट्रपति से कहकर संसद को भंग कर नये निर्वाचन के लिये उपयुक्त समय निश्चित कर सकता है।

क्या भारत प्रधानमंत्रिय व्यवस्था की ओर जा रहा है? इससे यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में संसद व्यर्थ की महत्वहीन संस्था हो गयी है । इसका यही अभिप्राय है कि संसदात्मक संस्थाओं के क्रियाशील होते हुए भी भारत में प्रधानमंत्री के पद और स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है, प्रधानमंत्री देश की राजनीति का मेहराब बन गया है, प्रधानमंत्री राज्य रूपी जहाज का चालक बन गया है । प्रधानमंत्री का प्रधानमंत्री सचिवालय पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। प्रधानमंत्री का सचिवालय उसी प्रकार कार्य करने लगा है, जिस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली वाले देश अमरीका के राष्ट्रपति का 'व्हाइट हाउस" । प्रधानमंत्री की प्रधानता का प्रमुख कारण यह है कि वह एक ऐसे दल का नेता है जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है। उसकी सारी शक्ति दल में संगठन और दल के मिलने वाले समर्थन पर निर्भर है।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में संसदात्मक शासन प्रणाली के प्रतिमान के स्थान पर "प्रधानमंत्रिय शासन प्रणाली" के प्रतिमान की चर्चा करने वाले विद्वान भी इस तथ्य से परिचित है कि भारत में संसद अत्यन्त शक्तिशाली संस्था है, मंत्रीमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है, संसद के पास काम रोको' प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव और अविश्वास प्रस्ताव पारित करने की शक्तियाँ है और शक्तिशाली प्रधानमंत्री भी विरोधी दलों की आसानी से उपेक्षा नहीं कर सकता है।

जब–जब सरकार को ऐसे गम्भीर प्रश्नों से जूझना पड़ा, जिनका सम्बन्ध अखिल राष्ट्र के कल्याण अथवा सुरक्षा से हो, तब–तब प्रधानमंत्री ने विरोधी ने विरोधी दलों के नेताओं से विचार विनिमय किया है और सरकारी निर्णयों को सर्वदलीय निर्णयों के स्तर तक उठाया है । सन 1962 के चीनी आक्रमण के समय, 1965 और 1971 के पाकिस्तानी आक्रमण के समय जितने प्रमुख निर्णय किये गये, उन सबके बारे में किसी–न–किसी रूप में विरोधी दलों के साथ बातचीत की गयी थी और 1983–84 के वर्षों में पंजाब की निरन्तर बिगड़ती हुई स्थिति पर प्रधानमंत्री के अनेक बार विपक्षी दलों से परामर्श किया। अमरीका की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रपति कांग्रेस के सहयोग के बिना भी चार वर्ष तक अपने संविधान प्रदत्त कार्यों का निर्वाह कर सकता है । जबकि भारत का प्रधानमंत्री अनेक नियन्त्रणों में कार्य करता है ऐसी स्थिति में यह कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता है कि भारत में प्रधानमंत्री शासन–व्यवस्था की स्थापना हो रही है । भारतीय प्रधानमंत्री की शक्तियों पर कतिपय महत्वपूर्ण नियन्त्रण इस प्रकार है :

**1. लिखित संविधान –** भारत का संविधान लिखित है और प्रधानमंत्री को कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग लिखित संविधान की सीमाओं के भीतर ही करना होता है।

**2. संघ व्यवस्था –** भारत में संविधान द्वारा संघ व्यवस्था की स्थापना की गयी है । संघ व्यवस्था प्रावधानों के अनुसार राज्यों को प्राप्त विषयों पर केन्द्रीय संसद को कानून बनाने की छूट नहीं है। प्रधानमंत्री की कार्यपालिका की शक्ति केवल उन्हीं विलयों तक सीमित है जिन पर कानून बनाने की शक्ति संसद को प्राप्त है।

**3. संसदीय नियन्त्रण –** प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। लोकसभा के समर्थन के बिना वह कुछ नहीं कर सकता है । लोकसभा उससे प्रश्न पूछती है, उसके विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव ला सकती है और उसे त्याग पत्र देने के लिये बाध्य कर सकती है। लोकसभा द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने की शक्ति अब केवल सैद्धान्तिक नहीं रही है। जुलाई 1979 में मोरारजी मंत्रिमण्डल ने अविश्वास प्रस्ताव के कारण ही पद त्याग किया था।

**4. दलीय नियंत्रण –** उसकी सारी शक्ति दल के संगठन और दल से मिलने वाले समर्थन पर निर्भर है।

**5. लोकसभा का नियंत्रण –** प्रधानमंत्री की शक्ति का प्रयोग सदा आलोचना की कसौटी पर कसा रहता है और लोकमत के अनुसार ढलता है । उसे अगले चुनाव का खतरा सदैव बना रहता है। अत: कोई भी प्रधानमंत्रीय ऐसा कार्य नहीं कर सकता जिसे लोकमत पसन्द न करे।

हम्फ्री बर्कले ने अपनी पुस्तक "दि पॉवर ऑफ द प्राइममिनिस्टर" में कहा कि संसद की सम्प्रभुता एवं प्रधानमंत्री पर नियन्त्रण को स्थापित करने के लिये प्रधानमंत्री की शक्तियों में कमी की जानी आवश्यक है । उसकी प्रधानमंत्रिय शक्तियों को ही नहीं बल्कि "सुप्राप्रेसिडेन्सियल पॉवर्स को नियन्त्रित करने के लिए बर्कल ने कुछ सुझाव दिया है । इसके अनुसार, प्रधानमंत्री से संसद भंग करने का अधिकार– छीन लिया जाना चाहिये; संसद को कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त कर प्रधानमंत्री की अवधि निश्चित कर देनी चाहिए; प्रधानमंत्री का कार्यकाल अधिकतम 8 वर्ष होना चाहिये।

## 6.11 भारतीय राज–व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति

भारतीय राज्य व्यवस्था में प्रधानमंत्री का पद विशिष्ट महत्व का पद है । प्रधानमंत्री की स्थिति (Position) के अनेक निर्धारक तत्व है जैसे – प्रधानमंत्री पदधारी का व्यक्तित्व; संसद में विपक्ष की स्थिति और संख्या बल; अपने दल की शक्ति संरचना मं उसकी स्थिति और उप प्रधानमंत्री के पद का अस्तित्व आदि । जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गांधी अत्यन्त शक्तिशाली प्रधानमंत्री थे क्योंकि उनका व्यक्तित्व करिश्माती था, कांग्रेस दल पर उनका नियंत्रण था और संसद में विपक्ष दुर्बल था । मोरारजी की स्थिति को काफी आघात पहुँचाया। चरणसिंह मिली जुली सरकार के नेता थे, दल बदलू प्रधानमंत्री होने के कारण जनता में उनके प्रति कोई आस्था नहीं थी और फिर वे श्रीमती गांधी के समर्थन से प्रधानमंत्री बने थे, जिससे उनकी लोकप्रियता काफी कम हो गयी।

वर्तमान में श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह एक अल्पमतीय सरकार के नेता है, लोकसभा में कांग्रेस (इ) सबसे बड़ा दल है, और फिर प्रधानमंत्री पद प्राप्त करने में उन्हें देवीलाल जैसे नेता का समर्थन लेना पड़ा, उन्हें उपप्रधानमंत्री पद नियुक्त करना पड़ा । उपप्रधानमंत्री का पद प्रधानमंत्री का प्रतियोगी बन जाता है । इन सब तथ्यों के बावजूद उनकी छवि एक ईमानदार राजनेता की है, उनका व्यक्तित्व समूचे चुनाव पर छाया रहा है अत: कहना समीचीन है कि भारतीय शासन प्रणाली में प्रधानमंत्री की स्थिति उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती है।

## 6.12 सारांश

भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली के प्रतिमान को अपनाया गया है । भारत में राष्ट्रपति संविधानिक अध्यक्ष है और मंत्रिमण्डल जिसका नेता प्रधानमंत्री होता है, वास्तविक कार्यपालिका शक्तियों का धारक है।

मंत्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका में उत्तरदायित्व एवं लचीलेपन के गुण थे, इसलिये भारत के लिये मंत्रिमण्डलात्मक कार्यपालिक का प्रतिमान अपनाया गया। मंत्रिमण्डलात्मक शासन प्रणाली को "उत्तरदायी सरकार भी कहते है जिसका नेतृत्व प्रधानमंत्री के हाथों में होता है ।

संविधान के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करते है किन्तु प्रधानमंत्री चयन की राजनीतिक गतिविधियाँ भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न रही है । कभी–कभी लोकसभा चुनाव यथार्थ में प्रधानमंत्री पद हेतु निर्वाचन हो जाता है।

प्रधानमंत्री के अधिकार और शक्तियों का अध्ययन प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति, संसद और मंत्रिमण्डल के सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित है। संसदात्मक संस्थाओं के क्रियाशील होते हुए भी भारत में प्रधानमंत्री के पद और स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है, प्रधानमंत्री देश की राजनीति का मेहराब बन गया है । भारतीय शासन प्रणाली में प्रधानमंत्री की स्थिति उसके व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती है।

## 6.13 शब्दावली

1. संसदात्मक व्यवस्था (Parliamentary System) – जिसमें शासन की धुरी संसद होती है मंत्रिमण्डल और प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होते है।
2. मंत्रिमण्डलात्मक व्यवस्था (Cabinet System) – जिसमें शक्तियाँ मंत्रिमण्डल में निहित होती है और मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।
3. प्रधानमंत्रिय व्यवस्था (Prime Minister System) – व्यवहार में संसद और मंत्रिमण्डल की शक्तियों का ह्रास हो जाता है और प्रधानमंत्री करिश्माती व्यक्तित्व और दलीय अनुशासन के बल पर शक्तिशाली हो जाता है।

## 6.14 अभ्यास प्रश्न

1. भारत में संघीय कार्यपालिका का विकास किस प्रकार हुआ?
   उत्तर – संकेत : भाग 6.2 देखें।
2. मंत्रिमण्डलात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएँ बतलाईये?
   उत्तर - संकेत : भाग 6.3 देखें।
3. भारत में प्रधानमंत्री चयन की राजनीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये?
   उत्तर – संकेत : भाग 6.4 देखें।
4. भारत के प्रधानमंत्री के अधिकार एवं शक्तियों की विवेचना कीजिये?
   उत्तर संकेत : भाग 6.5 देखें।
5. क्या आप इस मत से सहमत है कि भारत की राजनीतिक प्रणाली को सही अर्थ में प्रधानमंत्री शासन प्रणाली कहा जा सकता है?
   उत्तर – संकेत : भाग 6.6, 6.7, 6.8, 6.9 व 6.10 देखें।

## 6.15 संदर्भ पुस्तकें


1. Humphdry Berkeley: The Power of the Prime Minister (Allen & Lukin, London, 1969)
2. 2– L. N. Sharma: The Indian Prime Minister (Macmillan, New Delhi, 1976)
3. Durga Das: India from Curzon to Nehru and After
4. Michael Bhecher: Nehru - A Political Biography
5. विमला शुक्ला : भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री की भूमिका।

6. पुखराज जैन : भारतीय प्रधानमंत्री (साहित्य भवन, आगरा 1981)
7. हरीश खरे : भारत में प्रधानमंत्री का पद – शक्ति, क्षमता एवं सम्भावनाएँ राज्य शास्त्र समीक्षा (जयपुर) जनवरी–जुलाई, 1974
8. बी.एल. फडिया : प्रधानमंत्री का पद तथा स्थिति लोकतंत्र समीक्षा, (नई दिल्ली), जनवरी–मार्च, 1973

# इकाई 7

# राज्य कार्यपालिका : राज्यपाल राज्यों में राष्ट्रपति शासन की राजनीति और राज्यपाल

**इकाई की संरचना**

7.0 परिचय
7.1 राज्यपाल की नियुक्ति
7.2 राज्यपाल का कार्यकाल
7.3 शपथ–ग्रहण
7.4 राज्यपाल की अर्हताएं
7.5 अस्थाई नियुक्ति
7.6 वेतन, भत्ते एवं उन्मुक्तियाँ
7.7 राज्यपाल के कार्य एवं शक्तियाँ
7.8 राज्यों में राष्ट्रपति शासन की राजनीति और राज्यपाल
7.9 राज्यपाल की स्थिति : संवैधानिक प्रधान या वास्तविक प्रधान
7.10 राज्यपाल के संबंध में विभिन्न आयोगों एवं समितियों की सिफारिशें
7.11 निष्कर्ष
7.12 अभ्यास प्रश्न
7.13 संदर्भ ग्रन्थ

## 7.0 परिचय

भारत में केन्द्र सरकार की तरह राज्यों में भी संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया। केन्द्र की तरह ही राज्यों में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है, जिन्हें नाममात्र (औपचारिक) और वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है । भारत के राष्ट्रपति की तरह विभिन्न राज्यों के राज्यपाल की कार्यपालिका के संवैधानिक या नाममात्र के प्रधान होते है, जबकि मंत्रिपरिषद् राज्य की कार्यपालिका सत्ता की वास्तविक प्रधान होती है । इसी में राज्य की वास्तविक कार्यपालिका शक्ति निहित होती है ।

भारत के मूल संविधान के अनुच्छेद 153 में प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था की गई है, किन्तु 1956 में संविधान के सातवें संशोधन के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल नियुक्ति किया जा सकता है । सच्चे अर्थों में राज्यपाल केन्द्र सरकार का एक ऐसा अभिकर्ता या प्रतिनिधि होता है जो राज्यों में दोहरी भूमिका निभाता है – एक ओर तो वह केन्द्र तथा राज्य सरकार के बीच की कड़ी का काम करता है तो दूसरी ओर वह राज्य में संवैधानिक प्रधान की भूमिका का निर्वाह करता है।

भारत में संघात्मक शासन को अंगीकृत किया गया है, लेकिन भारत में संघात्मक शासन का स्वरूप वैसा नही है जैसा संयुक्त राज्य अमेरिका में है । भारतीय संविधान ने जहाँ एक ओर विश्व के महत्वपूर्ण संविधानों की अच्छाइयों को ग्रहण किया है, वही दूसरी ओर वह

अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी नहीं छोड़ सका है । इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने हमें जो अधिनियम दिये उन्हे आंशिक रूप से ग्रहण किया । इसी कारण भारतीय राज्यपाल अमरीकी राज्यपाल की तरह एक स्वतंत्र पदाधिकारी न होकर सन 1935 के भारत शासन अधिनियम के अनुरूप में राष्ट्रपति अथवा केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि बन गया है । नेहरू युग में राज्यपाल का पद गाड़ी के पाँच पहिए की तरह बनकर रह गया था । सन 1967 के चौथे आमचुनाव के पूर्व तक राज्यपाल का पद भारतीय राजनीति में सम्मान एवं गौरव का प्रतीक मात्र बना रहा। राज्यपाल की स्थिति केवल अतिथियों का स्वागत करने एवं उन्हें दावत देने वाले मेजबान के समान थी । यही कारण है कि जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित से महाराष्ट्र के राज्यपाल पद पर आसीन होने के लिए कहा गया तब उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि मैं इस संवैधानिक कारागार हेतु तत्पर नहीं हूँ । उनके इस वैचारिक द्वंद्व ने ही लम्बे समय तक उन्हें इस पद नहीं रहने दिया और अन्ततः उन्होने इस पर निष्क्रिय ऊब को समय से पहले ही त्याग दिया । भूतपूर्व राज्यपाल सरोजनी नायडू ने भी कहा था "राज्यपाल सोने के पिंजरे में निवास करने वाली चिड़िया के समतुल्य है। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने भी इसलिए कहा था कि राज्यपाल का कार्य अतिथियों व सम्मान करने, उनको चाय, भोजन तथा दावत के अलावा और कुछ नहीं है। श्री प्रकाश जैसे कुशाग्र एवं अनुभवी राज्यपाल ने भी कहा था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि संवैधानिक राज्यपाल के रूप में निर्धारित स्थान पर हस्ताक्षर करने के अलावा मेरा अन्य कोई कार्य नहीं है।

सन् 1967 के चौथे आम चुनाव के बाद राज्यों की राजनीति में विशेष परिवर्तन हुआ जिससे राज्यपाल की स्थिति केवल सम्मान का प्रतीक और आभूषणवत् नहीं रह गई है । आधे से अधिक राज्यों में पहली बार गैर–कांग्रेसी सरकारों के सूत्रपात ने राज्यपालों को स्वविवेक से निर्णय लेने का अवसर प्रदान किया गया । इन राज्यों में राज्यपालों ने मुख्यमंत्री की नियुक्ति एवं मंत्रिपरिषद के गठन तथा विधान सभा को आहूत करने, सत्रावसान करने और उसे भंग करने के संबंध में जिसे ढंग से अपनी शक्तियों का प्रयोग किया, उस वजह से यह पद अत्यधिक विवाद का विषय बन गया, क्योंकि एक जैसी स्थिति में भिन्न–भिन्न राज्यपालों ने अलग–अलग राज्यों में अपनी शक्तियों का प्रयोग पृथक–पृथक ढंग से किया। कुछ राज्यों में तो उसी राज्यपाल ने भिन्न–भिन्न मंत्रिमण्डलों के समय अपनी शक्तियों का प्रयोग जिस ढंग से किया उसके कारण संसद तथा संसद के बाहर उनकी कड़ी आलोचना भी हुई । यहाँ तक कि कुछ प्रतिपक्ष नेताओं ने यह भी माँग की कि राज्यपाल के पद को समाप्त कर देना चाहिए । राज्यों में बदले हुए इस राजनीतिक परिदृश्य के कारण राज्यपाल का पद, उसकी स्थिति एवं भूमिका का महत्व बढ़ा। अब उसे संवैधानिक प्रधान से अधिक भूमिका निभाने का अवसर मिला।

## 7.1 राज्यपाल कि नियुक्ति

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 155 के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है । राष्ट्रपति की नियुक्ति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सलाह से करता है, जिसमें प्रधानमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

**राज्यपाल नियुक्त (मनोनीत), निर्वाचित क्यों नही?**

संविधान सभा में राज्यपाल की नियुक्ति के प्रश्न पर तीन विचार थे –

1- कुछ लोगों का विचार था कि राज्यपाल की निर्वाचन सं रा. अमरीका की तरह वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए,

2- कुछ लोग चाहते थे कि राज्यपाल की नियुक्ति राज्य विधानमण्डल द्वारा होनी चाहिए। राज्य विधानमण्डल के निम्न सदन या दोनों सदनों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर राज्यपाल का निर्वाचन किया जाना चाहिए और निम्न सदन (राज्य विधानसभा) द्वारा चार नामों की सूची (पेनल) दी जाए जिनमें से किसी एक को राष्ट्रपति के द्वारा राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाए।

3- उक्त दोनों ही सुझावों को अस्वीकार करते हुए संविधान सभा ने राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति को अपनाया। एक निर्वाचित राज्यपाल की बजाय मनोनीत राज्यपाल को अपनाने के कारण इस प्रकार है –

   1. केन्द्र के समान भारत के राज्यों में भी संसदीय व्यवस्था अपनाई गई है, जिसके लिए राज्यपाल को संवैधानिक प्रधान बनाना आवश्यक था। यदि राज्यपाल का जनता द्वारा निर्वाचन होता तो वह केवल संवैधानिक या नाममात्र का प्रधान होने से संतुष्ट नहीं होता, बल्कि वास्तविक प्रधान होने का दावा करता। वह मुख्यमंत्री का प्रतिद्वंद्वी एवं विरोधी हो जाता। इनमें हमेशा रस्साकशी की स्थिति बनी रहती । इनमें संघर्ष की स्थिति निर्मित हो सकती थी। क्योंकि मुख्यमंत्री और उसका मंत्रिमण्डल भी जनता द्वारा निर्वाचित होता।
   2. यदि राज्यपाल का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता तो आम चुनाव के समय नेतृत्व की बड़ी समस्या पैदा हो जाती। यदि राज्यपाल और मुख्यमंत्री दोनों स जनता द्वारा निर्वाचन होता तो यह प्रश्न खड़ा होता है कि राजनीतिक दल का नेतृत्व कौन करे ।
   3. संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने यह प्रस्ताव रखा था कि राज्य विधानमण्डलों द्वारा राज्यपाल का निर्वाचन होना चाहिए, परन्तु ऐसा इसलिए स्वीकार किया गया कि विधानमण्डलों के सदस्य दलीय आधार पर कार्य करते है और इस प्रकार राज्यपाल का निर्वाचन भी दलीय आधार पर ही होना आरम्भ हो जाता। इससे राज्यपाल बहुमत दल के हाथ का खिलौना बन जाता। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने प्रस्ताव रखा था कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति राज्य के विधानमण्डल द्वारा प्रस्तुत चार नामों की सूची में से करें । यदि ऐसा किया जाता तो भी राज्यपाल बहुमत दल के हाथ की कठपुतली बन जाता क्योंकि वह सूची भी निश्चित रूप से गुटबंदी और दलीय आधार पर बनती।
   4. यदि राज्यपाल की नियुक्ति विधानमण्डलों द्वारा चुनाव के आधार होती या राष्ट्रपति द्वारा विधानमण्डलों द्वारा प्रस्तुत चार नामों की सूची से होती तो राज्यपाल निश्चित रूप से सर्वदलीय नहीं होता, वह सिर्फ बहुमत दल की इच्छानुसार उसके इशारे पर कार्य करता। फलत: अन्य दल राज्यपाल को प्रतिष्ठा एवं सम्मान की दृष्टि से निर्वाचित राज्यपाल की पद्धति को स्वीकार नहीं किया गया।

5. राज्यपाल राज्यों में दलबन्दी और गुटबन्दी के ऊपर रहे और सभी दलों के प्रति निष्पक्ष बना रहे इसे ध्यान से रखते हुए उसका मनोनयन (नामांकन) किया जाता है । यदि मुख्यमंत्री की तरह राज्यपाल भी निर्वाचित होता तो निश्चित रूप से उसका किसी न किसी दल से संबंध रहता। इससे राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच प्रशासनिक खींचतान शुरू हो जाती, तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होता, राज्य में संवैधानिक गतिरोध की संभावना प्रबल हो जाती ।
6. भारतीय संविधान शिल्पी केन्द्र की स्थापना के पक्ष में थे । तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में राज्यपाल की निर्वाचन पद्धति उपयुक्त नहीं थी । राज्यपाल यदि निर्वाचित होता तो वह केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि न होकर राज्य सरकार का प्रतिनिधि होता । इस समय राष्ट्र की दृढ़ता, अखण्डता एवं एकता की रक्षा के लिए राज्य में केन्द्र के अभिकर्ता की आवश्यकता थी । अत: राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।
7. यदि राज्यपाल का निर्वाचन होता तो निर्वाचन में धन तथा समय का अपव्यय होता । अत: धन एवं समय की बचत की दृष्टि से भी मनोनीत राज्यपाल को स्वीकार किया गया ।

इस प्रकार राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कनाडा के संविधान का अनुसरण किया गया। कनाडा के राज्यपालों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा की जाती है । इस प्रसंग में संविधान सभा में अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने कहा था कि "सामंजस्य की प्राप्ति के लिए, सुचारू रूप से कार्य संचालन के लिए, राज्यपाल तथा मंत्रिपरिषद के संबंधों को सुदृढ़ एवं उपयोगी बनाने के लिए कनाडा के संविधान का अनुसरण करना होगा ।

**राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति प्रणाली की प्रमुख रूप से दो आधारों पर आलोचना की गई–**

1. भारतीय संविधान में जिस समय यह व्यवस्था की गई थी कि उस समय यह आशा की गई थी कि राज्यपाल मुख्य रूप से अपने राज्य के संवैधानिक प्रधान और गौण रूप से राज्य में केन्द्र सरकार के अभिकर्ता के रूप में कार्य करेगा, किन्तु व्यवहार में देखा जाय तो राज्यपाल ने केन्द्र सरकार के अभिकर्ता के रूप में अधिक कार्य किया है । सन 1959 में केरल, 1967 में राजस्थान और 1976 में तमिलनाडु और गुजरात में राज्यपाल ने जिस तरह से प्रतिवेदन प्रस्तुत किये उससे यह स्पष्ट होता है कि राज्यपाल मुख्य रूप से अपने आप को केन्द्र सरकार का अभिकर्ता ही मानता है।
2. आलोचकों का यह भी मत है कि जब केन्द्र और राज्यों में अलग–अलग राजनीतिक दलों की सरकारें होंगी तब राज्यपाल और मुख्यमंत्री में संघर्ष की स्थिति निर्मित हो सकती है। 1967–71 के काल में इस प्रकार की स्थिति राज्यों में देखी भी गई है।

**राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में परम्पराएं –**

संविधान के क्रियान्वयन से लेकर अभी तक राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कुछ परम्पराएं भी विकसित हुई जो इस प्रकार हैं –

1. राज्यपाल प्राय: अन्य राज्य का निवासी होता है। इससे दो लाभ है – एक तो यह कि अन्य राज्य का निवासी राज्यपाल स्वतंत्र तथा निष्पक्ष रूप से कार्य कर सकता है, क्योंकि वह स्थानीय दलगत राजनीति से अलग रहता है। दूसरा लाभ यह है कि एक राज्य कें व्यक्ति की दूसरे राज्य में राज्यपाल के रूप में नियुक्ति राष्ट्रीय एकता की भावना को बढ़ावा देती है, और प्रान्तीयता तथा क्षेत्रीयता जैसी संकीर्ण भावना के विरूद्ध कार्य करती है। इस संबंध अभी तक केवल दो अपवाद है । डॉ. एच सी. मुखर्जी को अपने ही राज्य पश्चिम. बंगाल में तथा मैसूर के महाराज को मैसूर में ही राज्यपाल प पर नियुक्त किया गया ।
2. राज्यपाल न केवल केन्द्र सरकार द्वारा नामांकित व्यक्ति होता है वरन् वह संबंधित राज्य को भी मान्य होता है । किसी व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करने के पूर्व संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श कर लिया जाता है, लेकिन इस परम्परा का सभी परिस्थितियों में पालन नहीं किया गया । उदाहरणार्थ श्री प्रकाश को मद्रास का राज्यपाल नियुक्त करते समय और उड़ीसा में कुमार स्वामी राजा को राज्यपाल नियुक्त करते समय राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श नहीं लिया गया । नेहरू काल में उनके व्यक्तित्व के कारण इस संबंध में कोई विवाद उत्पन्न नहीं हुआ, लेकिन 1967 के बाद की परिस्थितियों में जब पं. बंगाल में धर्मवीर को और बिहार के नित्यानंद कानूनगों को संबंधित राज्यों के मुख्यमंत्रियों की सलाह के बिना राज्यपाल पद पर नियुक्त किया गया तो इससे मुख्यमंत्री और राज्यपाल के बीच तनावपूर्ण संबंधों का जन्म हुआ। यद्यपि राज्य के मुख्यमंत्री से राज्यपाल की नियुक्ति की समय सलाह लेने की बाध्यता नहीं है, फिर भी इस परम्परा का पालन किया जाना चाहिये ।
3. एक परम्परा यह भी विकसित हुई है कि चुनाव में हारे हुए और सतारूढ़ दल के अग्रहय राजनीतिज्ञों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है । जैसे हाफिज मोहम्मद इब्राहीम, भीमसेन सच्चर, एच वी. पाटस्कर, वी वी. गिरि और अजीत प्रसाद जैन आदि के नाम इस संदर्भ में गिनाये जा सकते है । स्वस्थ एवं प्रबुद्ध प्रजातंत्र के हित में इस अस्वस्थ परम्परा को निरूत्साहित किया जाना चाहिए ।
4. यह परम्परा भी बनती जा रही है कि अवकाश प्राप्त लोकसेवक या अन्य सरकारी पदाधिकारी राज्यपाल के पद पर नियुक्त किये जाते है । उदाहरणार्थ – उड़ीसा में ए एन. खोसला, असम में जनरल श्री नागेश, पंजाब में धर्मवीर, महाराष्ट्र में एलेक्जेंडर, जम्मू कश्मीर में जनरल कृष्णराव आदि ।
5. अब परंपरा यह भी बन रही है कि किसी भी व्यक्ति को एक ही बार राज्यपाल के पर नियुक्त किया जाना चाहिये । प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इस तरह का सुझाव भी दिया था ।

**राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में कुछ सुझाव –**

राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के संबंध में कुछ सुझाव दिये जा सकते है, जो इस प्रकार है –

1. राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए जिनका आचरण एवं व्यवहार अनुकरणीय हो, व्यक्तित्व उच्च हो एवं छवि उज्जवल हो ।
2. राज्यपाल की नियुक्ति दलगत राजनीति से अलग हटकर की जानी चाहिये ।
3. चुनाव में हारे हुए लोगों को तथा राजनीतिक में अग्राहय लोगों को राज्यपाल पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिये ।
4. राज्यपाल पद पर नियुक्त के पूर्व यथासंभव संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह लेनी चाहिये ।
5. किसी भी व्यक्ति को एक ही बार राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये ।
6. राज्यपाल पद पर नागरिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारियों (नौकरशाह) को समस्या प्रधान राज्यों में नियुक्त करना चाहिये । समस्या प्रधान राज्य में सामान्यत : नौकरशाही पृष्ठ भूमि वाले राज्यपालों की भूमिका प्रशंसनीय रही है । जैसे – भगवान सहाय, एल.के.झा,वी.के. नेहरू, जगमोहन, एल.पी. सिंह, धर्मवीर, भैरवदत्त पाण्डे आदि ।

## 7.2 राज्यपाल का कार्यकाल

संविधान के अनुच्छेद 156 के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति पाँच वर्ष की अवधि के लिए की जाती है । इस अवधि वह स्वयं त्यागपत्र दे सकता है । वह राष्ट्रपति के अनुग्रहपर्यन्त (प्रसादपर्यन्त) अपने पद पर बना रहेगा। राष्ट्रपति किसी भी समय उसे हटा सकता है ।

## 7.3 शपथ–ग्रहण

राज्यपाल को अपना पद ग्रहण करने के पूर्व उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश के समक्ष शपथ ग्रहण करनी पड़ती है वह शपथ लेकर प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन संविधान एवं विधि का संरक्षण और जनता की सेवा करता रहेगा।

## 7.4 राज्यपाल की अर्हताओं

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 157 के अनुसार राज्यपाल की निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिये –

1. वह भारत का नागरिक होना चाहिए।
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

संविधान के अनुच्छेद 158 में राज्यपाल पद के लिए कुछ शती का भी उल्लेख है जो इस प्रकार है

1) राज्यपाल संसद या किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नही हो सकता।
2) राज्यपाल भारतीय संघ के अन्तर्गत अन्य कोई लाभ का पद ग्रहण नहीं कर सकता।

## 7.5 अस्थाई नियुक्ति

आकस्मिक परिस्थितियों में राज्यपाल के कार्यो को सम्पन्न करने के लिए संविधान सभा में एक उपराज्यपाल की नियुक्ति का प्रश्न. उठाया गया था, लेकिन इस सुझाव को

अस्वीकार कर दिया गया । संविधान के अनुच्छेद 160 के अनुसार यह, व्यवस्था की गई है कि किसी आकस्मिकता के समय किसी राज्यपाल के कार्यो के निर्वाहन के लिए तथा किसी राज्यपाल की अनुपस्थिति में उसके कार्यो को सम्पन्न करने के लिए राष्ट्रपति जैसा उचित समझे वैसी व्यवस्था करेगा। इस संबंध में यह परम्परा विकसित हुई है कि स्थाई राज्यपाल कें अभाव में सम्बद्ध राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति इस पद अस्थाई रूप से कर दी जाती है ।

## 7.6 वेतन, भत्ते एवं, उन्मुक्तियां

भारत की संसद राज्यपाल के वेतन आदि निश्चित करती है । संविधान राज्यपाल को उन लाभों, पत्तों तथा विशेषाधिकारों का अधिकार देता है जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे । वर्तमान में राज्यपाल को 11,000 रुपये प्रतिमाह वेतन तथा अन्य पते मिलते है । इसके अलावा उसे एक नि: शुल्क आवास मिलता है जिसे ''राजभवन'' कहा जाता है । उसके वेतन तथा भत्तों में उसके कार्यकाल के दौरान किसी भी तरह की कटौती नहीं की जा सकती। उसके वेतन तथा भत्ते राज्य की संचित निधि से दिये जाते है ।

संविधान के अनुच्छेद 361 के अनुसार राजपाल अपने कर्त्तव्यों के पालन में जो काम करता है अथवा अपने अधिकारों एवं शक्तियों के निर्वहन में जो कार्य करता है, उसकी पदावधि के अन्दर. उसके विरूद्ध किसी भी न्यायालय में फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है । यहाँ तक कि पदावधि में व्यक्तिगत रूप में किये गये किसी कार्य के लिए उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में तक दीवानी मुकदमा नही चलाया जा सकता है जब तक कि उसे दो माह पूर्व नोटिस न दिया जाए।

## 7.7 राज्यपाल के कार्य एवं शक्तियां

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है । उसकी स्थिति राज्य में उसी तरह की होती है जैसी कि केन्द्र में राष्ट्रपति की शक्तियों से राज्यपाल की शक्तियों की तुलना करते हुए डी. डी. बसु ने कहा है, ''राज्यपाल'' की शक्तियाँ केवल राजनयिक, सैनिक तथा आपातकालीन शक्तियों को छोड़कर राष्ट्रपति के समान है'' राज्यपाल के कार्य एवं शक्तियाँ निम्नलिखित है –

**अ. कार्यपालिका शक्तियां –**

संविधान के अनुच्छेद 154 के अनुसार राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी। अनुच्छेद 166 में कहा गया है कि राज्य के समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से संचालित होगे। अत : राज्यपाल ही राज्य की कार्यपालिका का प्रधान होता है राज्यपाल स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारी द्वारा कार्य सम्पादित करता है। उसे निम्नलिखित कार्यपालिका शक्तियाँ प्राप्त है –

1. राज्यपाल की कार्यकारी शक्तियों राज्यसूची में उल्लिखित विषयों से सम्बन्धित है । समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के अन्तर्गत वह अपने अधिकार का प्रयोग करता है ।
2. राज्य सरकार के कार्यकारण के संबंध में वह नियमों का निर्माण करता है । वह मंत्रियों के बीच कार्यो का वितरण भी करता है।

3. वह मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मंत्रियों की भी नियुक्ति करता है । वह राज्य के महाधिवक्ता, लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा इसके सदस्यों की भी नियुक्ति करता है उच्च. न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में उससे परामर्श लिया जाता है।
4. उसे मुख्यमंत्री से किसी भी प्रकार की सूचना माँगने का अधिकार है । मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद तथा अन्य प्रशासनिक निर्णयों की सूचना राज्यपाल को देता रहता है ।
5. वह मुख्यमंत्री को किसी मंत्री के व्यक्तिगत निर्णय को मंत्रिपरिषद के समक्ष पुनर्विचार के लिये रखने को कह सकता है ।
6. यदि राज्य का शासन संविधान की व्यवस्था के अनुकूल न चल रहा हो तो राज्यपाल इसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेज सकता है । राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर राज्य में आपातकाल (राष्ट्रपति शासन) की घोषणा कर सकता है । आपातकाल के दौरान राजपाल केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में शासन चला सकता है ।
7. आन्ध्र तथा पंजाब की क्षेत्रीय समितियों तथा इन राज्यों की सरकारों के बीच मतभेद पैदा होने पर राज्यपाल अंतिम निर्णय देता है ।

**ब. विधायी शक्तियाँ –**

भारत का राष्ट्रपति जिस तरह से संसद का अभिन्न अंग होता है उसी तरह से राज्य विधानमंडल का अभिन्न अंग होता है । राज्यपाल की विधायी शक्तियाँ प्रकार है इस प्रकार हैं –

1. राज्यपाल राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों (विधान परिषद् एवं विधानसभा) का अधिवेशन बुलाता है, उसे स्थगित करता है ।
2. वह विधानसभा को भंग कर सकता है ।
3. राज्यपाल विधानमण्डल का आहूत करता है, किन्तु विधानमण्डल की दो बैठकों में 6 महीने से अधिक अंतर नहीं होना चाहिये ।
4. राज्यपाल प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के प्रारम्भ में विधानमण्डल की बैठक में भाषण देता है और समय–समय पर विधेयकों के संबंध में संदेश भी भेज सकता है । ऐसे अवसरों पर राज्यपाल मुख्य रूप से मंत्रिमण्डल द्वारा तैयार अभिभाषण ही मध्य है । यहाँ प्रश्न यह है कि यदि राज्यपाल मंत्रिमण्डल द्वारा तैयार अभिभाषण नहीं पढ़े तो क्या होगा । इसी तरह का कार्य सर 1967 पं. बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर ने किया था । उन्होंने विधानसभा के समक्ष अपने अभिभाषण के दो पैरों को नही पढ़ कर एक संवैधानिक संकट खड़ा कर दिया था । यह विवाद का विषय बन गया कि क्या राज्यपाल मंत्रिमण्डल की इच्छा के विरूद्ध कार्य कर सकता है तथा उसके द्वारा प्रेषित अभिभाषण को नहीं भी पढ़ सकता है? यह तभी सम्भव है जब राज्यपाल एक संवैधानिक प्रधान न होकर वास्तविक प्रधान हो जाए । केन्द्रीय विधि मंत्रालय ने राज्यपाल के कार्य को कानून के अनुकूल बताया। श्री धर्मवीर का कहना था कि वे अपने ही शब्दों में स्वयं को कैसे गलत तथा गैर कानूनी बता सकते है । राज्यपाल का यह कथन ठीक था, किन्तु राज्यपाल का ऐसा कार्य संसदीय शासन प्रणाली के प्रतिकूल है ।

5. वह विधानपरिषद् में ऐसे 1/6 सदस्यों को नामजद करता है जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आंदोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो ।
6. यदि राज्यपाल को यह विश्वास हो जाए कि राज्य विधानसभा में आंग्ल–भारतीय समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह उस समुदाय के दो लोगों को, विधानसभा का सदस्य नामजद कर सकता है ।
7. राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को पारित होने के लिये राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है । वह किसी भी विधेयक को विधानमंडल के पास पुनर्विचार हेतु लौटा सकता है, परन्तु यदि विधानमंडल दूसरी बार विधेयक को पारित कर देता है तो राजपाल को उसे स्वीकृत देनी होती है ।
8. राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये कुछ विधेयकों को संरक्षित कर सकता है उदाहरणार्थ ऐसे विधेयक जी सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण या उच्च न्यायालय की शक्ति में हास से सम्बन्धित हो, राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये संरक्षित किये जा सकते है ।
9. धन विधेयक या उसमें संशोधन राजपाल की सिफारिश के बिना विधानमण्डल में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते है ।
10. राजपाल ही निर्वाचन आयोग की सलाह से विधानमण्डल के सदस्यों के निर्वाचन सम्बंध विवादों का निर्णय करता है ।
11. जब तक विधानमंडल के दोनों सदनों के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का निर्वाचन नहीं हो जाता तब तक राज्यपाल ही दोनों सदनों के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष की नियुक्ति करता है ।
12. जब विधानमण्डल का अधिवेशन नहीं हो रहा हो तो आवश्यकता पड़ने पर राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है । इन अध्यादेशों का वैसा ही प्रभाव होता है जैसा कि विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियमों का होता है । विधामण्डल की बैठक प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह के बाद तक यह प्रभावशील रहता है । इसके बाद विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक है । अन्यथा 6 सप्ताह बाद यह प्रभावहीन हो जाता है ।

**सं. वित्तीय शक्तियाँ –**

राज्यपाल को कतिपय वित्तीय अधिकार भी प्राप्त है जो इस प्रकार है –

1. राज्यपाल प्रतिवर्ष आय–व्यय (बजट) तैयार करवाता है और उसे विधानमण्डल के समक्ष प्रस्तुत करवाता है तथा उसे पारित करवाता है ।
2. राज्यपाल की अनुमति से ही विधानसभा में कोई धन विधेयक पुन:स्थापित किया जा सकता है।
3. राज्य की संचित निधि राज्यपाल के अधीन रहती है । विधानमंडल की स्वीकृति की आशा में राज्यपाल इस निधि से किसी प्रकार के खर्च की अनुमति दे सकता है ।
4. राज्यपाल की अनुमति से किसी अनुदान की माँग की जा सकती है ।
5. राज्यपाल को राज्य विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त या विशेष माँगे करने का अधिकार है।
6. राज्यपाल की स्वीकृति के बिना राज्य के राजस्व की कोई भी राशि व्यय नहीं का जा सकती है ।

7. वित्तीय मामलों में किसी भी प्रकार का संशोधन लाने के लिये राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है ।

**इ. विविध शक्तियाँ –**

उपर्युक्त शक्तियों के अलावा राज्यपाल को निम्नलिखित विविध शक्तियाँ भी प्राप्त है–

1. राज्यपाल राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन और राज्य की आय–व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधामण्डल के समक्ष रखता है ।
2. राज्यपाल ही राष्ट्रपति को राज्य के संवैधानिक तंत्र की विफलता की सूचना देता है । उसी के प्रतिवेदन पर राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की जाती है । राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में काम करता है ।
3. संविधान द्वारा किन्ही राज्यों के राज्यपालों को कुछ विशेष कार्यों के सम्बन्ध में स्वविवेकीय शक्तियाँ भी प्रदान की गई है । असम का राज्यपाल असम की सरकार और आदिम क्षेत्र की जिला परिषदों के खानों से उत्पन्न आय विभाजन के सम्बन्ध में उत्पन्न विवादों में अपनी स्वविवेक शक्ति का प्रयोग करता है ।
4. किसी भी राज्य के राज्यपाल को निकटवर्ती संघीय भू–भाग का शासक नियुक्त किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में राज्यपाल मंत्रिमण्डल से स्वतंत्र होकर अपने कार्यो का सम्पादन करता है ।
5. राज्यपाल अपने राज्य के अन्तर्गत आने वाले विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति होता है और कुलाधिपति के रूप में वह विभिन्न प्रकार के शैक्षणिक कार्यो का सम्पादन करता है ।
6. राज्यपाल का एक कार्य रेडक्रास सोसाइटी के कार्यो की देखभाल करना भी है । राज्यपाल
7. राज्यपाल विभिन्न समारोहों का उद्घाटन भी करता है ।

## 7.8 राज्यों में राष्ट्रपति शासन की राजनीति और राज्यपाल

भारत में राज्यपाल दोहरी भूमिका का निर्वाह करता है । एक ओर तो वह राज्य के संवैधानिक प्रधान की हैसियत से उचित सलाहकार के रूप में राज्य मंत्रिमण्डल को सहायता एवं परामर्श देने का कार्य करता है, दूसरी ओर वह राज्य में राष्ट्रपति का प्रतिनिधि होने के नाते यह देखता है कि राज्य सरकार द्वारा केन्द्र की नीतियों एवं निर्देशों और संवैधानिक उत्तरदायित्वों का पालन ठीक ढंग से किया जा रहा है या नहीं । भूतपूर्व राज्यपाल श्री टी. प्रकाश ने कहा कि ''एक राज्यपाल का प्रथम कर्त्तव्य यह जानना है कि वह केन्द्र का प्रतिनिधि है ।" राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि होने के नाते राज्य के संवैधानिक शासन संचालन की पाक्षिक सूचना राष्ट्रपति को भेजता है वह राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था भंग होने पर संवैधानिक तंत्र विफल होने पर या राज्य में केन्द्र सरकार के निर्देशों का पालन न होने पर तत्संबंध प्रतिवेदन राष्ट्रपति को भेजता है और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुशंसा करता है । वह केन्द्र का प्रतिनिधि होने के परिणामस्वरूप सामान्य एवं आपातकालीन स्थिति में राज्य में राष्ट्रपति की आँख एवं कान के रूप में कार्य करता है ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार, "यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर या 'अन्यथा' यह समाधान हो जाए कि ऐसी परिस्थिति उत्तम हो गई ही, जिसमें किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, तो वह आपात की घोषणा कर राज्य शासन को अपने हाथ में ले सकता है । " इस सन्दर्भ में राज्यपाल का असाधारण महत्व है, क्योंकि राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग साधारणत : राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर ही करता है । राज्यपाल ही राज्य की सारी स्थिति को ठीक ढंग से जानता है । यदि राज्यपाल राष्ट्रपति को ऐसा प्रतिवेदन नहीं भेजता है तो 'अन्यथा ' वह स्वयं इस शक्ति का प्रयोग कर सकता है परन्तु परम्परा यह प्रचलित हो गई है कि राष्ट्रपति राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर ही आपात घोषणा करता है और राज्यपाल की आपातकालीन स्थिति में अपने प्रतिनिधि के रूप में राज्य के समस्त शासन का उतरदायित्व सौंपता है । अभी तक अनेक बार विभिन्न राज्यों अनुच्छेद 356 का प्रयोग राष्ट्रपति ने राज्यपालों की अनुशंसा पर ही किया है ।

राजपाल को राज्य की सही राजनीतिक स्थिति का बड़ी दूरदर्शिता से पता लगाकर तुरन्त राष्ट्रपति को अनुच्छेद 356 के तहत प्रतिवेदन भेजना चाहिये यह इस धारणा पर कहा गया है कि जनवरी 1971 में उड़ीसा के राज्यपाल डॉ. एस.एस. अन्सारी द्वारा मुख्यमंत्री सिंह देव द्वारा त्यागपत्र देने के बाद दो दिन तक कार्यपालिकीय (राजनीतिक) शून्यता रहते हुए भी केन्द्र को तुरन्त प्रतिवेदन नहीं भेजा गया जिससे बड़ा भ्रम पैदा हो गया था । अत : राज्यपाल को ऐसी स्थिति उत्तम होने पर राष्ट्रपति को तुरन्त प्रतिवेदन भिजवा देना चाहिये ।

सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व तक तो राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356 का राज्यों में बहुत कम प्रयोग किया । क्योंकि सर 1967 के पूर्व केन्द्र तथा बहुत से राज्यों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल थे । कांग्रेस दल का एक छत्र शासन था । राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण भी बहुत कम था । इसलिये राज्यपालों को राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुशंसा करने के ज्यादा अवसर नहीं मिले । कुछेक राज्यों में विरोधी दलों की सरकारें अवश्य थी, अत : यदा–कदा वहाँ आपात की घोषणा कर राज्यपालों ने राज्य शासन को अपने हाथ में लिया। लेकिन सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् भारत के राज्यों की राजनीति का रथ अचानक एक नये मोड़ पर आया । करीब आधे राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों की सरकारों का गठन हुआ परन्तु देखते–देखते कुछ समय पश्चात् ही वे सरकारें दल–बदल की दूषित आँधी के चलने से ताश के महलों की तरह ढहने लगी, जिससे कई राज्यों की राजनीतिक स्थिरता डगमगा गई । राजनीतिक अस्थिरता की भंवर में फंसी हुई राज्यों की नौका को राज्यपालों ने अपने स्व–विवेक से राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर निकाला।

आज तक राज्यों में अनेक बार राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की अनुशंसा पर अनुच्छेद 356 के आधीन आपातकालीन घोषणा की गई । राज्यपालों ने ऐसी संकटकालीन वेला में एक केन्द्रीय अभिकर्ता, कुशल निर्णायक, महान कूटनीतिज्ञ और दक्ष प्रशासन के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह किया। किन्तु बार केन्द्र सरकार के इशारे पर राज्यपालों, ने राजनीति से

प्रेरित होकर राष्ट्रपति शासन लागू करने की अनुशंसा की, जिससे इन्हें आलोचना का शिकार पड़ा।

**विभिन्न राज्यों में राष्ट्रपति शासन और राज्यपाल की भूमिका –**

1967 के चौथे आम चुनाव के पूर्व राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करवाने में राज्यपालों की भूमिका न तो विवादास्पद रही ओर न ही राजनीति से प्रेरित रही। सर 1951 में पंजाब, 1954 में आम्र, 1952 में पेप्सू और 1956 में त्रावनकोर कोचीन, 1961 में उड़ीसा और 1966 में पंजाब में राष्ट्रपति शासन राजनीति से प्रेरित न होकर परिस्थिति के अनुसार निष्पक्ष भाव से लागू किया गया। इस कारण उक्त राज्यों के राज्यपाल न तो विवाद के घेरे में आये और न ही आलोचना के शिकार बने। 1967 के पूर्व केवल एक अपवाद केरल राज्य का है जहाँ सर 1957 में साम्यवादी दल को बहुमत मिला और नम्बूदरीपाद को मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया। यह भारत की पहली गैर–कांग्रेसी सरकार थी, किन्तु इस सरकार के विरूद्ध कांग्रेस दल से प्रेरित होकर विरोधी दलों ने तीव्र आंदोलन प्रारम्भ कर दिया और राज्यपाल रामृष्णराव ने राष्ट्रपति को यह प्रतिवेदन भेजा कि राज्य में अराजकता की स्थिति है और संविधान के अनुसार शासन चलाना संभव नही है। केन्द्र सरकार ने केरल में 1959 में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। राज्यपाल की कार्यवाही को उचित बताया किन्तु राज्यपाल के प्रतिवेदन और राज्य में केन्द्रीय हस्तक्षेप की कटु आलोचना की गई। क्योंकि साम्यवादी सरकार का बहुमत होते हुए भी उस बर्खास्त कर दिया गया। साम्यवादी दल ने मंत्रिमण्डल की बर्खास्तगी को ''प्रजातंत्र के साथ बलात्कार और संविधान को नष्ट करना कहा।'' साम्यवादियों ने आरोप लगाया कि केरल में केन्द्र में कांग्रेस सरकार का हस्तक्षेप एक प्रकार से राजनीतिक पूर्वाग्रह और सरासर पक्षपातपूर्ण नीति वाला था। राजनीतिक स्वार्थो की पूर्ति के लिये केन्द्र सरकार ने केरल में साम्यवादी सरकार को अपदस्थ करवाया और राज्यपाल कठपुतली की तरह केन्द्र सरकार के इशारों पर नर्तन करता रहा। इस प्रकार 1967 के पूर्व केरल एक ऐसा अपवाद है जहाँ राज्यपाल की भूमिका विवादास्पद एवं राजनीति से प्रेरित रही।

1967 के चौथे आम चुनाव के बाद भारतीय राजनीति का परिदृश्य बदला और लगभग आधे राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन हुआ। 1967–71 के काल में अनुच्छेद 356 का प्रयोग विभिन्न राज्यों में अनेक बार किया गया और उसमें राज्यपाल की भूमिका अत्यन्त विवादास्पद रही। सर 1967 में चौथे आम चुनाव के बाद राजस्थान में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। यद्यपि कांग्रेस सबसे बड़ा दल था, जिसके नेता मोहनलाल सुखाड़िया थे, लेकिन विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चा बना लिया जिसके नेता महारावल लक्ष्मणसिंह थे। संयुक्त मोर्चे की सदस्य संख्या कांग्रेस से बहुत अधिक थी, फिर भी राज्यपाल डॉ. संपूर्णानन्द ने महारावल लक्षणसिंह को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित नहीं किया और श्री सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया जिसकी सर्वत्र आलोचना हुई। राज्यपाल के इस निर्णय को राजनीतिक पक्षपात वाला निर्णय कहा गया। इस निर्णय के विरूद्ध विरोधी दलों ने एक राज्यव्यापी आंदोलन छेड़ा, जिसने कई स्थानों पर हिंसक रूप ले लिया। राज्य में स्थिति बिगड़ जाने और अशांति का वातावरण उपस्थिति होने के कारण भी सुखाड़िया ने सरकार बनाने से

राज्यपाल को इन्कार कर दिया। राज्यपाल ने फिर भी महारावल को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित नहीं किया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने हेतू अपना प्रतिवेदन केन्द्र सरकार को भेज दिया। फलत: 13 मार्च 1967 को राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। इसकी सर्वत्र आलोचना हुई। मीनू मसानी ने इस निर्णय को कुत्सित, साम्यवादी नेता अमृतपाद डांगें ने इसे असंवैधानिक एवं सिद्धांतहीन कहा। चूंकि केन्द्र में कांग्रेस शासन था, इसलिये राज्यपाल के निर्णय को राजनीतिक पक्षपात वाला निर्णय माना गया।

राजस्थान के बाद हरियाणा दूसरा राज्य था जहां राज्यपाल के आधार पर 21 नवम्बर 1967 को राष्ट्रपति ने संयुक्त मोर्चे के मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह के मंत्रिमण्डल को उनसे परामर्श किये बिना ही बर्खास्त कर विधानसभा को विघटित कर दिया और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया । इसे राव वीरेन्द्र सिंह ने "राज्य में कांग्रेस का शासन आरोपित करने की चाल कहा।"

1967 के चौथे आम चुनाव मे पं. बंगाल में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला । अजय मुखर्जी के नेतृत्व में पहली बार पं. बंगाल में संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी कुछ ही दिनों बाद डॉ. पी.सी. घोष के नेतृत्व में 17 विधायकों ने दल बदल किया और मुखर्जी की सरकार अल्पमत में आ गई । राज्यपाल धर्मवीर ने श्री मुखर्जी से विधानसभा बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने को कहा । श्री मुखर्जी ने टालमटोल करने पर राज्यपाल ने पी सी।. घोष के नेतृत्व में नया मंत्रिमण्डल बनवाया किन्तु उसे कार्य नहीं करने दिया गया । राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा हेतु अपना प्रतिवेदन भेजा और 20 फरवरी 1968 को विधानसभा भंग करके राज्य में प्रथम बार राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया ।

1967 के चौथे आम चुनाव के बाद राज्यों में गैर कांग्रेसी संविद एवं संयुक्त मार्च की सरकार के गठन तथा दलबदल और राजनीतिक अस्थिरता के कारण 25 फरवरी 1968 को उत्तरप्रदेश में, 23 अगस्त 1968 को बिहार में, 1973 को उड़ीसा में 1976 में तमिलनाडु में राजपाल की अनुशंसा पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया जिसको कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा ।

6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाने की घटना के परिप्रेक्ष्य में उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश इन राज्यों की भाजपाई सरकारों की भूमिका संदेहास्पद रही । इनकी इस भूमिका पर यह कहा गया कि इन्होंने भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप पर प्रहार किया है । इतना ही नहीं अयोध्या की घटना के बाद साम्प्रदायिकता की जो आग इन राज्यों में फैली तो इन सरकारों ने न तो केन्द्र के निर्देशों का पालन किया और न अपना उत्तरदायित्वों का ठीक ढंग से निर्वाह किया। केन्द्र स्थित कांग्रेस सरकार इस बात को महसूस कर रही थी । अत : ऐसी स्थिति में चारों राज्यों के राज्यपालों ने शासन संविधान के अनुसार न चलने के बारे में अपने अपने प्रतिवेदन राष्ट्रपति को भेजे । तद्नुसार राष्ट्रपति ने दिसम्बर 1992 में अनुच्छेद 356 के अंतर्गत इन चार राज्यों की विधानसभाओं को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया । इस पर सारे देश में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति शासन राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर राज्यों में लागू किया जाता है इसमें संदेह नहीं कि ज्यादातर परिस्थितियों में राज्यपालों ने राष्ट्रपति शासन लागू करने हेतु निष्पक्ष एवं सही प्रतिवेदन राष्ट्रपति को भेजे है, किन्तु कुछेक उदाहरण ऐसे हो सकते है, जिनमें राज्यपालों ने राजनीतिक आधार पर केन्द्र स्थित सत्तारूढ़ दल को राजनीतिक लाभ पहुँचाने के लिये राष्ट्रपति शासन को लागू करने की अनुशंसा की है । इसलिये राज्यपाल का पद चौथे आम चुनाव के बाद विवादों में घिर गया है । राज्यपाल यदि दलीय राजनीति से उपर उठकर निष्पक्ष आचरण करता है तो निश्चित ही वह सबका सम्मान अर्जित कर सकता है ।

## 7.9 राज्यपाल की स्थिति : संवैधानिक प्रधान या वास्तविक प्रधान

राज्यपाल की स्थिति एवं भूमिका के बारे में सामान्य रूप सें दो दृष्टिकोण प्रचलित है – एक तो यह कि, राज्यपाल मे केवल नाममात्र या संवैधानिक प्रधान है तो दूसरा यह कि राजपाल राज्य प्रशासन में केवल नाममात्र या संवैधानिक प्रधान से अधिक है । वह कुछ स्थितियों में अपनी स्वविवेकीय शक्तियों के आधार पर वास्तविक प्रधान की स्थिति प्राप्त कर लेता है । इन दोनों दृष्टिकोणों को हम निम्नानुसार समझ सकते है ।

**राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में –**

राज्यपाल की स्थिति एवं भूमिका को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है । कुछ विद्वानों का कहना है कि राज्यपाल का केवल नाममात्र या संवैधानिक प्रधान होता है । वह अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह से कता– है। केन्द्र की तरह राज्यों में भी संसदीय शासन की व्यवस्था की गयी है और संसदीय व्यवस्था में शासन की. शक्तियों ऐसी मंत्रिपरिषद में निहित होती है, जो विधानमंडल के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी हो । अत: मंत्रिपरिषद् राज्य का वास्तविक प्रधान है और राज्यपाल केवल एक संवैधानिक प्रधान है । संविधान के अनुच्छेद 163(1) के अनुसार ''जिन बातों में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यो को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यो का निर्वहन करने में सहायता एवं सलाह देने के लिये एक मंत्रिपरिषद् होगी । इस प्रकार राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है। यद्यपि संविधान मे ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जिससे यह पता चले कि राज्यपाल से मंत्रिपरिषद की सलाह अनिवार्यत: मानना ही है फिर भी संसदीय प्रणाली के अनुरूप राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सलाह मानना अनिवार्य है । इसका स्पष्टीकरण कलकत्ता उच्च न्यायालय ने सुनीलकुमार बोर बनाम मुख्य सचिव प. बंगाल नमक मुकदमें में किया था और बताया था कि, संविधानत : राज्यपाल मंत्रियों के परामर्श से ही काम करता है ।

संविधान राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों का विशेष रूप से उल्लेख नहीं करता केवल असम और नागालैंड के राज्यपाल को ही इस प्रकार की कुछ स्वविवेकी शक्तियां प्राप्त है । अत: यह कहा जा सकता है कि सामान्यत : राज्यपाल राज्य शासन का संवैधानिक (नाममात्र) प्रधान ही है, उसकी शक्तियाँ वास्तविक नहीं है ।

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था "राज्य के राज्यपालों को प्रत्येक कार्य में मंत्रिपरिषद की सलाह आवश्यक रूप से माननी ही पड़ेगी और ऐसा कोई कार्य नहीं करना होगा जिसके करने में उसे स्वविवेक या व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना पड़े ।" श्री ए.के. अय्यर ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए कहा कि ''राज्यपाल केवल एक संवैधानिक अध्यक्ष ही है । एच.वी. कामथ ने राज्यपाल की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा था कि ''वह कठपुतली के समान है जिसे एक तरफ से मुख्यमंत्री नियंत्रित करता है और दूसरी तरफ से राष्ट्रपति । जिसका अर्थ वास्तव में प्रधानमंत्री है । संविधान निर्माताओं ने जिस प्रकार से राज्यपाल के पद के संबंध में निर्वाचन के सिद्धान्त को अस्वीकार करके नामांकन (मनोनयन) के सिद्धांत को अपनाया उससे साफ लगता है कि वे राज्यपाल को एक संवैधानिक प्रधान ही बनाना चाहतें थे, वास्तविक प्रधान नहीं । कुछ राज्यपालों ने भी अपनी सही स्थिति का पर्दाफाश किया है, जिससे. यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रधान है । उदाहरण के लिए पं. बंगाल की राज्यपाल सरोजनी नायडू ने अपने आपको सोन के पिंजड़े में बन्द चिड़िया बताया था। महाराष्ट्र की राज्यपाल विजयालक्ष्मी पंडित ने इस पद को संवैधानिक कारागार कहा। म.प्र. के राज्यपाल डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने कहा कि यह पद केवल अतिथियों को सम्मान करने और उन्हें दावत देने वाले मेजबान की तरह है । स्पष्ट है कि राज्य में राज्यपाल को एक दर्शक के रूप में रहना पड़ता है । उसे सामान्य कल में मंत्रिपरिषद की सलाह माननी पड़ती है और आपातकाल में राष्ट्रपति की। इसीलिये पायली ने कहा है, ''साधारण तथा असाधारण परिस्थितियों में भी राज्यपाल एक स्वतंत्र अभिकर्ता नहीं है।''

**राज्यपाल वास्तविक प्रधान के रूप मे –**

कुछ विद्वानों का मत है कि राज्यपाल एक वास्तविक प्रधान है वे अपने तर्क की पुष्टि में राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों तथा विशेषाधिकारों का उल्लेख करते है । उनका कहना है कि कुछ विशेष निम्नलिखित परिस्थिति में राज्यपाल अपनी शक्तियों के प्रयोग में स्वविवेक का इस्तेमाल कर सकता है –

1. किसी एक दल को विधानसभा में स्पष्ट बहुमत का अभाव।
2. दलबदल की स्थिति से सरकार के अस्तित्व पर उत्पन्न या संभावित खतरा।
3. राज्य में शांति और व्यवस्था मे खतरा।
4. राज्य सरकारों द्वारा केन्द्रीय निर्देशों का उल्लंघन आदि ।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राज्यपाल एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही नहीं रहता वरन् बहुत हद तक वास्तविक प्रधान बन जाता है । यदि राज्य विधानसभा में किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है तो राज्यपाल महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। साधारणत : मंत्रिमंडल को तब तक पदच्युत नहीं कर सकता जब तक उसे विधानसभा में बहुमत प्राप्त है, लेकिन राष्ट्रपति का संकेत पाकर वह मंत्रिमंडल को पदच्युत कर सकता है । यदि राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता का अन्दाजा या संभावना राज्यपाल को ही जाए तो वह राष्ट्रपति को आपातकाल (राष्ट्रपति शासन) लागू करने का परामर्श दे सकता है । राज्यपाल असामान्य परिस्थिति में मुख्यमंत्री मई नियुक्ति करने, मंत्रिपरिषद को अपदस्थ करने,

विधानसभा का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा उसे भंग करो में भी स्वविवेक का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल अपने स्वविवेक का इस्तेमाल कर महत्वपूर्ण एवं वास्तविक भूमिका निभा सकता है जो एक संवैधानिक या नाममात्र के प्रधान से अधिक है। 1967–71 के काल में विभिन्न राज्यों में राज्यपालों ने इस भूमिका से निभाया भी है ।

राज्यपाल की स्वविवेकी शक्ति को अनेक लोगों ने खतरनाक बताया है । संविधान सभा में अधिकांश सदस्य राज्यपाल को ऐसी शक्ति नही देना चाहते थे। डॉ. एम.पी. पायली का कहना है ''संपूर्ण विवाद का सार जिसे लगभग सभी सदस्यों ने व्यक्त किया, यह था कि राज्यपाल को स्वविवेकी शक्ति को दी जाए ।

## 7.10 राज्यपाल के संबंध मे विभिन्न आयोगों एवं समितियों की सिफारिशें – प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशें (१९)

राज्यपाल की नियुक्ति तथा भूमिका के संबंध में 1966 में गठित प्रशासनिक सुधार अयोग ने 1970 में अपने प्रतिवेदन में निम्न सिफारिश की –

1. ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाना चाहिये जिसका सार्वजनिक जीवन और प्रशासन के विषय में लम्बा अनुभव हो और जिसका दलीय पूर्वाग्रहों से उपर उठने की क्षमता में विश्वास हो । अपने कार्यकाल की समाप्ति पर वह दोबारा राज्यपाल नियुक्त किये जाने के लिये योग्य नहीं होना चाहिये। सेवा निवृत्त होने के बाद न्यायाधीशों से राज्यपाल नहीं बनाया जाना चाहिये लेकिन एक न्यायाधीश जो सेवानिवृत्त होने के बाद सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करता है और विधायक बन जाता है अथवा किसी निर्वाचित पद परे है तो उसे राज्यपाल की नियुक्ति के लिये अयोग्य नहीं मानना चाहये।
2. राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व मुख्यमंत्री से परामर्श लेने की स्वस्थ परम्परा को कायम रखना चाहिये।
3. राज्यपालों द्वारा किस प्रकार स्वविवेक की शक्तियों का प्रयोग किया जाए, इस विषय में निर्देश संकेतों को केन्द्र की स्वीकृति पर राष्ट्रपति के नाम से जारी किया जाना चाहिए उन्हें संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाना चाहिये ।
4. राज्यपाल को राष्ट्रपति के पास पाक्षिक रिपोर्ट भेजने के साथ ही, जब भी आवश्यकता हो, तदर्थ रिपोर्ट भेजनी चाहिये । राष्ट्रपति को भेजी जाने वाली रिपोर्ट बनाते समय राज्यपाल को स्वविवेक और स्वनिर्णय के आधार पर कार्य करना चाहिये ।
5. जब भी राज्यपाल के पास यह विश्वास करने का कारण हो कि मंत्रीमण्डल का विधानसभा में बहुमत नहीं रहा है, तो इसका अन्तिम निर्णय उसे विधानसभा का सत्र बुलाकर सदन में करना चाहिये । जब भी यह प्रश्न उठे कि मंत्रीमण्डल को सदन में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है और मुख्यमंत्री राज्यपाल को विधानसभा का सत्र बुलाने का परामर्श नहीं दे रहा है तो राज्यपाल बहुमत की स्थिति का पता लगाने के लिये, यदि उचित समझे तो विधानसभा का सत्र स्वयं बुला सकता है ।

6. जब कोई मंत्रीमण्डल किसी बड़े नीति निर्माण संबंधी विषय पर सदन में पराजित हो जाता है और यदि हारने वाला मुख्यमंत्री विधानसभा को भंग करने की सलाह देता है, ताकि वह मतदाताओं से निर्णय ले सके, तो राज्यपाल को उसकी सलाह मान लेनी चाहिए ।
7. राज्यपाल को न केवल अनुच्छेद 167 के प्रावधान के अनुकूल सूचना प्राप्त करनी चाहिये बल्कि अपने संवैधानिक उत्तरदायित्वों को प्रभावी ढंग से पूरा करने के लिये ऐसा करना चाहिये ।

**राजमन्नार समिति की रिपोर्ट की सिफारिशें (1971)**

तमिलनाडु सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार समिति ने राज्यपाल की नियुक्ति एवं भूमिका के सम्बन्ध में सन् 1971 में निम्न सुझाव दिये –

1. राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व केन्द्र सरकार को राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श करना चाहिये ।
2. संविधान में ऐसी व्यवस्था की जाए कि राष्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति प्रसिद्ध न्यायाविदों, वकीलों और प्रशासकों की समिति के परामर्श पर करे।
3. किसी व्यक्ति की एक बार राज्यपाल पद पर नियुक्ति के बाद दोबारा इस पद पर नियुक्ति नहीं की जानी चाहिये।
4. राज्यपाल को अपने कार्यकाल में पद से तब तक नहीं हटाया जाना चाहिये, जब तक कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जाँच के बाद उसके द्वारा दुव्यर्वहार या उसकी अक्षमता को साबित न कर दिया जाये।
5. संविधान में विशेष प्रावधान होना चाहिये, जो राष्ट्रपति को राज्यपाल के लिये निर्देश देने का अधिकार प्रदान करें ।
6. संविधान से इस प्रावधान को निकाल दिया जाना चाहिये कि मंत्रीमण्डल राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद पर रहेगा ।
7. संविधान में विशेष रूप से इन निर्देशों को शामिल करना चाहिये –
   क) राज्यपाल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करना चाहिये।
   ख) जहाँ राज्यपाल को विधानसभा में किसी एक दल के स्पष्ट बहुमत के सम्बन्ध में समाधान न हो, वहाँ राज्यपाल को विधानसभा का अधिवेशन मुख्यमंत्री के चयन के लिए बुलाना चाहिये और अधिवेशन में चुने गये व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करना चाहिये ।
   ग) यदि मुख्यमंत्री किसी मंत्री को बर्खास्त करने की सलाह राज्यपाल को दकता है तो उसे मुख्यमंत्री की सलाह मान लेनी चाहिये ।
   घ) यदि राज्यपाल को यह प्रतीत होता है कि मुख्यमंत्री ने विधानसभा में अपा बहुमत खो दिया है, तो राज्यपाल को तत्काल विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर मुख्यमंत्री को बहुमत सिद्ध करने का निर्देश देना चाहिये । यदि मुख्यमंत्री विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर पाता है तो राज्यपाल को मुख्यमंत्री को बर्खास्त कर देना चाहिये।

**राज्यपाल समिति (1971) की सिफारिशें –**

सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के बाद राज्यपाल की स्थिति एवं भूमिका को लेकर तीव्र विवाद उत्पन्न हुए । इसका मुख्य कारण यह था कि राज्यपालों ने अपनी शक्तियों का प्रयोग किन्हीं निश्चित मापदण्डों के आधार पर नहीं किया और एकसमान परिस्थितियों में भी विभिन्न राज्यों के राज्यपालों के आचरण में भिन्नता देखी गई । ऐसी स्थिति में अनेक पक्षों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि राज्यपालों के मार्ग निर्देशन के लिये कुछ सिद्धांत निश्चित किये जाने चाहिये । प्रशासनिक सुधार आयोग (1969) का भी अभिमत था कि राज्यपालों द्वारा स्वविवेकी शक्तियों का इस्तेमाल किस ढंग से किया जाए – इससे संबधित मार्ग दर्शन अंतर्राज्य परिषद् द्वारा किये जाने चाहिये तथा केन्द्र द्वारा अनुमोदित किये जाने के बाद राष्ट्रपति के नाम से जारी किये जाए । कुछ राज्यपाल भी इस प्रकार के निर्देशों की आवश्यकता महसूस कर रहे थे । अत : दिसम्बर 1970 के राज्यपाल सम्मेलन में सिद्धान्तत : इस बात को स्वीकार किया गया कि राज्यपालों के मार्ग–दर्शन के लिए कुछ सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिये । अत: राष्ट्रपति ने जम्मु–कश्मीर के राज्यपाल श्री भगवान सहाय की अध्यक्षता में 5 सदस्यों की एक समिति नियुक्त की जिसमें अन्य सदस्यों बी. गोपाल रेड्डी, अली यावर जंग, बी. विश्वनाथन और एच एम. धवन । इस समिति ने 1971 में अपनी रिपोर्ट में अनुशंसाएं की –

1. यदि विधानसभा का विश्वास प्राप्त करने के विषय में कोई मुख्यमंत्री विधानसभा को अधिवेशन बुलाने में आनाकानी करता है तो राज्यपाल उस मंत्रीमण्डल को बर्खास्त कर सकता है ।
2. मंत्रिमण्डल के बहुमत का प्रश्न सामान्य रूप से विधानसभा द्वारा निश्चित किया जाना चाहिये। यदि कोई मुख्यमंत्री बहुमत के प्रश्न को विधानसभा में सिद्ध करने के लिए इन्कार करता है तो इसका अर्थ है कि उस मंत्रिमण्डल का बहुमत समाप्त हो गया।
3. यदि वैकल्पिक सरकार नहीं बन सकती हो तो राज्यपाल के पास राष्ट्रपति को विधानसभा भंग करने संबंधी रिपोर्ट देने के अलावा ओर कोई चारा नहीं है।
4. यदि कोई व्यक्ति सदन का सदस्य न हो, या कोई मनोनीत सदस्य हो तो उसे मुख्यमंत्री नहीं बनाना चाहिये।
5. यदि मिली–जुली साझा सरकार के कोई भागीदारी मुख्यमंत्री से मतभेद हो जाने के कारण त्यागपत्र दे देते है तो मुख्यमंत्री के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक नहीं है । लेकिन यदि इस प्रकार के त्यागपत्र से विधानसभा में उसके बहुमत पर संदेह होता है तो उनसे यह आशा की जाती है कि वह राज्यपाल को परामर्श देकर विधानसभा का शीट अधिवेशन बुलायेगा और विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करेगा।
6. संयुक्त विधायक दल (संविद) सरकार के मुख्यमंत्री से सम्बंध दलों और गुटों के द्वारा औपचारिक रूप से चुना जाना चाहिये।
7. राष्ट्रपति के सचिवालय में एक विशेष कक्ष स्थापित किया जाना चाहिये जिसके द्वारा विभिन्न राज्यों में समय–समय पर घटित होने वाली राजनीतिक और संवैधानिक घटनाओं के संबंध में ज्यादा सूचनाएं रखी जाए। इस कक्ष द्वारा किसी विशेष मसले पर राष्ट्रपति की

अनुमति से राज्यपाल को समस्त जानकारी दे देनी चाहिये, जिससे राज्यपाल को निर्णय लेने में सरलता हो।

8. राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है, राष्ट्रपति का अभिकर्ता नहीं और उसके कर्तव्य संविधान में ही निर्धारित किये गये है ।

उपर्युक्त अनुशंसाएं करते हुए समिति ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया कि न तो भविष्य में उत्तम होने वाली सभी परिस्थिति के संबंध में सोचा जा सकता है और न ही इस सम्बंध में निर्देश दिये वा सकते है कि विभिन्न परिस्थिति में राज्यपाल अपनी भूमिका किस प्रकार निभाएंगे। भारत सरकार की दृष्टि से ये विषय उपयुक्त परम्पराओं के विकास पर छोड़ दिये जाने चाहिये और सख्ती से इस्तेमाल करते हुए मार्ग निर्देशन तैयार करना न तो व्यवहारिक होगा और न ही उचित। इस समय में सरकारिया आयोग का मत है कि, ''यह न तो व्यवहार्य होगा और नहीं वांछनीय कि राज्यपाल द्वारा स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग करने के लिये मार्गदर्शन हेतु मार्गनिर्देशों का एक सर्च सैट तैयार किया जाए..... ऐसी दो स्थितियाँ पैदा हो ही नहीं सकती जो एक सी हो तथा जिसमें राज्यपाल को अपनी स्वविवेकी शक्तियों का इस्तेमाल करना पड़े ।

**सरकारिया आयोग की सिफारिशें –** 9 जून 1993 को प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने केन्द्र–राज्य सम्बंधों तथा राज्यपालों की नियुक्ति क बारे में जस्टिस आर.एस. सरकारिया की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया इस आयोग ने राज्यपाल की नियुक्ति एवं भूमिका के सम्बंध में निम्न सिफारिशें प्रस्तुत को, जिन्हें 30 जनवरी 1988 को प्रकाशित किया गया –

1. राज्यपाल की नियुक्ति 5 वर्ष के लिये होगी। उसको सामान्यत : इस अवधि में बदला नहीं जायेगा।
2. राज्यपाल की नियुक्ति के पूर्व राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह ली जानी चाहिये। इसे संविधान में शामिल किया जाना– चाहिये ।
3. सेवानिवृत्त होने के बाद राज्यपाल को केन्द्र या राज्य में किसी पद पर नियुक्त नहीं किया जाएगा।
4. राज्यपाल पद पर नियुक्त व्यक्ति उस राज्य के बाहर का निवासी होना चाहिये जो उसे राज्य की राजनीति में रूचि नही रखनी चाहिये ।
5. राज्यपाल पद पर ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति की जानी चाहिये जो सामान्य रूप से अपनी नियुक्ति के पूर्व राजनीति में सक्रिय भाग ले रहा हो।
6. राज्यपाल का चयन करते समय अल्पसंख्यक वर्ग के व्यक्तियों को समुचित अवसर दिया जाना चाहिये।
7. किसी ऐसे व्यक्ति को ऐसे राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त नहीं किया जाना चाहिये जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल का सदस्य हों, जिसमें शासन किसी अन्य दल द्वारा चलाया जा रहा हो।

8. यदि राजनीतिक कारणों से किसी राज्य की संवैधानिक व्यवस्था टूट रही हो, तो राज्यपाल को यह देखना चाहिये क्या राज्य में विधानसभा में बहुमत वाली सरकार का पतन हो सकता है ।
9. यदि नीति संबंधी किसी प्रश्न पर राज्य सरकार विधानसभा में पराजित हो जाती है, तो शीघ्र चुनाव कराये जाने की स्थिति में राज्यपाल को चुनाव तक पुराने मंत्रिमण्डल को कामचलाऊ या कार्यकारी सरकार के रूप मे कार्य करते रहने देना चाहिये ।
10. यदि राज्य सरकार विधानसभा में अपना बहुमत खो देती है, तो राज्यपाल को सबसे बड़े विरोधी दल को सरकार बनाने का आमंत्रण देना चाहिये और उसे विधानसभा में बहुमत साबित करने का निर्देश देना चाहिये। यदि सबसे बड़ा दल सरकार बनाने की स्थिति में न हो तो राज्यपाल को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने कीं सिफारिशें करनी चाहिये।
11. विधानसभा में किसी पार्टी का बहुमत आँकने के लिए बैठक राज्यपाल ही बुला सकेगा

## 7.11 निष्कर्ष

राज्यपाल के उपर्युक्त अधिकारों, कार्यों, शक्तियों, स्थिति एवं भूमिका और स्वविवेकी शक्तियों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राज्यपाल एक वैधानिक प्रधान अवश्य है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में वह अपने स्वविवेक का इस्तेमाल करके महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है । यह सही है कि संविधान के अनुच्छेद 163(1) के अनुसार राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों का क्षेत्र काफी विस्तृत हो सकता है, किन्तु यह भी सही है कि राज्यपाल अपनी स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग स्वेच्छाचारिता एवं मनमाने ढंग से नहीं कर सकता। श्री राघवाचार्य का कहना है कि "अनुच्छेद 163 राज्यपाल को निरंकुश या अनुत्तरदायी नहीं बनाता है, जबकि देश के बड़े हितों में राज्यपाल के लिये मंत्रिमण्डल की इच्छाओं का उल्लंघन या उपेक्षा करना आवश्यक हो जाता है । यहाँ यह उल्लेख है कि यदि केन्द्र तथा राज्य में एक ही दल की सरकार हो तो राज्यपाल मंत्रिपरिषद् के परामर्श का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता है ।

अत : निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि राज्यपाल चूकि संवैधानिक प्रधान है, इसलिये वह अधिक से अधिक मंत्रिपरिषद् को परामर्श चेतावनी तथा प्रोत्साहन दे सकता है । वह अपनी कर्मठता तथा व्यक्तित्व के अनुसार राज्य शासन को प्रभावित कर सकता है । यही एक सवाल यह भी उठता है कि आज की बदलती हुई परिस्थितियों गे राज्यपाल को क्या करना चाहिये । गत वर्षों का इतिहास बताता है कि राज्यपालों तथा मंत्रिपरिषदों में काफी तनातनी की स्थिति पैदा हुई है और इससे राज्यपालों की मान–मर्यादा एवं प्रतिष्ठा पर काफी आँच आई है । इन सब बातों से यह स्पष्ट हो गया है कि भले ही राज्यपाल आपने को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल ढाल ले, किन्तु निश्चित रूप से सामान्य तथा असामान्य परिस्थितियों में उसके दो रूप हो जाते है । इसमे अब कोई संदेह नहीं कि सामान्य परिस्थिति में वह केवल नाम मात्र का संवैधानिक प्रधान है, जबकि असामान्य तथा विशेष परिस्थिति में वह काफी शक्तिशाली हो जाता है । डॉ. पायली का कहना है कि "राज्यपाल को राज्यकार्यपालिका का प्रधान नहीं कहा जा

सकता, लेकिन वह नाममात्र का अध्यक्ष भी नहीं है । वह एक ऐसा पदाधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्वपूर्ण एवं प्रभावी ढंग से भाग ले सकता है ।

सच्चे अर्थों में राज्यपाल का अस्तित्व राज्य में राष्ट्रपति के अभिकर्ता और केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में है । डॉ. पायली के अनुसार, ''वह एक कड़ी है जो संघ तथा राज्यों को जोड़ता है और संघ–राज्य संबंधों को पूरा करता है तवा एक आवश्यक सेवा प्रदान करता है ।'' अत: राज्यपाल का इस महत्वपूर्ण भूमिका को तोड़ने का प्रयास नहीं करना चाहिये । बी.के खैर ने संविधान सभा में कहा था, "एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुँचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल बहुत दुष्टता भी कर सकता है, यद्यपि संविधान में इसको बहुत कम शक्ति दी गई है।" डी.डी. बसु ने भी इस प्रकार का विचार व्यक्त किया था, "राज्यपाल केवल नाममात्र का प्रधान नहीं होगा। अगर वह कार्यशील और अच्छा राज्यपाल है तो सत्तारूढ़ दल से संपर्क कायम कर अनेक अच्छे कार्यो के लिए राजी कर सकता है तथा प्रशासन को सुचारू बना सकता है ।

अंत में कहना उचित है कि राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रधान होता है । वह सरकार का गौरवमयी अंग है। उसका पद उच्च प्रतिष्ठा एवं सम्मान का है । वह संसदीय शासन का आवश्यक एवं उपयोगी अंग है । राज्यपाल पद का प्रभावशाली बनाना स्वस्थ संसदीय परम्पराओं के विकास पर तो निर्भर करता ही है लेकिन साथ ही इस पद पर आसीन होने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता है ।

यह उसी के ऊपर निर्भर करता है कि भविष्य में बदलने वाली राजनीति के समीकरण में वह अपने आप को कितना प्रभावी, उपयोगी, सम्मानजनक, अविवादास्पद एवं निष्पक्ष बना सकेगा ।

## 7.12 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति कैसी होती है । उसकी संवैधानिक , स्थिति की व्याख्या । कीजिये ।
2. राज्यपाल के कार्य, शक्तियों एवं स्थिति की समीक्षा कीजिये। ।
3. राज्यपाल मंत्रिपरिषद् के परामर्श के बिना कार्य नहीं करता। विवेचना कीजिये।
4. बदलती हुई परिस्थितियों एवं विवादों के सन्दर्भ में राज्यपाल की स्थिति एवं अधिकारों का वर्णन कीजिये।

## 7.13 सन्दर्भ ग्रंथ


1. पायली, एम.बी. - कोन्स्टीट्यूश्नल गवर्नमेण्ट इन इण्डिया
2. बसु, दुर्गादास – कमेण्ट्री ऑन दि कान्सटीटयूशन ऑफ इण्डिया
3. माहेश्वरी, महेश – भारत में राज्यपाल का पद एवम् स्थिति
4. सिवाच, जे.आर. – राज्यपाल का पद एक विवेचन (1950–74)
5. श्री प्रकाश – स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया
6. सिंह, पुरूषोत्तम – गवर्नर्स आफिस इन इंडिपेंडेंट इण्डिया

# इकाई – 8
# सांविधानिक संशोधन – 1

**इकाई की रूपरेखा**

8.1 उद्देश्य
8.2 सांविधानिक संशोधन : अवधारणा
8.3 भारतीय संविधान में विधायी एवं संविधायी शक्ति
8.4 भारतीय संविधान में संशोधन–प्रक्रिया का स्वरूप
8.5 संशोधन प्रक्रिया : मूल्यांकन
8.6 संशोधन शक्ति बनाम न्यायिक पुनरावलोकन
8.7 अभ्यास–प्रश्न
8.8 पाद–टिप्पणियां
8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 8.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है :–

- सांविधानिक संशोधन की अवधारणा से परिचय प्रदान करना;
- संविधान में संशोधन प्रक्रिया की महत्ता का बोध कराना;
- संशोधन प्रक्रिया तथा न्यायिक पुनरावलोकन के अन्त :सम्बन्धों का विवरण प्रस्तुत करना; तथा
- भारतीय राजनीति के व्यापक संदर्भ में सांविधानिक संशोधन की उपयोगिता अभिज्ञात करना।

## 8.2 सांविधानिक संशोधन: अवधारणा

हमारे संविधान निर्माता, जिनमें भारत के सर्वाधिक विख्यात विधि शास्त्रियों में से कुछ शामिल थे, हमारे प्राचीन विधि शास्त्रियों मनु और पाराशर की शिक्षाओं से अनभिज्ञ नहीं रह सकते थे, जिन्होंने यह बात बताई था कि प्रत्येक युग की विधियां भिन्न–भिन्न होती है । जैसा कि कहा गया है –

''अन्य कृतयुगे धर्मास्त्रियायां द्वापरे परे अन्य कलियुगे नृणां युग रूपानुसारत :।''

पाराशर स्मृति : .22,

उपर्युक्त उद्धरण का हिन्दी रूपान्तरण इस प्रकार है –

''मूल विधियां (जो मूल कर्त्तव्यों को अधिरोपित करती है या मूल अधिकारों को प्रदत्त करती है) प्रत्येक युग में भिन्न–भिन्न होती है; वे कृत के रूप में ज्ञातयुग में द्वापर युग की मूल विधियों से भिन्न होती है; कलियुग की मूल विधियां सभी विगत कालों से भिन्न होती है; प्रत्येक युग की विधियां उस युग के सुभिन्न स्वरूप के अनुसार होती है (युग रूप: अनुसारत :)

अन्य शब्दों में, हमारे प्राचीन विधि–शास्त्रियों ने भी इस सिद्धान्त को माना था कि एक पीढ़ी को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता है कि वह मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी अपने विचारों या विधियों को भावी पीढ़ियों पर लादे। मूल सिद्धान्त न केवल एक समाज और दूसरे समाज के बीच भिन्न हो सकते है बल्कि वे एक ही समाज या राष्ट्र की एक पीढ़ी तथा दूसरी पीढ़ी के बीच भी भिन्न हो सकते है । जैसाकि प्रख्यात न्यायमूर्ति होम्स ने अपने ग्रन्थ 'कामन ला' में मत व्यक्त किया था कि ''विधि का जीवन–स्रोत तर्क न होकर समय की ऐसी आवश्यकता है जो महसूस की जाए । हर प्रकार की विधि, चाहे वह मूल विधि हो, या साधारण विधि, विशिष्ट समय पर लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार बनाने की कोशिश करनी पड़ती है । इस अर्थ में उन मूल बातों में भी जिन्हें हम आज आधारिक समझते है, तब्दीलियां करनी पड़ सकती है ।

## 8.3 भारतीय संविधान में विधायी एवं संविधायी शक्ति

जब हमारा संविधान विरचित किया गया तो संविधान के निर्माता यह जानते थे कि विश्व में लोकतान्त्रिक संविधानों के परस्पर विरोधी रूप प्रचलित है – एक 'नमनीय' (फ्लेक्सीबल) प्रकार का है जो विधि बनाने की शासित करने वाली मामूली प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता है और दूसरा 'अनम्य' अथवा कठोर (रिजिड) प्रकार का है जो इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता है किन्तु उसके संशोधन के लिये विशेष प्रक्रिया अपेक्षित है । हमारे संविधान निर्माताओं ने इनमें से किसको अंगीकृत किया यह जानना आवश्यक है ताकि संशोधन शक्ति बनाम न्यायिक पुनरावलोकन के चले लम्बे विवाद कीं जांच की जा सके ।

हमारे संविधान में केन्द्र तथा राज्यों के स्तर पर विधानमण्डल के लिए उपबन्ध है । केन्द्र स्तर पर संसद है जिसमें लोकसभा तथा राज्य सभा सम्मिलित है । राज्यों में विधानमण्डल के अन्तर्गत राज्य विधान सभा सम्मिलित है और उनमें से कुछ में एक उच्च सदन, जिसे विधान परिषद् कहा जाता है, सम्मिलित है । केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी शक्ति का वितरण किया गया है । संसद और राज्य विधानमण्डलों को क्रमश : सप्तम अनुसूची की सूची 1 व सूची 3 भी है जिसमें ऐसे मामले प्रगणित किये गये है जिनकी बाबत संसद और राज्य विधानमण्डलों दोनों को विधियां बनाने का समवर्ती शक्तियां है । यह शक्ति अनुच्छेद 245 से 248 द्वारा विधि बनाने के लिए इन निकायों को दी गई है । संसद के लिए विधि बनाने की प्रक्रिया अनुच्छेद 107 से 122 में अन्तर्विष्ट है और राज्य विधानमण्डलों के लिए वह प्रक्रिया अनुच्छेद 196 में 213 में अन्तर्विष्ट है । सप्तम अनुसूची की तीनों सूचियों में कहीं भी न तो संसद के लिए और न ही राज्य विधानमण्डलों के लिए विधान की विषयवस्तुओं के रूप में संविधान का संशोधन उल्लिखित है । इसके विपरीत प्रथम 19 मार्गों में, जिनमें अनुच्छेद 367 तक आते है, संविधान के स्थायी हित के समस्त महत्वपूर्ण मामलों को वर्णित करते के पश्चात् संविधान द्वारा 20 में एकल अनुच्छेद अर्थात् 368 में संविधान के संशोधन के लिए विशेष उपबन्ध किया गया है । संशोधन के लिए विशिष्ट प्रक्रिया भी उपबन्धित है जो ऐसी नहीं है जैसी कि अनुच्छेद 245 से 248 के अधीन मामूली विधियां बनाने के लिए उपबन्धित है । केन्द्र स्तर पर विधायी प्रक्रिया के मुख्य तत्व ये है कि विधि को संसद के दोनों सदनों द्वारा

सदन में उपस्थित तथा मतदान देने वाले सदस्यों के बहुमत से पारित होना चाहिए और संसद के दोनों सदनों में विरोध होने की दशा में उसे संयुक्त बैठक के बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए । जो कुछ भी आवश्यक है वह यह है कि गणपूर्ति होनी चाहिए जो कि सदन के कुल सदस्यों की संख्या का 10 प्रतिशत है और यदि ऐसी गणपूर्ति (कोरम), उपबन्ध है तो दोनों सदन पृथक् रूप से या संयुक्त रूप से बैठक में, जैसी भी दशा हो, अनुच्छेद 107 से 122 में अधिकथित विधायी प्रक्रिया के अनुसार विधि बना सकते है । जिस बात पर ध्यान – देना है वह यह है कि संसद जिन समस्त मामूली विधियों को अनुच्छेद 245 से' 248 के अनुसार बनाता है उन्हें विधायी प्रक्रिया के अनुसार होना चाहिए न कि दूसरी प्रकार से । अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान को संशोधित करने के लिए एक भिन्न और विशिष्ट प्रक्रिया उपबन्धित है । विधेयक को संसद के दोनों सदनों में से किसी में पुर :स्थापित करना होता है और इसे प्रत्येक सदन द्वारा पृथक रूप से विशिष्ट बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए । इसे न केवल उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो–वाले के बहुमत से अपितु सदन के कुल सदस्यों के बहुमत से भी पारित होना चाहिए । यहां दोनों सदनों की संयुक्त बैठक अनुज्ञेय नहीं है । संविधान के कुछ दूसरे ऐसे उपबन्धों के मामले में जो प्रत्यक्षत : या अप्रत्यक्षत : अन्तर्राज्यीय संबंधो को प्रभावित करता है, प्रस्थापित संशोधन को पूर्व इसके कि संशोधन प्रस्थापित करने वाला विधेयक राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए रखा जाए, राज्यों का आधे से अधिक संख्या के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित किया जाना अपेक्षित है । यह एक विधायी प्रक्रिया नहीं है । यह प्रक्रिया इस भाव में विशिष्ट है कि यह भिन्न है और उस प्रक्रिया से जो संसद द्वारा मामूली विधि बनाने की प्रक्रिया है, अधिक बाध्यकारी और निबन्धनकारी है । दूसरा, कुछ मामलों में राज्य विधानमण्डल संशोधन करने की प्रक्रिया में अन्तर्वलित है । मामूली प्रक्रिया द्वारा अपनी विधयां बनाने में संसद और राज्य विधानमण्डलों के बीच ऐसी भागीदारी को संविधान द्वारा मान्यता नहीं दी गई है । संविधान के संशोधन के लिए अनुच्छेद 368 में किये गये विशेष उपबन्ध से यह अर्थ निकलता है कि हमारा संविधान एक 'अनम्य' या 'नियन्त्रित' संविधान है क्योंकि संविधान सभा ने यह विशिष्ट निदेश रखा है कि कैसे संविधान बदला जा सकता है । अनुच्छेद 368 को ध्यान में रखते हुए जब सफलतापूर्वक यह विशिष्ट प्रक्रिया पूरी कर ली जाती है तो प्रस्थापित संशोधन अपने आप संविधान का भाग हो जाता है या दूसरे शब्दों में, यह स्वयं संविधान में अपने को स्थापित कर लेता है ।

उपर्युक्त विचार–विमर्श से यह दर्शित होता है कि एक विधि बनाने तथा दूसरी संविधान का संशोधन करने के लिए दो पृथक् प्रक्रियाएं प्रारूपण का संयोग नहीं है । दोनों प्रक्रियाओं का जान–बूझकर उपबन्ध किया गया था जिससे कि उन सुविज्ञात सांविधानिक पद्धतियों की पुष्टि की जा सके जिनमें भिन्न –भिन्न प्रक्रियाओं की मुख्य–मुख्य बातों को दर्शित करने के लिए ऐसे पृथक् उपबन्ध किए जाते है जिनमें से एक को साधारणतया विधायी प्रक्रिया कहा जाता है और दूसरी को संविधायी प्रक्रिया कहा जाता है । 'संविधायी' शब्द आज के राजनीतिक संविधानों में इतना प्रसिद्ध हो गया है कि यह शब्दकोषों में इस प्रकार परिभाषित है – संविधान को विरचित या परिवर्तन करने की शक्ति को संविधायी–शक्ति कहा जाता है ।'

जब यह बात है तब हमारे संविधान में विधायी शक्ति और संविधायी शक्ति कहां विद्यमान है? विधायी शक्ति संविधान के अध्यधीन अनुच्छेद 245 से 248 द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से दी गई है और ये अनुच्छेद विधायी शक्तियों का वितरण' के शीर्षक के अधीन पाए जाते है । यही बात यह दर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि ये अनुच्छेद संविधायी शक्ति से सम्बन्धित नहीं है । यह बात महत्वपूर्ण है क्योंकि 'गोलकनाथ वाले मामले'[1] के मुख्य बहुमत का निर्णय इसी आधार पर दिया गया था कि यह शक्ति सप्तम। अनुसूची की सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में स्थित है । यह निष्कर्ष इस विनिश्चय का आधार था क्योंकि जब तक संविधान का संशोधन सप्तम अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टियों में से एक या दूसरे के अधीन संसद द्वारा बनाई गई विधि के समान नहीं माना जाता तो यह कठिन होगा कि अनुच्छेद 13(2) के वर्जन को लागू किया जाए । यदि हम इस बात से सहमत होते है कि अनुच्छेद 248 के अन्तर्गत है तो यह विनिश्चय कि अधिकारों को छीनने या कम करने वाला संशोधन अनुच्छेद 248 के अधीन विधि होने के कारण अनुच्छेद 13(2) द्वारा वर्जित होगा तब इसको चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

'गोलकनाथ वाले मामले'[2] में मुख्य न्यायाधिपति तथा उनके चार सहयोगियों ने यह अभिनिधारित किया था कि संविधान का संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में नहीं पाई जाती अपितु वह सप्तम अनुसूची की सूची 1 की अवशिष्ट प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 में पाई जाती है । यह मत सही प्रतीत नहीं होता। अनुच्छेद 368 भाग 20 में एक एकल अनुच्छेद है जिसका कि नाम संविधान का 'संशोधन' है । यह एक विशिष्ट विषय है जो उस भाग में वर्णित है । अनुच्छेद 3, 4, 169, पंचम अनुसूची का पैरा 7 और षष्ठ अनुसूची का पैरा 21 की तरह दूसरे अनुच्छेद ने संसद को ऐसी विधि द्वारा विनिर्दिष्ट उपबन्धों को संशोधन की शक्ति प्रदत्त की गई है अर्थात् विधान की मामूली प्रक्रिया को अंगीकृत करके, यद्यपि इससे संविधान के कुछ उपबन्धों का परिवर्तन किया जा सकता है । संसद द्वारा किये गये परिवर्तन विधि है और इसलिए संविधान के उपबन्धों की असंगति के मामले में वे उस समय तक अभिखण्डित किये जा सकते है जब तक कि वे विनिर्दिष्ट रूप से अपवादों द्वारा संरक्षित न हों । द्वितीय, प्रत्येक ऐसे मामले में स्पष्ट करते हुए, उपबन्ध जान–बूझकर जोड़ा गया' है कि विधि द्वारा किये गये ऐसे संशोधन के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि यह अनुच्छेद 368 के प्रयोजन के लिए संविधान का संशोधन है । यह चेतावनी इसलिए आवश्यक थी कि इस बात पर बल दिया जाए कि अनुच्छेद 368 में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार संविधान का संशोधन एक विशेष 'क्वालिटी' का है – अर्थात् ऐसी 'क्वालिटी' जो संसद द्वारा विधि द्वारा किये गये संशोधनों से भिन्न है । यह विशेष क्वालिटी इस तथ्य से प्रकट होती है कि संसद और राज्यों को अपने मामूली विधायी कृत्य के पूरा करने की प्रक्रिया में संयुक्त रूप से भाग नहीं लेना है अपितु उस विशेष कृत्य में, जिसे समस्त परिसंघीय या अर्द्ध–परिसंघीय नियन्त्रित संविधानों में संविधायी कृत्य कहा गया है ।

विधि बनाने के मामूली कृत्य और संविधान के संशोधन के कृत्य के बीच जो अन्तर है इसका महत्व ब्रिटिश संसद के समान या न्यूजीलैण्ड संसद के समान, सर्च प्रभुत्वसम्पन्न

निकाय की दशा में समाप्त हो जाता है, जिसका कि एकात्मक रूप का लिखित संविधान होता है । ये निकाय सांविधानिक विधि में उसी सरलता से संशोधन कर सकते है जिस सरलता से वे मामूली विधि बनाते है । इसका कारण यह है कि उनके संविधान नमनीय संविधान है किन्तु ऐसे देशों में जिनके कि लिखित संविधान है और जो अनम्य या नियन्त्रित संविधान है संविधान केवल विशेष प्रक्रिया के द्वारा ही संशोधित किया जा सकता है और वह निकाय या उन निकायों के, जिन्हें कि संविधान के संशोधन की शक्ति समनुदेशित की जाती है, के बारे में यह मान' जाता है कि वे संविधान के अधीन मामूली विधान बनाने की शक्ति का जो प्रयोग करते है उस शक्ति से भिन्न वे संविधायी शक्ति का प्रयोग करते है । जहां तक कि हमारा सम्बन्ध है, हमारा संविधान सुनिश्चित विषयों की बाबत संसद को तथा राज्य विधानमण्डलों को मामूली विधान बनाने की विनिर्दिष्ट शक्तियां प्रदत्त करता है । किन्तु तब संविधान के संशोधन की बात आती है तो उसके लिए अनुच्छेद 368 में एक विशिष्ट प्रक्रिया विहित की गई है । चूंकि इस अनुच्छेद के अधीन विशिष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करने का जो परिणाम है वह संविधान का संशोधन है और वह प्रक्रिया जिससे यह परिणाम निकलता है उसे संविधान के संशोधन के कार्य से सम्बद्ध निकायों द्वारा संविधायी शक्ति का प्रयोग कहा जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जब संसद और राज्य विधानमण्डल संविधान का संशोधन करने की दृष्टि से अनुच्छेद 368 के अधीन कृत्य करते है तो वे अनुच्छेद 246 से 248 के अधीन अपनी मामूली विधायी शक्ति से भिन्न संविधायी शक्ति का प्रयोग करते है। अनुच्छेद 368 पूर्णतया प्रक्रियात्मक नहीं है। निस्सन्देह इसका एक भाग प्रक्रियात्मक है किन्तु यहां यह स्पष्ट आज्ञा है कि उस प्रक्रिया का अनुसरण करने के पश्चात् जो कि अनुच्छेद 368 का मुख्य भाग है, प्रस्थापित संशोधन संविधान का भाग हो जाता है। इसलिए संविधान को संशोधित करने की यह विलक्षण और विशिष्ट शक्ति केवल अनुच्छेद 368 में ही खोजी जा सकती है, कहीं अन्यत्र नहीं।

अनुच्छेद 13(2), 245 और 368 को पास–पास रखने से उनके परस्पर सम्बन्ध पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही मामूली विधि एवं संविधायी (सांविधानिक) विधि के अन्तर को भी अच्छी प्रकार समझा जा सकता है –

| **अनुच्छेद 13(2)** | **अनुच्छेद 245** | **अनुच्छेद 368** |
|---|---|---|
| राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। | इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी, तथा किसी राज्य का विधान मण्डल उस सम्पूर्ण राज्य के अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा। | इस संविधान के संशोधन का सूत्रपात उस प्रयोजन के लिए विधेयक को संसद के किसी सदन में पुर: स्थापित करके ही किया जा सकेगा तथा जब प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई से |

अन्यून बहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनों के अनुसार संविधान संशोधित हो जाएगा।

अनुच्छेद 13(2) स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 245 की भाषा को प्रतिध्वनित करता है। अनुच्छेद 245 विधियां बनाने की शक्ति देता है जबकि अनुच्छेद 13(2) विधि बनाने की शक्ति का प्रयोग करने पर परिसीमा अधिरोपित करता है। दो अनुच्छेदों के बीच अनुच्छेद 13(2) सर्वोपरि विधि है क्योंकि अनुच्छेद 245 अभिव्यक्त संविधान के सभी उपबन्धों, जिसमें अनुच्छेद 13(2) सम्मिलित है, के अध्यधीन है। अनुच्छेद 368 में विधि' शब्द के प्रयोग को अत्यन्त सावधानी के साथ बचाया गया है क्योंकि सांविधानिक विधि और मामूली विधि के बीच मौलिक अन्तर है । सांविधानिक विधि' का प्रयोग कभी भी इस भाव में नहीं किया जाता जिसके अन्तर्गत संविधान के अधीन बनाई गई विधियां हों।' सांविधानिक विधि मूलभूत, वरिष्ठ और सर्वोपरि विधि है। इसकी प्रामाणिकता और अनुशासित मामूली विधियों से उच्चतर हैं।4 जैसाकि एवी डायसी ने कहा है – परिसंघीय संविधान में विधानमण्डल अधीनस्थ विधियां बनाने वाला निकाय होता है जिसकी विधियां संविधान द्वारा प्रदत्त प्राधिकार के भीतर उपविधियों की प्रवृत्ति की होती है।[5]

पुनः, यदि हमारी संविधान सभा ने संविधान को संशोधित करने की शक्ति को मामूली विधायी शक्ति से अधिक महत्वपूर्ण न माना होता तो संविधान के निर्माता, जो कि संविधान के संशोधन की शक्ति के लिए उपबन्ध करने की आवश्यकताओं को जानते थे, उसको अवशिष्ट प्रविष्टि में खोजे जने के लिए छोड़ने के स्थान पर सप्तम अनुसूची की एक या दूसरी सूचियों में उस भाव की विनिर्दिष्ट प्रविष्टि को जोड़ना न भूलते। यह तथ्य है कि संविधान के निर्माताओं ने इस अनुसूची में इसे विनिर्दिष्ट रूप में सम्मिलित करने से छोड़ दिया और संविधान के भार 20 में विशेष शीर्षक के रूप में उसे उपबन्धित किया। इस तथ्य का परिचायक है कि यह शक्ति अवशिष्ट–प्रविष्टि या अवशिष्ट अनुच्छेद 248 में नहीं खोजी जा सकती। इस सम्बन्ध में इस बात को स्मरण रखना चहिए कि प्रारूपित (ड्राफ्ट) संविधान में अनुच्छेद 304 के खण्ड 2 में एक पृथक् उपबन्ध था। उस अनुच्छेद का खण्ड 1 हमारे वर्तमान अनुच्छेद 368 से काफी समरूप है। खण्ड 2 में राज्यों को यह शक्ति दी गई थी कि वे कुछ मामलों में संशोधनों की प्रस्थापना करें और संसद को ऐसे संशोधनों का अनुसमर्थक करना था। वहां पर इस प्रकार संशोधन की उल्टी प्रक्रिया थी। राज्यों के पास कोई अवशिष्ट शक्ति नहीं थी, और संविधान का

संशोधन प्रारूपित सूची 11 में विधायी शक्ति का विनिर्दिष्ट विषय नहीं था। इससे यह दर्शित होता है कि हमारे प्रारूपित संविधान में दो को छोड़कर समस्त विषयों के लिए संशोधन की प्रस्थापना संसद द्वारा की जानी थी और दो विनिर्दिष्ट विषयों के लिए संशोधन की प्रस्थापना राज्य विधान–मण्डलों द्वारा की जानी थी। यदि पश्चातवर्ती दो विषयों के लिए जो शक्ति है वह प्रारूपित संविधान के अनुच्छेद 304 के खण्ड 2 में पाई जाती है तो यह मानना युक्तियुक्त है कि शेष संविधान को संशोधित करने का संसद की शक्ति उस अनुच्छेद 304(1) में पाई जाएगी जो हमारे वर्तमान अनुच्छेद 368 के समरूप हैं।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 245 की वास्तविक शब्दावली जो अनुच्छेद 246 से 248 तक साथ विधायी शक्तियों का वितरण नामक प्रकरण के अन्तर्गत है बहुत ही महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 245 में, जैसा कि हमने देखा, यह उपबन्धित है कि संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य–क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि मना सकेगी तथा किसी राज्य का विधानमण्डल सम्पूर्ण राज्य के अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा। इस प्रकार अनुच्छेद 245 संसद तथा 'राज्य के विधानमण्डलों को आवंटित राज्यक्षेत्र के लिए तथा उसके अन्तर्गत विधियां बनाने की शक्ति प्रदत्त करता है । इस शक्ति को प्रदत्त करने के पश्चात् अनुच्छेद 246 से 248 उस विधान की ऐसी विषय–वस्तुओं का वितरण करते है जिनकी बाबत संसद तथा राज्य के विधानमण्डल को अनुच्छेद 245 में विनिर्दिष्ट विधियों को बनाने की शक्ति है । किन्तु शासित करने वाले ऐसे शब्दों में उस शक्ति पर महत्वपूर्ण परिसीमा है । जिन शब्दों के साथ अनुच्छेद 245 प्रारम्भ होता है वे उस शक्ति को अभिव्यक्त करते है जिसके द्वारा विधियों के ऊपर संविधान को रखते हुए इसे संविधान के उपबन्धों के अध्ययन किया गया है । अर्थ यह होगा कि संसद और राज्य के विधानमण्डल वास्तव में उपदर्शित उन क्षेत्रों तथा उन विषय–वस्तुओं की बाबत विधियां बना सकते है, किन्तु इस शक्ति का प्रयोग संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन होना चाहिए जिसका यह अर्थ है कि विधियां बनाने की शक्ति ऐसी विधि बनाने की शक्ति तक विस्तारित नहीं की जा सकती जो उस संविधान के जो कि इस देश की उच्चतम विधि है, उपबन्धों का उल्लंघन करता है या उससे असंगत है । विधि उस समय संविधान के उपबन्ध से असंगत होती है जबकि इसके प्रवर्तन के पश्चात् यह संविधान के उपबंध का हास करती है या उसे अकृत करती है । संविधान के उपबन्ध के पाठ को संशोधित करने से अधिक संविधान हास करने या उसको अकृत करने की किसी सरलतर रीति की कल्पना नहीं की जा सकती । चूंकि सांविधानिक उपबन्ध के पाठ को संशोधित करने वाली विधि के लिए आवश्यक रूप से हास करना और अकृत करना अपरिहार्य होगा इसलिए उससे संविधान के उपबन्ध का उल्लंघन होगा या वह उससे असंगत होगी और इसलिए अनुच्छेद 245 में शासित करने वाले शब्दों संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन के अधीन वह अनुज्ञेय और अविधिमान्य होगी । इसका अर्थ यह है कि यदि इस धारण पर कि यह सूची 1 की प्रविष्टि 97 के, साथ पठित अनुच्छेद, 248 के अधीन संसद की अवशिष्ट शक्तियों के अन्तर्गत है, संविधान को संशोधित करने वालों कोई 'ऐसी विधि बनाईं जाती है तो यह सदैव अविधिमान्य होगी। इसके पश्चात् पुन अनुच्छेद 245 से 248 के अधीन बनाई नई विधि को इसके बनाने के लिए उस मामूली

विधायी प्रक्रिया के अनुरूप होनी चाहिए जो संसद के लिए भाग 5 के अध्याय 2 में अधिक कथित है और जो राज्य विधानमण्डल के लिए संविधान कें भाग 6 के अध्याय 3 में अधिकथित है न कि किसी भिन्न प्रक्रिया के अनुरूप होना चाहिए । इस प्रकार से यह कहना कि विधि बनाने की शक्ति अनुच्छेद 245 में विद्यमान है और विधि बनाने की प्रक्रिया अनुच्छेद 368 में विद्यमान है, न केवल इस विवशता की अपेक्षा करना है अपितु जैसे कि आज के अधिकांश नियंत्रित संविधानों में संविधान के संशोधन के लिए विशिष्ट प्रक्रिया विहित है जो कि मामूली विधियों के बनाने के लिए अधिकथित प्रक्रिया से भिन्न है, हमारे संविधान में अनुसरित की जाने वाली मूल सांविधानिक पद्धति की भी उपेक्षा करना है ।

इसलिए निष्कर्ष यह है कि संशोधन की शक्ति अवशिष्ट प्रविष्टि के साथ पठित अनुच्छेद 248 में नहीं पायी जा सकती । यह दलील कि अनुच्छेद 368 में संशोधन का शक्ति का कोई उल्लेख नहीं है बल्कि केवल अन्यत्र पाई जाने वाली शक्ति के अनुसरण में संशोधन की प्रक्रिया का ही उल्लेख है, स्पष्ट रूप अमान्य है । सही स्थिति यह है कि अनुच्छेद 368 से संविधायी शक्ति उत्पन्न होती है जो संविधान में प्रस्थापित संशोधन को प्रतिष्ठित करती है और उसे संविधान के दूसरे भागों के बराबर हैसियत प्रदान करती है इसके अतिरिक्त यदि संविधान का संशोधन सूची 1 की प्रविष्टि 97 के साथ पठित अनुच्छेद 248 के अधीन बनाई गई एक विधि है तो इससे विचित्र परिणाम निकलेंगे क्योंकि ऐसा माने जाने पर ऐसी विधि अनुच्छेद 13(2) के असंगत होने के कारण अभिव्यक्त रूप से उस सीमा तक अविधिमान्य हो जाएगा जहां तक कि संविधान के भाग 3 का सम्बन्ध है और संविधान के किसी दूसरे अनुच्छेद को संशोधित करने वाली ऐसी विधि भी उन शासित करने वाले शब्दों के, अर्थात् 'इस संविधान के उपबन्धों के अध्यधीन' जिससे कि अनुच्छेद 245 प्रारम्भ होता है, कारण अविधिमान्य हो जाएगी। उस दशा में संविधान का कोई भी अनुच्छेद संशोधित नहीं किया जा सकता । इसलिए संविधान की संशोधन शक्ति को अनुच्छेद 368 में खोजना ही उपयुक्त है क्योंकि यह एक विशिष्ट अनुच्छेद है जो संविधान के संशोधन के प्रयोजनों के लिए सुविचारित है और जो भाग 20 का विषय शीर्षक भी है । अत : संविधान को संशोधित करने की शक्ति तथा उसकी प्रक्रिया अनुच्छेद 368 में विद्यमान है ।

अनुच्छेद 368 के अधीन परन्तुक (प्रोविजो) में निर्देशित मामलों के सिवाय संसद संविधान को संशोधन करने के लिए मुख्य निकाय है । परन्तुक द्वारा अपवादित मामलों को छोड़कर संसद को संविधान के संशोधन करने में राज्य विधानमण्डलों के साथ सम्मिलित होना नहीं है । यह बात दृष्टि से ओझल नहीं की जा सकती कि संसद व्यापक रूप में जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है । संसद में दो सदन सम्मिलित है, लोकसभा और राज्यसभा लोकसभा वयस्क मताधिकार के आधार पर पांच वर्ष के लिए निर्वाचित होती है । राज्यसभा स्थायी निकाय है जिसके सदस्य चक्रानुक्रम में निवृत्त होते है । राज्यसभा में राज्य विधानमण्डलों द्वारा निर्वाचित सदस्य होते है जो स्वयं उन विधानमण्डलों के लिए वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होते है । इसके पश्चात् पुनः यूनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति से सम्बन्धित कांग्रेस द्वारा गृहीत स्थिति तथा भारत में संसद और राज्य विधानमण्डलों से

सम्बन्धित कार्यपालिका की स्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर है । अमरीका में राष्ट्रपति एक कालावधि के लिए जनता द्वारा प्रत्यक्ष: निर्वाचित होता है और वह परिसंघीय सरकार का कार्यपालिका प्रधान है । कांग्रेस विधि बना सकती है किन्तु राष्ट्रपति कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं है । भारत में हमारी लोकतंत्र की संसदीय पद्धति में, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में है, कार्यपालिका पूर्णतया विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी है । यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका में कांग्रेस जनता के प्रति उनकी बावत उत्तरदायी नहीं मानी जाएगी जिसे राष्ट्रपति ने अपनी कार्यपालिका हैसियत में किया है । यही बात अमेरिका के राज्य विधानमण्डल की बाबत भी सही है। भारत में जनता संसद को किसी भी कार्यपालिका– कार्य के लिए जो मन्त्रिमण्डल ने किया है, उत्तरदायी मानेगी जबकि सांविधानिक संशोधन के प्रसंग में संविधायी निकाय के रूप में संसद की स्थिति का अवमूल्यन करना सरल है । किन्तु हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि ग्रेट ब्रिटेन और न्यूजीलैण्ड दोनों में जिसमें एक में अलिखित संविधान है और दूसरे में लिखित संविधान है जो संसदीय लोकतन्त्र द्वारा शासित है, वहां संविधान मामूली बहुमत द्वारा बदला जा सकता है।

संविधान को संशोधित करने की शक्ति मुख्य रूप में संसद को क्यों दी गई, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है । किन्तु दो बातें स्पष्ट है । एक यह है कि जैसे अमेरिका में, जिन्होंने संविधान को बनाया उन्होंने अपने को संशोधन की प्रक्रिया से पूर्णतया अलग रखा । दूसरे, हम अपने संविधान के मुख्य निर्माताओं में से डा. अम्बेडकर के इन शब्दों को जानते है कि लोकमत संग्रह या सम्मेलन की आनुकाल्पिक रीतियों पर विचार हुआ था और निश्चय रूप से उन्हें अमान्य किया गया था । उन्होंने संसद को शक्ति देने के लिए निश्चित किया था और अभिलेख के अनुसार डा. अम्बेडकर ने यह कहा कि संविधान के संशोधन को जानबूझकर अनुच्छेद 368 में रीति विहित करते हुए उतना सरल बनाया गया था जितना कि युक्तियुक्त रूप में सम्भव था । संविधान सभा के वाद–विवाद से यह दर्शित होता है कि मुख्य विवाद उस नमनीयता की कोटि के बारे में था जिसे कि संविधान में लागू किया जाना था । संसद के लिए संविधान सभा ने जो अधिमान दिया उसके लिए अनेक ऐतिहासिक कारण थे । हमारा देश एक बहुत बड़ा उपमहाद्वीप है जिसकी बहुत बड़ी जनसंख्या है । साक्षरता का स्तर बहुत ही नीचे है और जनता भाषा, जातियों–समुदायों में बंटी है और जो सभी एक दिशा में नहीं चलते है । सर्वव्यापी निरक्षरता के कारण राजनीतिक मुद्दों को समझने तथा क्षेत्रगत एवं संकीर्ण संवादों से ऊपर उठने का सामर्थ्य बहुत सीमित है । राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को अध्यव्यवसाय द्वारा जब भी विकसित करना आवश्यक है । इसलिए यह अपरिहार्य है कि जो निकाय केन्द्र में अखिल भारतीय नेतृत्व का प्रतिनिधित्व करता है उसको चुना जाए । चाहे जो भी कारण. रहा हो, संविधान सभा ने संशोधन की शक्ति को संसद को समनुदेशित किया और चाहे जो कुछ भी अन्य लोग किसी सम्भव अच्छे मार्ग की बाबत सोचते ही वे मार्ग नहीं है जिसके लिए संविधान सभा ने आज्ञा दी है । जनता ने स्वयं को संशोधन की प्रक्रिया से अलग रखते हुए किसी अन्य प्रतिनिधि निकास के स्थान पर संसद को यह कार्य समनुदेशित किया । यह स्पष्ट है कि संविधान के संशोधन के लिए संविधान द्वारा पदाभिहित प्राधिकारियों की शक्ति को उस सम्मेलन या संविधान सभा की

शक्तियों के समकक्ष सह विस्तारी होना चाहिए, यदि उस प्रकार की प्रक्रिया के लिए संविधान द्वारा अनुज्ञा दी गई होती ।

## 8.4 भारतीय संविधान में संशोधन प्रक्रिया का स्वरूप

संविधान स्वयं यह स्वीकार करता है कि संशोधन की आवश्यकता हो सकती है, अत : प्रत्येक संविधान में इसकी व्यवस्था की जाती है, हमारा संविधान भी इसका अपवाद नहीं है । हमने ब्रिटेन और अमेरिका के बीच का मार्ग अपनाया है । अत : ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा संविधान संशोधन प्रणाली की दृष्टि से न तो पूरी तरह लचीला है जैसा ब्रिटेन का है और न उतना कठोर है जैसा कि अमेरिका का है । संशोधन प्रणाली का दुहरा वर्गीकरण किया जा सकता है. (क) कठोर व लचीला (rigid or flexible dimension) (ख) संघीय या असंघीय (Federal or Non–Federal) संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से ऐसा वर्गीकरण नहीं किया है, किन्तु ऐसा अप्रत्यक्ष रूप से लगता है । हमारी संविधान प्रणाली को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है – :

(i) प्रथम प्रणाली उन विषयों से सम्बन्धित है जो मोटे रूप से संघीय कहे जाते है

ऐसे विषयों का संशोधन केन्द्रीय संसद के किसी भी सदन में किया जा सकता है । किन्तु पारित होने के लिए :

(अ) उसे सदन के कुल सदस्यों का बहुमत प्राप्त होना चाहिए;

(ब) उसे उपस्थित या मतदान करने वाले सदस्यों का दो तिहाई बहुमत प्राप्त होना चाहिए

(स) आधे राज्यों की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए।

इन तीन परिस्थितियों को पूर्ण करने के पश्चात् बिल राष्ट्रपति हस्ताक्षर की स्वीकृति से कानून (संशोधन) का रूप ले लेता है। राष्ट्रपति का चुनाव, संघ की कार्यपालिका–शक्ति की सीमा, राज्यों की कार्यपालिका शक्ति की सीमा, राज्यों के उच्च न्यायालय संघ और राज्यों के विधायी सम्बन्ध, संशोधन प्रणाली व संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व इत्यादि विषय इस प्रणाली के अन्तर्गत आते है ।

(ii) द्वितीय प्रणाली उन विषयों से सम्बन्धित है, जो मोटे रूप से संघीय विषयों में नहीं आते । इन्हें भी केन्द्रीय संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु पारित होने के लिए इसमें उपरोक्त प्रथम दो परिस्थितियां ही आवश्यक है । इसमें वे सभी विषय आते है, जो प्रथम एवं तृतीय प्रणाली में नहीं आते है । इसी में गोलकनाथ मुकदमें से पूर्व मूल अधिकारों में संशोधन का संसद का अधिकार भी आता था जो कि इस मुकदमें में दिये गये निर्णय से अवरूद्ध हो गया । चौबीसवें संशोधन अधिनियम से पुन : यह अधिकार संसद के अधिकार में आ गया ।

(iii) जहां तक तीसरी विधि का प्रश्न है, वह हमारे संविधान को लचीला बना देती है । इसके विषय भी संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते है । ये साधारण बहुमत से पारित किये जा सकते है । अर्थात् साधारण कानून की भांति ही इनके पारित होने के लिए

भी साधारण बहुमत की ही आवश्यकता होती है । इसमें मुख्यतया निम्नांकित विषय आते है –

(क) वह कानून, जिसके द्वारा राज्य का क्षेत्र घटाया या बढ़ाया जा सकता है, राज्य का नाम बदला जा सकता है, सीमा बदली जा सकती है । (अनुच्छेद 2, 3 एवं 4)

(ख) जिनके द्वारा नये राज्यों का निर्माण हो सकता है । (अनुच्छेद 2, 3 एवं 4)

(ग) जिनके द्वारा राज्यों में द्वितीय सदन का निर्माण या अन्त किया जा सकता है । (अनुच्छेद 169)

(घ) जिनका सम्बन्ध अनुसूचित जातियों व जनजातियों से है ।

अब तक किये गये विभिन्न संशोधनों में मुख्य संशोधन मूल व नीति–निर्देशक तत्वों के बीच तनाव को दूर करने के प्रयास से सम्बन्धित है अर्थात् राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक जनतन्त्र को लाने का प्रयास किया गया है ।

## 8.5 संशोधन प्रक्रिया: मूल्यांकन

(i) कुछ विचारकों नं इसे बहुत सरल तथा कुछ ने बहुत कठिन बताया है । जो इसे सरल मानते है, वे कहते है कि कम वर्षों मैं हम लोगों ने इतने अधिक संशोधन कर दिये है । यह संशोधन प्रणाली के लचीलेपन का प्रतीक है। अत : इससे देश का नक्शा बदला है, नये राज्यों का निर्माण हुआ है अर्थात् देश की एकता को नुकसान पहुंचा है । कुछ लोगों ने इसे अधिक कठोर बताया है । उनके अनुसार दो तिहाई बहुमत सरलता सै तैयार नहीं किया जा सकता ।

(ii) तीनों ही व्यवस्थाओं में विषयों का बंटवारा भलीभांति नहीं किया गया है । बहुत से विषय ऐसे है जिनकी आत्मा संघीय है अत : उन्हें प्रथम श्रेणी में रखा जाना चाहिए, जबकि उन्हें तृतीय श्रेणी में रखा गया है । इससे संघीय ढांचा स्वयं ही विकृत हो गया है । इसके विरोध में यह कहा जाता है कि राज्यों का स्वरूप ऐतिहासिक व आकस्मिक घटना थी, अत : उनके पुनर्गठन की सम्भावना बराबर बनी हुई थी । अत: यदि पुनर्गठन सम्बन्धी व्यवस्था को पहली प्रणाली के अन्तर्गत रखा जाता तो संविधान शायद निष्क्रिय घोषित होता । इसी प्रकार मूल अधिकारों का विषय भी प्रथम श्रेणी में होना चाहिए, जिन्हें कि द्वितीय श्रेणी में रखा गया है । इससे इनके हनन की सम्भावना बढ़ी है ।

(iii) संघीय मापदण्डों तथा प्रजातन्त्रीय मापदण्डों की अवहेलना की गई है । संघीय मापदण्डों की भांति संघीय इकाईयों को संशोधन पेश करने का अधिकार नहीं है । जैसा कि अमेरिका में है । इसी प्रकार न सभी विषयों पर राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है ।

इन आलोचनाओं के बावजूद, संविधान–संशोधन के अब तक के इतिहास से यह दृष्टव्य है कि संशोधनों ने (सिवाय आपातकाल के दौरान किए गए संशोधनों के) संविधान को समय के अनुसार अनुकूल बनाने में काफी योगदान किया है ।

एक सरल व जटिल संविधान के मध्य अन्तर वास्तव में एक निश्चित समय में व्याप्त राजनीतिक स्थिति के सन्दर्भ में बंधा हुआ है और उसका मात्र उस प्रक्रिया विशेष से ही सम्बन्ध नहीं है जिसके अन्तर्गत किसी संविधान में संशोधन हो सकता है । उदाहरण के लिये

1967–1971 के दौरान क्षीण बहुमत की स्थिति में केन्द्रीय कांग्रेस सरकार अपनी इच्छा के बावजूद मूल अधिकारों में संशोधन से सम्बन्धित संसदीय शक्ति के प्रश्न पर संसद एवं उच्चतम न्यायालय के बीच सम्प्रभुता का निर्धारण करने वाला कोई संवैधानिक संशोधन पारित नहीं कर सकी । मूल अधिकारों में संशोधन के सन्दर्भ में संसदीय शक्ति को गोलक नाथ के मामले में अमान्य घोषित कर दिया गया था । कालान्तर में पांचवें लोकसभा चुनावों (1971) के उपरान्त भीमकाय बहुमत की स्थिति में कांग्रेस–सरकार सुगमता से संविधान में अनेक संशोधन कर सका । 1977 के चुनावों के पश्चात् एक दलीय प्रभुत्व की स्थिति समाप्त हो जाने के कारण सत्तारूढ़ दल को संवैधानिक संशोधनों हेतु विपक्षी दलों पर आश्रित रहना पड़ा ।

सर आइवर जैनिग्स ने अनमनीयता की संरचना में उन सार्थक तत्वों का विवेचन किया है, जिनके इर्द–गिर्द परिचालन सूचियों का निर्माण किया जा सकता है परन्तु हम उस राजनैतिक सन्दर्भ के घटक का उल्लेख नहीं कर रहे है, जिस पर विश्लेषण की अन्तिम स्थिति में संविधान की जटिलता निर्भर करती है । एक संविधान मात्र अपने निर्माण–काल के वातावरण में ही काम नहीं करता वरन् उसके बाद शताब्दियों तक व्यवहृत होता है । उसमें अनिवार्यत : नई स्थितियों के अनुरूप रूपान्तर की क्षमता होनी चाहिए । इसके अतिरिक्त अब सरकार व संसद को विविध प्रतिस्पर्द्धी हितों में सामंजस्य एवं आर्थिक विकास में योगदान करना है । किसी संगठन की प्रत्येक संवैधानिक व्यवस्था अपने कार्यो के प्रति स्वयं एक बाधा है चाहे यह अपनी सदस्यता निर्धारित करे या प्रक्रिया। यह तथ्य कि इस प्रकार की बाधा आज की आवश्यकता है, यह नहीं दर्शाता कि अब से एक शताब्दी बाद भी स्थिति यथावत रहेगी।

यह स्पष्ट है कि समस्या के दो पक्ष है । यदि कोई संविधान सहजता से संशोधित किया जा सके तो इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं है कि इसमें संशोधन की जाने वाली व्यवस्थाएं समाहित कर ली जाएं । इसके विपरीत, यदि वह सहजता से न बदला जा सके तो उसे यथा सम्भव छोटा व सरल होना चाहिए । संविधान सभा ने एक ऐसा लम्बा व जटिल दस्तावेज प्रस्तुत किया है जिसमें सरलता से संशोधन नहीं किया जा सकता । वैसे जैसाकि हम पहले देख चुके, है कि एक सरल व जटिल संविधान के मध्य अन्तर एक निश्चित समय में राजनैतिक स्थिति के सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है और उसका मात्र उस प्रक्रिया विशेष से ही सम्बन्ध नही है जिसके अन्तर्गत किसी संविधान में संशोधन हो सकता है ।

## 8.6 संशोधन शक्ति बनाम न्यायिक पुनरावलोकन

भारत के उच्चतम न्यायालय ने सबसे पहले 1951 में 'शंकरीप्रसाद बनाम भारत संघ' वाले मामले[7] में संसद की संशोधन शक्ति के प्रश्न पर विचार किया था, जिसमें संविधान के प्रथम संशोधन' अधिनियम, 1951 पर आक्षेप' किया गया' था । इसे उच्चतम न्यायालय ने वैध घोषित करते हुए उक्त मामले में यह निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 13(2) में विधि' (ला) शब्द के अन्तर्गत ऐसी सांविधानिक विधि' (संशोधन) नहीं आती है जो अनुच्छेद 368 के अधीन बनाई गई हो । उच्चतम न्यायालय ने अपने इस निर्णय की पुष्टि 1965 में 'सज्जनसिंह बनाम राजस्थान राज्य' वाले मामले[8] में की । किन्तु 1967 में 'आई.सी. गोलकनाथ और कुछ अन्य बनाम पंजाब राज्य' वाले मामले कें उच्चतम न्यायालय ने अपने इस निर्णय को उलट दिया

और यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 13(2) में विधि ' शब्द के अन्तर्गत सांविधानिक विधि' भी सम्मिलित है और संसद को अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के भाग तीन में मूल अधिकारों को न्यून करने वाला या निराकृत करने वाला कोई भी संशोधन करने का अधिकार प्राप्त नहीं है । तब से यह विषय अत्यन्त विवादास्पद बना रहा है । गोलकनाथ वाले मामले' में दिए गए निर्णय को प्रभावहीन करने हेतु संसद ने चौबीसवां पच्चीसवां और उन्नीसवाँ संशोधन पारित कर दिया ।

1973 में पूज्य श्री केशवानन्द भारती श्री पदगालवरू और कुछ बनाम केरल राज्य और कुछ अन्य' वाले मामले[10] में उच्चतम न्यायालय ने 'गोलकनाथ वाले मामले' में दिये गये निर्णय को उलटते हुए यह विनिश्चय किया है कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है । लेकिन माननीय न्यायाधिपतियों के बहुमत (छह के मुकाबले सात) ने उसमें एक शर्त जोड़ दी है। शर्त यह है कि संविधान का अनुच्छेद 368, जिसमें संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति दी गई है, संसद को संविधान में ऐसा संशोधन करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है जिससे कि संविधान की 'आधारभूत संरचना या आधारभूत खाका' अथवा 'मूलभूत तत्व' नष्ट हो जाए । यद्यपि उसमें यह अधिकथित नहीं किया गया कि कोई विशिष्ट नामित संविधान के लक्षण उसके आधारभूत ढांचे का भाग गठित करते है । इस प्रकार बहुमत द्वारा संसद को संविधान में परिवर्तन करने के व्यापक अधिकार का सौंपा, जाना स्वीकार कर लिया गया था, जब तक कि ऐसे परिवर्तन उसके 'आधारभूत ढांचे' के अन्तर्गत रहते है । निस्सन्देह ही केशवानन्द भारती वाले मामले में पहली बार उच्चतम न्यायालय के बहुमत के विनिश्चय से 'मूलभूत तत्व' अथवा 'आधारभूत संरचना' या "बुनियादी ढांचा या खाका का कथित सिद्धान्त उतम हुआ ।

स्वतन्त्र भारत के संवैधानिक इतिहास में 'केशवानन्द भारती वाला मामला[11] सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और अभी तक उच्चतम न्यायालय ने जितने मामलों की सुनवाई की है उनमें यह सबसे बड़ा है । तेरह न्यायाधिपतियों की विशेष पीठ के बहुमत के विनिश्चय से इसमें संविधान के 'आधारभूत ढांचे' अथवा 'मूलभूत तत्वों ' का सिद्धान्त व्युत्पन्न हुआ था । बहुमत का यह विनिश्चय इस प्रश्न का उत्तर था कि क्या संविधान के अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन करने का संसदीय शक्ति पर कोई सीमाएं विद्यमान है और यदि ऐसा है तो ये सीमाएं क्या है?

उक्त 'युग प्रवृर्ती' विनिश्चय में यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि यह बात सारहीन है कि चाहे संशोधन की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 368 में हो या अनुसूचित सप्तम की सूची एक की प्रविष्टि 97 में हो, उसका प्रयोग अन्तर्निहित और विवक्षित परिसीमाओं के अधीन है । यह तर्क इस रूप में था कि संविधान आवश्यक रूप से विस्तृत और व्याख्यावादी होने की बजाय साधारण होना चाहिए और इसलिए सांविधानिक अर्थान्वयन में विवक्षा की एक महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए । परिसीमाएं परिस्थितियों और ऐतिहासिक घटनाओं से उत्पन्न होती है जिनके कारण हमारे संविधान का अधिनियमन हुआ, जो एक ओर भारत के विभिन्न राज्यों के नागरिकों के अधिकारों और समाज के बहुत से वर्गो के बीच तथा दूसरी ओर विभिन्न

संवैधानिक संस्थाओं के बीच संतुलन बनाता है । संविधान द्वारा दी गयी शक्ति का ऐसा अर्थान्वयन नहीं किया जा सकता कि वह संविधान द्वारा प्रदत्त की गयी अन्य' शक्तियों को नष्ट करती है । यदि संसद का संशोधन शक्ति पर कोई अन्तर्निहित परिसीमा नहीं है तो उस शक्ति का प्रयोग न्यायिक शक्ति और शासकीय शक्ति को और यहां तक कि राज्य विधानमण्डलों की मामूली विधायी शक्ति को नष्ट करने के लिए भी किया जा सकता है ।

स्पष्टत : यही एक मौलिक तर्क है जो संशोधन शक्ति के परम्परावादी दृष्टिकोण को चुनौती देता है । 1967 में 'गोलकनाथ वाले मामले'[12] में यद्यपि इस तर्क को छोड़ दिया गया था, किन्तु 1973 के ऐतिहासिक 'केशवानन्द भारती वाले मामले' में यही बहुमत के विनिश्चय का मुख्य आधार बना । यह मौलिक तर्क इस प्रकार है :संशोधन–शक्ति पर उस संविधान के सन्दर्भ में विचार करना चाहिए जिसके अन्दर यह अन्तर्विष्ट है और इसलिए उसे उस संविधान के बुनियादी ढांचें (बेसिक स्ट्रक्चर) को परिवर्तित करने के लिए अनुमति नहीं दी जा सकती है ।

"..... संविधान के अनुच्छेद 368 में अभिव्यक्त 'संशोधन' शब्द में सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों तत्व है । संशोधन शक्ति के क्रियान्वयन में संसद संविधान के ढांचे को समाप्त नहीं कर सकती है अपितु यह केवल उसके उपबन्धों को इसके बेहतर क्रियान्वयन के लिए अपने मूल लिखित (संविधान) के ढांचे के अन्तर्गत रूपान्तरित कर सकती है । अगर मूलभूत तत्वों को संशोधन की एक विशेष बहुमत वाली प्रक्रिया द्वारा संशोधित–योग्य कर दिया जायेगा तो राष्ट्रपति जैसी संस्थाएं समाप्त की जा सकती है, संसदीय कार्यपालिका हटाई जा सकती है, मूल अधिकार निरसित किये जा सकते है, संघवाद की अवधारणा मिटाई जा सकती है और संक्षेप में सम्प्रभु लोकतन्त्रात्मक गणराज्य को अधिनायकवादी शासन व्यवस्था में बदला जा सकता है ।

इस तर्क में यह सुझाव अन्तर्निहित है कि सभी संविधानों में संशोधी–शक्ति उनके मूल तत्वों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है । वास्तव में इस नवीन गैर–परम्परावादी एवं वैकल्पिक सिद्धान्त के अनुसार, स्वयं संविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन करना क्रान्ति को प्रवृत्त करना है तथा पूर्ण रूप से एक भिन्न संविधान उत्पन्न करना है । इसी से जुड़ा एक और तर्क (जिसे भय का तर्क – आरग्यूमेन्ट ऑफ फीयर कहा जा सकता है) दिया जाता रहा है कि 'क्या वह दल जिसे आज दो–तिहाई बहुमत प्राप्त है, उसके खोने से पूर्व अनुच्छेद 368 में इस प्रकार का संशोधन कर सकता है कि संविधान में भावी संशोधनों के लिए साधारण बहुमत पर्याप्त होगा? कल्पना कीजिए कि उसने ऐसा किया, तो क्या सांविधानिक विधि तथा उसके बाद बनाई गई साधारण विधियों में कोई अन्तर होगा? यह भी तर्क दिया गया है कि आज की संसद संविधान सभा की भांति सांविधानिक निकाय नहीं है, अपितु उस संघटित निकाय (कांस्ट्रियूटेड बाडी) के रूप में है जिसे संविधान के प्रति सच्ची आस्था रखनी चाहिए जैसाकि विधि द्वारा स्थापित है ।

इस प्रकार 'केशवानन्द भारती वाले मामले' में बहुमत द्वारा विनिश्चित अधिकथन कि 'संविधान के आधारभूत ढांचे के संशोधन का प्रश्न संसद की संशोधन शक्ति से बाहर है' को 'श्रीमती गांधी वाले मामले'[13] में सभी न्यायाधिपतियों ने एकमत से सिद्धान्त के रूप में स्वीकार

कर लिया था । इसलिए जब 1980 में उच्चतम न्यायालय के समक्ष 'मिनर्वा मिल्स वाले मामले'[14] तथा 'वामनराव वाले मामले'[15] में संविधान की संशोधन शक्ति का प्रश्न विचारार्थ आया तो न्यायालय के लिए विनिश्चय करना अधिक कठिन नहीं रह गया । वस्तुत इसमें कोई संदेह नहीं रह गया था कि संसद की संशोधनात्मक शक्ति सीमित शक्ति है और संसद इस बात के लिए सक्षम नहीं है कि वह संविधान के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन कर सके । अत : जब संसद ने 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अपनी सीमित शक्ति को आत्यन्तिक शक्ति के रूप में विस्तृत करने का कार्य किया तो हमने देखा कि उच्चतम न्यायालय ने आधारभूत ढांचे अथवा आवश्यक लक्षणों के पूर्वघोषित सिद्धान्त का अवलम्बन लेने हेतु संशोधन–शक्ति की अतिलंबित परिसीमाओं को असांविधानिक तथा विधि शून्य घोषित कर दिया ।

24 अप्रैल, 1973 जबकि 'केशवानन्द भारती के मामले' का निर्णय दिया गया था और अब के बीच की कालावधि यद्यपि हमारे संविधान के इतिहास में एक बहुत ही छोटी अवधि है किन्तु समालोचकों के अनुसार इससे समय–समय पर दी गई चुनौतियों से संविधान का संशोधन करने की संसद की शक्ति की सीमाओं के बारे में संविधान को तय करने में सहायता मिली है । न्यायिक निर्णय के आधार पर अब यह घोषित विधि अच्छी तरह से सुस्थिर मानी जानी चाहिए कि हमारा संविधान एक नियन्त्रित संविधान है जो उसके द्वारा दृष्ट तथा उत्पन्न विभिन्न प्राधिकारियों पर शक्तियां प्रदान करता है । संविधान सर्वोच्च विधि है । वह देश की सर्वोपरि विधि है और न तो कोई ऐसा प्राधिकरण, न कोई ऐसा विभाग अथवा राज्य की शाखा है जो संविधान के ऊपर या उससे परे है अथवा जिसे ऐसी शक्तियां प्राप्त है जो कि संविधान द्वारा अनियन्त्रित तथा अनिर्बन्धित है । संसद भी संविधान की ही सृष्टि है और उसे केवल ऐसी शक्तियां प्राप्त हो सकती है जो कि उसे संविधान के अधीन दी गई है । निर्णयानुसार संशोधन की शक्ति उसे संविधान द्वारा ही प्रदत्त की गई है और यह एक सीमित शक्ति है । संसद इस शक्ति का प्रयोग करते हुए संविधान का इस प्रकार संशोधन नहीं कर सकती कि उसके आधारभूत ढांचे को परिवर्तित कर दे अथवा उसकी अनन्यता में परिवर्तन ला दे । न्यायालय के मतानुसार संसद की सीमित संशोधन–शक्ति अपने आप में संविधान का एक आवश्यक लक्षण है, यह उसके आधारभूत ढांचे का भाग है क्योंकि यदि संविधान की सीमित शक्ति में विस्तार करके उसे निस्सीम शक्ति बना दिया जाता है तो संविधान की समस्त प्रकृति परिवर्तित हो जाती है । पर यहां यह उल्लेखनीय है कि उच्चतम न्यायालय की उक्त विशेष पीठ में छ : न्यायाधिपतियों (चन्द्रचूड़ द्विवेदी, पालेकर, मैथ्यू, बेग एवं रे) ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि संशोधन की शक्ति पर किसी प्रकार की कोई सीमाएं विद्यमान नहीं है । यहां तक कि स्वयं न्यायाधिपति एच.आर. खन्ना का भी यह निष्कर्ष था कि "उन परिसीमाओं के अलावा जो 'संविधान' में अन्तर्निहित है, संशोधन करने की शक्ति पर कोई भी विवक्षित या अन्तर्निहित परिसीमाएं नहीं है ।" इस प्रकार बहुमत में भी केवल छ : न्यायाधिपतियों ने ही स्पष्ट रूप से इस अन्तर्निहित या विवक्षित परिसीमाओं के सिद्धान्त को स्वीकार किया । ऐसा प्रतीत होता है कि एक ओर न्यायाधिपति सीकरी और पांच अन्य न्यायाधिपतियों (शैलत, ग्रोवर, हेगड़े, रेड्डी और मुखर्जी) तथा दूसरी ओर न्यायाधिपति एच.आर. खन्ना (जिनको मिलाकर

कथित बहुमत बना) संसद की संशोधनात्मक शक्ति को सीमित करने की सुनिश्चित परिधि के बारे में पूर्णतया सहमत नहीं थे । हाल ही प्रकाशित ग्रन्थ 'इस्यूज इन कम्पेरेटिव पोलिटिकल थ्योरि'[16] में राजनीतिक दर्शन एवं सांविधानिक विधि–विषयक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर लेखक ने अपना यह शोध–निष्कर्ष स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है कि उक्त विनिश्चय में विद्वान न्यायाधिपतियों के बहुमत ने इसे 'नवीन' सिद्धान्त के नाम पर हमारी सांविधानिक विधि में अस्पष्टता, अनिश्चितता व संशय का एक अनावश्यक तत्व शामिल कर दिया है और इसकी पुनर्समीक्षा किये जाने की आवश्यकता है ।

किन्तु इस आवश्यक तथा दुःखद आशय की जांच करना अब कठिन प्रतीत होता है क्योंकि 'श्रीमति इंदिरा गांधी वाले मामले'[17] 'मिनर्वा मिल्स वाले मामले'[18] 'वामनराव वाले मामले'[19], आदि विविध वादों में भी उच्चतम न्यायालय द्वारा 'केशवानन्द भारती वाले मामले'[20] में अभिव्यक्त बहुमत के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया कि संशोधन की शक्ति पर अन्तर्निहित अथवा विवक्षित परिसीमाएं विद्यमान है तथा वे संसद को इस योग्य नहीं बनाती कि वह संविधान के बुनियादी ढांचे अथवा आधारभूत खाके को परिवर्तित कर सके।

## 8.7 याद टिप्पणियां

1. संविधान संशोधन की अवधारणा क्या है? स्पष्ट कीजिए।
2. ''भारतीय संविधान में विधायी तथा संविधायी शक्तियाँ'' विषय पर एक लेख लिखिए।
3. भारतीय संविधान में संशोधन–प्रक्रिया किस प्रकार वर्जित है? विवेचन कीजिए।
4. न्यायिक पुनरावलोकन का भारतीय संदर्भ क्या है? उसमें केशवानन्द भारती' प्रकरण का क्या महत्व है? समीक्षा कीजिए।

## 8.8 याद टिप्पणियां

1. (1967)2 **एस.सी.आर.** 762 = **ए.आई.आर.** 1967 एस.सी. 1643
2. उक्त
3. सर आइवर जैनिग्स : **दि ला एण्ड दि कांस्टिट्यूशन** (लन्दन, 1953), पृष्ठ 62–65
4. **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका,** खण्ड 6, कांस्टिट्यूशन एण्ड कांस्टिट्यूशनल ला, पृष्ठ 314
5. ए.वी. डायसी : **इण्टरोडक्शन टू दि स्टडी आफ दि ला आफ दि कांस्टिट्यूशन** (लन्दन, 10वां संस्करण, 1964) पृष्ठ 149–151
6. सी.ए.डी., खण्ड 7, पृष्ठ 43
7. (1952) **एस.सी.आर** 89 = **ए.आई.आर**. 1951 एस.सी. 458
8. (1965) **एस.सी.आर.** 933 = **ए.आई.आर.** 1965 एस.सी. 845
9. पूर्वोक्त
10. (1973) सप्ली. **एस.सी.आर** 1 = **ए.आई.आर.** 1973 एस.सी. 1643
11. उक्त
12. पूर्वोक्त

13. (1976)(2) **एस.सी.आर.** 347 = **ए.आई.आर.** 1975 एस.सी. 2299
14. (1980)3 **एस.सी.आर.** 625 = **ए.आई.आर.** 1980 एस.सी. 1789
15. (1980)3 **एस.सी.आर** 587 = **ए.आई.आर.** 1981 एस.सी. 271
16. एस.एन. जैन. इस्यूज इन कम्पेरेटिव पोलिटिकल थ्यौरि (प्रिन्टवैल, 1989)
17. पूर्वोक्त
18. पूर्वोक्त
19. पूर्वोक्त
20. पूर्वोक्त

## 8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची


1. Abraham, C. : The Judicial process, Oxford University Press, Fairlawn, New Jersey, 1964
2. Austin, Granville : The Indian Constitution Cornerstone of a Nation, Clarendon Press, Oxford U.K., 1966 (First Indian Edition, 1972).
3. Basu, D.D. : Shorter Constitution of India, Prentice Hall of India Ltd., New Delhi, 8th Edition, 1981
4. Bryce, James : Modern Democracies, Mcmillion & Co.,London, 1924
5. Deshpande, V.S. : Judicial Review of Legislations, Eastern Law Book Co, Lucknow, 1975
6. Dhawan Rajiv : The Supreme Court of India and Parliamentary Sovereignty, Sterling Pub. Pvt. Ltd., New Delhi,1976
7. Dicey, A.V : Law of the Constitution, Edited by E.C.S Wade. McMillan & Co., London, (Paperback Edition, 1961).
8. Finer, Herman : The Theory and Practice of Modern Government, Methues & Co., London 1961 (First India Edition, 1977).
9. Grossman Joel, B.& Joseph Tanenhaus : Frontiers of Judicial Research, New York, 1969.
10. Gupta, S.P. : Supreme Court on Amendment of

Fundamental Rights in Indian Constitution, Law Publishing House, Allahabad, 1973.

11. Hari Chand : The Amending Process in the Indian Constitution, Metropolitan Book Co., Delhi, 1972.

12. Jain, S.N. : Bhartiya Samvidhanik Vidhi, Panchshil Prakashan, Jaipur, 1987.

13. Jennings, Ivor : The Law and the Constitution, London University Press, 5th Ed. 1953

14. Khanna, H.R. : Judicial Review or Confrontation, McMillian, New Delhi,1977.

15. Markandan, K.C. : Amending Process and Constitutional Amendments in the Indian Constitution, Sterling Publishers, Delhi, 1972.

16. Palkhiwala, N.A. : Our Constitution–Defaced and Defiled, 1974.

17. Pylee, M.V. : Constitutional Government in India, Asia Publishing House, Bombay (Reprint 1972).

18. Ray, S.N. : Judicial Review and Fundamental Rights, Eastern Law House, Calcutta,1974.

19. Seervai, H.M. :

Constitutional Law of India (Two Volumes), Bombay, 3rd Edition 1983–84.

20. Singhvi, L.M. : Parliament and Constitutional Amendment, I.C.P.S., National Publishing House Delhi 1971.

# इकाई – 9
# संविधान संशोधन - II

**इकाई संरचना**

9.1 परिचय
9.2 संविधान संशोधन की आवश्यकता
9.3 भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
9.4 संशोधन–प्रक्रिया की विशेषताएं
9.5 संशोधन–शक्ति पर सीमाएं
9.6 संशोधन–प्रक्रिया के दोष एवं कमियां
9.7 भारतीय संविधान में किये गए संशोधन
9.8 निष्कर्ष
9.9 अभ्यास कार्य
9.10 संदर्भ ग्रंथ

## 9.1 परिचय

संविधान देश की आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होता है, इसीलिए समयानुसार बदलती हुई परिस्थितियों में ढलने की उसमें क्षमता आवश्यक है । जिस राष्ट्र के संविधान में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन होते रहते है उसी को सांविधानिक संशोधन कहा जाता है । सांविधानिक संशोधन बदलते हुए राष्ट्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक है । यदि संविधान बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल नहीं हो पाता तो वह टूट जाता है और उसकी पवित्रता समाप्त हो जाती है । पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी कहा है, "संविधान का परिवर्तनशील होना भी आवश्यक है, यद्यपि उसमें स्थायित्व होना चाहिए, क्योंकि यदि संविधान को अत्यधिक कठोर और स्थायी बना दिया जाए तो, राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता । संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि संशोधन की व्याख्या संविधान के कुछ भागों के लिए कठोर होती है पर कुछ भागों के सम्बन्ध में नम्य भी है । संविधान संशोधन एक जीवित और परिवर्तनशील प्रलेख है । देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार संविधानों में परिवर्तन परम आवश्यक हो जाता है । संविधान स्थायी नहीं होते, यदि ऐसा मान लिया जाए तो संविधानों की तुलना धर्मशास्त्र से की जाने लगेगी । लॉर्ड मैकाले के अनुसार "यदि किसी आदर्श संविधान में संशोधन प्रक्रिया का अभाव है तो वह संविधान जड़ बन जायेगा, उस राष्ट्र की जनता आगे बढ़ती जायेगी, किन्तु संविधान पिछड़ जायेगा । यदि संविधान में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सका तो क्रान्ति ही प्रगति का अन्तिम उपाय होगी । "

## 9.2 संविधान संशोधन की आवश्यकता

सांविधानिक संशोधन हमारे लिए क्यों आवश्यक है? भारतीय संविधान के निर्माताओं के मन में यह बात थी कि वे सभी समय तथा परिस्थितियों के लिए स्थायी संविधान का निर्माण

नहीं कर सकते । उस समय पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "संविधान का परिवर्तनशील होना भी आवश्यक है, यद्यपि उसमें स्थायित्व होना चाहिए, क्योंकि यदि संविधान को अत्यधिक कठोर एवं स्थायी बना दिया जाए, तो राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता । सांविधानिक संशोधनों की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से है –

**1. राजनीतिक एवं सामाजिक विकास के लिए :**

संविधान में संशोधन इसलिए आवश्यक है कि राष्ट्र का हमेशा सामाजिक तथा राजनीतिक विकास होता रहता है । बदलती हुई परिस्थितियां सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन को भी प्रभावित करती है । यदि संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का प्रावधान न रहे तो सामाजिक तथा राजनीतिक विकास रूक जाता है ।

**2. राष्ट्र के जीवित रहने के लिए :**

विल्सन ने कहा है, "राष्ट्रीय जीवन में परिवर्तन के साथ–साथ संविधान का विकास आवश्यक है।" पं. जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "यदि संविधान को अत्यधिक कठोर एवं स्थायी बना दिया जाये तो राष्ट्र का विकास ही अवरूद्ध हो जायेगा । "संविधान में संशोधन करके ही कोई भी राष्ट्र अपनी गतिशीलता बनाए रख सकता है ।

**3. आर्थिक विकास के लिए :**

आर्थिक तथा सामाजिक विकास के साथ–साथ आर्थिक अवस्था में परिवर्तन होता रहता है । अर्थ एक ऐसा तत्व है जो समाज तथा राष्ट्र के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करता है । इसी के लिए समाज में परिवर्तन की मांग की जाती है । अत : संविधान में संशोधन का ऐसा प्रावधान होना चाहिए कि बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों का मुकाबला आसानी से किया जा सके ।

**4. आंदोलन और क्रांतियों को रोकने के लिए :**

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियां बड़े पैमाने पर राष्ट्रों को प्रभावित कर रही है । बदलते हुए युग के अनुसार यदि व्यवस्था को नहीं बदला जाए तो आंदोलनों और क्रांतियों को रोका नहीं जा सकता। अतएव, संविधान में ऐसा प्रावधान होना चाहिए कि जब कभी राष्ट्र टूटने की स्थिति में पहुंच जाए तब संशोधनों के माध्यम से टूटते हुए राष्ट्र को बचाया जा सकता है ।

**5. मौलिकता के लिए आवश्यक :**

संविधान में संशोधन इसलिए आवश्यक है कि इसमें संविधान की मौलिकता बनी रहती है । फाइनर ने कहा है "संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख संविधान का मौलिक उपलब्ध है।" उन्होंने सांविधानिक संशोधनों को अपने–आप में, संविधान स्वीकार किया है । यदि संविधान में संशोधन न हो तो आने वाली पीढ़ी संविधान को फेंक देती है और उसके स्थान पर नये संविधान का निर्माण करती है ।

**6. राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु :**

बदलते हुए समय के साथ–साथ राष्ट्रीय आवश्यकताएं भी बदलती रहती है । जब कभी किसी देश के संविधान का निर्माण होता है तब उस पर तत्कालीन राष्ट्रीय आवश्यकताओं

का ही विशेष प्रभाव रहता है । संविधान में संशोधन का प्रावधान होने से भावी और वर्तमान राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है ।

**7. जनता की आस्था बनाए रखने के लिए :**

संविधान में संशोधन होते रहने से संविधान के प्रति जनता की आस्था यथावत् बनी रहती है । लोगों की आस्था बने रहने से देश में शांति और सद्भावना बनी रहती है और इससे देश का सर्वांगीण विकास होता है ।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि हर देश के लिए सांविधानिक संशोधन की आवश्यकता होती है । इसके बिना देश प्रगति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संघीय व्यवस्था अपनाए जाने के बावजूद संविधान में संशोधन होने की संकल्पना की थी । गार्नर ने भी कहा है "कोई भी लिखित संविधान संशोधन की विधि के उपबंधों के अभाव में पूर्ण नहीं है । एर्ध्यिन के अनुसार "प्रत्येक जटिल तथा लिखित संविधान में 'संशोधन तथा परिवर्द्धन की प्रक्रिया का उल्लेख अवश्य रहना चाहिए अन्यथा उसे अतार्किक तथा बुद्धिहीन कहा जायेगा।"

## 9.3 भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया

ब्राइस और डायसी ने संविधानों का वर्गीकरण किया है । वे उन संविधानों को लचीला मानते है जिनको संसद साधारण कानूनों की भांति साधारण बहुमत से बदल सकती है । उनके अनुसार वे संविधान कठोर जिनके बदलने के लिए एक विशेष प्रक्रिया होती है । भारत के संविधान इंग्लैण्ड के संविधान की तरह न तो लचीला है और न ही सं. रा. अमेरिका के संविधान की तरह कठोर है ।

भारतीय संविधान के निर्माता चाहते थे कि संविधान इतना कठोर न हो कि उसमें बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन न किया जा सके और न ही इतना लचीला हो कि उसमें सत्तारूढ़ दल बार–बार परिवर्तन कर ले । अत : उन्होंने बीच का मार्ग चुना और संशोधन की सरल एवं कठोर प्रक्रियाओं को अपनाया इसीलिए भारतीय संविधान नम्यता एवं अनम्यता का शानदार सम्मिश्रण है । भारत में संविधान संशोधन के लिये तीन प्रणालियों को अपनाया गया है । संविधान के भाग 20 के अनुच्छेद 368 में इस प्रक्रिया को वर्णित किया है–

**भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया**

| साधारण बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया | संसद के विशेष बहुमत द्वारा संशोधन प्रक्रिया | संसद के विशेष बहुमत एवं राज्य विधानमण्डलों की स्वीकृति से संशोधन की प्रक्रिया |
|---|---|---|

**(अ) साधारण बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया :**

भारतीय संविधान में यह प्रक्रिया सबसे सरल है और सैद्धांतिक दृष्टि से ब्रिटिश संविधान प्रक्रिया से मिलती है । इसमें संसद स्वप्रेरणा या राज्य विधानमण्डलों तथा अन्य अभिकरणों के निवेदन पर अपने साधारण बहुमत द्वारा संविधान के कुछ अनुच्छेदों में संशोधन कर सकती है इस प्रकार के संशोधन – विधेयक को पारित करने के लिए दोनों सदनों के साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है और अंत में संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति

हस्ताक्षर करता है । संविधान के निम्नलिखित विषयों से संबद्ध अनुच्छेदों में इसी नम्य प्रक्रिया से संशोधन किए जाते है ।

1. भारत संघ की विभिन्न इकाईयों के आकार, क्षेत्रफल एवं नाम में परिवर्तन,
2. राज्यों में विधानपरिषद् बनाना या समाप्त करना,
3. संसद के सदस्यों के विशेषाधिकार तथा उनके वेतन–भत्ते,
4. उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का वेतन,
5. भारतीय नागरिकता से संबद्ध प्रश्न,
6. चुनावों के संबंध में व्यवस्था,
7. केन्द्रशासित क्षेत्रों की प्रबन्ध सम्बन्धी व्यवस्था,
8. अनुसूचित जातियों एवं वर्गो का संरक्षण,
9. नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्य तथा वेतन ।

**(ब) संसद के विशेष बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया :**

संविधान संशोधन की यह प्रक्रिया पहली प्रक्रिया से कठिन मानी जाती है । संविधान में कुछ उपबन्ध ऐसे है जिनमें संशोधन करने के लिए संसद के दोनों सदनों के विशेष बहुमत की आवश्यकता होती है । संशोधन संबंधी विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है । अगर वह विधेयक उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो दूसरे सदन में भेज दिया जाता है । यदि दूसरा सदन भी उसी प्रक्रिया तथा उसी बहुमत से संशोधन– विधेयक पारित कर देता है, तो उसे सदन के दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है और इसके पश्चात् राष्ट्रपति की स्वीकृति पाकर संविधान का अंग बन जाता है । संविधान के उपबंधों जैसे न्यापालिका तथा राज्यों के अधिकारों एवं शक्तियों को छोड़कर अन्य सभी व्यवस्थाओं का संशोधन इसी प्रक्रिया द्वारा होता है ।

**(स) संसद के विशेष बहुमत एवं राज्य–विधानमण्डलों की स्वीकृति से संशोधन की प्रक्रिया :**

भारतीय संविधान की यह संशोधन प्रक्रिया अमेरिकी संविधान संशोधन प्रक्रिया से मिलती–जुलती है । ऐसे संशोधन–विधेयक को संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है । यदि वह संशोधन विधेयक उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पारित हो जाय तो उसे दूसरे सदन थे भेज दिया जाता है । दूसरा सदन भी उसे पारित कर देता है तो उसे विभिन्न राज्यों के विधानमण्डलों में भेजा जायेगा । अगर कुल राज्यों के आधे विधानमण्डलों की स्वीकृति भी उसे मिल जाती है तो उसे अंतिम रूप से राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है । राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद वह संविधान का अंग बन जाता है । संविधान में निम्न विषयों से संबंधित संशोधन इस प्रक्रिया द्वारा होते है –

1. राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबद्ध अनुच्छेद
2. संघीय कार्यपालिका की शक्ति से संबंधित अनुच्छेद
3. विभिन्न राज्यों की कार्यपालिका से संबद्ध अनुच्छेद

4. केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय
5. संघ की न्यायपालिका
6. संघ तथा राज्यों में विधायी संबंध
7. संविधान में संशोधन प्रक्रिया
8. संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व।

## 9.4 संशोधन–प्रक्रिया की विशेषताएं

भारतीय संविधान संशोधन की शक्ति प्रदान करने वाले अनुच्छेद 368 में स्पष्ट है कि संविधान में उलट फेर करने का अधिकार संसद में है, और संशोधन के लिए अलग से कोई संस्था गठित करने की आवश्यकता नहीं है । राज्यों के विधानमण्डल संशोधन प्रक्रिया को प्रस्तुत नहीं कर सकते । संशोधन का प्रस्ताव संसद के किसी भी । सदन में रखा जा सकता है । संशोधन प्रस्ताव में जनता तथा राष्ट्रपति पूर्व स्वीकृति अनिवार्य नहीं है । संविधान के प्रत्येक भाग में संशोधन किया जा सकता है ।

डॉ. सुभाष कश्यप का मत है कि "इस प्रकार आवश्यकता पड़ने पर संविधान में संशोधन होते रहेंगे क्योंकि हमारा संविधान कोई निर्जीव प्रलेखमात्र नहीं है – किसी भी जीवित संविधान के लिए यह जरूरी है कि वह समय के साथ कदम मिलाकर चले संशोधन प्रक्रिया की कुछ विशेषताएं इस प्रकार है –

1. संशोधन कार्य के लिए पृथक निकाय की व्यवस्था भारतीय संविधान में नहीं की गई है। यह शक्ति संघीय संसद को सौंपी गई है ।
2. राज्य–विधानमंडलों को संशोधन–विधेयक प्रारम्भ करने की शक्ति नहीं सौंपी गई है ।
3. संविधान के अनुच्छेद 368 के अलावा कुछ अलग, संशोधन–विधेयक साधारण विधेयक की तरह ही पारित किया जाता है तथा आस्ट्रेलिया और अमेरिका की तरह जन निर्देश की व्यवस्था हमारे संविधान में नहीं है ।
4. संशोधन–विधेयक संसद में पेश करने के लिए राष्ट्रपति एवं जनता की स्वीकृति आवश्यक नहीं है ।
5. संविधान संशोधन के लिए राज्यों के कम से कम आधे राज्यों की स्वीकृति आवश्यक है।
6. संविधान के समस्त उपबंधों सहित अनुच्छेद 368 को भी संशोधित किया जा सकता है।
7. राज्य विधानमण्डलों को संशोधन विधेयक प्रारम्भ करने की शक्ति नहीं दी गई है ।

## 9.5 संशोधन–शक्ति पर सीमाएं

क्या संशोधन शक्ति पर कुछ सीमाएं है? यह एक विचारणीय प्रश्न है । इसका उत्तर हम निम्न तथ्यों के आधार पर दे सकते है –

1. भारत एक संघात्मक राज्य है, जहां संसद में सर्वोच्च शक्ति निहित है । अत : संघात्मक संविधान में संशोधन पर कोई बाहरी नियंत्रण नहीं रखना चाहिए । इसी से भारतीय संविधान की संशोधन–प्रक्रिया पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

2. प्राय: विश्व के हर संविधान में यह प्रावधान होना चाहिए कि वह नि :संकोच बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल संविधान में संशोधन कर सके । इस दृष्टि से भी हमारा संविधान स्वतंत्र है और इस पर कोई सीमा नहीं है।

यदि हम विश्व के संविधानों का विश्लेषण करें तो हमारे उपर्युक्त प्रश्न का समाधान और भी सरल ढंग से हो सकता है । विश्व में कुछ ऐसे संविधान है जहां संशोधन प्राधिकारी की शक्ति सीमित है । वहां संविधान के मौलिक उपबन्धों में संशोधन नहीं लाया जा सकता है । उदाहरण के लिए हम इटली, फ्रांस और अमेरिका को ले सकते है । इटली के संविधान में यह लिखा है कि उनके गणतंत्रीय स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । अमेरिका संविधान में यह प्रतिबंध लगाया गया है कि सीनेट में विभिन्न राज्यों के समान प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में बिना राज्यों की स्वीकृति लिए किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जा सकेगा । विश्व के कुछ ऐसे संविधान है जिनकी संशोधन शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । मैक्सिको, जापान, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैड इत्यादि देशों के संविधान को भारतीय संविधान की तरह संशोधित किया जा सकता है । भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत भी किसी प्रकार के बन्धन का उल्लेख नहीं किया गया है ।

## 9.6 संशोधन–प्रक्रिया के दोष एवं कमियां

भारतीय संविधान संशोधन प्रक्रिया में निम्न दोष एवं कमियां है –

**1. किसी विशिष्ट सभा के प्रबंध का अभाव :**

संशोधन कार्य के लिए विभिन्न देशों की तरह भारत में किसी सभा के प्रबन्ध का अभाव है। संशोधन–सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्य संपादित करने की जिम्मेदारी भारतीय संसद तथा विधानमंडलों को दी गई है जो कई दृष्टियों से न्यायसंगत नहीं है ।

**2. दोनों सदनों के मतभेद में संविधान में:**

संविधान में यह स्पष्ट नहीं है कि किसी संशोधन विधेयक के संबंध में संसद के दोनों सदनों के मतभेद होने पर कैसे दूर किया जायेगा फिर भी स्थापित रीतियों के अनुसार, इस संबंध में मतभेद होने पर साधारण विधेयक की तरह ही संसद के दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन गतिरोध दूर कर सकता है।

**3. राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत होने का भय :**

भारतीय संविधान यह भी नहीं बताता कि राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत होने पर संशोधन विधेयक का भाग्य क्या होगा । दुर्गादास बसु का कहना है कि आयरलैण्ड के राष्ट्रपति की तरह भारत का राष्ट्रपति भी अनुच्छेद 368 के उल्लंघन पर संशोधन – विधेयक पर अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता लेकिन, संविधान के 24वें संशोधन–अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कोई संविधान संशोधन विधेयक राष्ट्रपति के सामने रखा जायेगा तब राष्ट्रपति उस पर अपनी स्वीकृति देने से मना नहीं करेगा।

**4. राज्य–विधानमण्डल द्वारा अनुसमर्थन की निर्धारित अवधि नही :**

भारतीय संविधान के कुछ संशोधन–विधेयकों को राज्य के विधानमण्डलों द्वारा अनुसमर्थित होना आवश्यक है लेकिन संविधान यह निर्धारित नहीं करता कि कितने समय के अंतर्गत राज्य विधानमण्डलों को संशोधन–विधेयक अनुसमर्थित करना है । राज्य विधानमण्डल विलंब की नीति अपनाकर विधेयक को हमेशा के लिए समाप्त कर सकते है ।

**5. राज्य विधानमण्डल संशोधन–प्रस्ताव पेश नहीं कर सकते :**

राज्य विधानमण्डलों को सांविधानिक संशोधन के प्रस्ताव के प्रारंभण का अधिकार प्राप्त नहीं है । संविधान का संशोधन प्रारम्भ करने का आधिकार केवल संसद को सौंपा गया है । केवल अनुच्छेद 169 के अन्तर्गत विधानसभा अपने राज में विधान परिषद् के निर्माण या समाप्ति का प्रस्ताव ला सकनी है ।

**6. कठिन प्रक्रिया :**

भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया कठिन मानी गई है । दो तिहाई बहुमत का बंधन इसे अमेरिका की तरह जटिल कर देना है । इसलिए यह भय है कि बहुदलीय प्रथा के विकास के चलते संसद में दो तिहाई बहुमत प्राप्त करना आसान नहीं होगा । भारतीय संविधान का 45वां संशोधन–विधेयक लोकसभा में पारित होकर राज्य सभा में दो–तिहाई बहुमत नहीं प्राप्त कर सका, क्योंकि जनता पार्टी की अपेक्षा वहां कांग्रेस की स्थिति सुदृढ़ थी । डॉ. जेनिग्स ने भा यही कहा है कि भारतीय संविधान कठोर है । कुछ आलोचकों ने यह भी कहा है कि भारतीय संसद ने सविधान में संशोधन लाने के अपने इस अधिकार का जिस ढंग से प्रयोग किया है, उससे संविधान की पवित्रता नष्ट हो गई है ।

## 9.7 भारतीय संविधान में किये गए संशोधन

सन 1950 में अब तक संविधान के महत्वपूर्ण संशोधन इस प्रकार है। पहला संशोधन (1951) में संविधान का पहला संशोधन किया था। इस संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 15, 19, 85,87, 174, 176, 314. 342, 372 और 376 में संशोधन किये गये तथा. दो नये अनुच्छेद 31–क तथा 31–ख और 9वीं अनुसूची को संविधान में जोड़ा गया। इस संशोधन अधिनियम द्वारा किये गये प्रावधानों में मुख्य प्रावधान निम्न प्रकार है –

1. अनुच्छेद 31–क को जोड़कर जमींदारी उन्मूलन को वैधानिकता प्रदान किया तथा अनुच्छेद 31–ख जोड़कर यह प्रावधान किया गया कि सविधान की नौवीं सूची में शामिल किये गये अधिनियमों की वैधानिकता को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।
2. अनुच्छेद 19(2) में संशोधन करके लोक व्यवस्था, विदेशी राज्यों में मैत्री सम्बन्ध तथा अपराध के उद्दीपन के आधार पर वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर रोक लगायी गयी।
3. अनुच्छेद 15(4) को जोड़कर सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े लोगों के सम्बन्ध में विशेष कानून निर्माण हेतु राज्य को अधिकार दिया गया।

**द्वितीय संशोधन 1952 –** इस संशोधन का उद्देश्य लोकसभा के प्रतिनिधित्व के अनुपात को ठीक करना था। इसके द्वारा संविधान की धारा 84, उपधारा 1(ब) में संशोधन किया गया और हर साढ़े सात लाख की जनसंख्या पर कम से कम एक प्रतिनिधि निर्वाचित होने के उपबंध की समाप्ति कर दी गई।

**तीसरा संशोधन –** (1954) मैं भारतीय संविधान का तीसरा संशोधन हुआ इसके द्वारा केन्द्रीय सरकार की नियंत्रण शक्ति में वृद्धि हुई। इसके द्वारा समवर्ती सूची में वर्णित 33 मद के अर्थ के अधिक स्पष्ट किया गया इसके द्वारा खाद्य–पदार्थ, पशु का चारा, कच्ची रूई और कच्चे पटसन के सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार केन्द्र को सौंपा गया । इस संशोधन के द्वारा समवर्ती सूची में व्यापार तथा वाणिज्य वस्तुओं की आपूर्ति तथा विवरण शामिल कर दिया गया ।

**चौथा संशोधन –** (1955) में किया गया। जमींदारी प्रथा कें उन्मूलन में भारत सरकार को विभिन्न कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा था। अत : अनुच्छेद 31, 31 (ए) तथ! 305 को संशोधित किया गया और नवीं अनुसूची में कुछ अधिनियम जोड़े गए ।

अनुच्छेद 31 में यह है कि कोई भी सम्पत्ति अनिवार्य रूप से राज्य के द्वारा अर्जित नहीं की जायेगी और न ही अधिग्रहण की जायेगी जब तक वह सार्वजनिक उद्देश्य के लिए न हो और राज्य प्रतिकर न देता हो । इस प्रकार किसी कानून को इस आधार पर न्यायालय में नहीं लाया जा सकता कि उस कानून के द्वारा मुआवजा अत्यधिक नहीं है ।

**पांचवां संशोधन** 1955 में पारित किया गया । इसी से अनुच्छेद 3 में संशोधन किया गया और यह व्यवस्था की गई कि यदि किसी विधेयक में राज्य के नाम, सीमा एवं क्षेत्र से संबंधित प्रश्न निहित हो तो राष्ट्रपति विचार विमर्श के लिए राज्य विधानमण्डलों के पास आदेश भेज सकता है, तथा उस सम्बन्ध में एक अवधि कर सकता है । राज्य विधानमण्डलों द्वारा विलंब हो जाने की सम्भावना को दूर करने के लिए ही संविधान में यह संशोधन किया गया ।

**छठा संशोधन** – भारतीय संविधान में छठा संशोधन 1956 में हुआ। इसके द्वारा संघ सरकार के समाचार पत्रों को छोडकर अंतर्राज्य क्रय–विक्रय गर कर निर्धारित करने की शक्ति सौंपी गई । इसके लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 269 तथा 286 को भी संशोधित किया गया ।

**सातवां संशोधन** – संविधान का सातवां संशोधन 1956 में हुआ । यह संशोधन इसलिए हुआ कि इसके द्वारा राज्य–पुनर्गठन–संबंधी अनेक परिवर्तन लाए गए । इस संशोधन द्वारा राज्यों का वर्गीकरण उठा दिया गया और एक ही स्तर के 14 राज्य एवं 6 केन्द्रशासित क्षेत्र रखे गए । राजप्रमुख का पद उठा दिया गया । आन्ध्रप्रदेश तथा असम में क्षेत्रीय समिति स्थापित करने का उपबंध किया गया। इसमें कुछ और भी संशोधन किए गए ।

**आठवां संशोधन** 1960 में हुआ । इस संशोधन द्वारा प्रावधान –किया गया कि अनुच्छेद 884 मैं संशोधन करके अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण को बढ़ाकर । 960 से 1970 तक कर दिया गया ।

**नौवां संशोधन अधिनियम** –1960 में पारित हुआ। इस संशोधन द्वारा भारत द्वारा पाकिस्तान के मध्य भूमि हस्तान्तरण के लिए किये गये समझौते को कार्यान्वित करने के लिए, भारत के भू–भाग को हस्तान्तरित 'करने का अधिकार दिया गया।

**दसवां संशोधन** – यह संशोधन 1961 में किया गया। इसके द्वारा दादर तथा नागर हवेली नामक दोनों बस्तियों को भारत संघ में संघ राज्य के क्षेत्र के रूप में शामिल किया गया।

**ग्यारहवां संशोधन** – 1961 में किया गया। इसमें प्रावधान किया गया कि -

1. राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि निर्वाचन मण्डल अपूर्ण है ।
2. उपराष्ट्रपति के चुनाव के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाना आवश्यक नहीं है ।

**बारहवां संशोधन** – यह संशोधन अधिनियम 1962 में पारित किया गया इसके द्वारा गोवा, दमन, और दयू को भारत का अंग घोषित किया गया । उन प्रदेशों को वैध रूप से भारत में मिलाने के लिए अनुच्छेद 240 तथा प्रथम अनुसूची का संशोधन किया गया ।

**तेरहवां संशोधन अधिनियम –** 1962 को पारित हुआ। इसमें नागालैण्ड को राज्य की श्रेणी में रखकर संविधान की प्रथम अनुसूची मे शामिल किया गया तथा संविधान में विशेष प्रावधान किया गया।

**चौदहवां संशोधन अधिनियम 1962 –** इसके द्वारा पाण्डिचेरी को भारत का अंग तथा संघ राज्य क्षेत्र में विधानसभा तथा मंत्रिपरिषद् की स्थापना का अधिकार दिया गया और अनुच्छेद 239क जोड़कर पाण्डिचेरी के लिए विधानसभा तथा मंत्रिमण्डल के गठन हेतु प्रावधान किया गया।

**पन्द्रहवां संशोधन अधिनियम (1963) –** इस संशोधन द्वारा उच्च न्यायालयों की अधिकारिता में वृद्धि की गई तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति आयु को 60 से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दिया गया ।

**सोलहवां संशोधन अधिनियम 1963 –** इसके द्वारा निम्न प्रावधान किये गये है –

1. राज्य की सम्प्रभुता तथा अखण्डता की रक्षा हेतु राज्य मूलाधिकारों पर युक्तियुक्त निबन्धन लगा सकते है।
2. किसी भी राज्य के भारत संघ से पृथक होने नवा संघ को भंग करने के प्रयास को अवैध घोषित कर दिया गया तथा
3. संसद तथा राज्य विधानमण्डल के सदस्यों को भारत की अखण्डता बनाए रखने के तथा संप्रभुता की रक्षा की शपथ ग्रहण करनी होगी।

**सत्रहवां संशोधन अधिनियम (1964)** – इसमें भूमि सुधार की बाधाओं को दूर किया गया । संविधान की नवीं सूची में कुछ और विधियां जोड़ी गईं ।

**अठारहवां संशोधन (1966)** – इसके द्वारा अनुच्छेद 3 –क के जोड़कर यह प्रावधान किया गया कि संसद किसी' राज्य का या संघ राज्य क्षेत्र के एक भाग का गठन कर सकती है तथा पंजाब को पुनर्गठित करके पंजाब एवं हरियाणा राज्य तथा हिमाचल संघ राज्य क्षेत्र की स्थापना की गयी।

**उन्नीसवां संशोधन** – 11 दिसम्बर 1966 को चुनावों से संबंधित मामलों से निपटने के लिए यह संशोधन किया गया। इसके द्वारा अनुच्छेद 324 में संशोधन करके निर्वाचन – न्यायाधिकरणों को समाप्त कर दिया गया और निर्वाचन संबंधी विवादों को सीधे उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में शामिल किया गया।

**बीसवां संशोधन** – 1966 में पारित किया गया। इस संशोधन अधिनियम में उत्तरप्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यों में कुछ जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, स्थानांतरण, पदोन्नति इत्यादि वैधता प्रदान की गई जिनको सर्वोच्च न्यायालय ने अवैध घोषित कर दिया था।

**इक्कीसवां संशोधन** – 10 अप्रैल 1967 को यह संशोधन पारित किया गया। इसके द्वारा संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल राष्ट्रीय भाषाओं में सिंधी को भी ले लिया गया:। अब सिंधी को लेकर भारतीय भाषाओं की संख्या 15 हो गई।

**बाईसवां संशोधन (1969)** – इसके द्वारा मेघालय राज्य की स्थापना की गई तथा अनुच्छेद 244क, 371ख तथा 275(ख) जोड़ा गया।

**तेईसवां संशोधन (1970)** – इसके द्वारा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए लोकसभा तथा विधानसभाओं में आरक्षण की अवधि को और दस वर्ष तक बढ़ाया गया।

**चौबीसवां संशोधन** – 1971 में किया गया। इसमें अनुच्छेद 13 में खण्ड (4) को जोड़कर तथा अनुच्छेद 368 को संशोधन करके संसद को संविधान संशोधन का असीमित अधिकार दिया गया।

**पच्चीसवां संशोधन** – यह संशोधन भी 1971 में ही पारित किया गया इसके द्वारा वह व्यवस्था की गई है कि सार्वजनिक उद्देश्य के लिए सम्पत्ति के अधिग्रहण में संविधान के अन्य अनुच्छेद बाधक न बन सके। इसके द्वारा ऐसी व्यवस्था की गई कि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को कोई बाधा न पहुंचे।

**छब्बीसवां संशोधन** विधेयक भी 1971 में ही पारित हुआ। इस संशोधन द्वारा भूतपूर्व देशी रियासतों के नरेशों के विशेषाधिकारों तथा प्रिवीपर्स की समाप्ति कर दी गई।

**सत्ताईसवां संशोधन** – दिसम्बर 1971 में पारित किया गया। इसके द्वारा भारत के पूर्वी राज्यों का पुनर्गठन करके तीन नये राज्यों – मेघालय, मणिपुर तथा त्रिपुरा और दो संघ राज्य क्षेत्रों – मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश का गठन किया गया तथा मणिपुर राज्य के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान किया गया।

**अठाइसवां संशोधन 1972** – इसमें आई.सी.एस. अधिकारियों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया गया तथा इसमें यह व्यवस्था भी की गई कि राष्ट्रपति सम्पूर्ण देश में आपातकालीन घोषणा न करते हुए देश के किसी एक भाग में कर सकता है।

**उन्नतीसवा संशोधन (1972)** – संविधान की नवीं अनुसूची का संशोधन करके उसमें भूमि सुधार के केरल के दो अधिनियम शामिल किए गए।

**तीसवां संशोधन (1972)** – इस संशोधन अधिनियम के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के दीवानी क्षेत्राधिकार को विस्तृत किया गया। इसके द्वारा 20,000 से कम संपत्ति के मामले भी सर्वोच्च न्यायालय में सुने जा सकते है, बशर्ते उच्च न्यायालय यह प्रमाण दे दे कि उसमें सामान्य हित संबंधी कानून का प्रश्न निहित है और मामला सर्वोच्च न्यायालय द्वारा फैसले के लायक है।

**इक्कतीसवां संशोधन (1971)** – इस संशोधन अधिनियम द्वारा लोकसभा की सदस्य संख्या 545 निर्धारित कर दी गई। इसमें 525 सदस्य विभिन्न राज्यों तथा 20 सदस्य संघशासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करेंगे।

**बत्तीसवां संशोधन (1974)** – इसके द्वारा अनुच्छेद 371–घ तथा !371–ड जोड़कर आंध्रप्रदेश के संबंध में विशेष प्रावधान किया गया।

**तैंतीसवां संशोधन (1974)** – इसमें यह व्यवस्था की गई कि लोकसभा के अध्यक्ष या विधानसभा के अध्यक्ष और विधायकों द्वारा दिया गया त्यागपत्र स्वेच्छा से दिया गया है या जबर्दस्ती दिलाया गया। यह संशोधन गुजरात तथा बिहार छात्र आन्दोलन को ध्यान में रखकर किया गया।

**चौतीसवां संशोधन (1974)** – इस अधिनियम द्वारा विभिन्न राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा पारित 17 भूमिसुधार कानूनों को संविधान की नवीं अनुसूची में रखकर ऐसा प्रबन्ध किया गया कि न्यायालय में उन्हें चुनौती न दी जा सके।

**पैंतीसवां संशोधन (1974)** – इसमें सिक्किम को भारतीय संघ भी सहयोगी राज्य का दर्जा देकर भारतीय संसद में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

**छत्तीसवां संशोधन (1975)** – इस संशोधन विधेयक में अरुणाचल प्रदेश में संसदीय शासन की स्थापना की गई और वहां विधानसभा तथा मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई।

**सैंतीसवां संशोधन** – 1975 में यह व्यवस्था की गई कि सिक्किम भारत का 22वां राज्य होगा। वहां पर सामान्य ढंग से विधानमंडल, राज्यपाल, मंत्रिपरिषद् और उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई। वहां के राज्यपाल को कुछ विशेष अधिकार दिए गए।

**अडतीसवां संशोधन (1975)** – द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति राज्यपालों तथा उपराज्यपालों द्वारा घोषित आपात स्थिति, वाले अध्यादेशों की वैधानिकता की जांच न्यायालय नहीं कर सकते।

**उन्तालीसवां संशोधन (1975)** – इसमें यह प्रावधान रखा गया की राष्ट्रपति, लोक सभाध्यक्ष तथा प्रधानमंत्री के निर्वाचन को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

**चालीसवां संशोधन (1976)** – इस अधिनियम द्वारा राज्य क्षेत्रीय समूह के अथवा देश के भू–भाग– के अन्दर आने वाली खानों को संघ के अधिकार में करने का प्रावधान किया गया। इसमें भारत के आर्थिक क्षेत्र के सभी अन्य संसाधन संघ के अधिकार में होंगे। साथ ही नवम् अनुसूची में कुछ और अधिनियम जोड़े गए।

**इकतालीसवां संशोधन (1976)** – इस अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद 316 का संशोधन करके राज्य लोकसेवा आयोग और संयुक्त लोकसेवा आयोग के सदस्यों की सेवानिवृत्ति की आयु को 60 से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दिया गया।

**बयालीसवां संशोधन (1976)** – भारतीय संविधान में प्रारम्भ से लेकर 26 वर्षो, तक किए गए संशोधनों में बयालीसवां संशोधन सबसे अधिक व्यापक और विवादास्पद है। संविधान के किसी और संशोधन प्रस्ताव ने कभी इतना ध्यानाकर्षण नहीं किया, न ही कभी ऐसी कड़ी आलोचना ही हुई है। यह संशोधन–अधिनियम 44वें संशोधन– विधेयक के रूप में तत्कालीन मंत्री गोखले द्वारा 1 सितम्बर 1976 को लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। सात दिनों के विचार–विमर्श के बाद 2 नवम्बर 1976 को लोकसभा ने 4 के विरूद्ध 267 मतों से इस विधेयक को पास कर दिया। राज्यसभा ने भी अपने दो–तिहाई बहुमत से इसे पास कर दिया। इसके बाद दो तिहाई से

भी अधिक विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं द्वारा अनुसमर्थित होकर 18 दिसम्बर 1976 को यह संशोधन विधेयक राष्ट्रपति का अनुमोदन प्राप्त कर संविधान का अंग बन गया ।इस संशोधन में भारतीय संविधान के उद्देश्य, प्रस्तावना, केन्द्रीय सरकार, राज्य लोकसभा, संसद, न्यायपालिका तथा नागरिकों के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य को परिभाषित किया गया।

**42वां संशोधन क्यों लाया गया?**

इसके निम्न कारण थे –

1. **तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार संशोधन –** ऐसी मांग जिसे जनता के प्रतिनिधि चाहते थे, जनता नहीं । संकटकालीन परिस्थिति थी और देश के अन्तर्गत सरकार विरोधी आंदोलन चल रहे थे । लोकप्रिय नेताओं को जेल में बंद कर दिया था और नागरिक अधिकारों को समाप्त कर दिया गया था । वास्तव में तत्कालीन परिस्थितियां यही थी जिसमें संविधान के स्वरूप को बदल दिया गया।
2. **भारतीय संविधान एक सामाजिक दस्तावेज है –** भारतीय संविधान एक सामाजिक दस्तावेज है । यदि संविधान के द्वारा सामाजिक और आर्थिक प्रगति के मार्ग में रोड़ा पाया जाय तो संबद्ध सरकारें उसे बदल सकती है और यही हुआ भी।
3. **कार्यपालिका और न्यायपालिका में तनाव –** 1967 से 1971 तक संविधान को लेकर दोनों सदनों के बीच काफी बहस हुई । संसद व सर्वोच्च न्यायालय को लेकर भी काफी बहस हुई। उस समय कांग्रेस का कहना था कि संविधान के ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। अत: अनेक मुकदमों में फैसले कुछ न्यायाधीशों की उक्तियां जिससे सत्तारूढ़ दल को विश्वास हो गया कि स्थिति विस्फोटक है।
4. **मौलिक अधिकार तथा नीति–निर्देशक तत्वों के बीच मतभेद -** संविधान में संशोधन लाने का एक कारण मौलिक अधिकारों तथा नीति निर्देशक तत्वों के बीच उत्पन्न विवाद भी था । एक तरफ मौलिक अधिकारों को निर्देशक तत्वों की तुलना में प्राथमिकता दी गई तो दूसरी ओर निर्देशक तत्वों को संविधान की आत्मा कहा गया था । निर्देशक तत्वों को लागू करने की दृष्टि से अनेक बार बनाए गए कानूनों को न्यायपालिका ने इसलिए अवैध घोषित कर दिया था कि उसमें मौलिक अधिकारों का हनन होता था । इस प्रकार निर्देशक तत्व मौलिक अधिकारों की तुलना में फीके पड़ जाते थे ।
5. **बीस–सूत्री कार्यक्रम लागू करने के लिए –** श्रीमती इंदिरा गांधी मे न्यायपूर्ण आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था को साकार बनाने के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए थे । उनके बीस–सूत्री कार्यक्रम का महत्वपूर्ण स्थान था । बीस–सूत्री कार्यक्रम को लागू करने के लिए नए कानूनों की आवश्यकता पड़ी ।
6. **राजनीतिक कारण –** 1971 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी ने अपने घोषणा पत्र में संविधान के स्वरूप में परिवर्तन करने के लिए जनता से आदेश मांगा था । कांग्रेस के घोषणा–पत्र में कहा था "हम लोगों का प्रयास होगा कि सामाजिक न्याय के लिए इसमें सांविधानिक विकास और संशोधन किये जाएं जो रूकावट हटाने के लिए आवश्यक हों।"

7. **संकटकाल के पूर्व में फैली अराजक राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति –** गुजरात आन्दोलन के बाद बिहार में फैले जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में छात्र–आन्दोलन ने समस्त देश को अपनी चपेट में ले रखा था । सारा समाज अव्यवस्थित हो गया था । स्कूलों और कालेज की पढ़ाई बंद हो गई थी, चीजों की कीमतें बढ़ गई थी । जन–आन्दोलन उस समय और तेज हो गया जब इंदिरा गांधी का चुनाव रद्द घोषित कर दिया । विरोधी दल ने प्रधानमंत्री से इस्तीफे की मांग 'की श्रीमती गांधी ने अपनी गद्दी बचाने के लिए 1975 में राष्ट्रीय आपात की घोषणा की । सभी विरोधी नेताओं को जेल में बंद कर दिया गया । इन तमाम चीजों पर पर्दा डालने के लिए संविधान में संशोधन आवश्यक था ।

**स्वर्णसिंह समिति –**

42वें संशोधन–विधेयक के संबंध में विरोधी दलों का कहना था कि संविधान में विस्तृत संशोधन लाने के लिए संविधान सभा बुलाने की आवश्यकता है । लेकिन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री देवकान्त बरूआ ने सांविधानिक सभा बुलाना उचित नहीं समझा । उन्होंने संविधान–संशोधन के प्रश्न पर विचारार्थ सरदार स्वर्णसिंह की अध्यक्षता में 1976 में एक समिति नियुक्त की । कांग्रेस कार्यकारिणी ने अपने दिल्ली अधिवेशन में स्वर्णसिंह, समिति द्वारा प्रस्तुत संशोधनों की सिफारिश पर विचार किया और कुछ हेर फेर के बाद उसे स्वीकार कर लिया ।

**कांग्रेस द्वारा स्वीकार –**

कांग्रेस ने जिन संशोधनों को स्वीकार किया वे निम्न है –

1. भारत जनतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी संघ है ।
2. संसद को संविधान के किसी भी भाग को संशोधित करने का अधिकार है ।
3. नीति निर्देशक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए केन्द्र व राज्य सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती ।
4. केन्द्र को देश के किसी भी भाग में पुलिस या सुरक्षा बल भेजने का अधिकार है ।
5. केन्द्र देश के किसी भी भाग में संकटकालीन स्थिति की उद्घोषणा कर सकता है।

**संशोधन के उद्देश्य –**

1. संसद की सर्वोच्चता स्पष्ट करना
2. गरीबी, बीमारी तथा असमानता को समाप्त करना
3. मौलिक अधिकारों की तुलना में राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों को प्राथमिकता देना ।
4. संसद तथा कार्यपालिका की तुलना में न्यायपालिका की शक्तियों में कमी करना ।
5. संविधान द्वारा स्थापित प्रजातांत्रिक संस्थाओं को नुकसान और तनाव से बचाना ।

**42वें संशोधन की व्यवस्थाएं –**

इसके द्वारा निम्नलिखित व्यवस्थाएं प्रभावित होती है –

1. **मूल प्रस्तावना में परिवर्तन –** संविधान अधिनियम द्वारा संविधान की प्रस्तावना में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाया गया है । भारत को लोकतांत्रिक गणराज्य कहा गया था, लेकिन संशोधन के द्वारा उसके स्थान पर सार्वभौम, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य

जोड़ा गया है । इसके साथ ही प्रस्तावना में संयुक्त राष्ट्र की एकता के स्थान पर राष्ट्र की एकता और अखण्डता जैसे शब्दों को जोड़ा गया है।

2. **नीति–निर्देशक सिद्धान्तों का विस्तार –** 42वें संशोधन अधिनियम के द्वारा राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को मौलिक अधिकारों की तुलना में संविधान के सभी प्रावधानों पर प्राथमिकता प्रदान की गई यह स्पष्ट कर दिया गया कि निर्देशक सिद्धान्तों के कार्यान्वयन के लिए किसी भी निर्मित कानून को न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है । इसलिए संविधान की धारा 31 –सी में संशोधन लाया गया ।
3. **राष्ट्र विरोधी गतिविधियों और संगठनों पर रोक –** 42वें संशोधन अधिनियम में यह अधिकार दिया गया कि वह राष्ट्रविरोधी गतिविधियों और संगठनों को रोकने के लिए कानून का निर्माण करे । इसके लिए संविधान में एक नई धारा 31 –डी जोड़ी गई जो राष्ट्रविरोधी संगठनों एवं गतिविधियों के संबंध में व्यवस्था करती है । संशोधन अधिनियम में राष्ट्रविरोधी गतिविधियों तथा राष्ट्र विरोधी संगठनों की परिभाषा व्यापक ढंग से की गई है।
4. **राष्ट्रपति की स्थिति में परिवर्तन –** 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति की स्थिति में परिवर्तन करने का प्रयास किया गया । संशोधन के पहले संविधान के अनुच्छेद 74 में कहा गया था कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् के अनुसार कार्य करेगा । संशोधन के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि राष्ट्रपति के लिए मंत्रिपरिषद् के सुझावों को मानना आवश्यक होगा तथा राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों में दो परिवर्तन लाए गए, संसद की स्वीकृति से विभिन्न राज्यों में राष्ट्रपति शासन घोषणा की तिथि से एक साल तक रहेगा तथा उसकी अधिकतम सीमा 3 साल होगी । अनुच्छेद 352 में संशोधन लाकर राष्ट्रपति को अधिकार दिया कि वह देश के किसी भी हिस्से में आवश्यकतानुसार संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर सकता है ।
5. **न्यायालय एवं न्यायिक पुनर्विलोकन पर सीमाएं –** 41 वें संशोधन अधिनियम द्वारा न्यायालयों के अधिकारों में बड़े पैमाने पर कटौती की गई । इसमें व्यवस्था की गई कि संविधान के किसी भी संशोधन को न्यायालयों में केवल इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि उसमें अनुच्छेद 368 की प्रक्रिया नहीं अपनाई गई । संशोधनों के पहले तक यह स्थिति थी कि सरकारी कार्यवाही से संबद्ध गोपनीय नियमों को भी किसी मुकदमें के संबंध में अपने समक्ष रखने के लिए सरकार को बाध्य किया जा सकता था। इसमें यह व्यवस्था भी की गई कि केन्द्रीय कानूनों की जांच का अधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय को होगा और राज्य के कानूनों की वैधानिकता की जांच का अधिकार केवल उच्च न्यायालय को होगा। यदि किसी मामले में केन्द्र तथा राज्य दोनों के कानूनों की वैधता के निर्धारण का प्रश्न निहित हो तो उसमें भी केवल सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय लागू होगा।
6. **जनप्रतिनिधित्व से संबंधित संशोधन –** संशोधन के द्वारा सत्तारूढ़ दल ने यह महसूस किया कि लोकसभा में विभिन्न राज्यों के स्थानों का आबंटन कर दिया जाए तथा विभिन्न राज्यों को विधानसभाओं में स्थानों की संख्या, संसदीय और विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या, अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों की संख्या को 1971 की जनगणना को ध्यान में रखकर 2001 तक के लिए निर्धारित कर दिया जाय ।

7. **लोकसभा एवं विधानसभाओं के कार्यकाल में वृद्धि –** 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा लोकसभा तथा विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं की अवधि पांच साल से बढ़ाकर छ : साल कर दी गई ।
8. **संसद एवं विधानमंडलों के सदस्यों की अयोग्यता –** संविधान में कहा गया है कि अगर कोई व्यक्ति केन्द्र या राज्य के अधीन किसी लाभ के पद पर है तो वह संसद का सदस्य नहीं हो सकता है । अत: मूल संविधान के इन प्रावधानों से अनेक बार अनिश्चितता पैदा होती रही । संशोधन के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि संसद द्वारा कानून निर्मित कर किसी भी पद को लाभ का पद घोषित किया जाएगा तथा जो कोई भी इस पद पर रहेगा, उसे अयोग्य करार दिया जाएगा ।
9. **सदस्यों के अधिकार से संबंधित संशोधन –** 42वें संशोधन में संसद तथा राज्य–विधानमण्डलों के सदस्यों के अधिकारों में परिवर्तन लाया गया। पहले व्यवस्था की कि सदनों या उसकी समितियों के सदस्यों। के अधिकार इंग्लैण्ड की लोकसभा के समान होंगे, बशर्ते उन्हें कानून द्वारा परिभाषित नहीं किया गया हो । लेकिन संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई कि अब संबद्ध सदन अपने सदस्यों तथा समितियों की शक्तियों तथा विशेषाधिकार आदि का निर्धारण समय–समय पर स्वयं करेगा और संसद के दोनों सदनों तथा राज्य–विधानमंडलों के दोनों सदनों के साथ लागू समझा जायेगा ।
10. **राज्यों में कानून व्यवस्था –** संशोधन में यह व्यवस्था की गई कि किसी भी राज्य में कानून और व्यवस्था की गम्भीर परिस्थिति होने पर केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार से परामर्श किए बिना सशस्त्र सेना भेज सकेगी और वह सेना केन्द्र के निर्देश पर कार्य करेगी। राज्य सरकार का उस सेना पर कोई भी नियंत्रण नहीं होगा ।
11. **सरकारी कर्मचारियों के संबंध में संशोधन –** इसमें यह व्यवस्था की गई कि किसी भी सरकारी कर्मचारी के विरूद्ध लगाए गए आरोप की जांच कर उसे दंड दिया जायेगा।
12. **अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना –** संशोधन के समय अखिल भारतीय न्यायिक सेवा की स्थापना का भी प्रावधान रखा गया।
13. **केन्द्र राज्य संबंध –** इसमें केन्द्र को राज्य की तुलना में काफी शक्तिशाली बनाया गया । अनेक विषयों को राज्य–सूची से समवर्ती सूची में लाकर उन पर केन्द्र और राज्य दोनों के अधिकार दे दिया गया ।

इस प्रकार इस संशोधन में जो भी लक्ष्य और उद्देश्य बतलाये गये हों, परन्तु इसका उद्देश्य प्रधानमंत्री और कार्यपालिका के हाथ में सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण ही था ।

प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ पालकीवाला के अनुसार 42वां संशोधन चार प्रकार से संविधान के मूलभूत ढांचे को परिवर्तित कर देता है ।

1. यह संविधान की सर्वोच्चता समाप्त करके संसद की सर्वोच्चता स्थापित करता है ।
2. मौलिक अधिकारों की वाद योग्यता को परिसीमित करता है ।
3. कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के मध्य संतुलन समाप्त करके कार्यपालिका की शक्तियों को बढ़ाता है ।

4. उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किसी कानून को अवैध घोषित किये जाने पर भी यह कानून की क्रियान्विति की व्यवस्था करता है ।

छठी लोकसभा चुनाव के समय जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में 42वें संशोधन को रद्द करने की बात कही, लेकिन सत्ता प्राप्ति के बाद 42वें संशोधन को रद्द करने के बजाय व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाया गया । 42वें संशोधन की कुछ बातें 43वें एवं 44वें संशोधन द्वारा रद्द कर दी गई, तथा कुछ बातों को राजनीतिक स्थिति में उपयोगिता के आधार पर बनाये रखा गया ।

**तैतालीसवां संशोधन (1977)** – इसमें 42वे संवैधानिक संशोधन की कुछ आपत्तिपूर्ण व्यवस्थाओं को समाप्त कर दिया । इसमें न्यायपालिका के सारे अधिकार । लौटा दिए गए तथा सर्वोच्च न्यायालय को पुन: अधिकार दे दिया गया। न्यायप्राप्ति में दो न हो, इसलिए 42वें संशोधन द्वारा प्रतिस्थापित यह व्यवस्था समाप्त कर दी गई कि सर्वोच्च न्यायालय के सात न्यायाधीशों तथा उच्च न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की मोठ कानूनों की संवैधानिकता निर्धारित करने के लिए आवश्यक होगी । कानूनों को गैर – सांविधानिक करार देने के लिए न्यायाधीशों की बनावटी दो–तिहाई बहुमत भी अब आवश्यक नहीं होगा । उच्च न्यायालयों को याचिकाएं स्वीकार करने का भी अधिकार दे दिया गया ।

**चवालीसवां संशोधन (1979)** - 15 मई 1978 को 44वां संवैधानिक संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित किया गया। लोकसभा से पारित होने के बाद राज्यसभा द्वारा इस संशोधन विधेयक को पारित कर दिया गया ऐसी स्थिति में लोकसभा के सामने दो स्थिति थी । प्रथम समस्त संशोधन विधेयक को छोड़ दिया जाय, द्वितीय राज्यसभा द्वारा विधेयक में किए गए संशोधनों सहित उसे स्वीकार कर लिया जाए । संसद के दोनों सदनों द्वारा संशोधन विधेयक को पारित किए जाने के बाद राज्य की विधानसभाओं द्वारा भी इसे स्वीकार कर लिया गया और 30 अप्रैल 1979 राष्ट्रपति के राष्ट्रपति के हस्ताक्षर किए जाने के बाद इसने 44वें संवैधानिक 1979 का रूप ले लिया।

इसमें मुख्य प्रावधान निम्न थे –

**मूल अधिकार –**

सम्पत्ति के मूल अधिकार को रद्द कर दिया गया । तथा सम्पत्ति कार अधिकार केवल कानूनी अधिकार है, मूल अधिकार नहीं । इस प्रकार नागरिकों को 6 मूल अधिकार ही प्राप्त है। इसमें ऐसी व्यवस्था कर दी गई कि व्यक्ति के जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार के शासन के द्वारा आपातकाल में भी सीमित नहीं किया जा सकता ।

निवारक निरोध कानून से सम्बन्धित व्यवस्था में भी ऐसे कुछ परिवर्तन किए है जिसमें शासन के द्वारा इस कानून के आधार पर नागरिकों की स्वतंत्रता को अनुचित रूप से लम्बे समय तक सीमित न किया जा सके ।

**आपातकालीन प्रावधान –**

इसमें ऐसी व्यवस्था की गई ताकि शासन द्वारा आपातकालीन प्रावधानों का दुरूपयोग न किया जा सके । राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा तभी कर सकता जब मंत्रिमण्डल उसे लिख

कर दे या युद्ध बाहरी आक्रमण, सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में आपातकाल की घोषणा की जा सकती है । अनुच्छेद 356 के आधार पर राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने की स्थिति में जो आपातकाल घोषित किया जायेगा उसे एक बार प्रस्ताव पास कर संसद 6 माह के लिए लागू कर सकेगी ।

**राष्ट्रपति –**

मंत्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को जो भी परामर्श दिया जायेगा, राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल को उस दुबारा विचार करने के लिए कह सकेगा ।

मूल संविधान के अनुच्छेद 71 द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और लोकसभा अध्यक्ष के चुनाव विवादों की भी सुनवाई का अधिकार अन्य चुनाव विवादों की भांति उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को दिया गया है ।

**लोकसभा तथा विधानसभाएं –**

लोकसभा और राज्य विधानमण्डलों का कार्य पुन : 5 वर्ष कर दिया गया । लोकसभा विधानसभा के सदस्यों को वही अधिकार की व्यवस्था की गई जो 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व थी।

इस प्रकार 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा भारतीय संविधान को पुन : सामान्य स्थिति में लाने का प्रयत्न किया गया ।

**पैतालीसवां संशोधन अधिनियम –** इसके अनुसार हरिजनों और पिछड़ी जातियों के लिए संविधान में संरक्षण की व्यवस्था 1990 तक के लिए बढ़ा दी गई है । संविधान के 23वें संशोधन के अनुसार 25 जनवरी 1978 तक ऐसी व्यवस्था की गई

**छियालीसवां संशोधन अधिनियम –** 1982 को लागू हुआ । इसकी आवश्यकता बिक्री–कर–कानूनों की असुविधाओं को दूर करने के लिए पड़ी । इसके द्वारा सरकार को बिक्री–कर–कानूनों के संबंध में शक्तियां प्राप्त हुई ।

**सैंतालीसवां संशोधन (1984) –** इसमें भूमि सुधार नियमों को संविधान की नौवीं सूची में जोड़ने की व्यवस्था की गई है ताकि इनकी क्रियान्विति में मुकदमेबाजी की गुंजाइश न रहे ।

**अड़तालीसवां संशोधन (1984) –** यह सिर्फ सामयिक, राजनीतिक उद्देश्य से किया गया और सिर्फ पंजाब राज्य तथा उसकी वर्तमान स्थिति से संबंधित था । 44वे संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति शासन की अवधि सिर्फ एक वर्ष हो सकती है । इस स्थिति में 1984 में पंजाब में राष्ट्रपति शासन समाप्त करना पड़ता मगर यह सम्भव नहीं था । इसलिए इसमें यह व्यवस्था की गई है कि पंजाब में राष्ट्रपति शासन अधिकतम दो वर्ष तक रखा जा सकता है ।

**उनचासवां संशोधन अधिनियम (1984) –** त्रिपुरा राज्य की सरकार ने सिफारिश की कि संविधान की छठी सूची को राज्य में जनजातीय क्षेत्र पर लागू किया जाए । इस संशोधन के द्वारा राज्य की स्वायत्तशासी जिला परिषद् को सुरक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई ।

**पचासवां संशोधन अधिनियम (1984) –** इसमें संविधान के अनुच्छेद 33 को संशोधित करते हुए राज्य–सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व निभाने वाली सुरक्षाबलों, गुप्तचरों, संगठनों में लगे लोगों और विभिन्न सैन्यबलों के संचार कार्य में लगे व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों को

प्रतिबंधित कर दिया गया। सुरक्षाबलों में अधिक अनुशासन की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया।

**एकावनवां संशोधन अधिनियम –** इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 330 और अनुच्छेद 332 को संशोधित किया गया अनुच्छेद 330. को संशोधित करते हुए मेघालय, नागालैड, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम की अनुसूचित जनजातियों को लोकसभा में आरक्षण प्रदान कर दिया गया। इसी प्रकार अनुच्छेद 332 को संशोधित करते हुए नागालैण्ड और मेघालय की विधानसभाओं में जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई ।

**बावनवां संशोधन अधिनियम (1985) –** यह संविधान अधिनियम भारतीय राजनीति को शुद्ध करने का एक अभियान था । 1985 को दल–बदल विरोधी विधेयक ने कानून का रूप धारण कर लिया । इसके तहत चुनाव के बाद संसद या विधानमण्डल के किसी सदस्य को अपना दल छोड़ने पर संसद या विधानमंडल में उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी । विधेयक द्वारा अनुच्छेद 101, 102, 190 और 191 में संशोधन किया गया तथा संविधान में दसवीं अनुसूची जोड़ी गई । किसी दल के विघटन की स्थिति में उसके एक–तिहाई सदस्यों के दल छोड़ने या विलय में दो–तिहाई सदस्यों का समर्थन होने पर इस कानून के प्रावधान लागू नहीं होंगे । सचमुच राजीव गांधी सरकार की राजनीति के शुद्धिकरण के लिए अब तक की यह सबसे बड़ी देन थी ।

52वां संविधान संशोधन 1985 सर्वसम्मति से पारित किया गया इसके मुख्य प्रावधान निम्नानुसार है –

1. यदि कोई स्वेच्छा से अपने दल से त्यागपत्र दे दे ।
    1. यदि वह अपने दल या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति की अनुमति के बिना सदन में उसके किसी निर्देश के प्रतिकूल मतदान करे या उसमें अनुपस्थित रहे । यदि 15 दिन के अन्दर दल उसे माफ कर दे तो उसकी सदस्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा ।
    2. यदि निर्दलीय रूप में निर्वाचित कोई सदस्य किसी राजनीतिक दल में शामिल हो जाय।
    3. यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के 6 माह बाद किसी राजनीतिक दल में शामिल हो जाय।
2. किसी राजनीतिक दल के विघटन पर सदस्यता समाप्त नहीं होगी यदि मूल दल के एक तिहाई सांसद और विधायक दल छोड़ दें ।
3. विलय की स्थिति में भी दल–बदल नहीं माना जाएगा, यदि किसी दल के कम से कम दो–तिहाई सदस्य उसकी स्वीकृति दे दें ।
4. दल–बदल पर उठे किसी भी प्रश्न या विवाद पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा और किसी भी न्यायालय को उसमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होगा।
5. सदन के अध्यक्ष को इस विधेयक को लागू करने के लिए नियम बनाने का अधिकार होगा।

इस प्रकार दलबदल पर रोक लगाकर विघटन और विलय को दल–बदल की परिधि के बाहर कर दिया गया।

कुछ क्षेत्रों में इस संशोधन के आधार पर आलोचना हुई कि इसके माध्यम से व्हिपतंत्र की स्थापना की जा रही है और विधायकों पर दल का अंकुश कड़ा किया जा रहा है ।

इसकी एक कमी यह है कि विघटन और विलय को दल–बदल की परिधि के बाहर कर दिया गया है । यदि इन्हें दल–बदल की परिधि के बाहर न रखा जाता तो दल–बदल विरोधी व्यवस्था अधिक प्रभावकारी होती।

दलबदल रोकने की दिशा में यह विधेयक शुभारम्भ ही माना जा सकता है । समस्या के पूरे निराकरण के लिए बहुत कुछ और पड़ेगा। वस्तुत : दलबदल की समस्या में दो पहलू है – एक भौतिक और दूसरा वैधानिक । हमारे नैतिक मूल्यों में जो भावी गिरावट आयी है । दलबदल उसका एक परिणाम है । दल–बदल का उपचार भी दोनों ही स्तर पर करना होगा फिर भी यह कहा जा सकता है कि दलबदल विरोधी इस संशोधन कानून के लागू होने के बाद दलबदल जैसी दूषित प्रवृत्ति में काफी कमी आई है ।

**तिरपनवां संशोधन (1986) –** इस सांविधानिक संशोधन द्वारा मिजोरम को राज्य का विशिष्ट दर्जा दिया गया ।

**चौवनवां संशोधन (1986) –** इसके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन इस प्रकार बढ़ाए गए –

| | | |
|---|---|---|
| भारत का मुख्य न्यायाधीश | - | 10,000 रु. प्रतिमाह |
| उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश | - | 9,000 रु. प्रतिमाह |
| उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश | - | 9,000 रु. प्रतिमाह |
| उच्च न्यायालय के न्यायाधीश | - | 8,000 रु. प्रतिमाह |

इसके अलावा इन्हें अन्य सुविधाएं दी गई जो निम्नानुसार है –

1. न्यायाधीश 180 दिन तक पूरे भले के साथ छुट्टी ले सकता है ।
2. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को एक स्टाफ कार तथा 150 लीटर पेट्रोल मुफ्त दिया जायेगा।
3. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 1, 250 व अन्य को 750 रु. मासिक व्यक्ति भला मिलेगा।

**पचपनवां संशोधन –** 1986 में केन्द्र शासित प्रदेश अरुणाचल को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान करते हुए, राज्य के राज्यपाल को शांति और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से कतिपय विशेषाधिकार प्रदान किए गए।

**छप्पनवां संशोधन (1987)** – गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।

**सत्तानवां संशोधन (1987)** – इस संशोधन अधिनियम द्वारा व्यवस्था की गई कि अन्तरिम काल में गोवा, दमन और दीव विधानसभा में से दीव के दो सदस्य अलग हो जाएंगे और शेष विधानसभा पूर्ण गोवा राज्य की विधानसभा के रूप में कार्य करेगी। गोवा राज्य विधानसभा में 40 सदस्यों की व्याख्या का प्रावधान निर्धारित किया गया।

**अठावनवां संशोधन (1988)** – इस संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के राष्ट्रपति को भारतीय संविधान का अधिकृत हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का अधिकार दिया गया।

**एकसठवां संशोधन (1988)** – इस संशोधन द्वारा भारत में व्यस्क मताधिकार की न्यूनतम आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई। स्वर्गीय राजीव गांधी सरकार की भारतीय युवा वर्ग के प्रति यह संशोधन अधिनियम उदारता च परिचायक था।

**बासठवां संशोधन (1990)** – इस संशोधन अधिनियम के द्वारा तथा राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण की अवधि तथा आंग्ल समुदाय के सदस्यों के मनोनयन की व्यवस्था 10 वर्षों अर्थात् 2000 तक के लिए बढ़ा दी गई।

**तिरसठवां संशोधन (मार्च 1990)** – इसके द्वारा पंजाब के सम्बन्ध में अनुच्छेद 356 और 369(क) की संशोधित धाराओं का अन्त कर दिया गया। ।

**चौसठवां संशोधन (1990)** – इसका सम्बन्ध भी पंजाब से था। इसके द्वारा राष्ट्रपति की 1987 की उद्घोषणा को जारी रखने का समय तीन वर्ष से बढ़ाकर तीन वर्ष और छः महीने किया गया।

**पैसठवां संशोधन (1990)** – इस संशोधन द्वारा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग के सांविधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

**छियासठवां संशोधन (1990)** – इस संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत राज्य विधानसभाओं द्वारा पारित कुछ और भूमि सुधार नियमों को संविधान की नवीं सूची में सम्मिलित करके न्यायिक समीक्षा के क्षेत्र से बाहर कर दिया गया।

**सडसठवां संशोधन (1990)** – इसका सम्बन्ध भी पंजाब से था इसके द्वारा 1987 की राष्ट्रपति उद्घोषणा की अवधि 6 महीने और बढ़ा दी गई।

**अड़सठवां संशोधन (1991)** – पंजाब से ही सम्बद्ध इस संशोधन। के द्वारा राष्ट्रपति उद्घोषणा की अवधि 6 महीने और बढ़ा दी गई।

**उन्हत्तरवां संशोधन (1991)** – इसके द्वारा राजधानी दिल्ली के नई प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत विधानसभा मंत्रिपीरषद् का निर्माण किया गया ।

**सत्तरवां संशोधन (1992)** – इसके अनुसार अनुच्छेद 54 और 55 का संशोधन करके "राज्य" शब्द की परिधि में राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली तथा केन्द्रीय प्रशासित पाण्डिचेरी का क्षेत्र भी शामिल कर दिया गया।

**इकहत्तरवां संशोधन (1992)** – संविधान की आठवीं सूची का संशोधन करके इसके समुचित स्थानों पर तीन नई भाषाएं, कोकणी, मणिपुरी तथा नेपाली को सम्मिलित करता है।

**बहत्तरवां संशोधन (1992)** – संविधान के अनुच्छेद 332 को (3क) की धारा के पश्चात् संशोधित करके त्रिपुरा राज्य की विधानसभा में कुल जनसंख्या के अनुपात से अनुसूचित जातियों के लिए स्थानों को आरक्षण करता है।

**तिहत्तरवा संशोधन (1993)** – राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं को शक्ति सम्पन बनाने की दिशा में प्रतिबद्धता व्यक्त की थी। प्रधानमंत्री बनने के पश्चात् अनेक अवसरों पर नरसिंहराव ने दोहराया था कि उनकी सरकार पंचायती राज संस्थाओं को सुदृढ़ करने की दिशा में कृत–संकल्प है।

इसके माध्यम से संविधान में 11वीं अनुसूची जोड़कर पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। 1991 में राव सरकार ने इस विधेयक को संसद में प्रस्तावित किया। विधेयक की छानबीन के उद्देश्य से संयुक्त संसदीय समिति को सौंप दिया गया। समिति की रिपोर्ट के अनुसार लोकसभा ने 22 दिसम्बर 1992 को यह विधेयक पारित कर दिया। 23 दिसम्बर को राज्यसभा ने भी इसे हरी झंडी दिखा दी तथा राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने भी इस विधेयक को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। 24 अप्रैल 1993 को यह अधिनियम लागू हो गया।

इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान इस प्रकार है –

1. ग्राम पंचायत ऐसी संस्था होगी जिसमें पंचायत क्षेत्र के अन्तर्गत सभी वयस्क सम्मिलित होंगे। ग्रामसभा की व्यवस्था भी रहेगी।
2. पंचायतें तीन स्तर पर होंगी – ग्रामस्तर, मध्यवर्ती स्तर तथा जिला स्तर।
3. तीनों पंचायतों. की सीटें प्रत्यक्ष चुनाव से भरी जायेंगी। ग्राम पंचायतों के सरपंच मध्यवर्ती पंचायतों के सदस्य बन सकते है तथा मध्यवर्ती पंचायतों के सदस्य जिला स्तर की पंचायतों के सदस्य बन सकेंगे।
4. पंचायतों में अनुसूचित जातियों तथा जन–जातियों के लिए उनकी संख्या के अनुपात में आरक्षण रहेगा कुल. सीटों में से एक तिहाई–महिलाओं के लिए आरक्षित होंगी।
5. राज्यों की पंचायतों में अध्यक्ष पद अनुसूचित जातियों और जनजातियों की संख्या के अनुपात में आरक्षित होंगे तथा एक तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे।
6. राज्यों के विधानमण्डल तीनों स्तर अध्यक्ष पद हेतु आरक्षण की व्यवस्था कर सकेंगे।
7. पंचायतों का कार्यकाल पांच वर्ष का होगा और कार्यकाल पूरा होने से पहले ही नयी पंचायत के चुनाव करा लिये जायेंगे । पंचायत भंग होने की स्थिति में छह महीने के भीतर चुनाव कराना आवश्यक होगा।
8. किसी व्यक्ति को कानून के तहत राज्य विधानमण्डल के चुनाव के अयोग्य करार दिया गया है, पंचायत का सदस्य नहीं बन पायेगा।
9. पंचायतों की देखरेख, मतदाता सूची, चुनाव प्रक्रिया के लिए स्वतंत्र निर्वाचन आयोग का गठन किया जायेगा ।
10. पंचायतों को आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय की योजनाएं बनाने में पंचायतों को विशेष जिम्मेदारी सौंपी जायेगी जो कि पंचायत राज अधिनियम की ग्यारहवीं अनुसूची के अनुसार निर्देशित है । विकास योजनाओं को लागू करना पंचायतों का मुख्य दायित्व होगा ।
11. विकास योजनाओं हेतु पंचायतों को पर्याप्त धन की व्यवस्था राज्य सरकार की सहायता के रूप में होगी तथा राज्य सरकार कुछ करों से प्राप्त होने वाली आय भी पंचायतों के लिए निर्धारित कर सकती है ।
12. प्रत्येक राज्य में एक साल के भीतर तथा उसके पश्चात् हर पांच साल बाद एक वित्त आयोग गठित किया जायेगा।

उक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि 73वां संविधान संशोधन पंचायती राज व्यवस्था की एक अवधारणा प्रस्तावित करता है । यह पंचायती राज संस्थाओं को सामाजिक दायित्व प्रदान करता है लेकिन इस संशोधन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि पंचायती राज संस्थाओं के आर्थिक पक्ष का कमजोर रहना यह है कि पंचायती राज संस्थायें केन्द्रीय और राज्य सरकारों के अनुदान पर बहुत हद तक निर्भर रहती है । 73वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत ही राज्य सरकारों ने वर्षो से लम्बित पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन समन कराये तथा सत्ता की बागडोर जन–प्रतिनिधियों को सौंपी । इस संशोधन द्वारा पंचायती राज को संवैधानिक स्थिति प्राप्त हुई और पंचायती राज में एकरूपता की स्थापना हुई । पंचायत राज संस्थाओं का त्रिस्तरीय ढांचा सुनिश्चित हुआ और पहली बार महिलाओं को आरक्षण प्राप्त हुआ।

**चौहत्तरवां संशोधन (1992)** – इस संशोधन में एक नया भाग 9 और 12वीं अनुसूची जोड़कर शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है । इसमें निम्नलिखित प्रावधान रखे गए है –

1. प्रत्येक राज्य में नगर पंचायत, नगरपालिका परिषद् तथा नगर निगम का गठन किया जायेगा । नगर पंचायत का गठन उस क्षेत्र के लिए होगा, जो ग्रामीण क्षेत्र से नगरीय क्षेत्र में परिवर्तित हो रहा है । नगरपालिका परिषद् का गठन छोटे नगरीय क्षेत्रों के लिए किया जायेगा, जबकि बड़े नगरों के लिए नगर निगम का गठन होगा।
2. तीन लाख या अधिक जनसंख्या वाली नगरपालिका के क्षेत्र में एक या अधिक वार्ड समितियों का गठन होगा।
3. प्रत्येक प्रकार के नगर निकायों के स्थानों के लिए अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थानों को आरक्षित किया जायेगा तथा महिलाओं के लिए कुछ स्थानों का 30 प्रतिशत आरक्षित होगा ।
4. नगरीय संस्थाओं की अवधि पांच वर्ष होगी लेकिन इन संस्थाओं का 5 वर्ष के पहले भी विघटन की स्थिति में 6 माह के अन्दर चुनाव कराना आवश्यक हैं।
5. नगरीय संस्थाओं की शक्तियां एवं उत्तरदायित्व क्या होगा इसका निर्णय राज्य विधानमण्डल कानून बनाकर कर सकती है । राज्य विधानमण्डल कानून बनाकर नगरीय संस्थाओं को निम्नलिखित के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व और शक्तियां प्रदान कर सकती है ।
   (अ) नगर में निवास करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए योजनाएं तैयार करना।
   (ब) ऐसे कार्यो को करने के लिए तथा जो योजनाएं उन्हें क्रियान्वयन के लिए सौंपी गई है। नगरीय योजना (इसमें शहरी योजना भी सम्मिलित है) भूमि उपयोग का विनिमय और भवनों का निर्माण आर्थिक और सामाजिक विकास योजना, सड़कें एवं पुल, घरेलू, औद्योगिक और वाणिज्यिक प्रयोजनों में निर्मित' जल की आपूर्ति ।

– गन्दी बस्तियों में सुधार करना तथा निर्धनता में कमी करना।

– नगरीय सुख सुविधाएं जैसे पार्क, उद्यान, खेल. के मैदान आदि की व्यवस्था करना आदि ।

6. राज्य विधानमण्डल कानून बनाकर उन विषयों को विहित कर सकती है, जिन पर नगरीय संस्थायें कर लगा सकती है ।
7. नगरीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करने के लिए, वित्त आयोग का गठन किया जायेगा, जो करों, शुल्कों, पथकरों, फीसों की शुद्ध आय और संस्थाओं तथा राज्य के बीच वितरण के लिए राज्यपाल से सिफारिश करेगा ।

   इसमें शहरी क्षेत्रों की संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया जाना स्थानीय स्वशासन के इतिहास में एक सुखद अध्याय जोड़ता है । तथा शहरी क्षेत्रों की स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को नई शक्ति प्राप्त होगी तथा इसमें. अनुसूचित जातियों, जनजातियों और महिलाओं को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा ।

**पचहत्तरवां संशोधन (1993)** – इसमें भवन किराया सम्बन्धी मामलों को उलझनों को दूर करने. के लिए. तथा न्यायालयों को इसमें संबंधित मामलों में हस्तक्षेप करने की अधिकारिता नहीं होगी।

**छहत्तरवां संशोधन (1994)** – इसमें संविधान की नवीं अनुसूची में संशोधन करके तमिलनाडु के पिछड़े वर्ग के लिए राज्य में 69 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान सरकारी सेवाओं के लिए कर दिया गया ।

## 9.8 निष्कर्ष

लिखित स्वरूप प्राप्त कर लेने पर ही कोई संविधान जीवित होता । जान तो इसमें तब आती जब मानवीय तत्व इकट्ठे हो कर उसको कार्यान्वित करते है । समय के साथ–साथ संविधान का स्वरूप बदलता जाता है, इसका विषय बदलता है, इसका विकास होता है । इसकी मूरत भी बदल जाती है और इसका अर्थ भी नया हो जाता है ।

संविधान के मुख्य निर्माता डॉ. अम्बेडकर के अनुसार "संविधान चाहे कितना भी अच्छा हो, बुरे लोगों द्वारा कार्यान्वित किए जाने पर दोषपूर्ण हो जाता है, और दोषपूर्ण संविधान अच्छे लोगों के हाथों में आकर बढ़िया बन जाता है।"

यह बात सच है कि हमारा वर्तमान सरकारें जिस तरह से क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन चाहती है उसमें वर्तमान संविधान की कई व्यवस्थाएं आड़े आती है । अत : संसद को देखना है कि संविधान को आर्थिक सामाजिक सुधारों को लागू करने में बाधक न बन जाए । केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्ध व राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रक्रिया विधानमण्डलों के अध्यक्ष की स्थिति, आदि का पुननिरीक्षण होना चाहिए । संविधान के प्रावधानों में इस प्रकार के संशोधन होने चाहिए जिससे कि वे संविधान की प्रस्तावना के अनुरूप हो सके । तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था "जो चीजें अचल और अनमनीय होती है वे बहुधा दबाव पड़ने पर टूट जाया करती है। " किसी भी जीवन्त और सामाजिक प्रणाली के जीवन का सार है – नमनीयता और परिस्थिति अनुकूलता सत्तारूढ सरकारों ने संविधान संशोधन करने में कोई कमी नहीं रखी। नेहरू के युग में मात्र 16 संशोधन हुए । इसी प्रकार राजीव गांधी की सरकार ने

52वें संविधान संशोधन को पारित करने का निर्णय लिया जिससे दल–बदल का भ्रष्टाचार कम हो सके । हमारे देश में सत्ताधारी तथा विपक्षी दोनों संविधान में परिवर्तन के लिए हमेशा सोचते है । अत : संविधान में परिवर्तन राष्ट्रीय हित में ही होगा ।

## 9.9 अभ्यास कार्य

1. भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया को समझाते हुए यह बताइये कि हमारा संविधान कठोर है या लचीला?
2. 42वें संशोधन अधिनियम को विस्तारपूर्वक समझाइये
3. भारतीय संविधान के प्रमुख संशोधनों पर एक निबंध लिखिये '
4. 44वें संविधान संशोधन के प्रबन्धों को समझाइये
5. 52वें संविधान संशोधन की समीक्षा कीजिए
6. 73वें संविधान संशोधन के मुख्य प्रावधानों को समझाइये।
7. 74वें संविधान संशोधन की विवेचना कीजिए ।

## 9.10 संदर्भ ग्रन्थ


1. राव, के. बी. : पार्लियामेण्ट्री डेमोक्रेसी ऑफ इण्डिया
2. कश्यप, सुभाष : दलबदल और राज्यों की राजनीति
3. कोठारी, रजनी : पालिटक्स इन इण्डिया
4. अमर नन्दी : दि कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया

# इकाई - 10
# भारत मे न्यायिक पुनरावलोकन
# (Judicial Review in India)

**इकाई संरचना**

10.1 उद्देश्य

10.2 न्यायिक पुनरावलोकन : सैद्धान्तिक अवधारणा एवं प्रचलन

10.3 भारत में न्यायिक पुनरावलोकन

10.3.1 सांविधानिक परिकल्पना

10.3.2 संवैधानिक उपबन्ध एवं स्वरूप

10.3.3 संविधान की व्याख्या : न्यायालय द्वारा अपनाये गये आधार

10.4 उच्चतम न्यायालय के निर्णय : कुछ सिद्धान्तों का निर्माण

10.5 भारत में न्यायिक पुनरावलोकन : मूल्यांकन

10.6 अभ्यास कार्य

10.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

## 10.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप :–

- भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की सैद्धान्तिक अवधारणा से परिचित हो सकेंगे;
- संवैधानिक व्याख्या की दृष्टि से न्यायिक पुनरावलोकन की उपयोगिता समझ सकेंगे; तथा
- न्यायिक पुनरावलोकन के समय मूल्यांकन में समर्थ हो सकेंगे ।

## 10.2 न्यायिक पुनरावलोकन : सैद्धान्तिक अवधारणा एवं प्रचलन

लोकतान्त्रिक शासन–व्यवस्थाओं की यह विशेषता होती है कि इनमें शासन व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह की इच्छाओं के अनुसार नहीं चलकर विधि के अनुसार निष्पादित होता है । सभी व्यक्ति, समुदाय और सरकारी अधिकारी अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में रहें, इसके लिए संविधान के द्वारा न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है । आधुनिक राज्यों में लिखित संविधानों की व्यवस्था होती है और इससे संविधानों की व्याख्या करने का और उसकी अतिक्रमणों से रक्षा करने का प्रश्न उठ खड़ा होता है । इसके लिए ऐसी कोई व्यवस्था करने की आवश्यकता है जो संविधान की धाराओं की व्याख्या और उसकी रक्षा कर सके । न्यायपालिका यह कार्य तभी कर सकती है जब उसको कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के कार्यो का पुनरावलोकन कर उनकी संविधान से अनुरूपता या प्रतिकूलता देखने का अधिकार हो । सामान्य अर्थों में न्यायपालिका के ऐसे अधिकार को ही न्यायिक पुनरावलोकन या न्यायिक समीक्षा कहा जाता है । न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति को सामान्यतया अमरीकी संविधान से सम्बन्धित किया जाता है, किन्तु इसकी प्रारम्भिक उत्पत्ति उस देश में हुई जहां आज इसकी कोई व्यवस्था नहीं है । सामाजवादी युग में ब्रिटेन के उपनिवेशों से सम्बन्धित न्यायालयों के निर्णयों का

पुनरावलोकन करने के लिए एक संस्था 'प्रीवि परिषद् (प्रीवि काउंसिल) विकसित हो गई थी । इस परिषद् को उपनिवेशों के सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों का पुनरावलोकन करके उन्हें रदद् करने का अधिकार था । तथापि न्यायिक पुनरावलोकन को सर्वप्रथम अमेरिका में ही स्पष्ट और निश्चित रूप से प्रतिपादित किया गया था। अमेरिका के भूतपूर्व न्यायाधिपति मार्शल ने सर 1803 में विलियम मारबरी बनाम जेम्स मेडिसन नामक विख्यात वाद के निर्णय में प्रथम बार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की प्रस्थापना की थी । उन्होंने न केवल न्यायिक समीक्षा के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया अपितु उसे अमरीकन न्याय–व्यवस्था की एक अचल तथा अटल परम्परा बना दिया। उन्होंने न्यायिक पुनरावलोकन की शक्तियों की स्पष्ट – रूप से व्याख्या की और अपना' निर्णय देते हुए बताया कि संविधान समस्त देश का सर्वोच्च कानून है तथा न्यायाधिपतियों का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे इसी के अनुरूप निर्णय दें एवं जब कभी कांग्रेस द्वारा पारित कोई अधिनियम देश के सर्वोच्च कानून अर्थात् संविधान के विरूद्ध पाया जाय तो न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह संविधान को प्रथम स्थान दें । मुख्य न्यायाधिपति मार्शल का कहना था कि संविधान सर्वोच्च है, सर्वशक्ति सम्पन्न है और साधारण रीति से परिवर्तित नहीं किया जा सकता । यदि विधानमण्डलों द्वारा बनाया गया कानून संविधान की व्यवस्था के प्रतिकूल है तो वह अवैध है । तब क्या अवैध होने पर भी न्यायालयों के लिए यह आवश्यक है कि वे कानून की वैधानिकता की जांच करें और यदि इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कानून वैधानिक नहीं है तो उसे लागू करने से अस्वीकार कर दें । मुख्य न्यायाधिपति का प्रमुख तर्क यह था कि अमरीका की सरकार सीमित शक्तियों की सरकार है क्योंकि संविधान लिखित और अचल ही नहीं अपितु संघीय सरकार और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन भी करता है ।

न्यायिक पुनरावलोकन की जिस शक्ति का विश्लेषण ऊपर किया गया है, वह सामान्य शक्ति नहीं है वरन् अमेरिका के राजनीतिक जीवन पर इसका पर्याप्त संवैधानिक प्रभाव पड़ा है। इस शक्ति का प्रयोग उच्चतम न्यायालय ने अत्यन्त प्रभावी रूप से किया है और संविधान को एक नयी दिशा दी है । न्यायालय ने न्यायिक पुनरावलोकन की अपनी स्थिति के बल पर केवल संविधान की आत्मा और भाषा का ही निर्वचन नहीं किया है बल्कि नीतियों का भी निर्धारण किया है । इसीलिए वहां न्यायाधिपतियों को संविधान का नया निर्माता तक कह दिया गया है ।

न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति को लेकर विभिन्न दृष्टिकोणों से इस शक्ति की आलोचना भी हुई है । ब्रोंगन, लुई, बोंदा और लास्की आदि इसके आलोचकों में प्रमुख रहे है । आलोचना का प्रमुख आधार यह है कि किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करने वाली संस्थाओं (व्यवस्थापिका और कार्यपालिका) से श्रेष्ठतर बनकर, सम्पूर्ण शासन व्यवस्था को अलोकतांत्रिक बनाने का कार्य करती है । आलोचकों का कहना है कि न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था से न्यायपालिका उच्चतर व्यवस्थापिका (सुपर लेजिसलेटिव) बन जाती है और उसका कार्य तृतीय व्यवस्थापिका सदन का हो गया है । ब्रोंगन के शब्दों में इस स्थिति को प्रजातन्त्रामक व्यवस्था का स्वस्थ चित्र नहीं कहा जा सकता। न्यायिक पुनरावलोकन की उक्त शक्ति से ये प्रश्न सामने आते है कि –

(क) राजनितिक व्यवस्था में सर्वोच्च कौन है? सर्वोच्च न्यायालय, संविधान या जनता?

(ख) जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले सर्वोच्च ही या किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करने वाले सर्वोच्च रहें?

(ग) जनता के हितों का श्रेष्ठतर संरक्षण किसके. द्वारा हो सकता है?

(घ) व्यवस्था की लोकतन्त्रात्मकता की सबसे मौलिक आवश्यकता क्या है?

इन सब प्रश्नों से स्पष्ट है कि लोकतांन्त्रिक व्यवस्था में शक्ति का स्रोत जनता होती है और जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही सर्वोच्च होने चाहिए, किन्तु न्यायिक पुनरावलोकन इनके स्थान पर स्वयं न्यायपालिका और संविधान को सर्वोच्च बनाकर एक राजनीतिक दुविधा की स्थिति ला देता है । साथ ही, जनतन्त्रों में यह आवश्यक होता है कि जनता के प्रगतिशील कार्यो में कोई बाधक नहीं बने। इसके लिए यह जरूरी होता है कि सरकार जनता की इच्छाओं के अनुसार चले और जनता की सेवक बनी रहे । इसके लिए यह भी आवश्यक है कि सरकार जनता की सेवक ही नहीं रहे अपितु जनता को नेतृत्व प्रदान करे । विचारकों का मत है कि सरकार, यह तभी कर सकती है जब संविधान स्वयं साध्य नहीं बन कर साधन बना रहे । न्यायिक पुनरावलोकन संविधान को साध्य बनाने का कार्य करता है । इसलिए इसको जनता के प्रगतिशील कार्यो में अवरोधक उत्पन्न करने वाला माना जाता है । अनेक विद्वानों का मत रहा है कि न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था आधुनिक सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं के लिए अनुपयुक्त है । संविधान की रक्षा के नाम पर, न्यायिक समीक्षा की शक्ति के सहारे न्यायपालिका प्रगति के मार्ग में बाधा डाल सकती है और उसने बाधा डाली भी है । उनके अनुसार न्यायाधिपति प्राय : सम्पन वर्ग के होते है । अत: वे निहित स्वार्थों का संरक्षण भी करते है और प्रगतिशील एवं लोकतन्त्रात्मक नीतियों का विरोध करते हुए कुलीनतन्त्र का पक्ष–पोषण करते है ।

विख्यात फ्रेन्च विचारक डी. टोक्यूविली ने सन् 1848 में अपनी अमेरिकन यात्रा के पश्चात् कहा था कि यदि कोई मुझसे प्रश्न करे कि अमेरिकन कुलीनतन्त्र कहां निवास करता है तो मैं बिना हिचकिचाहट के कह सकता हूं कि यह न्यायालयों में निवास करता है । प्रत्येक प्रश्न चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो, वहां न्यायिक प्रश्न बन जाता है । आलोचकों की मान्यता है कि न्यायपालिका की इस प्रवृत्ति के कारण सकारात्मक राज्य का विकास नहीं हो पाता । हैराल्ड जे. लास्की की ने इस विचार का प्रबल समर्थन किया है । सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति का अनेक अवसरों पर बड़ा विरोध किया गया है और अनेक बार यह माँग की जा चुकी है कि न्यायिक अत्याचार से– बचने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति पर रोक लगाई जानी चाहिए । अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपने 'न्यूडील ' में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि न्यायिक पुनरावलोकन की आड़ में सर्वोच्च न्यायालय को – यदि तृतीय व्यवस्थापिका सदन बना रहने दिया गया तो इससे देश की प्रगति रुक जायेगी और लोक कल्याणकारी कार्यो का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा।

## 10.3 भारत में न्यायिक पुनरावलोकन

### 10.3.1 सांविधानिक परिकल्पना

लाक, माण्टेस्क्यू और मैडिसन के कथनों को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान–निर्माताओं ने भी एक ही स्थान पर सभी शक्तियों के संचयन को 'निरंकुशता' माना है । ऐसी अत्यधिक शक्ति के कुछ हाथों में केन्द्रण न होने देने के लिए जिससे वे व्यक्ति, जिनके पास वह शक्ति है, भ्रष्ट न हो जाएं या उसका दुरूपयोग न करें, हमारे संविधान में भी विधिक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता तीन श्रेणियों में या राज्य के तीन अंगों में बांटी गयी है – विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका हमारे संविधान द्वारा प्रत्येक की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का क्षेत्र इस प्रकार सीमांकित किया गया है कि 'असली सम्पूर्ण' (जैन्युइन होल) तीनों अन्तर्भेदी क्षेत्रों के रूप में प्रतीत होता है । इन क्षेत्रों के उन भागों में जहां न्यायिक शक्ति, विधायी और कार्यपालिका शक्तियों के बीच अन्तर्भेद करती है, वहां न्यायपालिका एक पर्यवेक्षक या संविधान के सरंक्षक के तौर पर कार्य करती है और वह विधायी या कार्यपालिका–कार्य की जांच–पड़ताल कर सकती है ।

यद्यपि भारतीय संविधान में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि संविधान सर्वोच्च है किन्तु संघीय और राज्य सरकारी की शक्तियों का स्रोत संविधान है तथा इसके संशोधन की विशेष प्रक्रिया का अनुच्छेद 368 में उल्लेख इसे एक तरह से सर्वोच्च बना देता है । संविधान की इस सर्वोच्चता के कारण भारत का उच्चतम न्यायालय., यह अधिकार प्राप्त कर लेता है कि संसद अथवा राज्यों के विधानमण्डल कभी कोई ऐसा कानून बनाएं जो संविधान के विरूद्ध हो तो वह उसे असंवैधानिक घोषित कर दे । किन्तु भारत में उच्चतम न्यायालय को कानूनों को असंवैधानिक घोषित करने कें लिए अमेरिका में प्रचलित 'कानून की उचित प्रक्रिया' (ड्यू प्रोग्रेस ऑफ ला) के स्थान पूर (जिससे न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र व्यापकतम बन जाता है) 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का ही प्रयोग करना होता है । इसका यही आशय है कि भारत का उच्चतम न्यायालय केवल उन्हीं को अवैधानिक घोषित कर सकता है जो कि कानून बनाने वाली संस्था को संविधान द्वारा दिये गये अधिकार क्षेत्र से बाहर है अर्थात् भारत के न्यायालय कानूनों के इस पक्ष पर विचार नहीं कर सकते कि कानून अच्छा है या बुरा। न ही वह यह देखने का अधिकार रखते है कि कानून बनाने वालों की कानून बनाने के पीछे क्या भावना थी। इस प्रकार भारत के संविधान में न्यायालयों को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार इस तरह से दिया गया है जिससे न्यायिक पुनरावलोकन से होने वाले लाभों की प्राप्ति हो सके किन्तु अमेरिका में इसकी व्यवस्था से जो कठिनाइयां उत्पन्न होती है उनसे बचा जा सके । अत : यहां न्यायिक पुनरावलोकन का सीमित अधिकार ही दिया गया है ।

एम. वी. पायली ने अपनी पुस्तक कांस्टिट्यूशनल गवर्नमेण्ट इन इण्डिया' में लिखा है कि 'भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र उतना विस्तृत नहीं है जितना कि संयुक्त राज्य अमरीका में है । 'इसके क्षेत्र को लेकर पायली ने आगे लिखा है कि 'जहां तक न्यायिक पुनरावलोकन का प्रश्न है, भारत दो अतियों (एक्सट्रीम्स) (ब्रिटेन की संसदीय सर्वोच्चता और अमेरिका की न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति) के अधिकार को सीमित करने की व्यवस्था के पीछे शायद यह मन्तव्य था कि न्यायपालिका को उच्चतर संसद या संसद का तीसरा सदन बनने से रोकी जा सके । इस सम्बन्ध में भारत ने अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए दोनों ही प्रकार की उपर्युक्त वर्णित अतियों से बचने का प्रयत्न किया है ।

इस प्रकार जहां तक मामूली विधि बनाने का सम्बन्ध है, हमारे संविधान द्वारा न्यायपालिका संविधान के संरक्षक के तौर पर परीक्षा करने के लिए अन्तिम प्राधिकरण बनाई गई है । लेकिन इससे उच्चतर अर्थात् संविधान की प्राथमिक मूल विधि के क्षेत्र में संविधान के अनुच्छेद 368 में अन्तर्विष्ट संशोधन की शक्ति भी आती है । न तो यह अनुच्छेद और न ही संविधान के किसी दूसरे भाग द्वारा सांविधानिक संशोधन के तत्व की परीक्षा करने के लिए कोई प्राधिकारपूर्ण मानदण्ड स्पष्ट भाषा में स्थापित किया गया है । इस संशोधन शक्ति पर न्यायपालिका का नियन्त्रण केवल यह बात देखने तक सीमित है कि संशोधन शक्ति पर न्यायपालिका का नियन्त्रण केवल यह बात देखने तक सीमित है कि संशोधन के प्ररूप और रीति का उचित रूप से पालन हो । इसके अतिरिक्त संशोधन के अनुच्छेद 368 में वर्णित सांविधानिक निकायों या अंगों में निहित सांविधानिक शक्ति पर न्यायपालिका का अधिकार समाप्त हो जाता है । निस्सन्देह न्यायपालिका को विवाद की दशा में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न प्राधिकरण एवं अन्य प्राधिकरणों की सीमाओं के प्रश्न का विनिश्चय करना होता है किन्तु जब ये प्राधिकरण अपनी सीमाओं के भीतर कार्य करते है तब न्यायपालिका हस्तक्षेप नहीं कर सकती ।

यह न्यायालय के लिए नहीं है कि वह जनता के निमित्त अन्तिम मूल्यवान का चुनाव करें । संविधान द्वारा न्यायाधीशों की सरकार की स्थापना इस देश में नहीं हुई है । इसके द्वारा संसद को ही सर्वोपरि मानदण्डों को अवधारित करने का कर्त्तव्य सौंपा गया है । न्यायालयों को केवल सांविधानिक मूल्यवान चयनों के परिमापी के भीतर सीमित मूल्यवान विवेकाधिकार की अनुज्ञा दी गई है । न्यायलय संशोधन की आवश्यकता का तथा इसके अभाव में राज्य के खतरे का' अनुमान नहीं लगा सकते । क्योंकि सभी साक्ष्य उसके समक्ष पेश नहीं किये जा सकते । इसके विपरीत संसद समस्त सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वित्तीय, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय दबावों को जो कि संशोधन के लिए होते है अच्छी तरह जानती है और इसलिए यह उसकी समीचीनता को विनिश्चित करने के लिए अधिक अच्छी स्थिति में है । रचना सम्बन्धी सामाजिक, आर्थिक मूल्यवान चयनों में जटिल और पेचीदा राजनीतिक प्रक्रिया अन्तर्वलित है । न्यायालय उस कृत्य को पूरा करने के योग्य नहीं है । स्पष्ट सांविधानिक मानदण्डों के

अभाव में तथा सम्पूर्ण साक्ष्य के अभाव में न्यायालय के रचना सम्बन्धी मूल्यवान चयन अधिकांश रूप में काल्पनिक होंगे । न्यायाधिपतियों के निजी संस्कार बलपूर्वक उस मानदण्ड में प्रवेश कर जायेंगे और उनके निर्णयों को प्रभावित करेंगे । काल्पनिकता का उद्देश्य उस विधिक निश्चितता का महत्व घटाना है जो विधि के नियम में आधारभूत तत्व है । सांविधानिक संशोधनों के न्यायिक पुनरावलोकन द्वारा जनता की जागरूकता, उसकी स्पष्टोक्ति तथा उसकी प्रभावकारिता कुण्ठित हो जाएगी । सही लोकतन्त्र तथा सही गणराज्यवाद में यह पूर्वधारणा होती है कि जनता के विचार–विमर्श द्वारा तथा जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के मत द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं तय की जाएंगी, न कि न्यायिक राय के द्वारा। यद्यपि न्यायालय ' जनता द्वारा नहीं चुना जाता है, तब भी यह जनता के हृदयों में अपना स्थायी स्थान बना सकता है और इसके द्वारा अपने नैतिक प्राधिकार को बढ़ा सकता है, यदि वह अल्पसंख्यकों (यहां धनाढ्य वर्ग से आशयित) के संरक्षण की औपचारिक अवधारणा से न्यायिक–पुनर्विचार का केन्द्रबिन्दु हटाकर जनता के निर्बल वर्गों के संरक्षण की मानवतावादी विचारधारा के संरक्षण के प्रति केन्द्रित करे । वास्तव में यह उन करोड़ों निर्धनों, भूखों और भोले–भाले लोगों के लिए है जिन्हें मानवीय अधिकारों के अपने उपभोग के लिए न्यायालय के सरंक्षण की आवश्यकता है । संविधान के बारे में यह अपेक्षित नहीं है कि वह बड़े थैलीशाहों के विधिक बकवास का अखाड़ा है । यह सामान्य जनता के लिए बना है । साधारणतया इसका इस प्रकार अर्थान्वयनं करना चाहिए कि वे इसे समझ सकें और इसका मूल्यांकन कर सकें । ' जितना ही वे समझेंगे उतना ही वे इससे प्रेम करेंगे और उतना ही वे इसको मूल्य देंगे । स्पष्ट आज्ञा के अभाव में न्यायालय को ऐसे सांविधानिक' संशोधन को अभिखण्डित करने से अलग रहना चाहिए जिसके द्वारा 'प्रत्येक आंसू को पोंछने के लिए प्रयत्न किया जाता है । ऐसा करने में न्यायालय को राष्ट्रीय परम्परा से अलग नहीं रहना चाहिए अपितु उसे कायम रखना चाहिये ।

हमारे राष्ट्रीय चिन्ह पर भी दृष्टिपात करने से दो बातें आती है अर्थात् 'चक्र' और 'सत्यमेव जयते' । 'चक्र' गति का प्रतीक है । 'सत्यम्' बलिदान का प्रतीक है । 'चक्र' यह संज्ञापित करता है कि संविधान एक गतिमान सन्तुलन है । 'सत्यमेव' संविधान के बलिदान तथा मानवतावाद के आदर्श का प्रतीक है । न्यायालय उस दशा में अपने कर्त्तव्य का पालन तथा संविधान के प्रति ली गई अपनी शपथ को पूरा करता हुआ माना जाएगा, जब वह संविधान के इन दो आदर्शों को न्यायिक पुनरावलोकन के प्रयोग में परिलक्षित करेगा। प्रश्न है, क्या न्यायालय उस दशा को पूरा कर सका है?

### 10.3.2 संवैधानिक उपबन्ध एवं स्वरूप

भारत के संविधान के विकास और परिवर्तन में न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) का बहुत योगदान रहा है। संविधान में समग्र न्यायव्यवस्था (Unitary

Judicial System) की स्थापना की गई है, और संघीय प्रणाली होने के नाते न्यायालय का सर्वोच्च होना स्वाभाविक है। इस स्थिति में यह मोटे रूप से अमेरिका के संविधान से मिलता है। किन्तु भारतवर्ष मैं न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था संवैधानिक कानून में भी की गई है जिसका उल्लेख अनुच्छेद 13, 32, 226 आदि में मिलता है।

न्यायिक पुनरावलोकन का एक स्वरूप नहीं रहा है। यह स्वयं गतिशीलता का प्रतीक रही है और इसके गतिशील होने के विशेष तौर से: दो कारण है -

(i) यद्यपि यह आशा की जाती है कि न्यायाधीशों के अपने व्यक्तिगत मूल्य नहीं होंगे, वे उन मूल्यों से तटस्थ रह कर कार्य करेंगें किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता। न्यायाधीशों के भी मनुष्य होने के नाते अपने मूल्य होते है जिनका प्रभाव निर्णयों पर पड़ता है। आलोचकों का कहना है कि गोलक नाथ मुकदमें का निर्णय इसके लिये उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। अत: न्यायिक पुनरावलोकन के स्वरूप एवं भूमिका में अन्तर हो सकता है और इससे यह गतिशील दिखाई देता है। कभी–कभी वह परम्परावादी एवं अनुदार दिखाई देता है तो कभी प्रगतिशील।

(ii) हमारे संविधान में “According to the Procedure established by law" की व्यवस्था की गई है किन्तु बहुधा इसके व “Due Process of law" के बीच अन्तर करना कठिन हो जाता है। इसके बीच अन्तर की संदिग्ध रेखा है। जिससे न्यायालय 'due process of law" की ओर चला जाता है। इससे भी न्यायिक पुनरावलोकन एक स्थिर प्रक्रिया न होकर, गतिशील हो जाती है।

न्यायिक पुनरावलोकन की संविधान मै जो भूमिका रही है, उसकी एक दिशा निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता है कि संविधान आवश्यक रूप से प्रगतिवाद की ओर गया है या रूढ़िवाद की ओर । कुछ निर्णय प्रगतिशीलता के द्योतक है तो कुछ रूढ़िवादिता के प्रतीक है ।

न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय की सर्वोच्चता का प्रतीक है । यह इसके इस अधिकार की ओर इंगित करता है कि न्यायपालिका कार्यपालिका एवं विधान–मण्डल के कानूनों की जांच करे कि कहीं उनसे संवैधानिक सीमाओं का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है और अगर ऐसा होता है तो वह उसे अवैध घोषित कर दे । भारत में न्यायिक पुनरावलोकन के तीन पक्ष है जिनसे उसका क्षेत्र निर्धारित होता है:–

(i) प्रथम पक्ष का सम्बन्ध है उच्चतम न्यायालय के संघीय न्यायालय होने से । अर्थात् यहां इसको यह देखना है कि केन्द्र और राज्य उन सीमाओं में रहते हुए कार्य करें जो संविधान द्वारा उनके सम्बन्ध में इंगित की गई है और इस प्रकार से संविधान की रेखाओं का उल्लंघन नहीं हो । अत : हम यह कह सकते है कि न्यायिक पुनरावलोकन का एक उत्तरदायित्व यह है कि वह यह देखे कि केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा संवैधानिक सीमा का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है ।

(ii) उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारों का संरक्षक भी है और इस नाते उसे यह देखना होता है कि केन्द्रीय सरकार या राज्यों की सरकारें अनुचित रूप से मूल अधिकारों का हनन तो नहीं

कर रही है, उनके मार्ग में बाधक तो नहीं है । यहां पर संविधान द्वारा कुछ सीमाएं लगाई गई है । इन सीमाओं का सहारा लेकर केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा इन्हें प्रतिबन्धित कर सकती है । यहां न्यायालय को यह देखना होता है कि सरकार जो प्रतिबन्ध लगा रही है, वे बन्धन संवैधानिक सीमाओं के बाहर तो नहीं है । अनुचित उल्लंघन को अवैध घोषित करके वह पुन : नागरिकों को अधिकार. दिला सकता हे । ऐसा याचिकाओं (writs) के माध्यम से हो सकता है । इनमें महत्वपूर्ण याचिका "Writ of Habeas Corpus" (Give my body back) है।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय सम्पूर्ण संविधान का भी संरक्षक है, अत : उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह देखे कि सम्पूर्ण संविधान की सम्पूर्ण धाराओं को माना जा रहा है तथा किसी भी स्तर पर उसका उल्लंघन तो नहीं हो रहा है ।

इन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए न्यायालय उतना स्वतन्त्र नहीं है, जितना अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय, क्योंकि यहां पर न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग (According to the procedure established by law) के सिद्धान्त के आधार पर होता है, न कि (due process of law) के नियम की भांति । अत वह यह प्रश्न नहीं उठायेगा कि जो सीमाएं संसद लगायेंगी, वे सीमाएं औचित्यपूर्ण है या नहीं, न्यायसंगत है या नहीं । यह बात वी. जी. रो (V.G. Row) बनाम मद्रास राज्य (1952) के मुकदमें में ही स्पष्ट कर दी गई थी । इसके निर्णय में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश महोदय ने कहा कि क्योंकि न्यायालय भी (According to the procedure established by law) के सिद्धान्त पर कार्य करना है, वह केवल दो बातें देख सकता है (1) संविधान मैं जिन शब्दों में सीमाओं का वर्णन किया गया है, उनका अर्थ क्या है । इस प्रकार से वह सीमाओं के क्षेत्र के शब्दों की व्याख्या के माध्यम से सीमित या विकसित कर सकता है कि वे सीमाएं भली–भांति लागू की गई है या नहीं ।

### 10.3.3 संविधान की व्याख्या : न्यायालय द्वारा अपनाये गये आधार

(i) The intention of the makers of the Constitutional law – इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय का यह मत रहा कि व्याख्या करते समय, संविधान–निर्माताओं का क्या कहना था, उनका क्या मंतव्य था, संविधान सभा में क्या कहा, आदि को मौलिक महत्व नहीं दिया जाता, अर्थात् न्यायालय उन मंतव्यों से बाध्य नहीं है जो संविधान–सभा में व्यक्त किये गये थे । अर्थ को समझने में सहायता ली जा सकती है किन्तु न्यायालय उस अर्थ से बाध्य हो या स्वीकार ही कर ले आवश्यक नहीं है । इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय है :– The States of Travancore, Cochin and others V/s The Bombay Co. Ltd. (1950)

(ii) The norm of fair , liberal and progressive interpretation – न्यायालय ने यह कहा कि निर्णय में हमें यह देखना चाहिए कि (अ) वे दोनों पक्षों के सम्बन्ध में न्यायसंगत (fair) है या नहीं। (ब) वह धाराओं एवं उप धाराओं के 'संकीर्ण अर्थों में नहीं अपितु उनका जितना उदार अर्थ लगाया जा सकता है, लगाया है या नहीं। (स) उन्नति की

दिशा की ओर इंगित करता है अर्थात् पीछे जो निर्णय दिये गये है, उनके आगे है या पीछे है, यानि समय के अनुसार है या रूढ़िवादी। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण निर्णय है : Moti Ram V/s North East Frontier Railway , 1964.

(iii) The norm of transgression of limitations – उच्चतम न्यायालय ने यह भी घोषित किया है कि हमें केवल यह देखना है कि संविधान में जो सीमाएं निर्धारित की गई है, उनका उल्लंघन तो नहीं हुआ है और इस आधार को अपनाते हुए न्यायालय ने स्वयं यह भी घोषित कर दिया कि हमारा सम्बन्ध सीमाओं के संरक्षण व उनके लागू करने तक ही है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि हम यह नहीं देखेंगे कि सीमाएं उचित है या अनुचित। इस दिशा में महत्वपूर्ण निर्णय है :A.K. Gopalan V/s the State of Madras, 1950.

(iv) The Preamble and provisions of the Constitution as interpretative norm– –इस सम्बन्ध मे यह कहा गया कि भूमिका का प्रयोग केवल पथ–प्रदर्शन के रूप में किया जा सकता है। स्वयं उससे न्यायधीश बंधे हुए नहीं है अर्थात् केवल भूमिका के आधार पर वे निर्णय नहीं देंगे। अगर अन्य आधार उपस्थित हों तो इसका प्रयोग पूरक (supplement) के रूप में ही हो सकता है। संविधान की धाराओं से न्यायालय भी उतना ही बंधा हुआ है जितना सरकार व नागरिक। अत: इनका ध्यान रखना आवश्यक है। निर्णय : Jyoti Prashad V/s Administrator for the Union Territory of Delhi, 1962.

(v) Seminal sources as basis of interpretation–यह भी प्रश्न उठा कि उन संविधानों को, जिन्होंने हमारे संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, उन्हें क्या महत्व दिया जायेगा बहुधा एक ही उत्तर इस सम्बन्ध में न्यायालय ने दिया कि हम अन्य संविधानों की जो उनके देश के न्यायालयों ने व्याख्या की है, उससे बाध्य. नहीं है किन्तु हम उन व्याख्याओं का उपयोग स्थिति को समझने में पथ–प्रदर्शन के रूप में कर सकते है, वकीलों द्वारा तर्क व दलीलों में। परन्तु उच्चतम न्यायालय स्वतन्त्र है कि अन्य न्यायालयों की व्याख्याओं को किस मात्रा में स्वीकार करे तथा किस मात्रा में अस्वीकार करे।

मोटे रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्चतम न्यायालय ने अपना स्वतन्त्र मार्ग बनाने का प्रयास किया है। उसने केवल एक सीमा स्वीकार की है कि वह " According to the procedure established by law" के अन्तर्गत रह कर कार्य करेगा अथवा दूसरे शब्दों में वह अपने को उन सीमाओं में बांधेगा जिन्हें संविधान में निहित किया गया है।

## 10.4 उच्चतम न्यायालय के निर्णय : कुछ सिद्धान्तों का निर्माण

न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग तीनों ही सन्दर्भों में हुआ है अर्थात् संघीय न्यायालय के रूप में, मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में और संविधान के संरक्षक के रूप में। इसके उदाहरण संविधान के हमारे सारे अध्ययन में फैले हुए है। यहां वे उदाहरण दिये जा रहे है, जिनका सम्बन्ध संवैधानिक सिद्धान्तों के कुछ पक्षों पर प्रकाश पड़ने से है :–

(i) The issue of power of delegation – विधानमण्डल अपनी विधायन शक्ति कार्यपालिका को दे सकता है या नहीं, और यदि दे सकता है तो वह मूल रूप में दे सकता है या मूल शक्ति विधानमण्डल में ही रहेगी और क्या अपनी सम्पूर्ण शक्ति ही कार्यपालिका को दे सकता है आदि अनेक प्रश्न थे, जिनका उत्तर न्यायालय ने 1951 में - Magan Bhai Sanjanwala V/s State of Bombay के निर्णय में दिया। इसमें सर्वोच्च न्यायालय ने बड़े ही निर्णायक ढंग से उत्तर दिया कि :

(a) विधि–निर्माण का अधिकार किसी अन्य संस्था को प्रदान करना विधायी शक्ति । में निहित है ।

(b) विधान मण्डल को अपनी शक्ति किसी संस्था को प्रदान करते समय मूल शक्ति और गौण शक्ति में अन्तर करना होगा । उदाहरणत : जो शक्तियां संविधान में केन्द्रीय सरकार को सौंपी गई है, बहुधा उन सब विषयों में – यह आशा की जाती है कि उनका मूल कानून तो विधान–मण्डल ही बनायेगा, किन्तु जो उपकानून आदि बनाने है, वह इन्हें कार्यपालिका को सौंप सकता है ।

(c) सम्पूर्ण विधायी उत्तरदायित्व वह किसी अन्य को नहीं सौंप सकता, अपितु आशिक उत्तरदायित्व ही सौंप सकता है और वह भी मूल बातों के बारे में नहीं ।

(d) कार्यपालिका की जो शक्तियाँ सौंपी गई है, उनका भी 'अन्तिम उत्तरदायित्व विधान–मण्डल का ही होता है ।

(ii) The issue of separation of power – हमारे संविधान द्वारा केन्द्रीय स्तर तथा राज्य स्तर पर संसदीय प्रणाली की व्यवस्था की गई है। अत: क्या यहाँ पर कार्यपालिका, विधान–मण्डल और न्यायपालिका के बीच रेखा खींची जा सकती है अथवा क्या हम शक्ति पृथक्करण प्रयोग ही नहीं कर सकते। 'Ray Sahab Ray Tawaya Kappoor And Sons. V/s The State of Punba,1955" के मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि यद्यपि अमरीकी–संविधान के अर्थ में यहां शक्ति पृथक्करण बिल्कुल नहीं पाया जाता। हमारे यहां शक्ति पृथक्करण का प्रयोग कार्यो के विभाजन (differentiation of functions) के, लिए हुआ है, न कि शक्ति पृथक्करण (separation of powers) के रूप में। उदाहरणत: केवल न्यायालय को स्वतंत्र शक्ति प्रदान की गई है तथा उसका कार्य–क्षेत्र, रूपरेखा व सीमा निश्चित की गई है। इसी प्रकार संविधान में केन्द्रीय व राज्य विधान–मण्डलों की विधायी शक्तियों को सूची के माध्यम से वर्गीकृत किया गया है तथा इन्हीं कें आधार पर केन्द्रीय तथा राज्यों की कार्यपालिकाओ की शक्ति निश्चित की गई है। अर्थात् कार्यपालिका तथा विधान–मण्डलों के कार्यो में बिल्कुल स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया हैं। अत: न्यायालय आशिक रूप से ही शक्ति पृथक्करण (separation of power) के सिद्धान्त को मान्यता दे सकता है।

(iii) Legislative competence –.औचित्यपूर्ण अधिकार क्षेत्र को किस आधार पर निश्चित किया जाए यह प्रश्न भारत के सम्बन्ध में और भी महत्वपूर्ण न क्योंकि यहां संघीय प्रणाली

हैं। अत: कितनी ही बार यह प्रश्न उठ सकता कि अमुक विषय राज्य से सम्बन्धित है या केन्द्रीय सरकार से। अर्थात् जहां है निश्चयात्मक ढंग से नहीं कह सकते है, ऐसा प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय में आने पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये

(a) जो कुछ संविधान में स्पष्ट रूप से लिखा है उसे निर्णायक माना जायेगा। (Conclusivaness of the explicit text of the Constitution) जहां पर अर्थ संदिग्ध है वहां सन्दर्भ का सहारा लिया 'जावेगा। (if the verdict of the Constitution is ambiguous, than the context will be taken into consideration).

(b) व्याख्या करने में प्रयास समन्वय बिठाने' की दिशा में होगा, विरोध को उखाड़ने या विरोधी तत्वों को उभारने की दिशा में नहीं होगा। (Reconciliation will be the orienting norm of interpretation)जैसे भ्रमण की स्वतन्त्रता बनाम नजरबन्दी अधिकार (Right to preventive detention) के बीच सतुलन बिठाना।

(c) Pith and Substances Doctrine– यह अमेरिका से लिया गया सिद्धान्त है। दो संस्थाओं कें कार्य–क्षेत्र में, जब कहीं–कहीं ऐसा लगता हो कि रूपरेखा अस्पष्ट व दुहरी है, रेखाएँ एक दूसरे से घुली–मिली है, तो इसमें निर्णय कैसे किया जाए। इस सम्बन्ध में न्यायालय ने कहा कि हमें '" को अपनाना होगा। अर्थात् उस विषय की आत्मा (विषय के महत्व) के आधार पर निर्णय करना होगा कि वह स्थानीय महत्व का है या प्रान्तीय या राष्ट्रीय–महत्व का जैसे : मूल अधिकार बनाम नीति निदेशक तत्व।

(d) Implied power doctrine– यह सिद्धान्त भी अमेरिका से लिया गया है। यदि किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र या राज्य को प्राप्त है, तो उन सब चीजों पर साध्य व साधन के आधार पर निर्णय किया जावेगा।

(e) "Presumption will be in favour of the Legislatures"– आधारभूत धारणा यह है कि विधानमण्डल ने अपने अधिकार का प्रयोग औचित्यपूर्ण ढंग से किया है और यह धारणा उस समय तक बनी रहेगी जब तक यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि उसका प्रयोग औचित्यपूर्ण ढंग से नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि यह भी मान्यता बनी रहेगी कि विधानमण्डल को यह अधिकार है या कि विधानमण्डल सबसे उत्तम' निर्णायक है कि 'समाज के हित में क्या है, जब तक कि व्यक्ति यह सिद्ध कर नहीं देता कि विधान–मण्डल का यह कार्य समाज के हित में नहीं है। जैसे : Mohamad Hanif Qureshi V/s The State of Bihar, 1959.

(f) Progressive V/s Stability – क्या विधान–मण्डल से यह आशा की जाती है कि वह हमेशा प्रगति की दिशा में ले जाने वाले ही कानून बनाएगा। न्यायालय ने यह कहा कि यह सिद्धान्त एक पूर्ण (absolute) निर्णायक तत्व के रूप में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि कुछ कानून केवल स्थायीत्व (stability) के रूप में ही बनाये जाते है फिर वे चाहे प्रगतिशील हों या अप्रगतिशील। न्यायालय ने इसे 'सीमित किन्तु महत्वपूर्ण

(limited but important) कहा। जैसे : The Senior Electric Inspector V/s. Laxmi Narain Chopra, 1962.

(g) Separately (पृथक–पृथक) – एक कानून को यह देखने के लिए कि वह औचित्यपूर्ण है या वैध है, उसे न्यायालय पूरी तरह से देख सकता है तथा उसके कुछ भाग को भी देखा जा सकती है। अगर सारे भाग अवैध है तो उस पूरे कानून को अवैध घोषित कर दिया जायेगा तथा कुछ भाग ही अवैध है तो उस कानून को वैध तथा बाकी उस कुछ भाग को अवैध घोषित कर दिया जावेगा। जैसे : State of Bombay V/s United Motors and Others. किन्तु इसमें एक बात यह कही गई कि व्यवस्थापिका को ऐसा कानून बनाना चाहिए, जिसमें समस्त भाग अलग–अलग स्पष्ट हो। अगर ऐसा नहीं होता है तो कुछ भाग के अवैध होने पर भी पूरा कानून अवैध माना जावेगा।

(iv) मूल अधिकारों पर विवेकपूर्ण प्रतिबन्ध (Reasonable restrictions on Fundamental rights) – इसके अन्तर्गत न्यायालय ने मोटे रूप से दो बातें कही :

(a) न्यायालय निर्धारित करेगा कि प्रतिबन्ध विवेकयुक्त है या नहीं और इसके सम्बन्ध में विधान–मण्डल का अन्तिम निर्णय नहीं होगा, क्योंकि यह सम्भावना है कि विधान–मण्डल अनुचित प्रतिबन्ध लगाये और उसे भी विवेकयुक्त घोषित कर दे।

(b) किसी चीज को विवेकयुक्त घोषित करने में मापदण्ड न्यायालय निर्धारित करेगा इसके निम्नांकित मोटे आधार होंगे –

(i) न्यायालय तथ्यों (relevant facts) का निरीक्षण करेगा तथा उनसे वह इस निर्णय पर पहुंचेगा कि प्रतिबन्ध विवेक युक्त है या नहीं।

(ii) विधान–मण्डल का क्या उद्देश्य था – यह न्यायालय देखेगा कि प्रतिबन्ध लगाने में विधान–मण्डल का क्या वही उद्देश्य था, जो संविधान में इंगित किया गया था या राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए था या प्रतिबन्ध दलीय हित के लिए लगाया गया था।

(iii) उन परिस्थितियों का भी अध्ययन किया जावेगा जिनमें प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता पड़ी।

इन तीनों बातों को मद्दे नजर रखते हुए न्यायालय निर्णय देगा कि प्रतिबन्ध (restriction) विवेकयुक्त (reasonable) है या नहीं ।

## 10.5 भारत में न्यायिक पुनरावलोकन : मूल्यांकन

हमें उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि न्यायालय ने राज्य की शक्ति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच सन्तुलन बनाए रखने का सफल प्रयास किया है और यह भी कोशिश की है कि केन्द्र और राज्यों के बीच भी शक्ति–सन्तुलन बना रहे और संविधान की आत्मा संरक्षित रहे । संविधान की व्याख्या करने का भी इस तरह से प्रयास किया गया है कि जहां तक बने न्यायधीशों के विवेक का प्रयोग न होकर संविधान के शब्दों का ही सहारा लिया जाए अर्थात् बहुत मात्रा में, 'According to the procedure established by law " की सीमा का न्यायालय ने आदर किया है, इसलिए राजनीतिक व्यवस्था और न्यायालय

की महत्ता बनाए रखने में न्याय ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । यद्यपि यह कहना कठिन है कि न्यायाधिवेश हमेशा तटस्थ ही रहें या वे अपने मूल्यों से हमेशा दूर रहें, फिर भी मोटे रूप से न्यायालय के अधिकांश निर्णय विवाद के ऊपर रहे है । निर्णयों का थोड़ा भाग जरूर ऐसा रहा है, जो विवाद एवं आलोचना का शिकार हुआ है । जी. एन. जोशी के ये शब्द न्यायिक पुनरावलोकन के मूल्यांकन – के सम्बन्ध में सही है :

"Judicial review has affectively preserved the Rule of Law". The Judiciary has with sensitive regard, maintained delicate and difficult balance between the rights of the citizen and the powers of the government and also balance between the powers of the Union and those of the States."

फिर भी न्यायिक पुनरावलोकन की कुछ आलोचनाएं की गई है –

(i) न्यायिक पुनरावलोकन में राजनीतिक स्वतन्त्रता को सामाजिक न्याय की तुलना में अधिक महत्व दिया गया है । इसका फल यह हुआ कि अधिकांश कानून जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति के अधिकार से था, उसे न्यायालय ने अवैध घोषित किया है और इसी के फलस्वरूप संविधान में अधिकांश संशोधन आवश्यक हुए । इस प्रकार न्यायालय केवल लोकतंत्र के राजनीतिक पक्ष का तो संरक्षण कर पाया है परन्तु उसके सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष का संरक्षण नहीं कर पाया है, जबकि हमारे संविधान में मूल अधिकारों एवं नीति–निदेशक तत्वों, दोनों को मिला कर यह प्रयास किया गया था कि लोकतन्त्र के दोनों पक्षों में सन्तुलन बना रहे । न्यायालय से यह आशा की जाती थी कि वह मूल अधिकारों एवं नीति निदेशक तत्वों को समन्वित करने में सहायक होगा और ऐसे निर्णय को नहीं देगा, जिससे मूल अधिकारों की तो रक्षा हो; किन्तु निदेशक तत्वों को निर्जीव बना दिया जाए । प्रारम्भ में तो न्यायालय में निदेशक तत्वों को भी महत्व दिया गया; किन्तु बाद में चलकर मूल अधिकारों पर ही जोर दिया जाने लगा। यहां तक कि गोलकनाथ मुकदमें में तो न्यायालय ने यह कह दिया कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती और इससे दोनों के बीच समन्वय की भावी सम्भावनाएं खत्म हो गई । विशेष तौर से वामपंथी दलों ने यह कहा कि न्यायालय इनमें सामंजस्य बिठाने में असमर्थ रहा। पांचवी लोकसभा के चुनाव में यह प्रश्न विशेषतौर से उठा तथा इसी के ।आधार पर चुनाव लड़ा गया जिसमें सामाजिक न्याय के कार्यक्रमों की विजय हुई। इस प्रकार आलोचकों के अनुसार कुल मिलाकर न्यायालय सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र (Instrument of social change) नहीं बन सका।

(ii) कभी–कभी यह भी हुआ कि 'According to the procedure established by law'' एवं "due process of law" के बीच की सीमा थी, उसका न्यायालय ने उल्लंघन किया और इस उल्लंघन का कारण न्यायाधीशों के अपने मूल्य होते थे। उदाहरणत: यह कहा जाता है कि गोलकनाथ मुकदमें के निर्णय में राजनीतिक तर्क ज्यादा दिये गये तथा कानूनी तर्क कम। ये राजनीतिक तर्क न्यायाधीश सुब्बाराव के व्यक्तिगत मूल्य के प्रतीक थे।

कभी–कभी तो ऐसा कहा जाता है कि हमेशा न्यायालय ने निष्पक्ष निर्णय नहीं दिये। यह विशेष तौर से उस समय हुआ, जब निर्णय बहुमत के आधार पर दिया गया था। जैसे गोलकनाथ मुकदमें का निर्णय एक मत (6–5) के बहुमत से निर्मित किया गया।

(iii) भारत में उच्चतम न्यायालय को परामर्श देने का भी अधिकार है किन्तु अमेरिका में ऐसा अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति हो सकती है कि सरकार परामर्श मांगे व सरकार के पक्ष में न्यायालय परामर्श दे दे, फिर सरकार वैसा कानून बना दे। तत्पश्चात् नागरिक न्यायालय में मुकदमा लाये तब न्यायालय धर्म संकट में पड़ सकता है कि वह क्या निर्णय दे।

## 10.6 अभ्यास–कार्य

1. न्यायिक पुनरावलोकन की सैद्धान्तिक अवधारणा की चर्चा कीजिए।
2. भारत में न्यायिक पुनरावलोकन पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।
3. न्यायिक पुनरावलोकन के वाहक रूप में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की समीक्षा कीजिए।
4. न्यायिक पुनरावलोकन के गुणावगुण प्रतिपादित कीजिए।

## 10.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची


1. Abraham, C. : The Judicial process, Oxford University Press, Fairlawn, New Jersey, 1964
2. Austin, Granville : The Indian Constitution Cornerstone of a Nation, Clarendon Press, Oxford U.K., 1966 (First Indian Edition, 1972).
3. Basu, D.D. : Shorter Constitution of India, Prentice Hall of India Ltd., New Delhi, 8th Edition, 1981
4. Bryce, James : Modern Democracies, Mcmillion & Co.,London, 1924
5. Deshpande, V.S. : Judicial Review of Legislations, Eastern Law Book Co, Lucknow, 1975
6. Dhawan Rajiv : The Supreme Court of India and Parliamentary Sovereignty, Sterling Pub. Pvt. Ltd., New Delhi,1976
7. Dicey, A.V : Law of the Constitution, Edited by E.C.S Wade. McMillan & Co., London, (Paperback Edition, 1961).
8. Finer, Herman : The Theory and Practice of Modern Government, Methues & Co., London 1961 (First India Edition, 1977).
9. Grossman Joel, B.& Joseph Tanenhaus : Frontiers of Judicial Research, New York, 1969.

10. Gupta, S.P. : Supreme Court on Amendment of Fundamental Rights in Indian Constitution, Law Publishing House, Allahabad, 1973.

11. Hari Chand : The Amending Process in the Indian Constitution, Metropolitan Book Co., Delhi, 1972.

12. Jain, S.N. : Bhartiya Samvidhanik Vidhi, Panchshil Prakashan, Jaipur, 1987.

13. Jennings, Ivor : The Law and the Constitution, London University Press, 5th Ed. 1953

14. Khanna, H.R. : Judicial Review or Confrontation, McMillian, New Delhi,1977.

15. Markandan, K.C. : Amending Process and Constitutional Amendments in the Indian Constitution, Sterling Publishers, Delhi, 1972.

16. Palkhiwala, N.A. : Our Constitution–Defaced and Defiled, 1974.

17. Pylee, M.V. : Constitutional Government in India, Asia Publishing House, Bombay (Reprint 1972).

18. Ray, S.N. : Judicial Review and Fundamental Rights, Eastern Law House, Calcutta,1974.

19. Seervai, H.M. : Constitutional Law of India (Two Volumes), Bombay, 3rd Edition 1983–84.

20. Singhvi, L.M. : Parliament and Constitutional Amendment, I.C.P.S., National Publishing House Delhi 1971.

# इकाई – 11

# केंद्र–राज्य सम्बंध : तथ्य और समस्याएं

**इकाई की संरचना**

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 केन्द्र–राज्य संवैधानिक सम्बंध - विधायी, प्रशासनिक व वित्तीय

11.4 केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के वास्तविक तथ्य

11.5 केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की प्रमुख समस्याएँ

11.6 समाधान हेतु सुझाव

11.7 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य

11.8 संदर्भ ग्रंथ

## 11.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत संघ राज्य में शासन की शक्तियों के संवैधानिक वितरण की जानकारी देना व व्यवहार में उत्पन्न इन विभिन्न बिन्दुओं से परिचित कराना जो कि केन्द्रीय शासन व राज्य शासन के मध्य तनाव व समस्याओं के कारण है । साथ ही उन तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करना जो कि केन्द्र–राज्य के सम्बन्धों को असन्तुलित बनाते है ।

## 11.2 प्रस्तावना

किसी भी राष्ट्र में संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना के दो अर्थ होते है, प्रथम यह कि शासन की शक्तियां स्थानीय क्षेत्र अर्थात् राज्य और केन्द्र के मध्य बांट दी जावे तथा अत यह कि इन दोनों शक्ति–केन्द्रों के मध्य ऐसा उचित सन्तुलन बना रहे जिससे उसका स्वरूप सहयोग, सद्भावना और सकारात्मक प्रवृत्ति का दिखाई दे । सिद्धांत की दृष्टि से शक्ति का केन्द्र–राज्य विभाजन अत्यन्त सरल व श्रेष्ठ पद्धति के रूप में दिखाई देता है किन्तु व्यवहार में शक्तियों का विभाजन व्यावहारिक आचरण व महत्वकांक्षाओं के कारण अनेक तनावों, विवादों और संघर्षों को जन्म देता है ।

भारत की स्वाधीनता के पूर्व ही यह निश्चित हो गया था कि यहां संघात्मक व्यवस्था की स्वीकार्य होगी तथा संविधान सभा में चर्चा के दौरान संघीय व्यवस्था पर तो लगभग सर्वानुमति थी किन्तु शक्तियों के वितरण, राज्य और केन्द्र के मध्य सन्तुलन के विषयों पर काफी चर्चा हुई और निष्कर्षत : शक्तिशाली केन्द्र के साथ राज्यों को शक्तियां बांटी गई । डॉ. अम्बेडकर ने हर्ष–ध्वनि के मध्य संविधान सभा में घोषणा की थी कि "मैं एक शक्तिशाली केन्द्र के पक्ष में हूं । यह 1935 अधिनियम के अन्तर्गत निर्मित केन्द्र ये भी अधिक शक्तिशाली होगा। इस शक्तिशाली केंद्र की स्थापना ने जहां राष्ट्रीय एकता–अखण्डता व संकट की स्थिति में कुशल शासन जैसी महत्वपूर्ण स्थितियों में अपना औचित्य स्वीकार करवाया वहीं राज्यों की स्थितियों को केन्द्र पर निर्भर या केन्द्र की छाया में चलने पर मजबूर भी किया फलत : राज्यों

में असंतोष व्याप्त हुआ और वे अपनी पहचान तथा विकास के मार्ग में केन्द्र के हस्तक्षेप के विरूद्ध आवाज भी उठाने लगे । इस तरह राज्य व केन्द्र के मध्य अनेक समस्याओं ने जन्म लिया ।

## 11.3 केन्द्र–राज्य संवैधानिक सम्बन्ध – विधायी, प्रशासनिक व वित्तीय

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की समस्याओं के अध्ययन से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि केन्द्र व राज्य के सम्बन्ध संविधान के द्वारा कैसे निर्धारित किये गये है । इन्हें तीन वर्गो में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है ।–

**(अ) विधायी सम्बन्ध :**

भारत के संविधान में तीन विषय–सूचियों का वर्णन है, प्रथम– संघ सूची, द्वितीय – राज्य सूची व तृतीय – समवर्ती सूची है । संघ सूची में 97 विषय है इन विषयों पर विधि–निर्माण का क्षेत्राधिकार भारतीय संघ की संसद को है । इस सूची में उल्लिखित विषय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जैसे विदेश, रक्षा, महानिर्माण, नागरिकता, रेल, वायु मार्ग, यातायात, बन्दरगाह, संचार माध्यम, बैक इत्यादि। राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर विधि–निर्माण का क्षेत्राधिकार सामान्यत: राज्यों की विधायिकाओं को प्राप्त है, इस सूची में 66 विषय थे, 42वे संविधान संशोधन द्वारा कुछ विषयों को इस सूची से हटाकर समवर्ती सूची में रखा गया है। इसमें पुलिस, न्याय, जेल; सिंचाई, कृषि, स्थानीय प्रशासन आदि विषय है। तीसरी सूची समवर्ती सूची कहलाती है तथा इसमें उल्लिखित विषयों पर केन्द्र व राज्य दोनों का ही क्षेत्राधिकार रहता है, किन्तु यदि दोनों के द्वारा निर्मित विधि किसी विषय पर परस्पर विरोधी हो तो केन्द्र की विधि को विधिमान्य किया गया है। वे 'विषय' जिन्हें 'अवशिष्ट विषय' कहा गया है अर्थात् जो उपरोक्त तीनों सूचियों में नहीं है उन विषयों पर विधि–निर्माण का क्षेत्राधिकार केन्द्र का मान्य किया गया है।

विधायी शक्तियों के उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त भी संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि निम्नांकित अवस्थाओं में राज्य–सूची के विषयों पर केन्द्रीय संसद विधि–निर्माण कर सकेगी।

1) राज्य सभा द्वारा दो तिहाई बहुमत से राज्य–सूची के विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करने पर (अनुच्छेद 249)
2) राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा केन्द्र के विधि–निर्माण की इच्छा व्यक्त करो पर (अनुच्छेद 252)
3) अनुच्छेद 250 के अधीन संकटकाल की घोषणा किये जाने पर।
4) किसी विदेशी राज्य से की गई संधि के अनुपालन हेतु (अनुच्छेद 253)
5) राज्यों मे संवैधानिक तंत्र की विफलता की घोषणा पर (अनुच्छेद 356)

इनके अतिरिक्त अनुच्छेद 304 (ख) के अनुसार कुछ विधेयकों पर राज्य विधान सभा प्रस्तुति में पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है तथा अनुच्छेद 31 (ग) के अनुसार कुछ विषयों पर पारित विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति भी आवश्यक है।

**(ब) प्रशासनिक सम्बन्ध :**

प्रशासन का संचालन मुख्यत: राज्यों द्वारा ही किया जाता है। भारत में संघ के (केन्द्र) कानूनों को लागू किये जाने हेतु पृथक से कोई एजेन्सी नहीं है, यह दायित्व राज्य द्वारा ही वहन किया जाता है। राष्ट्र हित में केन्द्र–राज्य सरकारें मिल–जुलकर कार्य करती रहें इस उद्देश्य से यह व्यवस्था निर्धारित की गई है, इसमें आवश्यकतानुसार केन्द्र निर्देश दे सकता है तथा संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत राज्य प्रशासन से सामंजस्य स्थापित करता है।

केन्द्र–राज्य प्रशासनिक सम्बन्धों को हम संक्षेप में निम्न बिन्दुओं के माध्यम से जान सकते है।

1) **राज्यों को केन्द्र द्वारा निर्देश :** अनुच्छेद 256, 257(1) (2) (3) (4) के अधीन राज्य प्रशासन को निर्देश दिया जा सकेगा कि वह कानूनों को समुचित रूप से लागू करें । केन्द्रीय प्रशासन में बाधा उत्पन्न न हो तथा कतिपय अवस्थाओं में सामरिक महत्व की सड़कों संचार साधनों की देखरेख रख–रखाव, निर्माण, रेल पथ, सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में भी राज्य–सरकार को निर्देश जारी किये जा सकते है ।

2) **केन्द्रीय बलों को राज्यों की सहायता हेतु भेजना :** अनुच्छेद 257 (क) के माध्यम मे केन्द्र सरकार को यह शक्ति प्राप्त है कि किसी राज्य में गम्भीर स्थिति में वह केन्द्रीय बलों को भेज सकती है तथा वह उसमें निर्देशानुसार कार्य करेंगे । (यह प्रावधान 1976 में 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया है)

3) **राज्य–प्रशासन को केन्द्र के दायित्वों को सोपान :** अनुच्छेद 258 (1) के अनुसार राज्य सहमति से केन्द्रीय दायित्व राज्य को निर्वाह हेतु सौंप सकता है । अनुच्छेद 258 (2) के अनुसार केन्द्रीय विचारों के लागू करने के लिय वह राज्य प्रशासन को प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त कर सकता है । इसके, लिये सम्बन्धित राजा की सहमति अनिवार्य नही है । इसी प्रकार अनुच्छेद 258 (क) के अनुसार तत्व सरकार अपने दायित्व केन्द्र को इसकी सहमति अपने दायित्व केंद्र को इसकी सहमति से सौंपा जा सकता है ।

4) **अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ :** केन्द्र और राज्य के मध्य सम्मिलित रूप से अखिल भारतीय सेवाओं के चयनित प्रत्याशी प्रशासनिक अधिकारी के रूप में कार्य करते है । इस प्रकार केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में यह अधिकारी राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करते है ।

5) **अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना :** अनुच्छेद 263 के अनुसार राज्यों के मध्य परस्पर विवाद या एक समान मामलों पर कई राज्यों के हित आदि को दृष्टि से केन्द्र को अधिकार है कि वह अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना करे ।

6) **राज्यपाल :** अनुच्छेद 153 अनुसार प्रत्येक राज्य के लिये एक राज्यपाल नियुक्त किया जावेगा । यह नियुक्ति केन्द्र द्वारा की जावेगी । आवश्यकता होने पर एक ही व्यक्ति

को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल बनाया जा सकता है । यद्यपि राज्यपाल राज्य का औपचारिक प्रधान माना जाता है । किन्तु अन्य संवैधानिक प्रावधानों के कारण वह केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में शासन को प्रभावित करता है ।

**स) वित्तीय सम्बन्ध :** भारतीय संविधान में अनुच्छेद 264 से 293 तक केन्द्र व राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों प्रावधान है। इन अनुच्छेदों के माध्यम से केंद्र व राज्य कं मध्य राजस्व के साधनों के बंटवारे से लेकर ऋण व अनुदान तक कीं व्यवस्थाओं का उल्लेख है।

अनुच्छेद 268 के द्वारा संघ व राज्यों के मध्य राजस्व स्रोतों का बंटवारा किया गया है, इनमें प्रमुख रूप से सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क, निगम कर, विदेशी ऋण इत्यादि संघ के राजस्व स्रोत है तथा भू राजस्व, कृषि–आय पर कर, भूमि व भवनों पर कर, बिजली पर कर, चूंगी कर, विक्रय कर, वृत्ति कर आदि राज्यों के राजस्व के स्रोत हैं ।

संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत कुछ कर ऐसे है जिन्हें अधिरोपित केन्द्र करता है (जैसे उत्पादक शुल्क, मुद्रांक शुल्क आदि) किन्तु इन्हें राज्य सरकार द्वारा एकत्र किये जाते है । इसी प्रकार आयकर केन्द्र द्वारा निर्धारित व वसूल भी किया खाता है किन्तु वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर आयकर व उत्पाद शुल्क का कुछ भाग राज्यों को भी दिया जाता है।

संविधान के अनुच्छेद 275 द्वारा राज्यों को केन्द्र द्वारा विभिन्न कार्यों हेतु अनुदान दिये जाने का प्रावधान है। सामान्यत: राज्यों के आर्थिक स्रोतों में यह केन्द्रीय अनुदान अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । केन्द्र के साथ मिलकर लोक–कल्याणकारी कार्यों को कुशलता से पूरा करने के लिए यह अनुदान राज्यों द्वारा अपरिहार्य माना गया है।

संविधान के अनुच्छेद 292, 293 के अन्तर्गत ऋण लिये, जाने सम्बन्धी प्रावधान हैं, राज्यों द्वारा केन्द्र शासन से उधार लिया जा सकता है, विदेशों से नही, केन्द्र सरकार विदेशी ऋण प्राप्त कर सकती है । यदि राज्यों द्वारा पुराना ऋण वापस किये बिना पुन: ऋण चाहा गया हो तो केन्द्र सशर्त ऋण दे सकता है ।

संविधान के अनुच्छेद 290 में राष्ट्रपति को 'वित्त आयोग' नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है । प्रत्येक पांच वर्ष या आवश्यकता होने पर राष्ट्रपति एक अध्यक्ष व चार सदस्यों का एक वित्त आयोग बनाता है जो केन्द्र व राज्य के मध्य राजस्व के बंटवारे, अनुदान व्यवस्था एवं सौंपे गये वित्तीय मामलों पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है ।

वित्तीय दृष्टि से केन्द्र–राज्य सम्बन्धों मैं भारतीय संविधान का अनुच्छेद 360 अत्यधिक महत्वपूर्ण है, राष्ट्रपति यदि वित्तीय संकट को देखते हुए यदि अनुच्छेद 360 के अधीन यदि ऐसी घोषणा कर दे तो प्रभावस्वरुप राज्यों के लगभग सभी वित्तीय अधिकार केन्द्र के विचाराधीन हो जाते है।

## 11.4 केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के वास्तविक तथ्य

भारतीय संविधान में वर्णित उपर्युक्त प्रावधानों का यदि विश्लेषण किया जावे तो हमें कुछ तथ्य बिल्कुल साफ नजर आते है और ये तथ्य बहुत–सी दिशाओं की ओर भी इंगित करते

दिखाई देते है जो कि निश्चय ही संविधान निर्माताओं की इच्छाओं का प्रतिबिम्ब है – 'संघात्मक शरीर में एकात्मक आत्मा

**(अ) केन्द्र का शक्तिशाली होना :**

संवैधानिक प्रावधानों से स्पष्ट है कि केन्द्र अत्यधिक शक्तिशाली है चाहे विधायी मामला हो या प्रशासनिक, वितीय हो या कोई भी अन्य प्रत्येक स्थिति मे केन्द्र ज्यादा शक्तिशाली है। संविधान द्वारा विधि–पूर्ण दायित्व निर्वाह हेतु संघ–सूची, राज्य–सूची व समवर्ती–सूची कें माध्यम से कार्य विभाजन किया गया है। उसमें समस्त महत्वपूर्ण विषय संघ–सूची में उल्लिखित अवशिष्ट शक्तियां भी केन्द्र के पक्ष में रखी गई हैं । संविधान संशोधन जैसे महत्वपूर्ण संवैधानिक दायित्व निर्वाह में राज्य की भूमिका अत्यन्त अल्प ही है इस दृष्टि से केन्द्र अत्यधिक शक्तिशाली है । राज्यपाल व अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों के माध्यम से प्रशासनिक दृष्टि से भी केन्द्र अत्यधिक शक्तिशाली है । वित्तीय मामलों में महत्वपूर्ण करों का केन्द्र के हक में होना राज्यों को अनुदान देने का अधिकार केन्द्र के पास होना और ऋण सम्बन्धी प्रावधानों में भी केन्द्र के अधिकार उसे पूर्ण शक्तिशाली बना देते हैं ।

केन्द्र अधिक शक्तिशाली दिखाई देता है, किन्तु इसका शक्तिशाली बनाए रखना संविधान निर्माताओं की एक शुभ इच्छा थी । विभिन्नता और अनेक छोटे–छोटे खण्डों में विभाजित स्वतंत्रता पूर्व में भारत को भविष्य में 'एकता और अखण्डता' का स्वरूप देने की दृष्टि से केन्द्र का शक्तिशाली होना आवश्यक भी था।

**(ब) राज्यों का केन्द्र पर निर्भर होना :**

यद्यपि संविधान में स्पष्टत: राज्यों के विषय क्षेत्र को राज्य सूची में उल्लिखित किया है किन्तु राज्यों के अपने संचालन व विकास के सभी कार्यों हेतु आवश्यक व्यवस्थाएं केन्द्र की मेहरबानी पर ही निर्भर है चाहे वह वित्तीय–स्रोतों के रूप में अनुदान या ऋण हो या योजनाओं के योजना आयोग द्वारा स्वीकृत किये जाने की बात, प्रत्येक दृष्टि से केन्द्र पर ही निर्भरता दिखाई देती है।

राष्ट्र के समग्र विकास की दृष्टि से राज्यों के प्रति केन्द्र की उपर्युक्त स्थिति कुछ सीमा तक उचित दिखाई देती है, किन्तु इसने राज्यों में स्वयं के विकास हेतु स्वावलम्बी प्रयासों के स्थान पर राजनीतिक सोच, सम्पर्क व प्रयासों जैसे लघु मार्ग अपनाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है ।

**(स) संकटकाल में राज्य के अस्तित्व की लगभग समाप्ति :**

बाह्य आक्रमण, आन्तरिक विद्रोह, राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता और घोर वित्तीय संकट की स्थिति का सामना करने के लिये भारतीय संविधान में जो प्रावधान (अनुच्छेद 352, 356 व 360) दिये गये हैं । इन प्रावधानों के प्रयोग के समय राज्यों का अपना अस्तित्व लगभग समाप्त दिखाई देता है और राज्यों के प्रशासनिक वित्तीय व अन्य अधिकार केन्द्र के विवेकाधीन हो जाते है । यद्यपि संकटकाल में राष्ट्र की शासन व्यवस्था का रूप एकात्मक होना श्रेयस्कर है, किन्तु इनमें से अनुच्छेद 356 के अत्यधिक प्रयोग ने

इन प्रावधानों की संकट के क्षणों में उपयोग की संवेदना को नष्ट कर दिया है और इसी से इन प्रावधानों के विरूद्ध 'राज्य–अस्तित्व' की रक्षा हेतु अनुच्छेद 356 को समाप्त कर देने तक की मांग उठाई जा रही है ।

व्यवहारिक दृष्टि से यदि देखें तो संविधान निर्माताओं ने जिस संघात्मक ढांचे का निर्माण किया, उसमें राज्यों को एक शिशु के समान मानकर केन्द्र–संरक्षता की व्यवस्था की थी, किन्तु समय के साथ राज्यों के विकास, राजनीतिक चेतना की जागृति और क्षेत्रीयता की. भावना ने केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है, यद्यपि इन विवादों में कुछ हद तक राज्यों की स्वार्थपूर्ण महती आकांक्षाएँ भी हैं किन्तु अधिकांशत: विवादों को तीव्र करने में केन्द्र जिम्मेदार रहा है, क्योंकि संविधान निर्माताओं ने जिस सद् इच्छा से केन्द्र को शक्तिशाली बनाकर उसके हित में जो प्रावधान किये थे उनका उपयोग केन्द्र में बैठी सरकारों ने राजनीतिक लाभ कमाने की दृष्टि से किया फलत: केन्द्र–राज्य संघर्ष तीव्रतर हुआ और असंतोष नित्य प्रति बढ़ता जा रहा है ।

## 11.5 केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की प्रमुख समस्याएँ

केन्द्र द्वारा अपनी शक्तियों के परिस्थितिजन्य प्रयोग के साथ ही अन्य लाभ की दृष्टि से प्रयोगों ने ही केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव बढ़ाया है, ये तनाव के बिन्दु कई हैं किन्तु इनमें से तनाव के सर्वाधिक बिन्दुओं को हम निम्नांकित रूप में स्पष्टत: देख सकते हैं :–

**(अ) अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग :**

राज्यों में संवैधानिक संकट की स्थिति में ही केन्द्र द्वारा इस अनुच्छेद के अधिकारों का प्रयोग किया जाना अपेक्षित था और कई बार वास्तव में केन्द्र सरकार ने इसका वाजिब प्रयोग केन्द्र द्वारा किया जा चुका है, दोनों के मध्य संघर्ष का बिन्दु बन चुका है । पहली बार अनुच्छेद 356 का प्रयोग पंजाब में 1951 में किया गया था, इसके बाद 1959 में केरल राज्य में संकट की घोषणा से ही यह प्रावधान केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में केन्द्र के रवैये के दुर्भावना पूर्ण प्रयोग का हामी माना जाने लगा। 1967 में राजस्थान, 1973 में उड़ीसा, जून 1973 में उत्तरप्रदेश में अनुच्छेद 356 का प्रयोग विवादग्रस्त रहा। सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से इस अनुच्छेद का प्रयोग 1977 में जनता पार्टी की केन्द्रीय सरकार ने किया, नौ राज्यों की विधान सभाएं भंग करवा दी गई, 1980 में पुन : कांग्रेस के सत्ता में आने पर उसने गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों को भंग करा दिया । इस प्रकार अनुच्छेद 356 संवैधानिक संकट की स्थिति में प्रयोग करने के स्थान पर राजनीतिक परिवर्तन व महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन बन गया । फलत: केन्द्र सरकार भी इसका उपयोग एक दबावकारी साधन के रूप में करने लगी और राज्यों के द्वारा भी इसके उचित–अनुचित की परवाह किये बिना विरोध करना अपना स्थायी भाव बना लिया गया। दिसम्बर 1992 में उत्तर प्रदेश में 'बाबरी मस्जिद' ध्वस्त किये जाने के बाद चार राज्यों की भाजपा शासित सरकारों को इसी अनुच्छेद के प्रयोग से भंग कर दिया गया जबकि मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश व राजस्थान में किसी भी स्थिति में संवैधानिक संकट नहीं था,

इसीलिये यह मामला सर्वोच्च न्यायालय तक गया और सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रकार के प्रकरण को अपने क्षेत्राधिकार में स्वीकार कर 356 के अनुचित प्रयोग के विरूद्ध निर्णय दिया। अब लगता है इस अनुच्छेद के प्रयोग को लगभग हर बार न्यायालयों में चुनौती दी जाती रहेगी । सरकारिया आयोग' ने भी विचारार्थ 58 मामलों में से केवल 26 मामलों में ही इस अनुच्छेद के प्रयोग को आवश्यक माना था शेष मामले में इसकी आवश्यकता नहीं मानी थी। अत: इन तथ्यों के आधार पर केन्द्र राज्य–सम्बन्धों में अनुच्छेद 356 का अनुचित प्रयोग तनाव का मुख्य बिन्दु माना जा सकता है ।

**(ब) 'राज्यपाल' नियुक्ति में राज्य–भागीदारी का अभाव व राज्यपाल पद का राजनीतिक दुरूपयोग :**

राज्यों में केन्द्र के प्रति असंतोष का दूसरा प्रमुख बिन्दु 'राज्यपाल' है । राज्य में निर्वाचित सरकार पर शासन प्रमुख राज्यपाल होता है और उसकी नियुक्ति केन्द्र सरकार की 'इच्छा' से राष्ट्रपति द्वारा की जाती है । इस नियुक्ति में राज्य की भागीदारी का अभाव है, कई बार राज्य सरकारों की इच्छा के विरूद्ध उन व्यक्तियों को जिनके साथ निर्वाचित राज्य सरकार का तालमेल बैठना असम्भव है, केन्द्र ने राज्यपाल नियुक्त किया है इससे राज्य शासन के संचालन में कई बार राज्यपाल व मुख्यमंत्री आमने–सामने आ खड़े हुए है।

तनाव के बढ़ने का एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि राज्यपाल पद पर नियुक्तियाँ कुशल प्रशासक या अनुभवी व परिपक्व व्यक्तियों से न की जाकर सक्रिय राजनीति में संलग्न व्यक्तियों में से की जाने लगी। 1985 में अर्जुनसिंह ने मध्यप्रदेश में मुख्यमंत्री का पद संभाला और दो दिन बार उन्हें पंजाब का राज्यपाल बना दिया गया । इसी वर्ष के वाद में केन्द्रीय मंत्री बना दिये गये, कांग्रेस संगठन में भी उन्हें पद दिया गया । ऐसे और भी उदाहरण है, इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीति से रिटायर हुए बिना सक्रिय राजनीति के हिस्से के रूप में वो रहते यदि कोई व्यक्ति राज्यपाल बना दिया जाता है तो निश्चित ही वह अपने दल के हितों के पक्ष में ही कार्य करेगा, उससे निष्पक्षता की अपेक्षा कभी भी पूरी नहीं हो सकती। केन्द्र में बैठा सत्तापक्ष अपने व्यक्तियों को पुरस्कार के रूप में राज्यपाल बनाने लगे और ये राज्यपाल केन्द्र के हितों को साधने का ही भरसक प्रयास करने लगे इससे अनेक राज्यों में राज्यपालों की भूमिका विवादास्पद हो गई।

राजस्थान, पंजाब, बिहार, हरियाणा, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, केरल, नागालैण्ड, सिक्किम, जम्मू कश्मीर आदि राज्यों में कई ऐसी घटनाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनमें राज्यपाल ने केन्द्र के इशारे पर या केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के हितों को ध्यान में रखकर, ऐसे निर्णय लिये जो राज्य में निर्वाचित बहुमत प्राप्त समूह के विरूद्ध थे। 1975 में तमिलनाडु के राज्यपाल ओम मेहता द्वारा करुणानिधि सरकार मे, सत्ता से बाहर कराना, 1982 में हरियाणा में राज्यपाल जी. डी. तपासे ने देवीलाल को अपना बहुमत प्रमाणित करने का अवसर दिया किन्तु निर्धारित समय के एक दिन पूर्व ही श्री भजनलाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिला दी गई । 1984 में इसी प्रकार राज्यपाल जगमोहन द्वारा जी. एम. शाह को मुख्यमंत्री बना दिया

गया। अगस्त 1984 में तत्कालीन आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल रामलाल ने एन. टी. रामाराव के पक्ष मे, स्पष्ट बहुमत होते हुए भी उन्हें हटाकर एन. भास्कर राव को मुख्यमंत्री बना दिया, जबकि एन.टी. रामाराव तत्काल विधानसभा का विशेष अधिवेशन बुलाकर बहुमत सिद्ध करने को तैयार थे, बाद में भास्कर राव बहुमत सिद्ध न कर सके और पुन: एन. टी. रामाराव को मुख्यमंत्री बनाना पड़ा। विशेषत: केन्द्र में राज्य में यदि अलग–अलग दल को सरकारें है तो राज्यपाल की निष्ठा केन्द्र के सत्ताधारी दल के प्रति झुकती हुई अनेक बार दिखाई दी है, इससे राज्य की चुनी हुई प्रतिनिधि सरकार के समान को ठेस पहुंची हैं तथा इसी प्रकार केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव दिखाई देता है । वर्तमान सन्दर्भों में जबकि मिली–जुली सरकारें या स्पष्ट बहुमत के अभाव में गठबंधन सरकारों की स्थितियां है अब राज्यपाल का भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गई है ।

**(स) अनुदान वितरण में पक्षपात व वित्तीय साधनों के न्यायपूर्ण आवंटन का अभाव :**

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव का तीसरा महत्वपूर्ण बिन्दु आर्थिक सम्बन्ध है । राज्यों के अपने वित्तीय संसाधनों का अभाव और बार–बार केन्द्र के अनुदान की अपेक्षा ने भी केन्द्र–राज्यों के सम्बन्धों को कटु बनाया है । कर व शुल्क के माध्यम से राजस्व का अधिकांश भाग केन्द्र के पास ही आता है, गाय ही विदेशी सहायता व विदेशी ऋण केन्द्र के पास पर्याप्त कोष का निर्माण कर देते हैं, इसी में से राज्यों कों अनुदान व अंश राशि भी दी जाती है ।

राज्यों का आरोप है कि केन्द्र द्वारा अनुदान व सहायता दिये जाने में भेदभाव किया जाता है । केन्द्र की कांग्रेस सरकार द्वारा राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों तथा कांग्रेसी सरकारों को दिये बात वाले अनुदानों में भेदभाव के अनेक उदाहरण देखने को मिलते है । चौथी योजना को लेकर से केन्द्र–राज्यों में काफी मतभेद रहा था। चूंकि अनुदान दिये बाने के लिए कोई निश्चित आधार नही है, इसलिए बिन्दु भी तनाव का कारण रहा है । प्राकृतिक आपदाओं के समय भी केन्द्रीय सहायता भिन्न–भिन्न राज्यों में राजनीतिक आधार पर दिये जाने से ये विवाद और बढ़े है ।

अनुदान के अतिरिक्त राज्यों को ऋण लेकर कार्य करना पड़ता है पूर्व में 'ओवर ड्राफ्ट' की प्रथा थी उसे समाप्त कर दिया गया तथा वर्तमान स्थितियों में राज्य अत्यन्त ऋण ग्रस्त है, स्थिति यहां तक पहुंच चुकी है कि ऋणों का ब्याज राज्यों को मिलने वाली सहायता से अधिक हो रहा है ऐसी स्थिति में राज्यों की ओर से सदैव असंतोष व्यक्त किया जाता रहा है । वित्त आयोग द्वारा केन्द्र–राज्य के मध्य जिस राशि आवंटन पर सिफारिश की जाती है वह केन्द्र को मिलने वाले राजस्व का एक तिहाई हिस्सा ही हैं, अत: अधिकांश राजस्व में राज्यों को सहायता केन्द्र के विवेक पर ही निर्भर करती है । योजना आयोग अपने ढंग से प्राथमिकताएँ तय करते हुए अपने ढंग से राज्यों को क्रियान्वित करने हेतु कहता है एक प्रकार से केन्द्र द्वारा निर्धारित विकास योजना को राज्य द्वारा लागू करवाने की प्रवृत्ति ने भी कई राज्यों में असन्तोष पैदा किया है।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों में तनाव के उपरोक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य कई कारण भी है, विशेषत: संकीर्ण दलगत भावनाओं के कारण छोटी–छोटी सी बातों पर यह तनाव पैदा हो जाता है, केन्द्र यदि कानून की व्यवस्था की दृष्टि से कोई निर्देश जारी करता है, तो राज्य को कई बार वह असहय हो जाता है । यदि दो राज्यों के मध्य कोई विवाद हो चाहे नदी–जल बंटवारा, सीमांकन या अन्य केन्द्र के बीच में आने पर भी विवाद का हल नहीं होता बल्कि तनाव बढ़ जाता है। औद्योगिक इकाई की स्थापना को लेकर केन्द्र व राज्यों के मध्य रस्साकशी चलती रहती है । इस प्रकार शंका, आशंका और संकीर्ण दल गत भावना केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव का मुख्य कारण रही है ।

## 11.6 समाधान हेतु सुझाव

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में बढ़ते तनावों को दूर करने व व्यवस्थागत परिवर्तन सुझाव हेतु कई प्रयास किये गये। इनमें 'सरकारिया' आयोग अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा, साथ ही कई राज्य सरकारों, राजनीतिक दलों शिक्षाविदों ने भी सुझाव दिये है, प्रशासनिक सुधार आयोग व राजमन्नार समिति प्रतिवेदन में भी कई अनुशंसाएँ की गई है । इनके अनुसार प्रमुख सुझाव निम्नानुसार है :–

1) अखण्ड राष्ट्र के लिये केन्द्र का सबल होना जरूरी है,
2) अनुच्छेद 356 का प्रयोग अत्यधिक कम और अन्तिम विकल्प के रूप में ही किया जावे,
3) समवर्ती–सूची के कुछ ऐसे विषयों को राज्य–सूची में रखा जावे जिनसे दोनों के मध्य उचित संतुलन हो सके,
4) राज्यों को अधिक राजस्व प्राप्त करने हेतु कुछ अधिकार दिये जावें साथ ही राज्य अनुदान पर ही निर्भर रहने की प्रवृत्ति को त्यागे,
5) अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की जावे व उनकी सिफारिशों पर उचित विचार हो,
6) 'राज्यपाल' पद पर सक्रिय व केन्द्र में सत्ताधारी दल के व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया जावे । यथासम्भव निष्पक्ष, राज्य के बाहर का और अनुभवी व्यक्ति तथा जो केन्द्र के साथ राज्य के सम्बन्धों में समन्वय कर सके ऐसे ही व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जावे ।
7) कुछ मामलों में जो महत्वपूर्ण हो (जैसे संघ–सूची की विषय संख्या 4० से 61 तथा ' 68 से 72 तक) केन्द्र कानून बनाते समय राज्यों से –सलाह कर निर्णय करे ।

ऐसे अनेक सुझावों के मध्य महत्वपूर्ण बात यह है कि चाहे हम प्रावधानों में कितने ही सुधार क्यों न कर लें केन्द्र–राज्य तनाव कर नही होंगे। यदि वास्तव में हम तनाव मिटाना चाहते है तो हमें दो बाते ध्यान में रखनी होंगी। प्रथम– दलगत संकीर्ण मनोवृत्ति को त्यागकर वास्तविक समस्याएँ व उनके उचित समाधान ढूंढने होंगे, द्वितीय– केन्द्र को ऐसा व्यवहार करना होगा जिससे राज्यों में उनके प्रति विश्वास पैदा हो तथा राज्यों । को स्वयं आत्मनिर्भर होना होगा, तभी केन्द्र–राज्य विवाद समाप्त हो सकते है ।

## 11.7 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य

भारतीय शासन में संघात्मक ढांचे के मध्य एकात्मक शक्ति के केन्द्र के रूप में शासन व्यवस्था की संविधान सभा ने स्थापना की थी। इसके पीछे अभिप्राय था, विभिन्न संस्कृति और क्षेत्र वाला यह देश अपनी विभिन्नताओं की पहचान को भी बनाए रख सके और विभाजित भी न हो एक शक्ति केन्द्र से विकास की प्रक्रिया में बाधा न पहुंचे । संविधान में विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय क्षेत्रों को केन्द्र व राज्यों के मध्य संघ–सूची, राज्य–सूची व समवर्ती–सूची के माध्यम से बांट दिया गया। किन्तु प्रत्येक क्षेत्र में केन्द्र का पलड़ा भारी रखा गया, परिणामस्वरूप केन्द्र शक्तिशाली होकर कभी–कभी मनमानी करने लगा और राज्यों को भी केन्द्र पर निर्भर होने या उसकी छाया में चलने की मजबूरी हो गई । इससे केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में कई समस्याओं ने जन्म लिया। अनुच्छेद 356 का केन्द्र द्वारा दुरूपयोग, राज्यपाल की नियुक्ति और उसके केन्द्र की भावनानुरूप कार्य करने के तरीकों और वित्तीय सहयोग या अनुदान के अन्याय पूर्ण आवंटन प्रमुख समस्याओं के रूप में दिखाई दिये ।

केन्द्र का शक्तिशाली होना सदैव देश हित में रहा है इसका प्रमाण इतिहास है, किन्तु यदि केन्द्र अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करे या अन्यायपूर्ण ढंग से अपने राजनीतिक स्वार्थों को पूरा करने हेतु प्रयुक्त करे तो निश्चित ही राज्यों से स्वाभाविक विरोध उठेगा और वह भारत में स्पष्ट दिखाई भी देता है । अत: केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में मधुरता लाने के लिए आवश्यक है कि अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग रोका जावे, शक्तियों के बंटवारे में कुछ राज्यों का वजन बढ़ाया जावे, 'राज्यपाल' के रूप में तटस्थ व योग्य व्यक्ति नियुक्त हो तथा केन्द्र महत्वपूर्ण मामलों में राज्यों से विचार विमर्श कर उन्हें विश्वास में लेकर कार्य करे । यदि केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव रहा तो अन्य कई विघटनकारी तत्वों को बल मिलेगा व विकास की प्रक्रिया धीमी हो जाएगी।

**अभ्यास कार्य:**

1. केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में संवैधानिक प्रावधानों का व्यावहारिक दृष्टि से मूल्यांकन कीजिए।
2. केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में प्रमुख विवाद बिन्दुओं का विवेचन करते हुए समाधान बिन्दु समझाइये।

## 11.8 संदर्भ ग्रन्थ


1. सीतलवाड, एम.सी. : यूनियन एण्ड स्टेट रिलेशन्स अण्डर दि इण्डियन कांस्टीट्यूशन
2. संथानम, के. : यूनियन स्टेट रिलेशन्स
3. मिश्रा, डॉ. कृष्णकांत : भारत की राजनीतिक प्रणाली
4. जोरी, जे.सी. : इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स
5. वर्मा, गोविन्दराम : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था
6. राय, डॉ. एम.पी. : भारतीय सरकार एवं राजनीति
7. नारंग, ए.एस. : भारतीय शासन और राजनीति

8. दरड़ा, डॉ. रणजीतसिंह : भारतीय संविधान : स्वरूप और व्यवहार

# इकाई– 12
# क्षेत्रीयतावाद और राष्ट्रीय एकीकरण

**इकाई संरचना**

12.1 उद्देश्य
12.2 प्रस्तावना
12.3 क्षेत्रीयतावाद : वैचारिक विवेचन
12.4 क्षेत्रीयतावाद का स्वरूप
12.5 क्षेत्रीयतावाद के मुख्य तत्व
12.6 क्षेत्रीयतावाद के भारतीय राजनीति में परिणाम
12.7 क्षेत्रीयतावाद की समस्या का समाधान– कुछ सुझाव
12.8 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य
12.9 संदर्भ ग्रन्थ

## 12.1 उद्देश्य

भारतीय राजनीति की विभिन्न प्रवृत्तियों में से एक क्षेत्रीयतावाद के महत्व से परिचित कराना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है, इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय एकीकरण हेतु क्षेत्रीयतावाद एक समस्या के रूप में किस तरह से बाधा पहुंचा रहा है या विभिन्न क्षेत्रों को अपनी पहचान बनाने में सहायक सिद्ध हो रहा है, इसी तथ्य का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है ।

## 12.2 प्रस्तावना

क्षेत्रीयतावाद भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण तत्व है, इसने भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया को अत्यधिक प्रभावित किया है । अत्यधिक विविधता पूर्ण भारतीय समाज के लिए क्षेत्रीयतावाद कोई आश्चर्यजनक विचार नही है, जिस समाज में सांस्कृतिक, भाषा और भौगोलिक क्षेत्रों की इतनी अधिक विभिन्नता है वहां इस प्रकार की प्रवृत्ति का पाया जाना स्वाभाविक है । इस विविधता को ही एक सूत्र में बांध कर एकता का रूप देना हमारे संविधान का मूल उद्देश्य रहा है । फोरेस्टर ने बड़े ही सुन्दर शब्दों मे व्यक्त करते हुए कहा कि– "क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागृत है" भारत का विकास अपेक्षाकृत इस गति से नहीं हुआ जिस गति से कुछ अन्य राष्ट्रों का हुआ तथा विविधता के कुछ पक्षों की नकारात्मक भूमिका के कारण क्षेत्रीयतावाद एक समस्या के रूप में दिखाई दे रहा है, वास्तव में क्षेत्रीयतावाद के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही पक्षों का अध्ययन किया जाना चाहिए और राष्ट्रीय एकीकरण को आधार मानकर इस प्रवृत्ति की विवेचना उचित होगी ।

## 12.3 क्षेत्रीयतावाद: वैचारिक विवेचन

विकास के सन्दर्भ में दो विचार महत्वपूर्ण है क्षेत्रीयतावाद और राष्ट्रवाद । इन दोनों का सम्बन्ध राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था तथा तकनीकी विकास है, और

गहरे अर्थ में दोनों विचार सदैव साथ–साथ ही चलते है । यदि क्षेत्रवाद की व्याख्या की जावे तो हम पाते है कि क्षेत्रवाद व्यक्तित्व की खोज है या आत्म सिद्धि का प्रयास है । सकारात्मक दृष्टि से यदि इस विचार को स्वीकार करें तो प्रत्येक व्यक्ति, समूह, राज्य यदि स्वयं को उन्नत व श्रेष्ठ बनाता है तो राष्ट्र का सम्पूर्ण स्वरूप स्वयंमेव विकसित हो जाएगा। यदि नकारात्मक दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है – एक क्षेत्र, व्यक्ति या समूह यह सोच रहा है कि जानबूझकर उसे विकास की सुविधाओं से वंचित रखा गया है, वह पिछड़ा इसलिये है कि उसे अन्यायपूर्ण ढंग से उन परिस्थितियों में रखा गया है जो उसकी योग्यता व क्षमता की तुलना में अत्यन्त अल्प है तो इस मन:स्थिति से उत्पन्न संघर्ष की मुद्रा क्षेत्रीयतावाद के रूप में विवेचित की जा सकती है ।

उपरोक्त विवेचन की दृष्टि से यदि देखें तो क्षेत्रीयतावाद पृथकतावाद नहीं है बल्कि अपनी स्थिति को परिवर्तन हेतु दबाव का प्रतीक है, हां यह खतरनाक भी हो सकता है किन्तु ठीक इसी तरह संतुलनकारी भी हो सकता हैं, प्रत्येक मामले में क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीय एकता के विरूद्ध हो यह आवश्यक नहीं है । किन्तु दुर्भाग्य से क्षेत्रीयतावाद की नकारात्मक विवेचन और अनेकानेक कारणों ने भारत में क्षेत्रीयतावाद को एक महत्वपूर्ण समस्या स्थापित कर दिया है और वास्तव में आज वह भयावह रूप में दिखाई दे रही है । लोकतन्त्र में जहां हम शक्ति को अधिकाधिक वितरण के पक्ष में रहते है, 'स्वतंत्रता' व 'समानता' जैसे मूलतत्वों को स्वीकार करते है वहां क्षेत्रवाद उभरना स्वाभाविक है । भारत जैसे विशाल देश में तो क्षेत्रवाद स्थायी रूप में रहा ही है, हाँ आज जरूर वह चुनौती के रूप में सामने है, प्रयास करना होगा कि हम इसमें नकारात्मक पक्ष को समाप्त करें जो कि हमारे लोकतंत्र के लिये खतरा है और सकारात्मक पक्ष को उभारें जो कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिये आवश्यक है ।

## 12.4 क्षेत्रीयतावाद का स्वरूप

भारत में क्षेत्रवाद का स्वरूप मुख्यत: उन तत्वों के समान है जिनके कारण इसकी उत्पत्ति हुई है, फिर भी यदि राज्य को एक इकाई मान ले तो वह तीन प्रकार का दिखाई देता है, प्रथम रूप वह है जिसमें राज्य–राज्य मिलकर अर्थात् राज्य सीमा से परे मिलकर सामने आता है, इसका श्रेष्ठ उदाहरण है, उत्तर भारत के राज्य व दक्षिण भारत के राज्य जो कि हिन्दी भाषा व अंग्रेजी भाषा के एक दूसरे पर थोपने को आधार बनाकर दो क्षेत्रों में दिखाई देते है । द्वितीय रूप में क्षेत्रवाद राज्यों के द्वारा अन्य राज्यों के साथ प्रतिस्पर्धा में दिखाई देता है जो उसे प्राप्त है वह दूसरों को देना नहीं चाहता और जो दूसरों के पास है उससे अधिक पाना चाहता है । जैसे नदियों के जल का बंटवारा, किसी औद्योगिक इकाई की स्थापना या बांध की ऊंचाई । तीसरा रूप क्षेत्रवाद का राज्यों के स्वयं उनके भीतर ही विभिन्न कारणों से दिखाई देता है । पुराने प्रान्तों से मिलकर एक राज्य बनने पर भी एक पूर्ण राज्य न बन पाना, प्रभावशाली, व्यक्तियों के क्षेत्र का विकास व अन्य क्षेत्र का विकास में पिछड़न इत्यादि । इन आधारों पर राज्य के भीतर ही उप–क्षेत्रवाद दिखाई देता है । जैसे मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, बिहार में झारखण्ड व उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड क्षेत्र आदि ।

## 12.5 क्षेत्रीयतावाद के मुख्य तत्व

स्वाधीनता के पूर्व भारत छोटी–छोटी इकाईयों में बंटा हुआ किन्तु अंग्रेजी शासन की राजनीतिक एकता में जकड़ा हुआ था । स्वाधीनता संग्राम, के दौर में राष्ट्रवाद की भावना के ज्वार ने सम्पूर्ण राष्ट्र को एक बना दिया था इसलिये क्षेत्रीय हितों से हटकर राष्ट्रवादी दृष्टिकोण प्रबल हो गया था, किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात की परिस्थितियां तेजी से क्षेत्रीयतावाद के अनुकूल होती गई और क्षेत्रवाद एक समस्या के रूप से स्थापित हो गया । क्षेत्रीयता के समस्या के रूप में उत्पन्न होने के कारण निम्न है:

**(अ) ऐतिहासिक कारण :**

भारत में अंग्रेजों के शासनकाल में ही राष्ट्रीय विभाजन की प्रवृत्तियों के बीज बो दिये गये थे । उनका प्रयास 'विभाजन से शासन' का था, अपने स्वार्थ की खातिर उन्होंने प्रान्तों का विभाजन किया जिससे उनके विरूद्ध आन्दोलन की शक्ति बंट जावे, साम्प्रदायिक धारणा से भारतीयों में फूट पड़े । इसी का परिणाम अन्ततः पाकिस्तान पृथक राष्ट्र का निर्माण हुआ । उन्हीं के काल की रियासतों का विलीनीकरण स्वाधीन भारत के समक्ष एक महत्वपूर्ण समस्या थी तथा विलीनीकरण के बाद भी कुछ क्षेत्र आज भी क्षेत्रीयवाद की दृष्टि से प्रमुख कारण बने हुए है, उदाहरणस्वरूप काश्मीर राज्य व उसका विशेष दर्जा ।

**(ब) भौगोलिक एवं सांस्कृतिक कारण :**

भौगोलिक दृष्टि से भारत क्षेत्र में अत्यधिक विविधता है तथा राज्यों की सीमाओं का निर्धारण भौगोलिक विविधता की अपेक्षाओं के व्यवहारिक रूप में न होकर किया गया । राज्यों, के निर्माण में आकार की असमानता का अन्तर भी उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश की तुलना में केरल, नागालैण्ड में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, यही कारण है कि राज्यों के विभिन्न क्षेत्रों में से पुनर्गठन की मांग उठती रहती है । राज्यों के ऐसे गठन ने निवासियों के मध्य एकता की भावना पैदा नहीं की, यहां तक कि उत्तरप्रदेश राज्य के पर्वतीय क्षेत्र व मैदानी क्षेत्र के लोगों के मध्य सामन्जस्य नहीं बैठ पाया और पृथकता आन्दोलन तीव्र हुआ । सांस्कृतिक भिन्नता ने भी क्षेत्रीय रूप से अपनी संस्कृति के सरंक्षण और दूसरे से श्रेष्ठ प्रमाणित करने के भावों ने क्षेत्रीयतावाद के उत्पन्न होने में सहायता प्रदान की है । विभिन्न संस्कृतियों की विरोधी मान्यताओं में जहां उत्तर प्रदेश में राम की पूजा व रावण का पुतला जलाया जाता है वहीं दक्षिण भारत के कुछ राज्यों में राम को अपमानित और रावण को सम्मानित किया जाता है, इस प्रकार भारतीय संस्कृति के स्थान पर अपनी क्षेत्रीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानना इस समस्या में जन्म का कारण रहा है ।

**(स) भाषा :**

यद्यपि सभी भारतीय भाषाओं का आधार संस्कृत रही है किन्तु फिर भी भिन्न–भिन्न भाषाओं के समूह ने क्षेत्रीयतावाद को बढ़ाने में योग दिया। डॉ. पामर ने लिखा है कि - "क्षेत्रीयतावाद की समस्याएं स्पष्ट रूप से भाषा से सम्बन्धित।" भाषाओं के मध्य संघर्ष ब्रिटिश युग में ही प्रारम्भ हो गया था । कांग्रेस संगठन ने भाषा के आधार पर प्रान्तों के गठन को स्वीकार कर लिया था । स्वाधीनता के पश्चात् राज्यों की सीमाओं का निर्धारण

भाषा के ही आधार पर हो इसके लिये काफी दबाव निर्मित किये गये 1953 तक पं. नेहरू दृढ़ता से विरोध करते रहे किन्तु पोट्टी श्री रामालु (तेलगुभाषी) के आन्दोलन में मृत्यु वरण व बाद के आन्दोलन फलस्वरूप आन्ध्र प्रदेश का निर्माण हुआ और एक बार केन्द्रीय सरकार के झुकने पर अन्य स्थानों से भी मांग उठने लगी और 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की अनुशंसा पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया इसमें मुख्य आधार भाषा ही रहा। भाषावार प्रान्तों की रचना और राजभाषा का प्रश्न इतना अधिक विवादपूर्ण हुआ कि लगा देश की एकता भंग हो सकती है । चंडीगढ़ और कुछ क्षेत्र आज भी हरियाणा और पंजाब के मध्य विवाद के बिन्दु है । उत्तर–दक्षिण में अंग्रेजी हिन्दी लादने का विवाद क्षेत्रीयतावाद की संकीर्ण दृष्टि को जीवित रखे हुए है ।

**(द) जाति :**

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था एक सामाजिक संगठन के रूप में महत्वपूर्ण तत्व मानी गई है तथा 'जाति' ने सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक परिवेश को प्रभावित किया है । विद्वान रजनी कोठारी ने भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियों का विशलेषण करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है, 'जाति क्षेत्रवाद को प्रबल बनाने में सहायक रही है' जहां किसी एक क्षेत्र में जाति विशेष का बाहुल्य रहा है वहां 'क्षेत्रीयता' दबावकारी तत्व के रूप में उभरकर सामने आई है।

**(ई) आर्थिक कारण:**

ब्रिटिश साम्राज्य काल से ही आर्थिक नीतियों ने भारत में असमान विकास की विषमताएँ उत्पन्न करना आरम्भ कर दी थी । आर्थिक शोषण और व्यवसाय की दृष्टि से महानगरों के रूप में बम्बई, मद्रास, कलकत्ता जैसे तटीय नगरों विकास या दूसरे शब्दों में अन्य क्षेत्रों की तुलना में इन क्षेत्रों का विकास अधिक हुआ, यहां सुविधा एवं रोजगार उपलब्ध होने लगे । स्वाधीनता के बाद भी शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिक प्रक्रियाओं की प्रतिस्पर्धा के कारण असमानता बढ़ती गई, कई क्षेत्र अत्यधिक अविकसित रह गये, इस असमानता का मुख्य कारण आर्थिक रहा, इसी से अविकसित क्षेत्रों में आक्रोश व विरोध का भाग जगा जब कि विकसित क्षेत्रों ने अपनी सुरक्षा में सभी तरह की घेराबन्दी शुरू कर दी ।

स्वाधीनता पश्चात् की नीतियों के प्रभाव स्वरूप आर्थिक विकास की विषमता कम नहीं हुई, बल्कि कुछ राज्य समृद्ध हो गये और कुछ शोषण के शिकार बने रह गये । कृषि क्षेत्र में भी यह विकास की असमानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । परिणामस्वरूप, क्षेत्रीय स्तरों पर आन्दोलन उत्पन्न होने लगे, तेलंगाना में कृषकों का आन्दोलन, नक्सलवादी विचारधारा पर आधारित आन्दोलन आदि । साथ ही शोषित क्षेत्रों में मान्यताएं फैली कि अविकसित क्षेत्र के आर्थिक शोषण के बल पर ही दूसरे क्षेत्र का विकास किया जा रहा है और यदि पृथक राज्य सत्ता मिल जावे तो शोषण समाप्त कर विकास किया जा सकेगा । इन विचारों के फलस्वरूप ही अधिकांश पृथक व छोटे राज्यों की मांग भारत में की जाती रही है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्षेत्रवाद की समस्या के उत्पन्न होने में प्रमुख तत्व 'आर्थिक स्थितियाँ' ही रहा है।

**(ई) राजनीतिक कारण:**

क्षेत्रीयतावाद को विकराल समस्या के रूप में घोषित करने वाला तत्व स्वार्थपूर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण रहा है, राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा के कारण राजनीतिज्ञों ने क्षेत्रवाद को हथियार बनाया है, राजनीतिक दल अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिये क्षेत्रवाद को अपना सहारा बनाते हैं ।

यदि किसी क्षेत्र विशेष के नागरिकों को यह विश्वास दिला दिया जावे कि वर्तमान शासकों से उन्हें न्याय प्राप्त नहीं होगा या शासकों के विरूद्ध उनके मन में घृणा भर दी जावे तो इसके क्षेत्रवाद अवश्य उत्पन्न होगा, भारत के सन्दर्भ में पूर्वोत्तर प्रान्तों और कश्मीर में, राजनीतिक प्रचार प्रसार ही पृथकता की समस्या उत्पन्न कर रहा है । इसी तरह राजनीतिक सत्ता प्राप्ति में क्षेत्रीयता के आधार पर ही राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ और इन्होंने सत्ता प्राप्ति के प्रयासों से क्षेत्रीयतावाद को प्रबल बनाया है ।

## 12.6 क्षेत्रीयतावाद के भारतीय राजनीति मे परिणाम

क्षेत्रीयतावाद और राजनीति में लगातार अन्त:क्रिया होती रहती है । भारत में भी राजनीति को क्षेत्रीयतावाद ने निरन्तर प्रभावित किया, भिन्न–भिन्न कारणों से क्षेत्रीयतावाद एक गम्भीर समस्या के रूप में फैल गया, और इसने राष्ट्रीय एकीकरण के समक्ष एक चुनौती खड़ी की है, परिणाम स्वरूप निम्न समस्याएं उत्पन्न हुई:–

**(अ) संघ से पृथक होने की मांग:**

क्षेत्रीयवाद का सबसे गम्भीर परिणाम राज्यों द्वारा क्षेत्रीय आधार पर भारत संघ से पृथक होने की मांग के रूप में सामने आया । डी. एम. के. ने मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल, मैसूर (कर्नाटक) को मिलाकर स्वतंत्र द्रविड़वादी गणराज्य की स्थापना हेतु मांग की, इस समस्या का सामना करने के लिये 1963 में संविधान में 16वां संशोधन पारित कर भारतीय अखण्डता के विरूद्ध कार्य करने वालों को दण्डित करने का प्रावधान जोड़ा गया। इसी प्रकार पंजाब में खालिस्तान बनाने की मांग उठी । सिक्खों के लिये अलग राष्ट्र की मांग ने सम्पूर्ण पंजाब प्रान्त को आतंकवाद की आग में धकेल दिया, सिक्खों को हिन्दुओं से अलग वर्ग में स्थापित करने व भारत संघ में उन्हें उचित स्थान न मिलने की भावना का कुप्रचार कर विदेशी सहयोग से अलग राष्ट्र निर्माण के हिंसक प्रयासों से राष्ट्रीय एकता को गहरा धक्का लगा है । काश्मीर का मामला भी कुछ इसी प्रकार रहा है इसमें 'पृथक काश्मीर' के लिये उग्रवादियों का आश्रय लेकर पाकिस्तान सहयोग से अशांति उत्पन्न की गई है । पूर्वोत्तर राज्यों में 'मिजों' राज्य की मांग, गौरखालैण्ड की मांग, 'नागा' जाति द्वारा अलग राज्य की मांग से सारी पृथक राज्य की मांगे क्षेत्रीयतावाद की नीति का परिणाम है।

**(ब) राज्यों के पुनर्गठन या विभाजन की मांग:**

क्षेत्रीयतावाद के दबाव को स्वीकार कर भाषायी आधार पर 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया किन्तु तभी से लगातार किसी न किसी रूप से पुन: राज्यों के विभाजन का सीमाओं के पुनर्निधारण की मांग उठती रही । क्षेत्रीय दबावों के अनुरूप परिवर्तन भी किये जाते रहे । 1960 में बम्बई राज्य का विभाजन कर महाराष्ट्र व गुजरात की भाषा के

आधार पर स्थापना हुई । 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया, 1968 में असम पुनर्गठन बिल के माध्यम से मेघालय स्वायत्तशासी राज्य बनाया गया। कई केन्द्र शासित प्रदेशों को राज्य का दर्जा भी दिया गया। परिणामस्वरूप क्षेत्रीयतावाद के आधार पर बड़े राज्यों में विभाजन कर छोटे–छोटे राज्यों में निर्माण हेतु दबाव निर्मित होने आरम्भ हो गये है । पहाड़ी प्रदेशों की अपनी समस्याएं व पिछड़ापन है । अत: उत्तर प्रदेश में आठ पहाड़ी जिलों को मिलाकर एक पृथक उत्तराखण्ड राज्य की मांग की गई और यह मांग अन्तिम निर्णय के स्तर तक पहुंची हुई दिखाई दे रही है । झारखण्ड राज्य की स्थापना के लिये तीव्र आन्दोलन दिखाई दिया है, ये आदिवासी क्षेत्र जो कि बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश व पश्चिम बंगाल से जुड़े चार राज्यों के 241 जिलों से मिलाकर पृथक राज्य चाहते है । मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ अंचल के लोग पृथक छत्तीसगढ़ राज्य चाहते हैं । असम में मैदानी इलाकों ने पृथक से संघीय क्षेत्रों की मांग की है, बोडो जाति के लोग अपने लिये अलग स्वायत्त क्षेत्र चाहते है । कुल मिलाकर जहां क्षेत्रीयतावाद में राज्य की पुनर्संरचना में एक बार भाषा को आधार बनाया था वहां अब पहाड़, मैदान, विशिष्ट अंचल, विशिष्ट जाति व आदिवासी समुदाय आदि आधारों पर राज्यों के विभाजन हेतु दबाव स्पष्ट नजर आ रहे है । यह परिदृश्य भी क्षेत्रीयतावाद का ही परिणाम है ।

**(स) क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय:**

राष्ट्र में दिखाई दे रहे असन्तुलित विकास का एक महत्वपूर्ण कारण था, राज्य सत्ता का राजनीतिज्ञों द्वारा मनमाना प्रयोग। अपने स्थायित्व या हितों के संरक्षण के लिये प्रभावशाली राजनीतिज्ञों ने अपने–अपने क्षेत्रों को विकसित करने का प्रयास किया। केन्द्रीय मंत्री के पास जो विभाग रहा उस विभाग के माध्यम से उसने अपने क्षेत्र का सर्वाधिक विकास किया । इस कारण से क्षेत्रीय स्तर पर इस भावना को बल मिला कि यदि 'क्षेत्र विशेषज्ञ' राजनीतिक सत्ता में भागीदार बन सके तो क्षेत्रीय विकास अच्छे ढंग से हो सकेगा, परिणामत: क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय हुआ। आज क्षेत्रीय दलों का बाहुल्य व वर्चस्व इतना हो गया है कि राज्य–स्तर पर वे अपनी सत्ता स्वयं तथा केन्द्र की सत्ता में स्थिरता–अस्थिरता के निर्णायक साबित हो रहे है । छोटे–छोटे दलों के कारण ही राष्ट्र में मजबूत व स्थिर सरकार की स्थापना एक कठिन कार्य हो गया है । बड़े राजनीतिक दलों की अन्तर्कलह और विभाजन से अपने–अपने क्षेत्रों में प्रभाव रखने वाले समूहों ने भी राजनीतिक क्षेत्रीय दलों का निर्माण किया। इन दलों का महत्व स्पष्ट बहुत के अभाव की बड़ी पाटी । के विकल्प के रूप में मिली–जुली सरकार के समय बहुत ज्यादा बढ़ा है । इन क्षेत्रीय दलों का स्वरूप न तो कोई विशिष्ट आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक विचार है, न ही कोई सैद्धांतिक आधार मात्र क्षेत्रीयतावाद के बल पर सत्ता की प्राप्ति और क्षेत्र के हितों का संरक्षण ही मुख्य आधार है, फिर चाहे राष्ट्रीय हितों को किसी भी सीमा तक चोट क्यों न पहुंचे। डी.एम.के., ए.डी.एम.के., अकाली दल, नेशनल कांन्फ्रेस, झारखण्ड मुक्ति दल, तेलगुदेशम, मुस्लिम लीग के साथ ही नागालैण्ड, त्रिपुरा, असम, गोवा, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश, गुजरात आदि राज्यों में क्षेत्रीय दलों का अभ्युदय व वर्चस्व

दिखाई दे रहा है और यह क्षेत्रीयतावाद का ही परिणाम है, इससे राष्ट्रीय एकीकरण में भी बाधा महसूस हो रही है ।

**(द) केन्द्र–राज्य एवं राज्यों के मध्य आपसी विवाद:**

क्षेत्रीयतावाद की परिणति ने संघात्मक शासन के मूलरूप को भी चोट पहुंचाई है । राज्यों में क्षेत्रीयतावाद के पनपने से अधिक अधिकारों की मांग तथा केन्द्र के हस्तक्षेप के विरूद्ध अपनी क्षेत्रीय अस्मिता की रक्षा हेतु संघर्ष आरम्भ हुआ। केन्द्र द्वारा राज्यों में कानून व्यवस्था पर बल भेजने पर सर्वाधिक आपत्तियां पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, केरल राज्यों द्वारा ली गई, क्षेत्रीय विकास के सन्दर्भ में अधिकाधिक अनुदान की मांग तथा केन्द्र द्वारा राज्य सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न की है । क्षेत्रीयतावाद के ही कारण राज्यों में आपसी विवाद भी चरम स्थिति में पहुंच गये है । नर्मदा नदी पर बांध की ऊंचाई से उत्पन्न विवाद में गुजरात, मध्यप्रदेश व राजस्थान में विवाद चल रहा है, कावेरी जल बंटवारे का विवाद कर्नाटक व तमिलनाडु के बीच दीर्घकाल से विषाक्त वातावरण बना रहा है । असम के साथ नागालैण्ड, मेघालय और अरूणांचल प्रदेश का सीमा विवाद संघर्ष का मुद्दा बना हुआ है । इस प्रकार क्षेत्रीयतावाद ने राज्यों के मध्य संकुचित व स्वार्थ की भावना को जन्म दिया है, जिससे संघात्मक ढांचे को अपूरणीय क्षति पहुंची है और राष्ट्रीय विकास भी अवरूद्ध हुआ है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि क्षेत्रीयतावाद ने अपने नकारात्मक रूप से भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियों को प्रभावित किया है । क्षेत्रीयतावाद के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करते है, राजनीति दलों ने अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिये क्षेत्रीयतावाद का सहारा लिया है, चुनाव के अवसरों पर दलों के प्रत्याशियों का चयन और मत याचना इसी आधार पर की जाती है, लोकप्रियता और दबाव के लिये हिंसक साधनों का सहारा लेकर क्षेत्रीयवाद ने भारतीय राजनीति में उग्रवाद को बढ़ावा दिया है । क्षेत्रीयतावाद का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि सर्वोच्च पदों पर बैठने वाले व्यक्तियों का चयन भी इससे अछूता नहीं रहता, जैसे अपेक्षा हो गई है कि प्रधानमंत्री उत्तर भारत का हो तो राष्ट्रपति दक्षिण भारत का । यदि प्रधानमंत्री मंत्रीमण्डल का निर्माण करे तो उसे सभी क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व देना होगा, अर्थात् प्रधानमंत्री व्यक्ति चुनने में स्वतंत्र है किन्तु क्षेत्र चुनने में नहीं । संसद में जब भी विकास के संसाधनों पर चर्चा होती है तो प्रत्येक सांसद अपने क्षेत्र को प्राथमिकता देना चाहता है तथा मंत्री स्वयं अपने क्षेत्र को । इस प्रकार क्षेत्रीयतावाद ने राष्ट्रवादी चिन्तन धारा को अवरूद्ध किया है ।

## 12.7 क्षेत्रीयतावाद की समस्या का समाधान – कुछ सुझाव

क्षेत्रीयतावाद का सकारात्मक रूप अर्थात अपने क्षेत्र के विकास (हितों) के प्रति जागरूकता राष्ट्रीय एकीकरण में संतुलन व सजगता ला सकता है किन्तु जब वह एक सीमा से अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है तो यह नकारात्मक रूप में राष्ट्रीय हितों का ध्यान नहीं रखता और ऐसी समस्या बन जाता है जो राष्ट्र के अस्तित्व के लिये घातक हो सकता है । इसलिये राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को बनाए रखना नितान्त आवश्यक है, इसके लिये एक सन्तुलित व्यवहार और राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एकीकरण के साथ भावनात्मक एकीकरण

अत्यधिक आवश्यक है । व्यक्तियों और राज्यों को एक राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था में रखा जा सकता है, किन्तु यदि मनोवैज्ञानिक भय, परस्पर अविश्वास, अन्याय की आशंका से मुक्ति नहीं मिलेगी तब तक राष्ट्रीय एकीकरण अधूरा रहेगा ।

प्रसिद्ध विद्वान रजनी कोठारी ने भारतीय राजनीति की इस प्रवृत्ति पर विचार प्रकट किये है, उनका मानना है कि राज्यों का निर्माण आकार, विकास की स्थिति, शासन की सुविधाएं, सामाजिक एकता तथा राजनीतिक व्यवहारिकता को देख लिया गया होता तो सम्भवत: क्षेत्रीयतावाद समस्या के रूप में ऐसा भयावह नहीं होता । श्री कोठारी का मानना है कि छोटे राज्यों का निर्माण व महानगरों को स्वायत्त दर्जा दिये जाने से समस्या का हल खोजा जा सकता है, कुछ सीमा तक इस विचार से सहमत हुआ जा सकते, है किन्तु इससे पूरी तरह क्षेत्रवाद की नकारात्मक प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं होंगी।

वास्तव में विकास के क्षेत्रों में असन्तुलन दूर हो, आर्थिक क्षेत्रों में मात्र स्वस्थ प्रतिस्पर्धा हो, भ्रष्टाचार दूर किया जा सके तनाव के प्रत्येक बिन्दु का शीघ्र हल ढूंढा जा सके, राजनीतिक व्यवहार में संकीर्ण भावना के स्थान पर विशाल दृष्टिकोण हो, सांस्कृतिक विभिन्नता होते हुए भी परस्पर विश्वास को जगा सके ऐसे सामाजिक प्रयास हों, योग्यता और क्षमता निर्णय का आधार हो, नेतृत्व में सहयोजन की क्षमता हो, तो राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में क्षेत्रीयतावाद साधक बनेगा अन्यथा सदैव बाधक रहेगा ।

## 12.8 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य

भारत स्वाधीनता पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन एक राजनीतिक शक्ति के द्वारा शासित हो रहा था, इससे राजनीतिक एकता हमें दिखाई दे रही थी, किन्तु तभी से स्वार्थ पूर्ति के लिये 'क्षेत्रीयता' की प्रवृत्ति का इस्तेमाल किया जाने लगा, राज्यों के निर्माण व विभाजन से लेकर क्षेत्रों के विकास के प्रयास शुद्ध स्वार्थ पर आश्रित रहे, यही प्रवृत्ति स्वाधीनता के बाद भारतीय राजनीतिक दलों में दिखाई दी, परिणाम स्वरूप जहां क्षेत्रीयतावाद का सकारात्मक रूप राष्ट्रीय एकीकरण में सहायक होना था वह सीमाओं का अतिक्रमण कर नकारात्मक रूप में एक भीषण समस्या के रूप में सामने आया, उसमें सहयोगी तत्वों के रूप में असन्तुलित विकास, आर्थिक राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं ने इस क्षेत्रीयतावाद को भड़काने में पूरा–पूरा योग दिया, इससे भारत में पृथकतावाद की मांग उठी कश्मीर, खालिस्तान व पूर्वोत्तर सीमाओं के प्रान्त इसी कारण आतंकवाद में जलने लगे, राज्यों के भीतर ही पृथक क्षेत्र के आधार पर पृथक राज्य जैसे तेलंगाना, पृथक उत्तराखण्ड, नक्सलवादी, पृथक झारखण्ड, छत्तीसगढ़ राज्यों के निर्माण की मांग उठने लगी । राजनीतिक सत्ता की आकांक्षा ने क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय किया और वे सत्ता की सौदेबाजी में संलग्न हो गये। केन्द्र–राज्य संघर्ष आरम्भ हो गया । क्षेत्रीयवाद से उत्पन्न इन समस्याओं का निदान असमान विकास को दूर कर आर्थिक असमानता को घटाकर, भ्रष्टाचार को दूर कर, परस्पर विश्वास की भावना पैदा कर किया जा सकता है । संक्षेप में राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक असन्तुलन को दूर कर भावनात्मक एकता उत्पन्न कर क्षेत्रीयतावाद की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

**अभ्यास कार्य:**

1. 'क्षेत्रीयतावाद' भारतीय राजनीति की एक गम्भीर समस्या है, इसका विवेचन कीजिये ।
2. 'राज्यों के विभाजन एवं अलगाववाद के लिये क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति ही जिम्मेदार है', इस कथन के सन्दर्भ में उदाहरण सहित विवेचना कीजिये ।

## 12.9 संदर्भ ग्रन्थ


1. कोठारी, रजनी : भारतीय राजनीति
2. जैन, सत्यनारायण : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था
3. सेलिंग, हेरीसन : इण्डिया द मोस्ट डेंजरस डिके
4. वर्मा, गोविन्दराम : भारतीय शासन व राजनीति
5. जोहरी, जे.सी. : भारतीय शासन व राजनीति

# इकाई – 13
# राजनीतिक दल एवं चुनावी राजनीति

**इकाई संरचना**

13.1 उद्देश्य
13.2 प्रस्तावना
13.3 भारत में राजनीतिक दल : उद्भव एवं विकास
13.4 भारतीय दल व्यवस्था: विशेषतायें
13.5 भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
13.6 भारत के प्रमुख राजनीतिक दल
13.7 चुनावी राजनीति
13.8 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
13.9 संदर्भ ग्रन्थ

## 13.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है:

1. भारतीय राजनीतिक दल व्यवस्था की विशेषताओं से स्पष्ट करना।
2. भारतीय राजनीतिक दलों के कार्यक्रम व नीतियों से अवगत कराना।
3. भारतीय राजनीति के दलों की चुनावों में स्थिति व भूमिका की आलोचनात्मक व्याख्या करना।

## 13.2 प्रस्तावना

किसी भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था के सफल संचालन के लिये राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है । राजनीतिक दल हित–संयोजन व हित उच्चारण के द्वारा निर्णय निर्माण प्रक्रिया में जनता की भागीदारी से संभव बनाते है । राजनीतिक दल विस्तृत व बहु संख्यक मतदाताओं के इस युग में समर्थकों व सहानुभूति रखने साले व्यक्तियों से प्रत्यक्ष व समीप का संबंध स्थापित करते हैं, सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से निर्वाचनों में भाग लेते है और विकास के आर्थिक व सामाजिक कार्यक्रमों से कार्यान्वित करते है । विभिन्न राजनीतिक दल मतदाताओं को अधिक से अधिक संख्या का समर्थन प्राप्त करने और सदा पर अधिकार करने के लिये परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं ।

## 13.3 भारत में राजनीतिक दल: उद्भव एवं विकास

भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था अपनाये जाने तथा सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार दिये जाने के कारण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । भारत में दलों का प्रादुर्भाव 1885 से माना जा सकता है जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई, हालांकि उससे पूर्व भी कई समूह थे जो राजनीतिक व सार्वजनिक मुद्दों पर बहस करते थे, किन्तु उन्हें अत्यन्त ही अल्प प्रतिनिधित्व प्राप्त था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही ऐसा पहला मंच था जिसका राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार था । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी प्रारंभ में

राजनीतिक दल के उद्देश्यों (सत्ता पर अधिकर) से प्रेरित नहीं थी, परन्तु इसने भारतीय अभिजन को देश की समस्याओं पर सामूहिक रूप से विचार करने का प्रशिक्षण दिया। कुछ समय पश्चात् कांग्रेस में दो समूह प्रभावशाली रहे– नरमपंथी व उग्रपंथी। नरमपंथी शांतिपूर्वक संवैधानिक साधनों जैसे भाषण व प्रस्तावों में विश्वास व्यक्त करते थे। उग्रपंथी इन साधनों को प्रभावहीन मानते थे व अंग्रेजों के विरूद्ध दबावकारी साधनों के उपयोग की वकालत करते थे। इन मतभेदों के बावजूद दोनो प्रकार के सदस्य कांग्रेस के अंतर्गत ही कार्य करते रहे । वामपंथी व दक्षिणपंथी सभी प्रकार के विचारों वाले कांग्रेस के अंदर ही स्थान पाते रहे ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अतिरिक्त सर सेय्यद अहमद ने स्वतंत्र राजनीतिक दल मुस्लिम लीग नाम से गठित किया। इस दल की सदस्यता मात्र मुस्लिम धर्म के लोगों के लिये थी तथा इसका उद्देश्यों मुस्लिम जनता के हितों की रक्षा उनके प्रतिनिधियों के माध्यम से करना और उसके लिये अंग्रेजी समर्थन प्राप्त करना था । मुस्लिम लीग की स्थापना की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू महासभा का गठन किया गया। इनके अतिरिक्त कुछ स्थानीय संगठन जो जमींदारों, एंग्लो–इंडियन, यूरोपीय व्यापारियों से संबंधित थे का भी उद्भव हुआ । पर इन सभी को राजनीतिक दल की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। बाद के वर्षों में अनुसूचित जाति दल, जस्टिस पार्टी, बंगाल की कृषक प्रजा पार्टी, उत्तर प्रदेश की राष्ट्रीय कृषक दल, पंजाब की यूनियन. दल, वामपंथी दल, डेमोक्रेटिक स्वराज पार्टी आदि कई दलों का उद्भव हुआ। पर वे भी राजनीतिक दलों की परिभाषा के अंतर्गत पूरी तरह नहीं आते थे । स्वतंत्रता के पश्चात् ही सही अर्थों में राजनीतिक दलों का विकास हुआ जिन्होंने सत्ता प्राप्ति के मुख्य उद्देश्यों के लिये कार्य करना प्रारंभ किया।

## 13.4 भारतीय दल व्यवस्था: विशेषतायें

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में जो दल व्यवस्था स्थापित हुई उसे कुछ आलोचकों ने दल व्यवस्था मानने से ही इंकार किया। उनका मत रहा कि भारत में विभिन्न दल तो है परन्तु दल व्यवस्था नहीं है । वास्तव में यह सोच पश्चिमी ढंग के प्रजातंत्र व दल व्यवस्था से प्रभावित विचारकों का रहा है और इसे सत्य नहीं माना जा सकता। भारत दल की व्यवस्था भारत के स्वतंत्रता आंदोलन एवं स्वतंत्र भारत की सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों में प्रतिफलित व विकसित हुई है। अत: चाहे वह पश्चिम प्रकार की दल व्यवस्था का अनुगमन न करे तो भी उसकी विशिष्ट विशेषतायें है जो निम्न है:–

1. भारत में अधिनायकवादी देशों की भांति न तो एक दलीय व्यवस्था है और न ही ग्रेट ब्रिटेन व संयुक्त राज्य अमेरिका की भांति द्विदलीय व्यवस्था ही यहां विकसित हो पाई है । भारतीय दल व्यवस्था बहुदलीय व्यवस्था है जहां कांग्रेस (ई), भारतीय जनता पार्टी, साम्यवादी दलों, जनता दल, बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी आदि राष्ट्रीय दलों के अतिरिक्त अनेकों क्षेत्रीय दल विद्यमान हैं । स्वतंत्रता के पश्चात् यदि सभी दलों की संख्या जोड़ी जाय तो संख्या दो सौ का आंकड़ा पार कर जायेगी। इन मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों के अतिरिक्त भी अनेकों ऐसे संगठन कार्य करते है जिनके कार्य स्थल तथा सदस्यता दोनों ही सीमित है। निर्वाचनों के समय तो छोटी व तुरन्त फुरत अस्तित्व में

आये दलों की संख्या अत्यधिक हो जाती है । भारत को सर्वाधिक दलों वाला देश कहा जा सकता है।

2. भारत की बहुदलीय पद्धति भी विशिष्ट है और पश्चिम के फ्रांस या इटली जैसे देशों की बहुदलीय व्यवस्था से भिन्न है । क्योंकि दलगत विशेषता–सत्ता में भागीदारी की कसौटी पर सभी दल खरे नहीं उतरते । निर्वाचनों में बहुत बड़ी संख्या में राजनीतिक दल भाग लेते है उनमें से कुछ दल कुछ स्थान जीतने में सफल हो जाते है, परन्तु दल स्वयं के बल पर सत्ता में आ सकने की क्षमता नहीं रखते। मिली–जुली अथवा संयुक्त सरकारों में भागीदारी के माध्यम से सत्ता में भागीदारी दलों की संख्या बढ़ा है । वर्तमान में सामाजिक आधारों पर मतों के ध्रुवीकरण के कारण कोई भी दल राष्ट्रीय स्तर पर समस्त जनता का प्रतिनिधित्व कर केन्द्र में बहुमत प्राप्त करने की स्थिति में नहीं है । 1989 से 1991 तक और फिर 1995 में संयुक्त मोर्चे की गैर कांग्रेसी सरकार का गठन किया गया किन्तु उनका अस्तित्व बाहरी दलों के समर्थन पर निर्भर रहा। कांग्रेस ही भारत की सर्वाधिक विस्तृत सदस्यता वाला सुसंगठित दल रहा । स्वतंत्रता से 1989 तक 1977 से 1980 के अंतराल को छोड़कर– यही दल केन्द्र में शासन करता रहा।

   अत : बहुदलीय व्यवस्था होते हुए भी भारतीय दल व्यवस्था 'एक प्रभुत्वपूर्ण दल व्यवस्था' कहलायी जाती रही । किन्तु 1989 के पश्चात् करिश्मावादी नेतृत्व का अभाव, अनुशासनहीनता व गुटबंदी के कारण कांग्रेस की शक्ति भी क्षीण हुई । दूसरी और मंडल जैसे मुद्दों को लेकर भारतीय जनता पार्टी ने अपनी शक्ति व संगठन का विस्तार किया । दलित हितों के लिए गठित बहुजन समाज पार्टी की शक्ति में भी निरन्तर बढ़ोत्तरी हो रही है । आज की व्यवस्थाओं को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में बहु–दलीय व्यवस्था पूर्णत: स्थापित हो चुकी है । अभी भी इसका पूर्ण विकास नहीं हुआ है और परिपक्व व्यवस्था स्थापित होने में कुछ और समय लग सकता है ।

3. भारतीय दल व्यवस्था की एक अन्य विशेषता दल बदल एवं दलों का निरंतर विभाजन, ध्रुवीकरण व विलीनीकरण है । सत्ता में आ सकने के लिये कई दल अपना स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त कर एक बड़े दल में विलीन हो जाते है वही दल में स्वयं को उपेक्षित मान व हित सिद्धि के लिये घटक दल से निकल स्वतंत्र अस्तित्व में आ जाता है जिस प्रकार जनता पार्टी का गठन व विघटन हुआ अथवा 1997 में जनता दल से निकल लालूप्रसाद यादव ने राष्ट्रीय जनता दल का निर्माण किया । 1996 में कांग्रेस से निकल तिवारी कांग्रेस, मध्यप्रदेश विकास परिषद् आदि की स्थापना की गई ।

4. भारतीय दल व्यवस्था में सिद्धान्तों के स्थान पर व्यक्ति विशेष के प्रति भक्तिभाव की प्रवृत्ति दिखाई देती है । यही कारण है कि व्यक्तित्व पर आधारित दलों की संख्या बहुत है । बिहार में लालूप्रसाद यादव का राष्ट्रीय जनता दल, जार्ज फर्नांडीस की क्षमता पार्टी, उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह की समाजवादी पार्टी, मूपनार की तमिल मनीला कांग्रेस, चन्द्रबाबू नायडू की तेलगूदेशम अथवा पार्वती की तेलगू देशम आदि सैंकडों उदाहरण गिनाये जा सकते हैं । इस व्यक्तिवाद के कारण ही 'गुटबंदी' अथवा घटकवाद भी भारतीय दलों की एक

विशेषता बन चुकी है । संगठित दलों के अंदर भी कई प्रमुख नेताओं के इर्दगिर्द इकट्ठे सदस्य भी एक भिन्न दल की भांति व्यवहार करते हैं । इन गुटों में सत्ता सूत्रों को नियंत्रित किये रहने के लिए आंतरिक प्रतिस्पर्धा व रस्साकशी चलती रहती है ।

5. सिद्धान्तों पर आधारित दलों के स्थान पर सामाजिक आधार पर निर्भर दलों की शक्ति में वृद्धि हुई है । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जिसमें सभी वर्गों व हितों का प्रतिनिधित्व था, आज कमजोर जान पड़ती है । क्योंकि दलितों के हितों के लिये बहुजन समाज पार्टी, पिछड़े वर्ग के लिये जनता दल, समाजवादी पार्टी, उच्च वर्ग के लिये भारतीय जनता पार्टी आदि नेतृत्व प्राप्त करते रहे है । आज सामाजिक संरचना व उससे संबंधित विशिष्ट वर्ग या जाति विशेष के हित संपादन के लिये दल गठित हो रहे है । पारंपरिक रूप से कांग्रेस ही इन विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करती रही थी । कांग्रेस की शक्ति कुछ हद तक इसी सामाजिक आधार के दूसरे दलों द्वारा छीन लिये जाने के कारण कम हुई ।
6. क्षेत्रीय दलों के महत्व में पिछले कुछ वर्षों विशेषकर 80 के दशक में अत्यधिक वृद्धि हुई है। क्षेत्रीय दलों की क्षेत्र विशेष की राजनीतिक पर ही पकड़ नहीं बढ़ी है बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी ये अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गये है । पूर्व में ये केन्द्र में अल्पमत सरकार को जीवन देने कार्य करते थे किन्तु वर्तमान में सरकारें ही इनकी भागीदारी पर अवलंबित दिखाई देती है। 1996 में केन्द्र में गठित संयुक्त मोर्चा सरकार तमिल मनीला कांग्रेस, तेलगूदेशम, अकाली दल समाजवादी पाटी द्रविड मुनेत्र कड़गम आदि क्षेत्रीय दलों के आधार पर टिकी है।
7. भारत में बहुदलीय व्यवस्था होने से विभिन्न दलों की नीतियों व कार्यक्रमों में अधिक भेद नजर नहीं आता। जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, अमीर व गरीब के बीच की खाई को कम करना, असंलग्नता, पड़ोसियों से संबंध सुधारने आदि सभी दलों के कार्यक्रम है । भारतीय जनता पार्टी जिसे आज दक्षिण पंथी दल के रूप में मान्यता प्राप्त है, उन सिद्धान्तों व कार्यक्रमों का प्रचार करती दिखाई देती है जो कभी कांग्रेस के थे । स्वदेशी का विचार ऐसा ही एक उदाहरण है । साम्यवादी दल भी उदारीकरण व वैश्वीकरण के माध्यम से औद्योगिकरण के विचार को पश्चिम बंगाल में लागू करते दिख रहे है ।
8. दलगत हितों के संपादन पर जोर – संकीर्ण दलीय हितों को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है कभी–कभी राष्ट्रीय हित की बलि भी इसके लिए चढ़ा दी जाती है । सत्ता में आने के पश्चात् कई महत्वपूर्ण पद अपने दल के सदस्यों को उनकी योग्यता पर विचार किये बिना आवंटित कर देते है । यहां तक कि प्रशासकीय सेवाओं के वफादारों को उनकी योग्यता पर विचार किये बिना आवंटित कर देते है । यहां तक कि प्रशासकीय सेवाओं के वफादारों को महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त किया जाता है । इससे प्रशासकीय सेवकों के तटस्थता के सिद्धान्तों का हनन होता है ।

## 13.5 भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण

भारतीय राजनीतिक दलों को परंपरागत पश्चिमी शैली में वर्गीकृत करना आसान नहीं है क्योंकि वामपंथी, दक्षिणपंथी व मध्यमार्गी जैसी श्रेणियों मे भारतीय दलों को नहीं रखा जा सकता । जनता दल, जनता पार्टी, व कांग्रेस (इ), सभी समाजवादी सिद्धांतों से प्रेरित हैं, किन्तु

कांग्रेस इस मध्यम स्थिति से कुछ वामपंथी की ओर झुकाव लिये हुए है जबकि जनता पार्टी व दल का मध्यम से कुछ दक्षिणपंथी की ओर झुकाव है । भाजपा दक्षिणपंथी है पर गांधीवाद को आगे बढाने का विचार रखती है अत: सैद्धान्तिक व विचारधारागत नमनीयता, सामाजिक आधार पर निर्भरता एवं दल बदल की बहुलता भी भारतीय राजनीतिक दलों को वाम, दक्षिण या मध्यम श्रेणी में वर्गीकृत करने में कठिनाई पैदा करते है । इसके अतिरिक्त आज विद्यमान अधिकांश राजनीतिक दल कभी न कभी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ही हिस्सा रहे है और कांग्रेस से अलग होकर ही स्वतंत्र अस्तित्व में आये हैं ।

कार्यक्षेत्र, सैद्धांतिक, राजनीतिक, सामाजिक आधारों पर भारतीय दलों को चार भागों में मोटे तौर पर बांटा जा सकता है– राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, स्थानीय एवं सामुदायिक, तदर्थ एवं सीमांत संगठन।

**राष्ट्रीय –** इस श्रेणी में उन राजनीतिक दलों को रखा जा सकता है जिनका संपूर्ण देश में अथवा देश के अधिकांश भागों में कार्यक्षेत्र है और केन्द्रीय व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व है । इन दलों की सदस्यता सभी के लिये खुली है । जाति अथवा धर्म के आधार पर सीमित नहीं है। ये सिद्धान्तवादी व गैर सिद्धान्तवादी श्रेणियों में पुन: विभक्त की जा सकती है ।

प्रथमत: वे दल जो किसी विचारधारा विशेष में आस्था नहीं रखते । विचारधारा से तात्पर्य है किसी विशेष सामाजिक व आर्थिक दर्शन एवं इसे क्रियान्वित करने के लिये विशेष साधनों में विश्वास। इस दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं जनता दल एवं जनता पार्टी को गैर विचारधारागत दल कहा जा सकता है । विभिन्न सामाजिक व आर्थिक दर्शनों में विश्वास रखने वाले इनके सदस्य हैं।

विचारधारागत दल में साम्यवादी दल है जो सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् भी मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा को अंगीकार करते हैं । भारत में वे क्रांतिकारी नहीं बल्कि संसदात्मक अथवा शांतिपूर्ण साधनों से उद्देश्य पूर्ति करना चाहते हैं ।

विचाराधीन व गैर विचारधारागत इन राष्ट्रीय व पंथ निरपेक्ष दलों के अतिरिक्त कुछ क्षेत्रीय व सांप्रदायिक एवं गैर सांप्रदायिक दलों का भी अस्तित्व है । अकाली दल सिक्ख, समुदाय व सिक्खों के हित के लिये कार्य करता है । संत फतेह सिंह के नेतृत्व में इसने भाषागत आधार पर पंजाब राज्य का विभाजन कराया। यह दल पंजाब में 1967, 1969, 1977, 1985 एवं 1993 में सत्तासीन हुआ।

दक्षिण में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम भारतीय संविधानांतर्गत स्वायत्त द्रविड़ राज्य की स्थापना के लिये कार्यशील रहा। यह दल तमिलनाडु में 1967 से 1976 तक सत्ता में रहा। उसके बाद अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कजगम ने उसका स्थान ले लिया। यह 1988 में व 1995 में पुन: सत्ता में आया। इंडियन यूनियन मुस्लिमलीग दक्षिण में विशेष तौर पर केरल में दृष्टव्य है, जहां यह माकपा, भाजपा व कांग्रेस आई के साथ बने संयुक्त सरकार का एक भाग रहती है। उत्तरी भारत में बहुजन समाज पार्टी तथा खोबरगड़े व अंबेडकर शाखाओं वाली रिपब्लिकन पार्टी जो महाराष्ट्र में प्रमुख है, दलितों के हितों के लिये गठित दल है । अन्य गैर सांप्रदायवादी क्षेत्रीय दलों में किसान–मजदूर पार्टी, महाराष्ट्रवादी गोमांत पार्टी, क्रांतिकारी भारतीय कम्युनिस्ट

पार्टी, समाजवादी एकता केन्द्र, फारवर्ड ब्लाक, तेलगूदेशम, सिक्किम संग्राम परिषद्, असम गण परिषद्, राष्ट्रीय जनता दल, नेशनल कांफ्रेंस, उत्तराखंड क्रांति दल आदि प्रमुख है ।

तदर्थ संगठनों में वे प्रमुख है जिनकी सदस्यता किसी समुदाय या विशेष दृष्टिकोण वाले लोगों के लिये ही है । इनमें कुछ आदिवासी दल है जैसे झारखंड मुक्ति मोर्चा, नागा नेशनल कंवेशन, मणिपुर, पीपुल्स पार्टी, मिजो नेशनल यूनियन आदि है । हिन्दू महासभा एवं रामराज्य परिषद आदि नाम के लिये ही अस्तित्व में है ।

## 13.6 भारत के प्रमुख राजनीतिक दल

**(1) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस –**

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत का सबसे पुराना राजनीतिक दल है । 1885 में इसकी स्थापना के समय इसका उद्देश्य देश की सामाजिक आर्थिक समस्याओं पर जनमत निर्माण था । महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत की स्वतंत्रता के लिये कटिबद्ध हुआ । 1947 में प्राप्त स्वतंत्रता के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयास ही मुख्य थे ।

**विचारधारा, कार्यक्रम –**

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने पुराने कलेवर में ही कार्य करती रही । देश में नयी राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के निर्माण को उद्देश्य माना। जवाहरलाल नेहरू ने भारत की स्वतंत्रता को मात्र पहला कदम माना है । उनके विचार में स्वतंत्र भारत को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना अधिक महत्वपूर्ण कार्य रहा। कांग्रेस ने किसी एक विशेष विचारधारा का अवलोकन नहीं किया। राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक न्याय पर आधारित व्यवस्था के निर्माण हेतु इस दल ने प्रजातंत्र, समाजवाद व धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित कार्यक्रम को अपनाया । 1955 में अवादी सम्मेलन के दौरान प्रजातांत्रिक समाजवाद के सिद्धान्त को औपचारिक रूप में अपनाया गया व घोषणा की गई कि "समाजवादी समाज" जहां उत्पादन के साधन सामाजिक नियंत्रण में हो, का निर्माण कांग्रेस का लक्ष्य है । योजनाबद्ध विकास को, राज्य नियंत्रण में माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया । मिश्रित अर्थव्यवस्था के आर्थिक स्वरूप में सार्वजनिक उपक्रमों को आधारभूत उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी दी गई । असमानताओं को दूर करने हेतु राजा महाराजाओं के विशेषाधिकार व प्रिवी पर्सेस को समाप्त किया गया । बीमा कंपनियों और बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया ।

सामाजिक क्रांति व पुनर्निर्माण हेतु सामाजिक प्रजातंत्र की स्थापना भी लक्ष्य रूप में अपनाई गई। अत: सैद्धान्तिक रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जातिभेद संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद आदि के विरूद्ध है । धर्मनिरपेक्षता व पंथनिरपेक्षता प्रमुख नीति रही।

विदेश नीति के क्षेत्र में कांग्रेस की विचारधारा 'पंचशील' के पांच सिद्धान्तों अथवा "शांतिपूर्ण सह अस्तित्व" की भावना पर आधारित रही । शांति अहिंसा के साथ ही राष्ट्रीय निर्माण व आर्थिक विकास के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु असंलग्नता अथवा गुटनिरपेक्षता को विदेशनीति का आधार बनाया गया । कांग्रेस के नेतृत्व में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारत जाति भेद उपनिवेशवाद सैनिक संगठनों का विरोध करता रहा ।

सारांश में कांग्रेस की विचारधारा के तीन स्तंभ हैं– प्रजातांत्रिक समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता एवं असंलग्नता। यह उल्लेखनीय है कि कांग्रेस बहुत ही वैभिन्नयता पूर्ण संगठन रहा और इसकी विचारधारा को सभी नेताओं व सदस्यों द्वारा समान रूप से कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। अत: अपने सैद्धान्तिक उद्देश्यों को कठोरता से लागू करने की प्रवृत्ति कभी भी कांग्रेस में नही, दिखाई दी। कांग्रेस का वृहदाकार संगठन रहा जिसमें अधिकृत रूप से स्वीकृत उद्देश्यों से भिन्न विचार रखने वाले भी सम्मिलित रहे । 1991 में श्री नरसिंहराव सरकार द्वारा आर्थिक सुधार एवं उदारवादी कार्यक्रम को लागू करने के बावजूद समाजवादी उद्देश्यों के प्रति कटिबद्धता कांग्रेस का उद्देश्य रहा । आलोचक कांग्रेस द्वारा अंगीकृत समाजवाद को समाजवाद नहीं बल्कि एक प्रकार की न्यायकारी नीति मानते हैं ।

**संगठन व सामाजिक आधार–**

सर्वप्रथम 1908 में कांग्रेस संगठन का त्रिस्तरीय ढांचा स्थापित किया गया था तब से आज तक इसमें परिवर्तन होते रहे है । वर्तमान में पिरामिड के आकार का वृहद् संगठन है जिसमें अखिल भारतीय कांग्रेस समिति, कार्यकारिणी समिति उच्चस्तर पर कार्यरत है उसके उपरांत प्रांतीय स्तर पर प्रांतीय समितियां कार्य करती है जिनके अधीन जिला समितियां तहसील ग्राम व अन्य समितियां कार्य करती है । औपचारिक रूप से यह कि प्रजातांत्रिक संगठन प्रतीत होता है । जिसमें निम्नस्थ इकाईयां उच्चस्थ इकाईयों के प्रतिनिधि चुनती है किन्तु व्यवहार में शक्ति शिखर पर केन्द्रीत है । यही कारण है कि कार्यकारिणी 'हाई कमान' के नाम से जानी जाती रही । यह शब्द स्वतंत्रता के पूर्व गढ़ा गया था परंतु स्वतंत्रता के बाद भी व्यवहार में रहा और दल का सरकारी अंग सांगठनिक भाग पर हावी रहा । जवाहरलाल नेहरू के अंतिम दो वर्षों में 'सिंडीकेट' के नाम से विख्यात नेताओं का समूह कांग्रेस में अधिक प्रभावी रहा। किन्तु श्रीमति इंदिरा गांधी के नेतृत्व सम्हालने के पश्चात् 1969 में यह धराशायी हो गया। इसी समय दल के विभाजन ने प्रधानमंत्री के प्रभुत्व को पुनर्स्थापित कर दिया ।

मार्च 1977 तक कांग्रेस ही एक मात्र दल था जो वास्तव में अखिल भारतीय स्तर का था । भारत के भौगोलिक विस्तार के समान ही इसे जनाधार व जन समर्थन प्राप्त था । विभिन्न समुदायों, संप्रदायों, वर्ग जाति व हितों का प्रतिनिधित्व कांग्रेस के द्वारा ही किया जाता रहा । अल्पसंख्यक अनुसूचित जाति, जनजाति व अन्य कमजोर वर्गों का कांग्रेस को पूरा समर्थन प्राप्त था । पर मजदूर वर्ग बुर्जुआ व शहरी मध्यम वर्ग का समर्थन अधिक प्राप्त नहीं रहा ।

**कांग्रेस का एक प्रमुख पूर्ण दल के रूप में पतन–**

1969 में दल के विभाजन के पश्चात् कांग्रेस ने 1971 के चुनावों के दौरान बहुमत प्राप्त कर केन्द्र में सरकार बनाई । 1975 में आपातकाल की घोषणा से जनसमर्थन में कमी आई और मार्च 1977 में आपातकाल के विरूद्ध सभी विरोधी दलों ने जनता पार्टी के बैनर के तले एकत्रित हो कांग्रेस को सामूहिक चुनौती दी। परिणामस्वरूप कांग्रेस केन्द्र में सला से बाहर हो गई । इसी समय कांग्रेस से कई नेता अलग हो गये । इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस इंदिरा कांग्रेस के नाम से जानी गई । 1980 में पुन: सत्ता सम्हालने के पश्चात् 1984 में

इंदिरा गांधी की हत्या के बाद राजीव गांधी के नेतृत्व में पुन: कांग्रेस प्रचण्ड बहुमत से केन्द्र में सरकार बनाने में सफल रही। किन्तु आंतरिक कलह, गुटबाजी के कारण कांग्रेस अंदर से कमजोर हुई । वी. पी. सिंह द्वारा कांग्रेस से अलग हो जनता दल बनाये जाने के बाद 1989 में हालांकि कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभरी परंतु सत्ता में न आ सकी । 1989 से एक प्रधान दलीय व्यवस्था का अंत हुआ। मिली–जुली सरकारों का एक नया युग प्रारंभ हुआ। 1991 में कांग्रेस सत्ता में आई परंतु उसे बहुमत प्राप्त नहीं हो सका । मण्डल कमीशन की रिपोर्ट पर आधारित आरक्षण व्यवस्था को लागू कर पिछड़ वर्गों में वर्ग चेतना का अहसास उन्हें कांग्रेस से दूर व जनता दल के समीप ले गया। अनुसूचित जाति वर्ग समर्थन भी कांग्रेस से दूर हो नये दलों जैसे बहुजन समाज पार्टी आदि को प्राप्त हो गया। मंदिर मस्जिद विवाद का लाभ भारतीय जनता पार्टी ने उठाया और कांग्रेस के विरूद्ध प्रबल चुनौती का विकल्प के रूप मे दावा रखा। 1995 के निर्वाचनों में यही दल लोकसभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभरा और पहली बार कांग्रेस तीसरे स्थान पर रही। 1996/98 में जब उत्तरी भारत में भाजपा, सपा, बसपा, व दक्षिण के क्षेत्रीय दलों ने कांग्रेस का उत्तरी व दक्षिण दोनों में ही परास्त कर दिया। नरसिंहराव के नेतृत्व से असंतुष्ट कई दिग्गज नेताओं ने कांग्रेस छोड़ स्वतंत्र दल जैसे तिवारी कांग्रेस, मध्यप्रदेश विकास परिषद् तमिल मनीला कांग्रेस दलों का निर्माण किया। 1995 में निर्वाचनों में हार व भ्रष्टाचार के मुद्दों के कारण नरसिंहराव कांग्रेस अध्यक्ष पद स्वीकारा। कांग्रेस एकता के प्रयासों के अंतर्गत तिवारी कांग्रेस, मध्यप्रदेश विकास परिषद् का तो कांग्रेस में विलीकरण हुआ परन्तु मूपनार की तमिल मनीला कांग्रेस ने स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा। इस प्रकार आंतरिक गुटबाजी, जनाधार दूसरे दलों द्वारा छीन लिये जाने भ्रष्टाचार व नेहरू, इंदिरा जैसे चमत्कारिक व्यक्तित्व के नेता के अभाव में कांग्रेस निरंतर कमजोर होती गई।

**भारतीय जनता पार्टी –**

आपातकाल के दौरान कांग्रेस के विकल्प के रूप में गठित की गई जनता पार्टी के एक घटक भारतीय जनता पार्टी ने उससे अलग हो अपना स्वतंत्र अस्तित्व पुनर्स्थापित किया। यह 1951 में हिन्दू महासभा से अलग हुए श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा स्थापित भारतीय जनसंघ का ही नया रूप है जनसंघ उत्तरी भारत के विशेषकर उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, दिल्ली, पंजाब, में लोकप्रिय थी। भारतीय जनता पार्टी भी इन्हीं प्रदेशों में अधिक जनाधार एवं जनसमर्थन प्राप्त कर पाई है। जनसंघ ने प्रथम आम चुनावों में जहां मात्र 3 स्थान लोकसभा में जीते वही चौथे आम चुनावों में इसकी संख्या बढ़कर 35 हो गई। 1971 के मध्यावधि चुनावों में इंदिरा लहर के बावजूद इसे 22 स्थान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई थी। आपातकाल के दौरान जनसंघ के नेताओं ने कांग्रेस (ओ) भारतीय लोकदल एवं समाजवादियों के साथ मिलकर जनता पार्टी गठित की। जनता पार्टी में दोहरी सदस्यता के प्रश्न पर असहमति होने के पश्चात् जनसंघ नये नाम भारतीय जनता पार्टी के रूप में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में अलग हुई। 1980 के चुनावों में इसे आशानुकूल सफलता नहीं मिली व 1984 में लोकसभा में इसके मात्र 2 सदस्य ही स्थान पा सके किन्तु उसके पश्चात् यह निरंतर मजबूत होती गई। 1987 में हरियाणा की साझा सरकार में यह सम्मिलित हुई। 1989 में लोकसभा की 226 सीटों पर

चुनाव लड़ा व 86 पर सफलता पाई केन्द्र में इसके समर्थन के बिना सरकार बनना असंभव हो गया। वी.पी. सिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार का भाजपा ने बाहर रहकर समर्थन किया। फरवरी 1990 के विधान सभा चुनावों के फलस्वरूप राजस्थान, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश में इसकी सरकारें बनी। गुजरात, उत्तरप्रदेश व महाराष्ट्र में भी इसे यह अवसर प्राप्त हुआ कि सरकार बना सके। 1991 के लोकसभा चुनावों में इसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। 119 स्थान व 20.31. प्रतिशत मत प्राप्त हुए। भाजपा ने प्रथम बार असम मे 2 स्थान, कर्नाटक में 4 स्थान जीते। 1995 के चुनावों तक भाजपा का जनाधार व समर्थन बढ़ा और यह प्रथम बार लोकसभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। भाजपा ने 13 दिन के लिए केन्द्र में अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व में सरकार भी बनाई । किन्तु इसे बहुमत प्राप्त नहीं था। और अन्य दलों द्वारा भी इसे साम्प्रदायिक दल मान सहयोग नहीं दिया गया। अत: अटल बिहारी वाजपेयी ने इस्तीफा दे दिया।

**कार्यक्रम व विचारधारा –**

भारतीय जनता पार्टी दक्षिण पंथी विचारधारा की प्रवर्तक है । भारतीय जनसंघ एक व्यक्ति एक राष्ट्र व एक राष्ट्रीयता के विचारों का अवलंबन करती थी। भारतीय जनता पार्टी अधिक बल गांधीवादी विचारों पर देती है, किन्तु साररूप में जनसंघ के सिद्धान्तों व आदर्शों पर ही अमल करती दिखती है। राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय एकीकरण, प्रजातंत्र, सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता, गांधीवादी समाजवाद, मूल्यात्मक राजनीति दल के सैद्धान्तिक आधार है । यह दल सभी राष्ट्रीय मुद्दों पर सहमति के सिद्धान्तों व राष्ट्रीय उद्देश्यों के अधीन निर्मित को प्रधान मानता है । कमजोर वर्गों को अंत्योदय कार्यक्रम के अंतर्गत आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाना, अल्पसंख्यक के प्रति तुष्टीकरण की अपेक्षा उनकी सुरक्षा प्रशासनिक सुविधा हेतु छोटे राज्यों का निर्माण, अनुच्छेद 370 को हटाने, विदेश संबंधो में वास्तविक असंलग्नता, स्पष्ट परमाणु नीति आदि का समर्थन भाजपा करती है ।

**जनाधार –**

भारतीय जनता पार्टी को उत्तरी भारत में विशेष महत्व प्राप्त है। दक्षिण भारत में भी धीरे–धीरे प्रभाव विस्तार हो रहा है । व्यापारियों, शहरी मध्यम वर्ग, उच्चवर्ग के जनाधार पर भारतीय जनता पार्टी अवलंबित है । इसके सहायक संगठनों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ प्रमुख है। बजरंग दल, शिवसेना, आदि से भी इसका गठबंधन रहता है किन्तु राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से अभिन्न संबंध है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लोगों का आधिक्य भाजपा के सदस्यगणों में है । वही अनुशासन व दृढ़ता वे भाजपा के कार्यों में देखना चाहते है ।

पिछले कुछ वर्षों में जहां कांग्रेस व अन्य दल जनाधार गवां रहे है वहीं भारतीय जनता पार्टी निरंतर मजबूत होते हुए राष्ट्रीय विकल्प के रूप में उभर रही है ।

**जनता दल –**

आपातकाल के दौरान भारत के प्रमुख विपक्षी दलों ने कांग्रेस के राष्ट्रीय विकल्प के रूप में संगठित हो जनता पार्टी का निर्माण किया। 1977 में यह दल सत्तासीन भी हुआ किन्तु शीघ्र ही विभिन्न घटकों ने अलग हो स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त किया और राष्ट्र को कांग्रेस का

विकल्प देने का यह प्रयास असफल हो गया। 1980 व 1984 में कांग्रेस ही बहुमत में आई । 1987 के उपरांत कांग्रेस की लोकप्रियता में कमी आई । अत: यह विचार उभरा कि कांग्रेस के विकल्प रूप में राष्ट्र के सामने एक अन्य दल होना आवश्यक है । इस हेतु विपक्षी दलों ने मिलकर अगस्त 1988 में राष्ट्रीय मोर्चे का गठन किया और अक्टूबर 1988 में नये राजनीतिक दल जनता दल का गठन किया गया । इसमें जनता पार्टी, लोकदल, जनमोर्चा प्रमुख घटक के रूप में सम्मिलित हुए। 1989 के लोकसभा चुनावों में दल ने 243 स्थानों पर चुनाव लड़ा व 141 स्थान प्राप्त किए। केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी जिसका प्रमुख घटक जनता दल था । बिहार, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा एवं गुजरात में जनता दल की सरकारें सत्तारूढ़ हुई । किन्तु जनता पार्टी का इतिहास पुन: दोहराया गया और 1990 में जनता दल का भी विभाजन हो गया । देवीलाल व चन्द्रशेखर जैसे नेताओं ने अलग होकर जनता दल (एस) का निर्माण किया। 1991 में अजीत सिंह भी जनता दल से अपने साथियों सहित अलग हो गए । इस विभाजन से 1991 में कांग्रेस को पुन: सत्ता में आने का अवसर प्राप्त हुआ। 1996 के चुनावों में पुन: राष्ट्रीय मोर्चे को सत्ता में आने का अवसर प्राप्त हुआ। वामपंथी मोर्चे कांग्रेस व विभिन्न क्षेत्रीय दलों के सहयोग से यह दल सत्ता में बना हुआ है ।

**विचारधारा व कार्यक्रम –**

जनता दल भारत में लोकतांत्रिक परंपराओं व संस्थाओं को मजबूत बनाने में विश्वास करता है । प्रजातंत्र व्यक्ति स्वतंत्रता, सामाजिक समानता, सामाजिक न्याय, राजनीतिक व आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण आदि वे आदर्श व सिद्धान्त है जिन पर जनता दल आधारित है।

काम का अधिकार, सूचना प्राप्ति का अधिकार, चुनाव सुधार, अंतर राज्य परिषद् का गठन, भ्रष्टाचार उन्मूलन, ग्रामीण विकास इसके कार्यक्रम में प्रमुख है । कमजोर वर्गों विशेषकर अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण देकर सामाजिक न्याय की संकल्पना को आगे बढ़ाने जनता दल के नेता वी. पी. सिंह ने मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू की ।

**जनाधार –**

जनता दल को विभिन्न घटकों के जनाधार प्राप्त है । लोकदल का जातीय आधार इसे प्राप्त है । पिछड़े वर्गों के किसानों के जनाधार पर ही बिहार, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और राजस्थान में यह महत्वपूर्ण दल है । अल्पसंख्यकों का विश्वास भी इसे प्राप्त हुआ है । किन्तु विभिन्न दलों के समागम से निर्मित होने के कारण इसमें एक दल की एकता व सामंजस्य का अभाव है । सांगठनिक शक्ति भी प्राप्त नहीं है यही कारण है कि यह दल जब तक बिखराव का शिकार हो जाता है । चन्द्रशेखर मुलायम सिंह गुट के अलग होने से समाजवादी पार्टी और जार्ज फर्नांडीस गुट के अलग होने से 'समता पार्टी ' का निर्माण हुआ। अजित सिंह गुट भी अलग हो गया । लालूप्रसाद यादव ने भी अलग हो बिहार में राष्ट्रीय जनता दल का निर्माण किया । इसके अतिरिक्त बहुजन समाज पार्टी व भाजपा गठबंधन ने अल्पसंख्यकों, पिछड़े व दलितों के जनता दल के वोट बैंक को ही छीना है । भारतीय राजनीति में कांग्रेस (इ) के उपरांत जनता दल ही राष्ट्रीय विकल्प के रूप में दावा रखता था परन्तु भाजपा जो तीसरी शक्ति बनने का

उद्देश्य रखती थी, सांगठनिक मजबूती व सजातीयता के कारण जद से आगे निकल कांग्रेस के पश्चात् स्वयं को राष्ट्रीय विकल्प के रूप में प्रस्तुत करने की स्थिति में पहुंच चुकी है । जनता दल गैर कांग्रेसवाद के पश्चात् गैर भाजपावाद को आगे बढ़ाने का कार्य कर रहा है ।

**साम्यवादी दल –**

भारत में साम्यवादी दल की स्थापना स्वतंत्रता के पूर्व ही हुई । 1925 में एम. एन. राय की प्रेरणा से इसका गठन किया गया। कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल से यह संबद्ध रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत संघ के युद्ध में सम्मिलित हो जाने के परिणामस्वरूप इस दल ने अंग्रेजों को समर्थन दिया । स्वतंत्रता के पश्चात् साम्यवादी दल ने स्थिति को मजबूत किया व प्रथम लोकसभा चुनावों में 29 स्थान जीते । 1959 में भी यही स्थिति दोहरायी व केरल में सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर प्रथम गैर कांग्रेसी सरकार गठित करने का अवसर प्राप्त किया ।

अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी खेमे में मतभेद का प्रभाव भारतीय साम्यवादी दल पर भी पड़ा । सैद्धांतिक प्रश्नों एवं चीन अथवा सोवियत संघ को समर्थन दिया जाय के प्रश्न पर 1964 में पहली बार साम्यवादी दल विभाजित हो गया। एक नया दल साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) (माकपा) गठित हुआ । पांच छः वर्षों में ही इस दल को अधिक मान्यता प्राप्त हो गई एवं पश्चिमी बंगाल तथा केरल में संयुक्त मोर्चा सरकार के प्रभावशाली सदस्य के रूप में उभरी । 1969 में नक्सलवादी में किसानों के संघर्ष के उपरांत 22 अप्रैल को लैनिन के जन्मदिवस पर नया साम्यवादी दल (मार्क्सवादी लैनिनवादी) बना । इसने माओ को मार्ग प्रदर्शक माना । यह दल वर्ग संघर्ष या वर्ग संगठन के बिना ही कुछ ही व्यक्तियों द्वारा क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का उद्देश्य रखता है । यह श्रमिक संघ के कार्य में सहभागिता के भी विरूद्ध है । छापामार संघर्ष ही इसके संचालन का तरीका है । जबकि गैर माओवादी साम्यवादी दल संसदीय प्रजातंत्र में विश्वास रखते है । साम्यवादी दल व मार्क्सवादी– साम्यवादी दल के कार्यक्रमों व नीतियों में अंतर है ।

**भारतीय साम्यवादी दल : (भाकपा) –**

भारतीय साम्यवादी दल जनवादी प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहता है जिसका नेतृत्व मजदूरों के हाथ हो और अंततः समाजवाद व साम्यवाद के ध्येय को प्राप्त किया जाय । राष्ट्रीयकरण जमींदारी का बिना मुआवजा दिये उन्मूलन, राष्ट्रीय मिलिशिया की स्थापना, राज्यों का भाषागत पुनर्गठन, पूर्ण सामाजिक सुरक्षा सभी को रोजगार, सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों का विकास आदि प्रधान विषय है । यह दल संप्रदायवाद, जातिवाद के विरूद्ध है न्यायपालिका को सामाजिक परिवर्तन के लिये कार्य करने को प्रेरित करता है । डांगे के नेतृत्व में इस दल ने चीनी साम्यवादी की अपेक्षा रूसी साम्यवाद का समर्थन किया । कांग्रेस को प्रगतिशील दल मानकर उससे सहयोग करता रहा।

**भारतीय साम्यवादी दल : (मार्क्सवादी)–**

(माकपा) यह दल वामपंथी, व प्रजातांत्रिक दलों के साथ मिलकर सामाजिक प्रजातंत्र को लाना चाहता है । विदेशी पूंजी पर सख्त नियंत्रण छोटे मध्यम उद्योगों को वित्तीय सहायता

सार्वजनिक उद्योगों से लाल फीताशाही व भ्रष्टाचारोन्मूलन, जमींदारी का अंत, जमींदारों से हड़पी जमीन का भूमिहीन मजदूरों व 'निर्धन किसानों में वितरण, उन्हें कृषि के लिए आवश्यक सामग्री सस्ते दामों पर दी जाये उत्पाद के उचित समर्थन मूल्य, दलितों के शोषण के विरूद्ध उपाय, काम का अधिकर संवैधानिक अधिकार बनाने न्यायपालिका की प्रतिबद्धता आदि ।

हालांकि दोनों दलों के कार्यक्रम व नीतियों में बहुत समानताएं है तथापि उनमें बुनियादी अंतर यह है कि जहां भारतीय साम्यवादी दल है वर्तमान व्यवस्था में सुधार के उपागम की दृष्टि से उसका प्रशंसक है भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) व्यवस्था का आलोचक है व इसमें परिवर्तनों का समर्थन है ।

दिसम्बर 1989 में दोनों साम्यवादी दलों ने फारवर्ड ब्लाक, क्रांतिकारी समाजवादी दल के साथ मिलकर वाम मोर्चे का गठन किया । वर्तमान में केन्द्र मे इस वाम मोर्चे के सहयोग मे ही राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार केन्द्र में बनी है । किन्तु दोनों साम्यवादी दलों के व्यवहार मे यहां भी अंतर है और भाकपा जहां सरकार में सम्मिलित है वहीं मार्क्सवादी सरकार में सम्मिलित न हो बाहर से उसका समर्थन करते है ।

**बहुजन समाज पार्टी –**

'वामसेफ' कर्मचारी व अधिकारी संगठनों के मध्य सक्रिय श्री कांशीराम द्वारा 14 अप्रैल 1984 को बहुजन समाज पार्टी का गठन किया गया। प्रारंभ के वर्षों में इसे अधिक महत्व नहीं दिया गया । किन्तु यह दल धीरे–धीरे जनाधार जुटाता गया और निरंतर मजबूत होता जा रहा है । 1989 में लोकसभा में इसके तीन सदस्य विजयी हुए। नवम्बर 1990 में उत्तरप्रदेश में समाजवादी दल के मुलायम सिंह की सरकार के गठन में कांग्रेस के साथ ही बहुजन समाज पार्टी का सहयोग रहा। दिसंबर 1993 में पुन: सपा बसपा गठबंधन की सरकार बनी । परन्तु अधिक समय तक कार्य नहीं कर सकी । 1997 में बसपा में भाजपा के साथ छ: माह की अवधि के लिये मायावती के नेतृत्व में उत्तरप्रदेश की साझा सरकार भी बनाई । यह केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार को समर्थन भी देती है ।

बहुजन समाज पार्टी मुख्यत: दलितों के जनसमर्थन वाला दल है । उत्तरप्रदेश जहां कि मतों का ध्रुवीकरण जातिगत आधार पर नजर आता है भाजपा, सपा के साथ ही बसपा भी एक शक्ति बन चुकी है । उत्तरप्रदेश के बाद इसका प्रभाव विस्तार महाराष्ट्र मध्यप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, आदि में भी फैलता जा रहा है। यह दल मुख्यत: अंबेडकर वादी दर्शन का अनुयायी है । दलित वर्ग के हित में कार्यकारण अनुवादी वर्णरचना व समाज को परिवर्तित करना इसका उद्देश्य है । चूंकि इस दल का आधार वर्णगत व जातिगत है यह राष्ट्रीय स्तर पर संगठित दल बनने की आकांक्षा रखती है ।

इन प्रमुख दलों के अतिरिक्त जम्मू–कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस, पंजाब में अकाली दल, असम में असम गठा परिषद् तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम व अन्ना द्रविड मुनेत्र कड़गम, आंध्रप्रदेश में तेलगूदेशम आदि स्थापित सक्रिय क्षेत्रीय दल है जिनकी राजनीति का केन्द्र राज्य की राजनीति है किन्तु मिली जुली सरकारों के समय में इनकी भूमिका राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्र के गठन में महत्वपूर्ण रहती है।

**भारत के मुख्य राज्य स्तरीय दल –**

**अकाली दल:**

पंजाब का मुख्य राजनीतिक दल अकाली दल है। यह सिक्खों की मुख्य राजनीतिक व सामाजिक संस्था है । अकाली दल का गठन गुरूद्वारों को परंपरानिष्ठ सिक्ख समुदाय के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिये एक सुधार समूह के रूप में किया गया। धार्मिक दृष्टि से इसका गठन पंथ की सुरक्षा के लिये किया गया, किन्तु गुरूद्वारों पर नियंत्रण तथा दान संपत्ति ने अकाली दल को अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया। राजनीतिक व धार्मिक कार्यों का केन्द्रीकरण भी इसकी शक्ति में वृद्धि करता है ।

पंजाब के भाषागत विभाजन के प्रश्न पर अकाली दल में गुटबंदी का जन्म हुआ। अकाली दल पर मास्टर तारासिंह के तीस वर्षों के प्रभाव को चुनौती मिली और उनके ही अनुयायी संत फतेहसिंह ने एक प्रतिद्वंदी शाखा की स्थापना की। 1968 में मास्टर तारासिंह की मृत्यु के पश्चात् दोनों शाखाएं एक हो गई । 1969 के चुनावों में इसका लाभ मिला और जनसंघ के साथ मिलकर यह दल पंजाब में सरकार बनाने में सफल रहा। 1977 में जनता पार्टी की सरकार के साथ भी अकाली दल ने सहयोग किया किन्तु 1980 के चुनावों में इसे सफलता प्राप्त न हो सकी। अकाली दल पुनः गुटबंदी का शिकार हो गया। मुख्य गुट का नेतृत्व संत हरचंदसिंह लोंगोवाल ने किया। किन्तु शीघ्र ही पंजाब की राजनीति पर संत जनरल सिंह भिंडरावाले जैसे उग्रवादियों का आतंक छा गया जिसके दमन हेतु 1984 में फौजी कार्यवाही करनी पड़ी। राजीव गांधी व लोंगोवाल के बीच एक समझौते के उपरांत राज्य में प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को बहाल करने का प्रयास शुरू हुआ। वर्तमान में अकाली दल स्वयं के बलबूते पर राज्य में सरकार बनाने में सक्षम है हालांकि भारतीय जनता पार्टी से इसका चुनावी तालमेल रहा । केन्द्र में संयुक्त मोर्चे की सरकार का यह समर्थन करती है । वर्तमान लोकसभा में इसके 8 सदस्य हैं ।

**द्रविड़ मुनेत्र कड़गम तथा अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम–**

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम तमिलनाडु की राजनीति में द्रविड़ आंदोलन का परिचायक है । इसकी स्थापना पेरियर के नाम से विख्यात श्री ई. वी. रामास्वामी ने की जो 1938 में जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष थे । 1944 में इस आंदोलन को द्रविड़ कड़गम नामक दल के रूप में गठित किया गया। इसका उद्देश्य स्वतंत्र द्रविड़िस्तान था। 1949 में सी. एन. अन्नादुराई ने एक नये दल द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का गठन किया। यह एक अर्थ में पेरियर की प्रजातंत्र विरोधी नीतियों के प्रतिकार के रूप में निर्मित हुआ था। अन्नाडुराई की लोकप्रियता के कारण इसने जल्दी ही द्रविड़ कड़गम का स्थान ले लिया। 1957 में प्रथम बार द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने चुनावों में भाग लिया एवं 15 प्रतिशत मत प्राप्त किये । 1967 में इसे राज्य में सरकार बनाने तथा केन्द्र में तीसरे बड़े दल के रूप में सफलता मिली। 1969 में अन्नादुराई की मृत्यु के पश्चात् दल में नेतृत्व को लेकर खींचतान हुई और अंततः करुणानिधि दल के नेता बने तथा 1976 तक राज्य के मुख्यमंत्री बने रहे । एम.टी. रामचन्द्रन जो खजांची था ने नेतृत्व को पसंद नहीं किया व एक

पृथक दल अन्ना–द्रविड़ मुनेत्र कड़गम बनाया। तमिलनाडु में राजनीतिक प्रतिस्पर्धा इन्हीं दो दलों के बीच सीमित है कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय पार्टियां भी राज्य में इनके समर्थन पर निर्भर है।

**नेशनल कांफ्रेंस –**

जम्मू व काश्मीर का प्रमुख दल नेशनल कांफ्रेंस है। इसका गठन 1930 में एक वाचनालय दल के रूप में ही किया गया था जिसका नेतृत्व शेख अब्दुल्ला कर रहे थे। 1938 में राज्य के सभी समुदायों के लिये औपचारिक रूप से इसकी सदस्यता खोलते हुए संगठन ने अपना नाम अखिल जम्मू व काश्मीर नेशनल कांफ्रेंस कर दिया। भारतीय संघ में काश्मीर के विलय के बाद शेख अब्दुल्ला जम्मू व काश्मीर के प्रधानमंत्री बने। उन्होंने भारतीय संविधान सभा में अनुच्छेद 370 को शामिल किये जाने पर जोर दिया व जम्मू काश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। केन्द्रीय सरकार के साथ एकीकरण के प्रयासों का विरोध करने पर शेख अब्दुल्ला को 1953 में कैद व नजरबंद किया। 1968 में शेख अब्दुल्ला को बिना शर्त रिहा किया गया। सितंबर 1972 के चुनावों में नेशनल कांफ्रेंस को भारी सफलता प्राप्त हुई। 1975 में इंदिरा गांधी के साथ समझौते के पश्चात् नेशनल कांफ्रेंस ने काश्मीर में आत्म–निर्णय व जनमत संग्रह की मांग का परित्याग किया। 1977 में वह 1986 में यही दल राज्य में सरकार बनाने में सफल रहा। आतंकवाद गतिविधियां बढ़ने के कारण 1990 में राज्यपाल शासन लगाया गया और सात वर्षों के अंतराल के बाद हुए निर्वाचनों में फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में पुन: सरकार का गठन किया गया।

**तेलगूदेशम–**

1983 के विधान चुनावों के पूर्व आंध्रप्रदेश में तेलगूदेशम नामक दल की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य राज्य में कांग्रेस पार्टी का विकल्प प्रस्तुत करना था। 1983 के चुनावों में इस दल को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। 294 सदस्यीय विधान सभा में इसके 202 सदस्य निर्वाचित हुए। इसके प्रमुख नेता एन.टी. रामाराव मुख्यमंत्री बने। 1984 के लोकसभा चुनावों के उपरांत तेलगूदेशम प्रमुख विपक्षी दल के रूप में उभरा किन्तु 1989 के विधान सभा चुनावों में इसे पराजय मिली व कांग्रेस पुन: सत्तारूढ़ हुई। केन्द्र में भी कांग्रेस का विकल्प देना एन.टी. रामाराव का उद्देश्य रहा इस हेतु संयुक्त मोर्चे के गठन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। एन.टी. रामाराव की मृत्यु के पश्चात् पार्टी का पुन: एक बार विभाजन हुआ उनकी पत्नी लक्ष्मी पार्वती व चन्द्र नायडू गुट बन गये। 1996 के चुनावों में चन्द्रबाबू नायडू गुट की सफलता को देखते हुए वे ही एन.टी. रामाराव के उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। 1996 में केन्द्र में गठित संयुक्त मोर्चा सरकार में तेलगूदेशम की महत्वपूर्ण भूमिका है। लोकसभा में वर्तमान में इसके 16 सदस्य है।

**असमगण परिषद –**

अस्सी के दशक में असम राज्य में बाहरी लोगों के विरूद्ध छेड़े आंदोलन के रूप में असमगण परिषद् का उदय हुआ। इसका नेतृत्व विद्यार्थियों के हाथ में था। 1985 में असम समझौता होने के उपरांत हुए चुनावों के लिये आंदोलनकारियों ने असमगण परिषद् नामक राजनीतिक दल का गठन किया। विधानसभा में इसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ व विद्यार्थी नेता

प्रफुल्ल कुमार महन्त के नेतृत्व में सरकार बनी । केन्द्र में 1989 में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार में भी ये शामिल हुआ । बोडो आंदोलन व उल्फा अलगाववादी ताकतों को नियंत्रित करने में यह सरकार असफल रही अत: राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । 1991 में 121 में 19 सीटें ही प्राप्त हुई तथा कांग्रेस की सरकार बनी । 1996 में पुन: असमगण परिषद् को राज्य में सरकार बनाने का मौका मिला । केन्द्र मे संयुक्त मोर्चे की सरकार में भी यह दल शामिल दल था । इसके 5 सदस्य लोकसभा में है ।

सारांश में कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति में दो प्रकार के दलों का वर्चस्व है। प्रथम तो, राष्ट्रीय दल है जिनकी कार्यवाही व राजनीति का आधार राष्ट्रीय मुद्दे है । केन्द्र में सत्ता प्राप्त करना इनका मुख्य उद्देश्य होता है । हालांकि राज्य स्तर पर भी होते है । राज्य स्तर पर राष्ट्रीय दलों को मुख्य चुनौती कुछेक ऐसे क्षेत्रीय दलों से प्राप्त होती है जो राज्य स्तरीय मुद्दे व राजनीति को ही अपनी गतियों का केन्द्र मानते है । चूंकि इनका समर्थन आधार राज्य तक ही सीमित है, अत: इनका प्रभाव भी उस राज्य तक ही सीमित होता है वर्तमान मैं मिली जुली सरकारों में भागीदारी के कारण अवश्य ही इनकी भागीदारी केन्द्र सरकार में है परन्तु इसके लिये मी एक प्रमुख राष्ट्रीय दल पर ये निर्भर होते है ।

## 13.7 चुनावी राजनीति

प्रजातांत्रिक देश में चुनाव प्रणाली का विशेष महत्व होता है । चुनाव ही वह माध्यम है जिसके द्वारा नागरिक अपने प्रतिनिधि चुनते है तथा प्रतिनिध्यात्मक सरकार का गठन संभव हो पाता है । चुनाव राजनीतिक नेतृत्व के आकांक्षी नेताओं व दलों को नागरिकों के साथ सीधा संपर्क में लाता है तथा नागरिकों को उनमें से विकल्प चुनने व संप्रभुत्व की भावना को व्यवहार में लाने का अवसर प्रदान करता है ।

भारत में भी सार्वभौमिक, वयस्क मताधिकार प्रदान कर नागरिकों को प्रजातांत्रिक पद्धति से अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर प्रदान किया गया है । संविधान लागू होने के बाद से अब तक भारत में ग्यारह आम व मध्यावधि चुनाव संपन्न हो चुके है ।

**प्रथम आम चुनाव –**

भारत में संविधान लागू होने के उपरांत 1951 – 52 में प्रथम आम चुनाव संपन्न हुए। सत्रह करोड़ से अधिक मतदाताओं ने भाग लिया। लोकसभा कें 485 स्थानों के लिये लगभग अट्ठारह सौ एवं 3.283 विधानसभा स्थानों के लिये लगभग पन्द्रह हजार उम्मीदवारों की बड़ी संख्या चुनावों में उम्मीदवार बनी। दलों से संबंधित उम्मीदवारों के अतिरिक्त निर्दलीय उम्मीदवारों की उपस्थिति भी उल्लेखनीय थी। कांग्रेस साम्यवादियों, भारतीय जनसंघ एवं समाजवादी आदि प्रमुख राजनीतिक दलों के अतिरिक्त विभिन्न छोटे - छोटे दल भी चुनावों में भागे लेने के लिये गठित हुए। रामराज्य परिषद् जनता– पार्टी कृषक लोक पार्टी कुछ एक राज्यीय दल अथवा क्षेत्रीय दलों का उद्भव भी हुआ अकाली दल झारखंड फारवर्ड ब्लाक, गणतंत्र परिषद् किसान मजदूर पार्टी पीपुल्स डेमोक्रेटिक फ्रंट इत्यादि किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेंस स्वतंत्रता प्राप्त करवाने वाले दल के रूप में अधिक लोकप्रिय रही व अधिकांश राज्य व केन्द्र में बहुमत प्राप्त करने में सफल रही। कांग्रेस ने 485 स्थानों में 364 स्थान प्राप्त किए।

साम्यवादियों को मात्र 26 समाजवादियों को 12 किसान मजदूर पार्टी को 10 स्थान प्राप्त हुए वे मिलकर भी कांग्रेस के विरूद्ध कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त न कर सके। काँग्रेस मात्र उड़ीसा, पेप्सी, ट्रावनकोर कोचीन में बहुमत पाने में असफल रही। साम्यवादियों को पश्चिम बंगाल, हैदराबाद में उल्लेखनीय सफलता मिली। हिन्दू महासभा व रामराज्य परिषद् जैसी सांप्रदायिक दलों को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अकाली दल की स्थिति ठीक रही। निर्दलियों की भारी संख्या में विलय कांग्रेस विजय के अतिरिक्त उल्लेखनीय तथ्य रहा।

1957 में द्वितीय आम चुनावों में लोकसभा के 494 एवं विधानसभाओं के 3,102 स्थानों में के लिये चुनाव हुए। प्रथम आम चुनावों से सबक सीख समाजवादियों ने एकता के प्रयास किए और समाजवादी एवं किसान मजदूर प्रजा पार्टी ने एक हो प्रजा सोशललिस्ट पार्टी नाम से नया दल बनाया। द्वितीय आम चुनावों के दौरान चार बड़े राजनीतिक दल थे कांग्रेस प्रजा सोशलिस्ट: पार्टी, साम्यवादी एवं जनसंघ राज्य स्तर पर 11 दलों को चुनाव आयोग ने मान्यता दी थी। किन्तु उससे अधिक संख्या में दलों ने चुनाव में भाग लिया। अकाली दल ने पंजाब के विभाजन के विरोध में चुनावों का बहिष्कार किया। मुस्लिम लीग ने मद्रास से हटकर केरल को कार्यस्थल माना। 1956 में राज्यों के पुनर्गठन से कांग्रेस को लाभ हुआ और उसने अपनी विजय को 1952 की तुलना में अधिक मजबूत किया। मतों के 73 प्रतिशत लोकसभा स्थान (494 में से 371) व 66 प्रतिशत विधान सभा स्थानों पर कांग्रेस मे कब्जा किया उसके द्वारा प्राप्त मतों के प्रतिशत व जीते हुए स्थान दोनों बढ़ोत्तरी हुई। साम्यवादियों ने अधिक मत प्राप्त किए। केरल में व उड़ीसा में कांग्रेस बहुमत हासिल करने में सफल नहीं रही। निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या में कमी आई।

1962 के तृतीय आम चुनावों मं. 494 व 13 राज्यों की विधान सभाओं एवं हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, व त्रिपुरा के लिये चुनाव सम्पन्न हुए। दो राज्यों केरल व उड़ीसा में मध्यावधि चुनाव हो चुके थे। इन चुनावों में भी कांग्रेस को विजय प्राप्त हुई। 494 में से 361 लोकसभा सीटों पर यह जीती। साम्यवादी दूसरे स्थान पर रहे और उन्हें 29 स्थान प्राप्त हुए। तीसरे स्थान पर स्वतंत्र पार्टी रही, जिसका गठन 1959 में सी. राजगोपालाचारी द्वारा हुआ था। इसे 18 स्थान तथा जनसंघ को मात्र 14 स्थान प्राप्त हुए। जम्मू–काश्मीर में नेशनल कांग्रेस ने अपनी सला बनाये रखी। पंजाब में अकाली दल तमिलनाडु में द्रमुक उड़ीसा में गब परिषद् की शक्ति में बढ़ोत्तरी हुई। केरल में 1957 के चुनावों में 126 में से 63 स्थानों पर कांग्रेस ने विजय प्राप्त कर साम्यवादियों को सदा से बाहर कर दिया।

चौथे आम चुनावों के दौरान भारत में राजनीतिक परिवर्तन के संकेत 'दिखाई दिये। 1962 के भारत–चीन युद्ध, सोने पर नियंत्रण तथा अनिवार्य जमा योजना आदि, ने कांग्रेस के समर्थन को प्रभावित किया। हालांकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस लोकसभा की 520 स्थानों में से 283 पर जीत प्राप्त कर सकी। किन्तु राज्यों में विशेषकर बिहार, केरल, मद्रास; उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश एवं पश्चिम बंगाल में यह बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी। क्षेत्रीय दलों ने अधिक समर्थन प्राप्त किया। स्वतंत्र दल की स्थिति बेहतर हुई और यह 42 स्थानों पर जीती। जनसंघ ने भी 35 स्थानों पर विजय। प्राप्त की। एक नयी समाजवादी पार्टी जो समाजवादियों व

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के एक होने से 1964 में बनी थी, ने 23 स्थान जीते । बिहार, केरल एवं उत्तरप्रदेश में भी इसकी स्थिति मजबूत हुई । 1959 में विभाजित हुए साम्यवादियों में से मार्क्सवादियों ने स्थिति पर पकड़ मजबूत की केरल में 52 व पश्चिम बंगाल में 41 स्थान जीत लिये ।

चौथे आम चुनाव इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थे क्योंकि प्रथम बार कांग्रेस के प्रभुत्व की एक दल व्यवस्था को चुनौती प्राप्त हुई और पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार एवं हरियाणा में गैर कांग्रेसी सरकारें बनी दलबदल की प्रवृत्ति भी प्रारंभ हुई । इसके परिणामस्वरूप 1969 में मध्यावधि चुनाव करवाये गए उसमें भी हरियाणा के अतिरिक्त कहीं भी कांग्रेस सरकार नहीं बना पाई । संविदा या संयुक्त सरकारों का नया प्रयोग हुआ।

पाँचवें आम चुनाव समय से एक वर्ष पूर्व ही करवाये गये । 1969 में कांग्रेस विभाजन के कारण सत्तासीन कांग्रेस जिसका नेतृत्व इंदिरा गांधी कर रही थी, अल्पमत में आ गई। द्रमुक व वामपंथी दलों के सहयोग से ही यह तला में था। अत: 27 दिसंबर 1970 को लोकसभा भंग हुई और 1971 में मध्यावधि चुनाव करवाये गये। कांग्रेस के विभाजन के बाद से ही विपक्षी दल ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहते थे । इस हेतु कांग्रेस (ओ) जनसंघ, स्वतंत्र व एस. एस. पी. ने वृहद् गठबंधन बनाया जिसका उद्देश्य इंदिरा गांधी व कांग्रेस को तला से बाहर रखना था । कांग्रेस (आर) ने किसी दल से तालमेल नहीं किया किंतु कुछ क्षेत्रीय दलों जैसे द्रमुक, भाकपा एवं बंगला कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था। चुनावों के पूर्व किसी भी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हो सकेगा ऐसी भविष्यवाणी की जा रही थी कि किन्तु इंदिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस (आर) को दो तिहाई बहुमत प्राप्त हुआ। लोकसभा की 521 सीटों में से 350 इसने जीती । यह विजय इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं कि कांग्रेस ने मात्र 422 सीटों पर ही उम्मीदवार खड़े किये थे । इसे इंदिरा गांधी की व्यक्ति विजय माना गया । कांग्रेस (ओ) को सफलता प्राप्त न हो सकी और उसे मात्र 16 सीटें ही। प्राप्त हो सकीं जबकि चुनावों से पूर्व इसके 65 सदस्य लोकसभा सदस्य थे । स्वतंत्र पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट एवं एम. एस. पी. का लगभग सफाया हो गया। जनसंघ के 32 से घटकर मात्र 22 सदस्य लोकसभा में रह गये । राजनीतिक शक्तियों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया भी ध्वस्त हो गई और वृहद् गठबंधन करने वाले. दल बिखर गये । अत: एक प्रधान दल व्यवस्था पुनर्स्थापित हो गयी। मैसूर, उत्तरप्रदेश, गुजरात आदि की गैर कांग्रेसी सरकारें भी बिखर गयी । 1972 के चुनावों में कांग्रेस ही विजय हुई ।

1971 के चुनावों में प्रथम बार चुनावों में धांधली का आरोप । लगाया गया । किन्तु परिणाम ज्ञात होने के बाद ये आरोप लगाया गया था । अत: इन्हें सही नहीं माना गया ।

छठे आम चुनावों का ऐतिहासिक महत्व है ये चौथे आम चुनावों ने भी अधिक महत्वपूर्ण थे । प्रथम बार विपक्षी दलों ने संयुक्त रूप से कांग्रेस को चुनौती दी व एक दलीय प्रभुत्व को समाप्त किया। मतदाता को भी कांग्रेस के विकल्प के रूप में चुनने के लिये दल मिला। 1975 में आपातकाल की घोषणा व्यक्ति स्वतंत्रता का हनन, प्रेस पर पाबंदी परिवार नियोजन आदि ने जनता में असंतोष पैदा किया व विपक्षी दलों ने जनता पार्टी के रूप में गठित

हो इस असंतोष का लाभ उठाया। यह समय जनता लहर के नाम से जाना गया। जग जीवनकाल ने भी कांग्रेस से अलग हो कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी नामक दल का गठन किया व जनता पार्टी में सम्मिलित हो गये। जनता पार्टी व कांग्रेस में– सीधा मुकाबला हुआ। विपक्षी दलों के मतों का विखण्डन नहीं हो पाया। कांग्रेस को हार का सामना करना पड़ा।

छठे आम चुनाव जनता पार्टी को सत्ता में लाये किन्तु जनता पार्टी की यह जीत इसके सिद्धान्तो व कार्यक्रमों की नहीं मानी गई बल्कि यह नकारात्मक मत था जो कांग्रेस को सत्ता से बाहर करना चाहता था। दूसरी प्रमुख उल्लेखनीय प्रवृत्ति उत्तर दक्षिण विभाजन की थी । जहां उत्तरी भारत में कांग्रेस का पूर्ण सफाया हो गया दक्षिण में जनता लहर कुछ खास सफलता प्राप्त नहीं कर पाई।

सत्ता प्राप्ति के पश्चात् जनता पार्टी ने पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा एवं पश्चिम बंगाल की सरकारों को अनुच्छेद 356 के अंतर्गत बर्खास्त कर वहां नये जनादेश हेतु चुनाव कराये गये। पंजाब में अकली दल, तमिलनाडु में द्रविडियन व पश्चिम् बंगाल में माकपा को छोड़ अन्य सभी राज्यों में जनता पार्टी विजयी रही। 1978 में आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक व महाराष्ट्र के चुनावों में इंदिरा कांग्रेस जो विभाजन के बाद गठित हुई ने कर्नाटक व आंध्र प्रदेश के बहुमत प्राप्त किया और सिद्ध किया कि जनता पार्टी दक्षिण में प्रभाव विस्तार नहीं भर पाई है । आपातकाल का जो प्रभाव उत्तर में था वह दक्षिण में नही था।

जनता पार्टी के घटकों में जल्दी ही वैमनस्य व दूरी पैदा की और चौधरी चरणसिंह की, त्रिजातीय जनता पार्टी के घटकों नेताओं की व्यक्तिगत आकांक्षाओं ने जनता (एस) में अलग हो कांग्रेस के समर्थन से सरकार बनाई किन्तु ये बहुमत सिद्ध नहीं कर सकी। अत: सातवें लोकसभा चुनाव जनवरी 1980 में ही करवाये गये। इन चुनावों में इंदिरा कांग्रेस 359 स्थान प्राप्त कर बहुमत से सला में वापस आ गई । जगजीवन राम की जनता पार्टी को मात्र 29 स्थान ही प्राप्त हुये जबकि चरणसिंह का दल जनता (एस) अथवा लोकदल दूसरे स्थान पर रहा। 542 सदस्यों वाली लोकसभा में इसके 41 सदस्य ही विजयी हुए । अन्नाद्रमुक व अकाली दल जैसे क्षेत्रीय दलों को भी कांग्रेस को प्राप्त जन समर्थन के कारण कुछ सफलता नहीं मिल पाई । 1977 में जनता पार्टी को नकारात्मक जीत हासिल हुई थी जो जनता पार्टी को सला में लाने के स्थान पर कांग्रेस को सत्ता से बाहर करने के लिये प्रेरित थी। किन्तु जनता शासन ने आपातकाल के दौरान हुई ज्यादतियों के लिये जांच आयोग बैठाने से ज्यादा कुछ नहीं किया। जनता नेताओं की सत्ता लोलुपता की छवि बनी । हरिजन व मुस्लिम 'बोट बैंक' ने वेलजी का झवाना, अलीगढ़ जमशेदपुर आदि की घटनाओं से यह निष्कर्ष निकाला कि इंदिरा गांधी की सरकार ही उनके हितों की रक्षा कर सकती है ।

फरवरी 1980 में जनता पार्टी के कार्य को दुहराते हुए कांग्रेस सरकार ने उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, गुजरात, पंजाब, तमिलनाडु एवं महाराष्ट्र की गैर कांग्रेसी सरकारों को इस तर्क पर बर्खास्त किया कि लोकसभा चुनावों में कांग्रेस के जीतने के बाद इन्हें बने रहने का नैतिक अधिकार नहीं है एवं ये केन्द्र की नीतियों के कार्यान्वयन में रूकावटें डाल

सकते है । अत: जून 1980 में इन नौ राज्यों की विधान सभाओं के चुनाव हुए । तमिलनाडु को छोडकर अन्य सभी राज्यों में कांग्रेस की जीत हुई । तमिलनाडु में कांग्रेस द्वारा आलोकप्रिय द्रमुक के साथ गठबंधन व अन्नाद्रमुक की लोकप्रियता ने कांग्रेस को हरा दिया।

1982 में हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, केरल, पश्चिम बंगाल में चुनाव हुए । इन राज्यों में कांग्रेस को 1980 जैसी सफलता नहीं मिली । हरियाणा व हिमाचल प्रदेश में सबसे बड़े दल होने के नाते इसे सरकार बनाने का अवसर मिला तो केरल में युनाइटेड फ्रंट के नेतृत्व के कारण सरकार बनाने का मौका मिला । पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने सत्ता सम्हाली ।

एक वर्ष पश्चात् कांग्रेस की सफलता अधिक सीमित हो गई जब जनवरी 1983 में कर्नाटक व आन्ध्र प्रदेश में क्षेत्रीय दल व त्रिपुरा में मार्क्सवादी विजयी हुये। जून 1983 में जम्मु एवं काश्मीर के चुनावों में नेशनल कांफ्रेंस को ही सफलता प्राप्त हुई । इस प्रकार 1940 में केन्द्र में विशाल बहुमत प्राप्त करने के बावजूद राज्य स्तर पर कांग्रेस के कमजोर होने एवं क्षेत्रीय दलों के मजबूत होने की प्रवृत्ति स्थापित हुई ।

इंदिरा गांधी की हत्या के कारण प्रधानमंत्री बने राजीव गांधी ने आठवीं लोकसभा चुनाव एक माह पूर्व दिसम्बर 1984 में ही संपन्न करवाये। राजीव सहानुभूति लहर के कारण कांग्रेस ने ऐतिहासिक विजय प्राप्त कर तीन चौथाई बहुमत प्राप्त किया । विपक्षी दिग्गज का लगभग सफाया हो गया। विपक्ष के दिग्गज नेता भी परास्त हुए । भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अटल बिहारी वाजपेयी, जनता पार्टी के अध्यक्ष चन्द्रशेखर, लोक दल व डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट पार्टी के विलय से बने दलित मजदूर किसान पार्टी के उपाध्यक्ष एच. एम. बहुगुणा जैसे नेताओं को भी हार का सामना करना पड़ा । आंध्र प्रदेश में तेलगुदेशम को बर्खास्तगी का राजनैतिक लाभ प्राप्त हुआ और इसे 29 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई । त्रिपुरा में कांग्रेस को एक भी स्थान नहीं मिला। जम्मू–काश्मीर की 6 सीटों में से 2 कांग्रेस को प्राप्त हुई । माकपा मात्र 6 स्थान प्राप्त कर सकी माकप। ने पश्चिम् बंगाल में 22 स्थानों पर विजय प्राप्त कर बेहतर प्रदर्शन किया। इस प्रकार तेलगुदेशम जो कि एक क्षेत्रीय दल है प्रमुख विपक्षी दल बना। उसी समय हुए विधान सभा चुनावों में कांग्रेस अन्नाद्रमुक के गठबंधन को बहुमत प्राप्त हुआ। कांग्रेस को मणिपुर, गोवा, अरुणाचल प्रदेश में भी सत्ता प्राप्त हुई। किन्तु मार्च 1985 में हुए विधान सभा चुनावों में आंध्र प्रदेश में तेलगुदेशम, कर्नाटक में ,जनता पार्टी व सिक्किम में सिक्किम संग्राम परिषद् की सरकारें बनीं । कांग्रेस गुजरात, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र मध्य, प्रदेश, उड़ीसा । राजस्थान, उत्तर प्रदेश में सरकारें बनाने में सफल रही ।

1989 के नौवें लोकसभा चुनावों में एक बार पुन: समस्त विपक्ष ने एक होकर कांग्रेस को चुनौती दी । इस हेतु भाजपा, जनता दल, माकपा आदि ने 400 सीटों पर ताल मेल स्थापित किया। इन चुनावों ने क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को अधिक प्रखर किया। दूसरे सत्ता विरोधी लहर प्रभावपूर्ण रही । कांग्रेस हालांकि सबसे बड़े दल के रूप में आई किन्तु उसे बहुमत प्राप्त नहीं हुआ और उसे मात्र 193 स्थानों पर ही विजय मिली ।

जनता दल को 141 भारतीय जनता पार्टी को 86, माकपा को 32, अन्नाद्रमुक को 11, अकाली दल (मान) को 7, आर. एस. पी. को 4, बहुजन समाज पार्टी झारखण्ड मुक्ति मोर्चा नेशनल कांग्रेस को तीन–तीन, तेलगूदेशम को 2। उत्तरी भारत के चार राज्यों उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार व राजस्थान में कांग्रेस को मात्र 27 सीटें मिली जबकि जनता दल को 107 सीटें। इसके विपरीत दक्षिण में कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश में इंका को 103 सीटें मिली जबकि जनता दल को मात्र 1 सीट। इस प्रकार उत्तर में गैर कांग्रेसी दलों को समर्थन मिला। स्पष्ट जनादेश के अभाव में इंका ने सरकार नहीं बनाई बल्कि जनता दल को सरकार बनाने का अवसर प्रदान किया गया व राष्ट्रीय मोर्चा की साझा सरकार वी. पी. सिंह के नेतृत्व में बनी।

1991 के दसवीं लोकसभा के चुनावों व मध्यावधि इस अर्थ में थे कि 1977–79 का इतिहास पुन: दोहराया गया था व राष्ट्रीय मोर्चों की सरकार अपना समय पूर्ण नहीं कर पाई। 1991 के चुनाव परिणामों में 1989 के मुकाबले कोई बड़ा अंतर नहीं आया। कांग्रेस को 32 सीटें अधिक मिली कुल 225 सीटें प्राप्त कर सकी। भारतीय जनता पार्टी ने 1989 के मुकाबले बेहतर प्रदर्शन किया व उसे 119 सीटें प्राप्त हुई। माकपा को 35 सीटें समाजवादी जनता पार्टी को 5 सीटें तेलगूदेशम को 131, माकपा को 13, अन्नाद्रमुक को 11, बहुजन समाज पार्टी को 1, झारखण्ड मुक्ति मोर्चे को 6 स्थान प्राप्त हुए। कांग्रेस की अल्पमत सरकार अन्य दलों के समर्थन के द्वारा पूरे पांच वर्ष सत्ता में रहने में सफल रही। किन्तु इन वर्षों में कांग्रेस की आंतरिक विघटनकारी ताकतें सबल हुई और नरसिंहराव के नेतृत्व को चुनौती मिली। भ्रष्टाचार के मुद्दे ने उन्हें नहीं छोड़ा। ऐसे में 1996 में संपन्न ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों 'में भी जनता ने किसी एक दल को स्पष्ट समर्थन नहीं दिया। एक विशेषता यह रही कि भारतीय जनता पार्टी प्रथम बार स्वयं के बलबूते पर केन्द्र में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। इसे 160 सीटें प्राप्त हुई। कांग्रेस को 139, जनता दल को 45, माकपा को 32, तमिल मनीला कांग्रेस को 20, द्रमुक को 17, समाजवादी पार्टी' को 17, तेलगूदेशम को 16, शिवसेना को 15, भाकपा को 12, बहुजन समाज पार्टी को 11, समता पार्टी को 8, अकाली दल को 8, आर. एस. पी. व ए. जी. पी को 5–5 स्थान प्राप्त हुए। भाकपा ने सहयोगी दलों के साथ सरकार बनाई। 13 दिन पश्चात् बहुमत के अभाव में इस सरकार का पतन हुआ। उसके उपरांत राष्ट्रीय मोर्चे जिसमें जनता दल व अन्य क्षेत्रीय दल एवं वाम मोर्चों ने मिलकर संयुक्त मोर्चे के रूप में कांग्रेस के समर्थन से सरकार बनाई।

भारत में चुनावों के दौरान राजनीति के संदर्भ में ये तथ्य उल्लेखनीय है कि भारतीय जनता में राजनैतिक चेतना निरंतर बढ़ रही है दूसरे भारतीय, मतदाता स्वतंत्रता के पचास वर्षो बाद भी दल और उम्मीदवार का चयन करने में विभिन्न सामाजिक कारकों जैसे जाति, धर्म, वर्ण आदि से प्रभावित होते है। राजनैतिक दलों द्वारा दल के कार्य कलाप के स्थान पर इन्हीं गैर राजनीतिक कारकों का उपयोग कर चुनाव जीतने का प्रयास किया जाता है। यही कारण है कि वर्तमान में राजनैतिक दलों का ध्रुवीकरण सिद्धान्तों व विचारधारा के बजाय जाति व आधारित समीकरण पर निर्भर हो गया है। सिद्धान्त व कार्यक्रमों के बजाय पिछड़े वर्ग, दलितों

वर्ग उच्च वर्ग पर आधारित दल उभर रहे है जिनके जनाधार सीमित है जबकि सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले दल के रूप में कांग्रेस जैसे दल का हास हुआ है । जाति व वर्ग आधारित दल विशेष वर्ग को प्रतिनिधित्व तो कर सकते है पर समाज में विघटन व तनाव के कारक भी बनते है जो एक प्रजातांत्रिक देश के लिये शुभ संकेत नहीं है तीसरे भारतीय चुनावों में प्रारंभ में धन का ही दुरूपयोग होता था किन्तु अब बल प्रयोग भी आम हो गया है । जो सही रूप में मतदाता को निश्चय करने से रोकता है । एक अन्य दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति राजनीति के अपराधिकरण से जुड़ी है । चुनावों में अधिकाधिक बल प्रयोग के कारण अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति स्वयं ही राजनीतिक प्रक्रिया में भागी बन गए हैं एवं चुने गये है । आपराधिक पृष्ठभूमि के सदस्यों की संख्या विधान सभाओं व लोकसभा में बढ़ रही है । अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्थापित राजनीतिक दलों द्वारा इस तरह के तत्वों को पार्टी प्रश्रय दिया जा रहा है।

इससे कम घातक किन्तु अनावश्यक प्रवृत्ति निर्दलीय प्रत्याशियों की संख्या का बढ़ना है। ये चुनावों के प्रभावी संचालन में तो बाधा उत्तम करते ही है सरकारों के निर्माण में भी गैर प्रजातांत्रिक तरीकों के उपयोग को बढ़ावा देते है ।

इन्हें दूर करने के लिए चुनाव सुधार किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। 1989 के पश्चात् चुनावों में किसी भी दल को केन्द्र में पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो पाने से सरकारों के स्थायित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया है । संयुक्त सरकारों के संचालन में दलगत हित को राष्ट्रीय हित के स्थान पर अधिक महत्व इस प्रयोग को असफल बना रहे है । अत: संसदात्मक शासन पद्धति को ही बदल अध्यक्षात्मक पद्धति अपनाये जाने की आवश्यकता भी महसूस की जाती है ।

## 13.8 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रमुख राजनीतिक दल के रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में बज रहा। सभी वर्गो सभी सिद्धान्तों को मानने वाले इसके अंतर्गत प्रश्रय पाते रहे । कांग्रेस के अतिरिक्त समाजवादियों, साम्यवादियों व दक्षिण पंथी के रूप में जनसंघ तीन अलग धाराओं के रूप में विद्यमान तो रहे पर जनसंघ को छोड़ अन्य धाराएं भी एक सुसंगठित रूप में स्पष्ट नहीं रही, विखंडित ही रेही । परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभुत्व स्थापित रहा तो दूसरी ओर सिद्धान्त विशेष पर आधारित दलों को विकास नहीं हो पाया, तीसरे बहु दल व्यवस्था का विकास ही हो पाया। भारतीय समाज की वास्तविकताओं व क्षेत्रीय विविधता ने भी राजनैतिक दलों के विकास व स्वरूप को प्रभावित किया। अत : भारतीय दल व्यवस्था का जो स्वरूप उभरा उसमें एक प्रधान दल (कांग्रेस) के कमजोर होने के बाद स्थायी सरकार बनाना तक असंभव हो गया। संयुक्त अथवा साझा सरकारों. का प्रयोग 'तो हुआ पर राष्ट्रीय के स्थान पर व्यक्तिगत एवं दलगत प्राथमिकताओं ने इस प्रयोग को भी सफल नहीं बनाया।

**अभ्यास कार्य**

1. कांग्रेस दल की नीतियों व कार्यक्रम की विवेचना कीजिये ।
2. साम्यवादी दलों के आधार एवं कार्यक्रम पर प्रकाश डालिये।

3. भारतीय जनता पार्टी के विकास राष्ट्रीय दल के रूप में स्थापित होने की संभावनाओं की समीक्षा कीजिये।
4. भारत में क्षेत्रीय दलों के महत्व पर टिप्पणी लिखिए।
5. भारत के आम चुनावों में 1977 के पश्चात् उभरी प्रमुख प्रवृत्तियों पर लेख लिखिये।

## 13.9 संदर्भ ग्रन्थ


1. मायरन वीनर : पार्टी पोलिटिक्स इन इंडिया : डेवलपमेंट ऑफ ए मल्टी पार्टी सिस्टम
2. रजनी कोठारी : पार्टी सिस्टम एण्ड अलेक्शंन स्टडीज
3. एच. हार्टमेन : पोलिटिकल पार्टीज इन इंडिया, बी.एम सिरसिरकर व एलकर्नाडीज, इंडियन पोलिटिकल पार्टीज

# इकाई - 14
# निर्वाचन व्यवस्था एवं मतदान व्यवहार

**इकाई संरचना**

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 निर्वाचन व्यवस्था के आधार
14.3 मतदान व्यवहार की प्रकृति
14.4 दलीय पहचान का स्वरूप
14.5 दलीय पहचान की प्रकृति
14.5.1 जातिवादी पृष्ठभूमि
14.5.2 वर्गीय आधार
14.5.3 मुद्दों का रूझान
14.5.4 उम्मीदवार के व्यक्तित्व की ओर रूझान
14.6 इकाई सारांश
14.7 अभ्यास–प्रश्न
14.8 संदर्भ ग्रन्थ

## 14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के उपरान्त आप –

1. निर्वाचन व्यवस्था के प्रमुख प्रचलित आधारों की थाह ले सकेंगे;
2. मतदान व्यवहार के निर्धारक कारकों से कार्यकारी परिचय उपलब्ध कर सकेंगे; तथा
3. दलीय पहचान के नियामक तत्वों (जैसे जाति, वर्ग, मुद्दे व उम्मीदवार) व भारतीय दलीय व्यवस्था व मतदान–व्यवहार के संदर्भ में उनकी महती भूमिकाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

## 14.1 प्रस्तावना

भारतवर्ष में जिस निर्वाचन व्यवस्था (इलेक्ट्रॉल सिस्टिम) को अपनाया गया है वह मूल रूप में इसी भांति ब्रितानिया (यानी इंग्लैण्ड) में सफल तरीके से कार्य करता रहा है यानी अन्य राजनीतिक सस्थाओं की तरह हमने इसे भी उधारी में लिया हुआ है । ध्यान रहे कि वहां पर यह जनालोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (कानून) के तहत अपनी भूमिकाएं 'निभाती है । और ज्यादातर इसे साधारण बहुमत व्यवस्था का भी नाम दिया जाता है तथा इसे "फर्स्टपास्ट–दि–पोस्ट–सिस्टम" यानी “पहले मारे जो मीर व्यवस्था" भी बताया गया है । विचार यह है कि जिस तरह घुड़दौड़ में पहले आने वाले को ही विजेता (विजयी) घोषित किया जाता है फिर चाहे वह सूत बराबर दूरी से ही दूसरे घोड़े से आगे हो–इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता है । इसके तहत पूरे देश को अनेक एक सदस्यीय (भौगोलिक आधार पर) निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है जो कि अपने–अपने प्रतिनिधियों (नुमाइन्दों) का चुनाव पूर्ण बहुमत की बजाय सापेक्षिक

/ तुलनात्मक बहुमत (रईलेटिव मैजोरिटी) से करते है । गौरतलब पहलू यह भी है कि ब्रितानिया से उधारी ली गई इस व्यवस्था में हमने अपना एक जोरदार योगदान भी दिया है मसलन हमने कुछेक निर्वाचन क्षेत्रों को अनुसूचित जाति/जनजातियों के लोगों के लिए सुरक्षित (आरक्षित) कर दिया है, ताकि संसद में दलितों की भी उचित नुमाइन्दगी हो सके और यह सिलसिला अंग्रेजी राज के जमाने से ही चला आ रहा है क्योंकि तब पृथक् मतदाता मण्डल भी बनाए गए थे । आजकल वे खतम कर दिए गए है क्योंकि यह माना गया कि उनसे अलगाववादी भावनाओं को बढ़ावा मिलता है ।

## 14.2 निर्वाचन व्यवस्था के आधार

भारतीय निर्वाचन व्यवस्था की कुछ. खास–खास खूबियों (यानी विशेषताओं) को इस तरह समझा जा सकता है – जैसा कि आगे बताया गया है.

1. हमारे पूरे देश को अनेक एक सदस्यीय भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों में बाधा गया है । यानी हमारे यहां पर बहु सदस्यीय अथवा धंधागत निर्वाचन क्षेत्र नहीं पाए जाते है । सही है कि शुरूआत में देश में कुछ द्वि–सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पाए जाते थे, पर बाद में उनको भी खतम कर दिया गया । तदापि कुछेक निर्वाचन क्षेत्रों को अनुसूचित जाति/जनजाति क्षेत्र का नाम दिया गया है पर वे भी आजकल एक सदस्यीय क्षेत्र ही होते है ।
2. चुनावों का फैसला वैध मतों (वैलिड वोटज्) के सापेक्षिक यानी तुलनात्मक बहुमत के हिसाब से किया जाता है । इसके लिएयह बिल्कुल जरूरी नहीं है कि विजेता उम्मीदवार पूर्ण बहुमत हासिल करे । वास्तव में देखा जाए तो ज्यादातर भिडन्त/टक्कर बहुकोणीय होती है, नतीजतन जिस किसी उम्मीदवार को वैध मतों का 30–40 सैकड़ा हिस्सा मिल जाता है उसी को विजेता (विजयी) घोषित कर दिया जाता है । इसके पीछे विचार यही है कि अगर कोई उम्मीदवार केवल एक मत (वोट) से भी आगे होता है तो उसे बेहिचक विजेता करार दिया जाता है –चाहे यह हकीकत ही क्यों न हो कि ज्यादातर मतदाताओं की पसन्द/नापसन्द पर कोई ध्यान नही दिया जाता है। यही वजह है कि इस व्यवस्था को "फर्स्ट–पास्ट–दि–पोस्ट सिस्टिम" यानी "पहले मारे जो मीर व्यवस्था" कहा जाता है ।
3. जहां तक निर्वाचन क्षेत्रों की नई सीमाएं बनाने का सवाल है वह काम एक ऐसे सीमांकन आयोग (डिविमिटेशन कमीशन) द्वारा किया जाता है जिसकी, नियुक्ति कर जनगणना जो कि (हर 10 वर्ष के बाद ही की जाती है) के बाद की जाती है । तथा संसदीय (लोकसभा के प्रसंग में) निर्वाचन क्षेत्रों की पुन: सीमा बन्दी इस तरह की जाती है ताकि उसमें शामिल विधानसभा निर्वाचन क्षेत्रों के बीच किसी किस्म की कोई एकरूपता बनी रहे । इस लगातार की जाने वाली सीमाबंदियों का नतीजा यह निकला है कि निर्वाचन क्षेत्रों का जो हुलिया (सूरत शक्ल) 1952 के चुनावों के दौरान था – वह 1971 तक आते–आते इतना बदल गया कि अब उसे पहचानना भी मुश्किल हो गया है । इसलिए कई बार तो उन्हें केवल बाधाएं खड़ी करने वाला अभ्यास (जैरी मेन्डरिग) कहा जाता है यानी उनका मकसद किसी न किसी को परेशानी में डालना ही होता है ।

4. तथा 1971 तक एक ऐसी प्रथा भी पाई जाती थी कि जिसके तत्त्व संसद (लोकसभा) के चुनावों के साथ ही विधानसभाओं (विधान परिषदों के नहीं) के चुनाव कराए जाते थे । कहने का मतलब है कि पूरा देश एक साथ ही महा–निर्वाचन (जनरल इलेक्शन) की कार्यवाही में भागीदारी (हिस्सेदारी) करता था । पर 1971 के चुनाव में संसद (लोकसभा) के चुनाव पहली बार विधानसभाओं से अलग कर दिए गए । इस बदलाव का भी हमारे देश की निर्वाचन, व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा है ।

## 14.3 मतदान व्यवहार की प्रकृति

हमारे अपने नजरिए (या दृष्टिकोण) से सभी मतदान व्यवहार अध्ययनों (जो मतदान व्यवहार के निर्धारकों/निर्णयकर्ताओं (डिटरमीनेन्टस) का पता चलाते है) को दो भागों में बांटा जा सकता है । जहां पहली विचारधारा के लोगों में समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति/उपागम (सोशियॉलजीकल एप्रोच) का इस्तेमाल किया है । इसमें यह मानकर चला जाता है "मतदाता–व्यक्ति जब अपने मत का प्रयोग करता है तब अनेक सामाजिक स्थितियों व प्रभावों से प्रभावित होता है मसलन उसकी सामाजिक आर्थिक तथा प्रजातीय पृष्ठभूमि कैसी है, उसकी पारिवारिक परम्पराएं क्या है, वह खुद किस प्रकार की परिषदों में भाग लेता है, मौजूदा मुद्दों/मसलों पर अपना खुद का रूझान कैसा है यानी उसकी अपनी राय क्या है और वह खुद औपचारिक रूप से किन–किन संगठनों का सदस्य है ।[2] तथा इसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि मतदाता की अपनी पसन्द उसके सामाजिक–आर्थिक तथा प्रजातिय दर्जे से जुड़ी हुई होती है । इसलिए यह कहा गया है :

> जहां तक किसी राजनीतिक लोकतंत्र में आम राय तथा मतभेद पाए जाने का सवाल है उसमें (राजनीतिक) चयन करते समय मतदाता की अपनी समूह सदस्यता तथा पहचान एक खास यानी अहम समस्या निभाती है..... मौजूदा संयुक्त राज्य अमेरिका में राजनीतिक घटनाक्रम तथा सामाजिक विभेदीकरण ने. मिलकर राजनीतिक बदलाव की तीन प्रमुख शैलियों को जन्म मतभेद दिया ये शैलियाँ है (1) पहली धंधेगत, आमदनी तथा दहेज से जुड़ी है, (2) दूसरी धार्मिक, सामाजिक तथा प्रजातीय किस्म की है, तथा (3) तीसरी क्षेत्रीय आधार यानी शहरी बनाम ग्रामीण मतभेद की होती है.... मतलब यह है कि चाहे हम अपनी राजनीतिक राय को कितनी भी निजी या गोपनीय बताएं पर वास्तव में वह उतनी निजी/गोपनीय होती नहीं है जैसा कि अक्सर हम बताने की कोशिश करते है । सार की बात यह है कि 20वीं शती के मध्यकाल से राजनीतिक मामलों के तय करते समय हम जो अपनी पसन्द बनाते है वह कई तरह के सामाजिक अनुभवों से प्रभावित होती है । तात्पर्य है कि वर्गीय, प्रजातिय तथा वातावरणीय मतभेदों पर ही वह आधारित. होती है ।[3]

इस नजरिए (दृष्टिकोण) से हम आगे दिया हुआ नतीजा निकाल सकते है– जो कि इस तरह है

1. बेरेलसन, बरनार्ड एटसेटरा, वोटिंग, दि यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो, प्रेस, शिकागो, 1954, पृष्ठ 395.

हमारे यहां पाए जाने वाले सामाजिक स्तरों (चाहे वे प्रजाति हों, धार्मिक हों या हों आर्थिक) में सक्रिय राजनीतिक दलों को यह कोशिश रहती है कि वे अपना स्थायी समर्थन इस तरह हासिल करें कि सन्तुलन बना रहे, तथा वह दूसरे स्तर से अलग भी दिखे । जब हम इसका हिसाब लगाते है तो हम इस विचार को लेकर चलते है कि राजनीतिक बहस/मुबाहिसा खासतौर पर कुछ समूहों तक ही सीमित रहता है । और इस बात की गुंजाइश कम है कि वह (4) सभी किस्म की सामाजिक घेरेबदियों की लक्ष्मण रेखा को तोड़ डाले ।[4]

दूसरी विचारधारा की नुमाइन्दगी "दि अमेरिकन वोटर"[5] के लेखक करते है । जो कि समाजशास्त्रीय पद्धति के बमुकाबिले में मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक अध्ययन पद्धति/उपागम (साईकॉलजीकल ऐन्ड पालिटिकल एप्रोच) इस्तेमाल करने की दुहाई देते है। यद्यपि इस पद्धति के जानकार लोग भी सामाजिक आर्थिक दर्जे, धार्मिक व मनोवैज्ञानिक प्रभाव की अहमियत को मानते है । पर वे इसके साथ ही इस प्रकार का तर्क/विचार देते है :

"... सही है कि किसी भी आबादी में सामाजिक विशेषताओं/खूबियों का वितरण अलग–अलग तरह का होता है पर यह अलगाव धीमे–धीमे तथा काफी अरसे में होता है । तदापि यह भी एक हकीकत है कि हरेक चुनाव में राष्ट्रीय मतदाता का समर्थन. एक सिरे से हिडोंलों (फेरबदलाव) का लेखा–जोखा हम उन स्वतंत्र कारकों/प्रत्ययों (इंडिपेन्डेन्ट वैरियेबिल्स) के हिसाब से नहीं कर सकते –है । जो कि इस थोड़े से अरसे में ज्यादा बदलते भी नहीं है। कहने का आशय है कि मतदाताओं के रूझानों में जो फेरबदल आते है वे राजनीतिक मकसदों/लक्ष्यों व दृष्टिकोणों के हिसाब से आते है उदाहरण के लिए वे उम्मीदवारों तथा मुद्दों के हिसाब से मानस बनाते है । और जो कि हरेक चुनाव में आमतौर पर बदलते ही रहते है ।6

सार की बात है कि मतदान व्यवहार में राजनीतिक दल, उम्मीदवारों तथा मुद्दे तुरंत–फुरत तरीके से फैसले को तय करने में बड़ी भूमिका निभाते है । उनको हम दरम्यानी मध्यवर्ती किस्म के कारकों/प्रत्ययों (इन्टरवेनिंग वेरिएबिल्स) का नाम देते है । गर्व यह है कि उन अधिक स्थायी महत्व के समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक ताकतों से कारकों जुड़े/प्रत्ययों में हस्तक्षेप करते है जो कि मतदाता तथा उसकी वास्तविक पसन्द के दौरान पाए जाते है । जहां तक संयुक्त राज्य अमेरिकी माहौल का सवाल है उसमें यह विचारक तीन कारकों को सबसे ज्यादा अहमियत (महत्व) का मानते है । मसलन जब वे दलीय पहचान (आइडेन्टिफिकेशन) का सवाल उठाते है तब वे मतदाता की किसी राजनीतिक दल के साथ मनौवैज्ञानिक लगाव की चर्चा कर रहे होते है । और ज्यादातर अमेरिकीयों को अपनी एक दलीय प्राथमिकता तो होती ही है । कारण है कि वहां पर यह प्राथमिकता बड़ी टिकाऊ किस्म की होती है जैसे कि वे बचपन से ही हासिल कर

2. बेरेलसन बरनार्ड एटसेटरा, तत्रैव, पृष्ठ 37 देखिए।

3. बेरेलसन बरनार्ग एटसेटरा, तत्रैव, पृष्ठ 54.

लेते हैं । जब कभी कोई बहुत ही बड़ा राष्ट्रीय संकट ही पैदा हो जाए, तब ही वहाँ का मतदाता अपनी राजनीतिक सदस्यता या जुड़ाव के साथ बेवफाई करता है । यह भी सही है कि यद्यपि यह कारण वहां के मतदाता' के व्यवहार का अकेला निर्धारक नहीं है पर तो भी इसमें शक नहीं है कि वह एक अहम भूमिका अवश्य ही निभाता है।

मुद्दे वार रूझान से उनका मतलब होता है कि मतदाता का मौजूदा चल रहे सकलो/मुद्दों पर किस तरह झुकाव है मतलब है कि उसकी अपनी नजर में उस बारे में सरकार को क्या करना चाहिए और क्या नहीं । ध्यान रहे कि संयुक्त राज्य अमेरिका में वैसे इस झुकाव का ज्यादा असर नहीं पड़ता है यानी वह कोई खास अहमियत नहीं रखता है । इसकी दो वजह है । एक तरफ तो वहां के प्रमुख राजनीतिक दल खुद मौजूदा मुद्दों पर कोई साफ – साफ और दो टूक रवैया अख्तियार नहीं करते है । दूसरे मतदाता भी कुछ खासमखास मुद्दों की बजाय सामान्य मुद्दों यानी माहौल की ज्यादा फिक्र या चिन्ता करते है ।

अब बचा उम्मीदवारों का सवाल । इसका आशय यही है कि मतदातागण राजनीतिक दलों के चुने हुए उम्मीदवारों के व्यक्तिगत गुणों के बारे में अपनी राय रखते है या राय बनाते भी है । और इसको भी हम दो हिस्सों में बांट कर देख सकते है । मतदाता कह भी जांचता है कि उस राजनीतिक उम्मीदवार की अब तक की भूमिका यानी उपलब्धि कैसी रही है । दूसरे उसमें अपनी व्यक्तिगत क्या खूबियां है उदाहरण के लिए क्या उसकी छवि एक ईमानदार आदमी/औरत की है, और उसकी अपनी. धार्मिक भावना/भक्ति कितनी है।

गौरतलब बात है कि जहां तक संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति पद से जुडे चुनावों का ताल्लुक है. उसमें उम्मीदवार की व्यक्तिगत छवि एक अहम भूमिका निभाती रही है, पर अन्य चुनावों में इसकी अहमियत बड़ी सीमित किस्म की रही है क्योंकि उनमें व्यक्तियों पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता है ।

नतीजतन इस पद्धति में सामाजिक आर्थिक कारकों की बजाय मनौवैज्ञानिक–राजनीतिक रुझानों पर अधिक साधना की जाती है। पर जहां तक भारतवर्ष का सवाल है वहाँ पर हमें जरूर ही जरूर इन प्राथमिकताओं में बड़ी फेरबदल करनी होगी. क्योंकि हमारे यहां अभी तक भी सामाजिक आर्थिक करक तथा बुनियादी सामूहिक प्रभाव ही अभी तक अपनी प्रासंगिकता बनाए रखे हुए है । तथा दूसरे हमारा अपना मकसद/उद्देश्य भी उन बुनियादी महत्व के कारकों को पता लगाना है जो कि स्थायी रूप से मतदान व्यवहार को प्रभावित करते है न कि हमें निकटतम मुद्दों तक ही अपनी नजर गडानी है।

## 14.4 दलीय पहचान का स्वरूप

दिल्ली में कार्य कर रहे "विकासमान समाजों के अध्ययन केन्द्र के अध्ययन हमें यह बनाते है कि दलीय पहचान का कारक भी खास भूमिका निभाता है । तथा यह केन्द्र 1967 के आम चुनाव तथा 1969 तक होने वाले चार राज्यों के मध्यावधि चुनावों सें इसी नतीजे पर

पहुंचा है । उदाहरण के लिए इन अध्ययनों कें आधार पर आचार्य धीरूभाई सेठ इस नतीजे पर पहुंचे है :

1967 के आम चुनावों में भाग लेने वाले लगभग एक तिहाई (32 सैकड़ा) तथा 1869 के मध्यावधि चुनावों (नार राज्यों में होने वाले) के आधे से कुछ ज्यादा (5) सैंकड़ा मतदाताओं ने चाहे असफल तरीके से ही सही एक ही राजनीतिक दल का समर्थन किया यानी उनका रवैया पक्षपात पूर्ण रहा। ये "जुडे हुए मतदातागण" ही होते है जो बिना किसी बाहरी लोभ लालच/दबाव के अपने राजनीतिक दल की पीठ ठोकने के लिए आग आ जाते है । कहने का मतलब है कि उनकी अपने दल के प्रति निष्ठा/आस्था दूरगामी किस्म की होती है जो कि (उस) दल के अलोकप्रिय निर्णय अथवा वायदे पर खरा न उतरने के बावजूद अडिग बनी रहती है । सार की बात यह है कि वे अपने का राजनीतिक दलों को खुल्ली छूट (या पतंगबाजी के हिसाब से कहे तो उन्हें लम्बी छूट) देना पसन्द करते है और वे उसे सन्देह का लाभ देकर भी बरी करना चाहेंगे चाहे उन्हें खुद को यह लगे कि कई मामलों में उसने भारी घपला किया हैं....

उनके इन नतीजों की पुष्टि एल्डर्सवेल्ड तथा बशीर अहमद भी करते है । उन्होंने भी 1967 के आम चुनाव तथा 1971 के संसदीय चुनाव के अध्ययन आधार पर अपने नतीजे निकाले है । वे कहते है – "यदि तुलनात्मक एवं व्यापक नजरिए से देखा जाए तो लगता है कि काफी बड़ी तदाद में मतदाताओं ने दलीय आधार पर मतदान किया है... इसलिए अनेक लोगों को यह उलझन भरी बात लगती है कि 1967– 1971 के दौरान लगभग 34 सैंकडा तथा 45 सैंकडा मतदाताओं ने एकरूपता (समान नजरिया अपनाने में) दर्शाई है । तदापि, कुल मिलाकर इन "कट्टर लगाव के एक निष्ठ मतदाताओं" की तादाद काफी महत्वपूर्ण है । जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । इसके बमुकाबिले में जहां संयुक्त राज्य अमेरिका में 47 सैंकडा मतदाता एकनिष्ठा धारी है यहां तुलनात्मक हिसाब से महान ब्रितानिया (इंग्लैंड) में देखा जाए तो 1958–65 के मूल में 54 सैंकडा इस प्रकार की आस्था दर्शाते रहे है ।" ये दोनों दलीय पहचान की प्रकृति की चर्चा करते हुए आगे कहते है – "अभारतीय परिवेश में किसी राजनीतिक दल से मानसिक (मनौवैज्ञानिक) नैकट्य एक अर्थपूर्ण भूमिका निभाता रहा है । यह सही है कि चाहे इसकी औसत संख्या इतनी बडी नही हो जितनी कि 1967 के आम चुनावों में पाई: गई (निकट लोगों की संख्या 50 सैंकडा थी) पर फिर भी हमारे यहां जो 35 सैंकडा मतदाताओं की लगाव/निकटता संख्या पाई गई है वह संयुक्त राज्य अमेरिका के 46 सैंकडा तथा महाब्रितानिया के 53 सैंकडा दलीय समर्थन के बमुकाबिले में खासा महत्व यानी अहमियत रखती है ।"

आचार्य धीरूभाई सेठ तथा एल्डर्सवेल्ड दोनों यह मानते है कि संकटकाल लागू होने के पहले भी उन मतदाताओं में दलबदल करने का रूझान पाया जाता था – जो कि अपने दलीय पहचान के मामले निष्ठा का दावा करते थे। उन्हें यह जानकर भी अचरज हुआ कि ज्यादातर पहचान करने वाले लोग कट्टरपंथी पाए गए बनिस्बत हल्के या औसत के दर्जे के समर्थक होने के । पर जो बात खासी दिलचस्प है वह यह है कि जितनी जोर से ये मतदातागण कट्टरपंथिता या उच्च औसत के दलीय पहचान या लगाव की दुहाई देते है । उसी अनुपात में ही उनमें

दलबदल की आदत भी पाई जाती है । जबकि होना यह चाहिए कि धीमी निष्ठा या औसत लगाव वाले मतदाताओं में इस किस्म की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देनी चाहिए ।

हम भी इस बात की पुष्टि करते है क्योंकि हमने अपने क्षेत्रीय अध्ययन व पर्यवेक्षण के दौरान भी ऐसा ही पाया है । हम यह भी बताना चाहेंगे कि आखिरकार ऐसा घटनाक्रम क्यों तथा कैसे घटित होता है । तथा हमें यह भी देखना चाहिए कि इन दल बदलुओं की तादाद कितनी है, और उन्होंने इसके लिए अपने समर्थन में क्या क्या तर्क जुटाए है ।

इस विषय में आचार्य धीरूभाई सेठ का यह कहना है "1962 तथा 1967 के दौरान अध्ययन में शामिल इन मतदाताओं के 17 सैंकडा लोगों ने एक दल से दूसरे दल की ओर बदलाव किया है । तथा जब 1969 में चार राज्यों में मध्यावधि चुनाव हुआ तब 19 सैंकडा मतदाताओं ने अपनी दलीय निष्ठाएं बदली (1968 तथा 1969 चुनावों के दौरान)" पर इससे वे यह नतीजा भी निकालते हैं कि दल बदलुओं में भी दलीय पहचान की भावनाएं बनी रहती है । अपनी बात को साबित करते हुए सेठ कहते है –

"यदि उन्होंने लगातार (एक के बाद दूसरे होने वाले) चुनावों में अपने वोट यानी मत अलग–अलग राजनीतिक दलों को दिए है तो इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि उनमें दलीय पहचान का अभाव' पाया जाता है । अधिकतर वे विभेदकारी राजनीतिक धारणाओं से प्रेरित होते है और अनिश्चित काल के लिए किसी एक दल के प्रति अधीनिष्ठा नहीं दर्शाते है । कहने का मतलब है कि जब वे दलीय प्राथमिकताएं बदलते है और हमारे देश के मतदाताओं में इनकी काफी बड़ी तादाद पाई जाती है तो इससे 'यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता है कि उनमें दलीय पहचान का अभाव पाया जाता है । यह तो केवल उनके दलीय लगाव में बदलाव का ही सूचक है ।" आगे चल वे अपने नतीजे की पुष्टि करते हुए यह बताते है कि इन (दल) बदलुओं में दलीय पहचान की भावना भी भारी 'मात्रा में पाई जाती है । इस बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहते है:

> "यह तथ्य तब सूरज की रोशनी की तरह उजागर हो गया जबकि मतदाताओं से यह सवाल पूछा गया (1967) में कि क्या भूतकाल में उनकी कोई दलीय पहचान रही है यानी क्या 1967 के पहले भी उनमें पहचान की यह भावना रही है? तो एक तिहाई दल बदलुओं ने किसी एक खास दल से अपनी जान–पहचान बताई और 70 सैंकडा लोगों ने यानी बहुमत ने यह भी बताया कि किन खास कारणों/वजह से अपना हाथ पीछे खींच लिया है । इन कारणों में प्रमुख कारण दलीय भूमिका गैर–असरदार होना रहा है खासतौर पर आर्थिक मामलों के क्षेत्र में तथा ये दलबदल लोग चंचल/अस्थिर किस्म के मतदाता नहीं होते है और उनके मतदान व्यवहार में दलीय पहचान की खूबी मिलती है – यह तब जाहिर हुआ जबकि उनसे अगला सवाल यह पूछा गया कि क्या वे अगले चुनाव में उसी दल को मत (वोट) देना चाहेंगे–जिसको कि उन्होंने 1967 में अपना समर्थन दिया था । तब 59 सैंकडा दल बदलुओं ने इसका सकारात्मक उत्तर दिया । सार की बात है कि इन दल बदलुओं में यद्यपि दो या अधिक चुनावों में किसी एक दल का समर्थन करने की भावना पाई जाती है पर वे अनिश्चितकाल तक ऐसी

निष्ठा दर्शाने को तैयार नहीं है । इस प्रकार आचार्य सेठ इस दलबदल के दो बड़े कारण बताते है, ये है – (1) अपने ही राजनीतिक दल को दण्डित करने की भावना अथवा (2) दूसरे उनकी अपनी दलीय निष्ठा में निश्चित बदलाव का आना । तथा गौरतलब बात है कि उनमें एक दल के प्रति निष्ठा की भावना भी काफी अर्से तक स्थिर बनी रहती है ।

आचार्य सेठ तथा एल्डर्सवेल्ड के इन नतीजों के आधार पर हम भारत में दलीय पहचान की खास–खास विशेषताओं को इस प्रकार गिना सकते है। जिनका वर्णन इस प्रकार है।

**दलीय पहचान का प्रतिशत ऊंचा है**

आचार्य एल्डर्सवेल्ड तथा बशीर अहमद के मुताबिक 1967 के आम चुनावों में जिन मतदाताओं का अध्ययन किया है, उनमें से 70 सैंकडा मतदाताओं ने अपनी दलीय पहचान की ताकि दर्शाई है जबकि 1971 के चुनावों में मर्द (पुरुष) मतदाताओं में से 47 सैंकडा लोगों ने इसको उजागर, किया। जबकि आचार्य सेठ के अनुसार 1967 के मतदाताओं में से 32 सैंकडा तथा 1969 के मध्यावधि चुनावों के सहभागियों में से 51 सैंकडा ने दलीय पक्षपात/समर्थन की भावना का परिचय दिया।

**दलीय पहचान की भावना जोरदार (जबरदस्त) रही है**

भारतीय दलीय पहचान की दूसरी विशेषता यह है कि यह कमजोर होने की बजाय जोरदार या जबरदस्त है। इस विषय में आचार्य एल्डर्सवेल्ड का कहना है –

> "जहां तक भारतीय मतदाताओं में दलीय लगाव का सकल है वह काफी "जोरदार" किस्म का रहा है और तो और 1971 के ढलान (गिराव) आने के बावजूद इस किस्म के लोगों (जोरदार पहचान वाले) का प्रतिशत 35 रहा है – जो औसत कि संयुक्त राज्य अमेरिका है बराबर का है। (तुलना के रूप में नार्वे में यह औसत 25 तथा जापान में 15 प्रतिशत ही पाया जाता है) सार की बात है कि भारतवर्ष में 70 सैंकडा मतदाता ऐसे है जो न केवल दलीय पहचान की योग्यता रखते है वरन् उनकी भावनाएं भी उनके दल के प्रति भी जोरदार किस्म की रही है – जिसकी एकमात्र तुलना ब्रितानिया से ही किया जाना सम्भव है।.

**दलबदलुओं की भरमार है**

आचार्य धीरूभाई सेठ के मुताबिक 1962 के दरम्यान 17 सैंकडा लोगों ने दलबदल किया, जबकि 1967 से 1969 के दौरान–यह आँकडा 19 प्रतिशत रहा है। जबकि आचार्य एल्डर्सवेल्ड के मुताबिक जहां पूर्व अवधि में यह संख्या 15 सैंकडा रही, वहां द्वितीय अवधि (1967–1971) में यह बढ़कर 20 प्रतिशत तक पहुंच गई और दोनों ही यह मानकर चलते है कि ज्यादातर दल बदल राजनीतिक रूप से सहभागी/संभागी । मतदाता रहे है और उनमें दलीय पहचान की भावनाएं प्रबल रही है। ।

**जोरदार दलीय तथा जातीय पहचान की भावनाएं सहगामी है**

इस मुद्दे पर आचार्य एल्डर्सवेल्ड का कहना है – "अनपढ़ों तथा बनाम पढ़े, लिखे लोगों में दलों के प्रति लगाव की भावना 54 से 64 सैकड़ा पाई जाती है। जबकि संयुक्त राज्य

अमेरिका तथा नार्वे जैसे देशों में इनकी संख्या काफी कम यानी 24 से 36 सैकड़ा ही पाई जाती है। इसलिये शुरू में मन में यह सन्देह उठना स्वाभाविक है कि निचले दर्जे पर तो भारतवासियों में राजनीतिक चेतना कम ही होनी ' चाहिए, जबकि हकीकत में हालात बिल्कुल उलट किस्म के मिलते है। कारण है के यहां पर अनपढ़ों में ही सबसे ज्यादा दलीय लगाव दिखाई देता है.... मजे की बात यह है कि इनमें भी बहुमत ऐसे लोगों का पाया जाता है जो कि आजीवन । अपनी गांव की हट बंदियों से बाहर नहीं निकले। (57 सैंकडा) लोग ऐसे थे। जबकि जो लोग तथाकथित आधुनिक शहरी प्रभाव से प्रभावित हुए है उनका आंकडा 49 सैंकडा ही रहा है। कुल गणना में दोनों किस्म के मतदाताओं में 4 प्रतिशत का ही फर्क पाया जाता है।

आचार्य एल्डर्सवेल्ड के अध्ययन का जो सबसे ज्यादा चौंकाने वाला पहलू है वह यह है कि भारतीय आबादी के जिस हिस्से को हम पुराणपंथी या पिछड़ा हुआ (परम्परागत) मान कर चलते है उसी में दलीय पहचान की भावनाओं का उबाल या ज्वार पाया जाता है। इस बारे में वे लिखते है –

"जिन लोगों में अपनी जातिगत पहचान की चेतना ज्यादा पाई जाती है। उन्हें में दलीय पहचान की भावनाएं भी जोरदार रही है । (उनका आँकडा 67 प्रतिशत है) और गौरतलब मुद्दा यह है कि जिन लोगों, में जाति पांति कोई अहमियत नहीं रखती है उनमें यह (दलीय) पहचान 29 सैंकडा कम रही है।

कहने का मतलब है कि मतदाता किसी राजनीतिक दल की पहचान किसी एक खास जाति के साथ करते है यानी कि निचले या स्थानीय धरातल पर लोगों के दिमाग में दलीय' छवि जातिवादी रही हैं । हमने भी अपने अध्ययन के दौरान ऐसा ही घटित होते हुए पाया है । और जिसकी पुष्टि आचार्य एल्डर्सवेल्ड ने भी की है इसलिए वे कहते है –

"जातिगत आधार पर मतदान करने का तौर तरीका भी काफी प्रचलित रहा है । कारण है कि 60 सैंकड़ा से ज्यादा लोग यह जानते है कि उनकी जाति ने किस दल की तरफ रूझान किया है या किसकी तरफ मतदान किया है । तथा बाकी बचे 40 सैंकडा लोग भी यह जरूर जानते है कि दूसरी जातियों ने किस तरफ मतदान किया है । इसके अलावा वे दल एवं जाति के जुडावाओं को भलीभाँति जानने–समझने लग गए है ।

**जोरदार दलीय पहचान वाले लोगों में अन्य दलों के प्रति राग द्वेष नहीं है**

राष्ट्रीय आँकड़ों से एक ओर भ्रामक तथ्य उभरता है कि जिन लोगों में जोरदार दलीय पहचान की भावना होती है उनमें अन्य दलों के बारे में राग द्वेष की भावनाएं नहीं होती है । आचार्य सेठ के शब्दों में हम इस बात को इस तरह रख सकते है –

"एक मुद्दे पर उत्तरदाताओं का रूझान हल्का जान पडता है वह है कि वे निजी/जाति तौर पर अन्य राजनीतिक दल के बारे में कितनी पसन्द/नापसन्दगी रखते है । इसका मतलब यह हुआ कि भले ही उनमें दलीय पहचान की भावनाएं जोरदार रही हों पर वे इतनी कड़क और असरदार भी नहीं है कि उन्हें खिलाफत वाली पार्टी के बारे में जुनूनी ही बना दें । "

अब हम 1962 के आम चुनावों के बारे में किए गए अपने अध्ययन के विषय में चर्चा करना चाहेंगे । ध्यान रहे कि हमने भिवानी (हरियाणा) विधानसभाई क्षेत्र के 356 मतदाताओं

का साक्षात्कार लिया। इनमें से अधिकांश शहरी मतदाताओं का प्रमुख लगाव दलीय रहा है । यह तथ्य तब और भी अचरज भरा है जबकि कांग्रेस दल खुद भीतर से बंटा हुआ था । इनमें से कई साक्षात्कार भी बड़े दिलचस्प रहे है । उदाहरण के लिये एक मतदाता ने कहा कि वह तो कांग्रेस को ही अपना मत देगा, चाहे पं. नेहरू ही इससे बाहर क्यों नहीं चले जाएं । इसी भांति अनेक मतदाताओं ने यह मंजूर किया कि वे, तो जनसंघ (आजकल भाजपा) को ही चुनेंगे भले ही वह किसी को भी अपना उम्मीदवार बनाएं । और उन्होंने वास्तव में वैसा ही किया । पिछले चुनाव में उन्होंने अपने उसी राजपूत उम्मीदवार को मत दिया, जिसने 1952 के आम चुनाव। में उनके दल का विरोध किया था और जो 1962 में फिर उसके (जनसंघ) के खिलाफ खड़ा हुआ था । तथा उन्होंने मौजूदा जनसंघी उम्मीदवार को भी मत देने का फैसला किया चाहे वह जीते या हारे । सारत कम से कम 23 प्रतिशत शहरी और 41 सैंकडा ग्रामीण मतदाताओं ने दलीय आधार– पर अपना फैसला लिया था । तथा यह बात भी विचारणीय है कि 50 सैंकडा से ज्यादा मतदाताओं (चाहे उनकी कोई भी जाति क्यों न हो) ने अन्य बातों की बजाय जातिगत आधारों पर' ही अपना मत देने का मानस बनाया ।

यदि हमें दलीय आधारों पर किए जाने वाले मतदान व्यवहार का आकलन करना चाहे तो हमें 1957 तथा 1962 के चुनावों में फर्क को समझना होगा । उदाहरण के लिए 1957 में जिस उम्मीदवार ने जनसंघ दल के उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा तो उसे 35.1 सैंकडा मत हासिल हुए पर जब उसी उम्मीदवार ने 1962 के चुनावों में निर्दलीय (स्वतंत्र) आधार पर चुनाव लड़ा तो उसे केवल 15.7 सैंकडा मत हासिल हुए । इसी भांति 1957 में कांग्रेस दल को जहां 48.7 सैंकडा मत मिले, वहां बाद में उसे विपरीत परिस्थितियों (जाति तथा व्यक्तिगत के रूप में) के बावजूद भी 33.9 प्रतिशत मत प्राप्त हुए । ध्यान रहे कि कांग्रेस के मतों में यह मामूली घटाव जो हुआ उसका कारण है कि तब कांग्रेस दल न केवल भीतर से बंटा हुआ था अपितु दलीय उम्मीदवार के खिलाफ भी एक बगावती कांग्रेसी निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में खड़ा हो गया था।

इसके अलावा हमने जब 1957 तथा 1962 के चुनावों में डाले गए मतों का तुलनात्मक अध्ययन के लिए विश्लेषण किया तो भी हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि कांग्रेसी उम्मीदवार के दलीय बदलाव के बावजूद या विरोधी दल के उम्मीदवार स्थानीय प्रभाव के रहते हुए भी कांग्रेसी मतों के आधार में कोई बदलाव नहीं आया। इसी भांति हम यह भी, बताते है कि सामला तथा चंग इलाकों में भी कांग्रेसी समर्थन जस का तस रहा भले ही उनमें जाटों तथा शरणार्थियों या अन्य किसी सामाजिक समूहों का बाहुल्य ही क्यों न निवास करता हो । गौरतलब बात है कि इन मतदान केन्द्रों में उन जातियों का अल्पमत ही निवास करता रहा है जिससे कांग्रेसी उम्मीदवार ताल्लुक रखते थे मसलन 1957 में वह ब्राह्मण जाति का रहा और 1962 में वैश्य (वणिक) जाति से जुड़ा रहा । तदापि कांग्रेस के मतसपेरा तथा देवसर इलाकों में घट गए क्योंकि उनमें ब्राह्मणों का वर्चस्व पाया गया, और सपोरा के मामले में यह तथ्य भी अहमियत रखता है। कि जनसंघ दल का उम्मीदवार खुद भी इसी गांव या इलाके से ताल्लुक रखता था। इसी तरह हम यह भी पाते है कि सपोरा में भी मतों का प्रतिशत जस का तस रहा

यद्यपि जनसंघ उम्मीदवार उसी जगह का था । इसी तरह पहले तीन कस्बाई मतदान केन्द्रों में मतदान का प्रतिशत लगभग स्थिर/या स्थायी किस्म का रहा । और यह इस हकीकत के बावजूद था कि इनमें दो मतदान केन्द्रों (पहला भूत धर्मशाला तथा' दूसरा एस. डी. हाई स्कूल केन्द्र था/में वैश्यों/वणिकों) का बहुमत पाया जाता था जबकि "म्युनिसिपल ऑफिस" वाले इलाकों में हरिजनों का दौर दौरा था इस इलाके में मतदान प्रतिशत जस का तस रहा । इसके मुकाबले में वैश्य हाई स्कूल तथा वैश्य प्राथमिक स्कूल वाले केन्द्रों में मतों का प्रतिशत घट गया था। इसकी मुख्य वजह यह थी कि इन क्षेत्रों में अनेक भूतपूर्व कांग्रेसी जन (जिनका इस इलाके में काफी दबदबा पाया जाता था) एक निर्दलीय (आजाद) उम्मीदवार का प्रचार–कार्य कर रहे थे । और इसके पीछे दलीय पहचान की जातिवादी जुड़ाव की भी पृष्ठभूमि अहम रही है । उधर जैसा कि हरिजनों ने कहा और किया भी, कि वे कांग्रेसी उम्मीदवार को ही अपना मत देंगे, भले ही विपक्ष से हरिजन ही क्यों न खड़ा हो – कारण है. कि उनकी जाति पंचायत का फैसला कांग्रेस के पक्ष में रहा है । इसी तरह जब बनियों (वणिकों) तथा शरणार्थियों ने यह जिद पकड़ी कि वे जनसंघी उम्मीदवार (जो उसकी जाति कुछ भी हो) को अपना मत देंगे, तब इसके पीछे भी जातिवादी पृष्ठभूमि कार्य कर रही थी ।

इसी भांति 1967 के आम चुनावों में भिवानी क्षेत्र में मतदान व्यवहार का पुन : अध्ययन किया गया, तथा उसमें हमने दलीय पहचान और जातिगत जुड़ाव की मात्राओं पर तथ्यों (आंकड़ों) को संग्रहित किया । इसमें हमारी प्रस्तावना यह रही है कि अगर दलीय पहचान की भावना एक स्वतंत्र प्रत्यय (वैरियेबिल) के रूप में उभर रही है तो उम्मीद यही होगी जिनमें ज्यादा जातिवादी जुड़ाव होगा उनमें कम दलीय पहचान होनी चाहिए तथा जिनमें उच्च जातिवादी जुड़ाव होगा उनमें किसी भी खास राजनीतिक दल के साथ जुड़ाव/पहचान की प्रवृति भी कम होगी । कहने का मतलब दोनों में अलगाव की भावना पाई जानी चाहिए जब तक कि दलीय पहचान की स्थापना जातिगत माध्यम से ही नहीं हुई हो । 1967 के तथ्य (आंकड़े) ये दर्शाते है कि ऐसा अलगाव नहीं पाया जाता है । क्योंकि जिन लोगों में उच्च जातिगत जुड़ाव की भावना होती है । इसका मतलब यह हुआ कि दलीय पहचान की प्रवृत्ति एक स्वतंत्र चर (वैरिएबिल) के रूप में नहीं पनपी । और यह तथ्य भी उजागर हुआ कि दलीय पहचान की भावनाएं बढ़ने के साथ ही जातिगत भावनाओं का घटाव नहीं हुआ। कहने का अर्थ यह है कि हमारे यहां जो दलीय पहचान की भावनाएं पाई जाती है उसकी एक ठोस जातिवादी पृष्ठभूमि है, तथा इसका विकास एक सर्वथा कामचलाऊ (तदर्थ) रूप में हुआ है जो भ्रामक ही अधिक है ।

ध्यान रहे कि 1971 संसदीय चुनाव में हमने फिर भिवानी (हरियाणा) क्षेत्र का अध्ययन किया, पर इस बार हमने सहभागी पर्यवेक्षण प्रविधि (पार्टीसिपेन्ट ऑबजर्वेशन मैथडाल जी) का इस्तेमाल किया। इस बार हमने यह भी पाया कि यदि हम थोड़े से अरसे के लिए किसी (भारतीय) गांव की दलीय पहचान का कोई अध्ययन करते है । गे वह बेमानी ही सिद्ध होता है । क्योंकि ज्यादातर तो यह जातिवादी जुड़ावों का अध्ययन होकर रह जाता है । नतीजतन भारतीय गांव वासी के लिए दलीय पहचाने उसके अपने जातिगत लगाव/जुड़ाव के साथ ही जुड़ जाती है यानि उनको अलग–अलग राजनीतिक दलीय संगठन भिन्न–भिन्न जातियों के गठजोडों

के रूप में ही दिखाई देते है । इन छवियों की पृष्ठभूमि में स्थानीय नेतृत्व की पहचान भी जुड़ी होती है । यानी वे (नेतागण) किस राजनीति दल की सदस्यता ग्रहण करते है? याद रहे कि ये छवियां वक्त/बेवक्त बनती बिगड़ती रहती है । और ये हरेक इलाके के हिसाब से अभी अलग–अलग तरह की होती है । उदाहरण के लिए "अमुक" मतदाता के लिए "अमुक" राजनीतिक दल को किसी खास जाति के लिए नजदीक मानकर चला जाता है – यदि उसे यह बताया जाता है कि अन्य क्षेत्र में जाति किसी अन्य राजनीतिक दल का समर्थन कर रही तो भी उस पर इस बात का ज्यादा असर नहीं पड़ता है । शायद वह इस बात से आश्वस्त है कि क्षेत्रीय राजनीति तथा राष्ट्रीय राजनीति के दायरे अलग–अलग है और राष्ट्रीय धरातल पर जाति की भूमिका बेमानी है या सीमित होती है । तथा दलीय पहचान (खास तौर पर राजनीतिक मुहावरों के रूप में) जातिवादी मुहावरों मे ढाला जा सकता है ।

और जब 1972 में राज्य विधानसभा के चुनाव हुए तब हमने चार (04) विधानसभा क्षेत्रों में फैले 410 मतदाताओं से साक्षात्कार लिया, तथा हमने यह पता लगाने का भी प्रयास किया कि क्या वे 1962 से ही लगातार किसी एक राजनीतिक, दल को अपना मत प्रदान करते आ रहे है या नहीं । उनमें से 160 मतदाताओं ने यह दावा किया कि वे लगातार कांग्रेस दल का समर्थन करते चले आ रहे है । सम्भव है कि उनमें से कुछ लोग अपनी शेखी बघारने के लिए ऐसा कह रहे ही । तदापि यह आँकड़ा भी हमें यह बताता है कि धीरे–धीरे मतदाताओं में दलीय पहचान तथा एक निष्ठ मतदान की भावनाएं बढ़ती चली आ रही है ।

ध्यान रहे कि हमने मतदाताओं से यह भी पूछा कि क्या उन्हें ऐसा लगता है कि कोई राजनीतिक दल खासकर उनके वर्ग के लोगों की समस्याओं व हितों की भलीभाँति देखभाल कर रहा है । इस पर 96 मतदाताओं ने यह जवाब दिया कि हां एक दल ऐसा भी है जो उनकी समस्याओं व हितों की खासतौर पर देखभाल करता रहा है । तथा 02 मतदाता ऐसे भी थे जो कि भारतीय जनसंघ को ही अपना हित मानते रहे है । एक मतदाता ऐसे भी थे जिन्होंने समाजवादी तथा साम्यवादी दलों का इस किस्म का बताया । और 81 मतदाताओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अपना पक्षधर कहा (इसमें सत्तारूढ़ तथा कांग्रेस दोनों ही शामिल थी) 11 मतदाता ऐसे भी थे जिन्होंने एक निर्दलीय (आजाद) उम्मीदवार सागरमल गुप्ता को अपना मसीहा. बताया । इसका कारण यह रहा कि वे भिवानी क्षेत्र के मजदूर संघों के एक मशहूर नेता बताए, और श्रमिकों में लोकप्रिय नेता बताए गए ।

इसके अलावा हमने मतदान निर्णय को प्रभावित करने वाले विभिन्न आधारों पर पता लगाने का प्रयास किया, ताकि उन मूल्यों को चिन्हित किया जा सकें – जो कि उसे निदेशित करते है । स्मरणीय है कि 219 मतदाताओं ने राजनीतिक दल के रूझान को ही बुनियादी आधार बताया जो कि मतदान फैसले को प्रभावित करता रहा है । तथा हमने अनेक प्रश्नों की प्रतिक्रिया के आधार पर दलीय पहचान का स्तर/धरातल जानने की भी कोशिश की । 60 मतदाताओं को हमने उच्च/जोरदार दलीय पहचान की श्रेणी में रखा, जो कि दल के दृढसमर्थक रहे है । कारण है कि हमने उनके ही "अपने मुंह मियाँ मिट्ठू" दावों को मान लिया है यद्यपि आगे चलकर वे ऐसे भी जवाब देते है कि उससे यह पता चलता है कि वे अपने राजनीतिक दल

के प्रति नर्म या उदासीन किस्म की मनोभावनाएं रखते रहे है । यदि हम कथित कट्टर समर्थकों को इलाके वार भी बांटें तो हमारे सामने बड़े ही दिलचस्प आंकड़े सामने आते है । मसलन इनमें से कोई भी भिवानी (हरियाणा) चुनाव क्षेत्र से नहीं है । जहां ठोस समर्थकों में से 32 लोक किलोई निर्वाचन क्षेत्र से आते है वहां 23 लोग तो तोशम से ताल्लुक रखते है । गौरतलब बात है कि ये दोनों क्षेत्र ही ग्रामीण पृष्ठभूमि के है । तथा हमारी अपनी राय यह है कि इन इलाकों में उम्मीदवारों के बहुत ही कट्टर किस्म के समर्थक रहे है । इसकी वजह है कि इनमें भाग लेने वाले उम्मीदवार लोग भी बड़े पाएदार । कैंडे के आदमी रह है मसलन तोशम हरियाणा के मुख्यमंत्री रहे चौधरी बंशीलाल का इलाका है और किलोई क्षेत्र से महन्त जुड़े रहे है, और दोनों ही अपने हामीदारों से कठोरता से जुड़े रहने की उम्मीद रखते है, और उन्हें ऐसा जीवन–मरण का साथ मिला भी है । हमें ऐसा लगता है कि किसी कुछ खास व्यक्तियों (नेतृत्व) के साथ जुड़ाव तथा स्वामी भक्ती को ही किसी खास राजनीतिक दल के समर्थन की संज्ञा दी गई यानी उम्मीदवार तथा दल को समानार्थक मानकर चला गया। जबकि 36 मतदाताओं को दलीय पहचान मध्यमार्ग के हिसाब से माना गया, शेष बचे बाकी लोगों में या तो इसकी भावना कम थी अथवा वे इस बात से ही नावाकिफ थे । 1972 के चुनावों में भी हमने यह पाया "जब हम किलोई चुनाव क्षेत्र के दौरे पर गए" कि ज्यादातर मामलों में दलीय पहचान तथा जातिगत जुडाव की भावनाएं साथ–साथ ही चलती है ।

हमने 1977 के चुनावों में यह पाया कि अधिकतर गैर चमान मतदाताओं ने जहां कांग्रेस दल के पक्ष में मतदान किया, वही 82 सैंकडा मतदाता लोगों ने प्रतिपक्षी बनता दल का साथ दिया। इसकी वजह है कि अधिक नीची जातियों या अनुसूचित जातियों ने लगातार बेनागा अभी तक कांग्रेस के पक्ष में ही मतदान किया है । इसी कारण वे एकजुट होकर न केवल कांग्रेस को मत देते है अपितु यह भी मानते है कि वे उसके हमेशा से पक्षधर मतदाता भी रहे है । हालांकि उनके सामूहिक मतदान पर भी 1977 के चुनावों में असर पड़ा। यह सही है कि इनमें से ज्यादातर ने तब भी कांग्रेस के ही पक्ष में ठप्पा लगाया फिर भी काफी चमार मतदाताओं तथा अन्य अनुसूचित मतदाताओं में जनता दल का भी दामन पकड़ा। इसकी पृष्ठभूमि में बाबू जगजीवनराम का दलबदल, परिवार नियोजन में की गई ज्यादतियां तथा कुछ मानो में संकट काल के दौरान की गई ज्यादतियां भी जिम्मेदार थी ।

याद रखने की बात है कि इस दौरान समूचा हरियाणा एक सामाजिक उथल–पुथल के दौर से गुजरा है जिस वजह से खेतिहर जातियां तथा अनुसूचित जातियां एक दूसरे के खिलाफ खम्ब ठोककर उतर आई है । कारण है कि ग्रामीण हरियाणा में पाई जाने वाली अधिकांश अनुसूचित जातियां भूमिहीन मजदूरों की जिन्दगी जीती आ रही है पर अब उनमें भी बदलाव की लहरें उठने लगी है । मजबूरन उन्होंने अपने आपको गैर–खेतिहर कामों से भी जोड़ना शुरू कर दिया है, और आजकल अपनी मजूरी भी रोकड़ों (रुपयों) में मांगने लगे हैं । तथा इन लोगों की तुलना आजकल ऐसे लोगों से की जाती है जो अपनी जमीन के बाहर रहकर ही कमाते, है । कारण है कि इनमें से अनेक के पास अब अपनी जमीन–जायदाद भी गांवों में होने लगी है ।

आजकल अनुसूचित जातियों के लोगों में भी अपने–आपको एक खास सामाजिक तथा आर्थिक समूह मानने की भावना घर करने लगी है । यानी वे अब अपनी एक. अलग तथा खास किस्म की पहचान भी मानने लगे है जो कि निश्चय ही उच्च जातियों तथा सवर्ण लोगों से भिन्न किस्म की. रही है । इस तरीके से उनमें जाने या अनजाने तौर पर वर्गीय चेतना की भावनाएं भी पनपने लगी है। और यह यकीन करने लगी है कि यदि वे एकजुट होकर समूह के रूप में कांग्रेस के साथ जुडेगीं तो निश्चय ही उन्हें इसके साथ लाभ भी मिलेगा। यह भी कहा जा सकता है कि मौटेतौर पर गरीब तबकों ने कांग्रेस मे अपना मत इसलिए दिया है चूंकि वे शुरू से ही ब्रितानी तब (हुकुमत) के अवश्य ही इसके अपवाद रहे है जो कि अपनी राजनीतिक धारणाओं के आधार पर मत देने का फैसला करते रहे है । नतीजतन बदले में अनुसूचित जातियों का शासन का समर्थन आरक्षण के रूप में हासिल होता रहा है और वे उसके मजे लेते रहे है और उनकी यह पक्की धारणा है कि यह इसलिये मुमकिन हुआ है क्योंकि कांग्रेसी हुकुमत बनी रही है । गर्ज है कि जब तक कांग्रेसी राज चलता रहेगा तब तक आरक्षण भी बना रहेगा। अनुसूचित जातियों के कांग्रेसी पहचान के साथ जुड़ाव की एक अन्य वजह भी यह रही है कि अधिकांश प्रतिपक्षी दलों में अपना ध्यान ज्यादातर ऐसे सामाजिक– आर्थिक मुद्दों पर लगाया है जिनसे कि सवर्णों एवं खेतिहरों को ही अधिकतर लाभ हो । तदापि वे कभी पिछड़ी जातियों की चर्चा जरूर करते रहते है । कहने का तात्पर्य साफ है कि जिस तरह कांग्रेस ने परम्परागत रूप से अनुसूचित जातियों के लिए विशेष रूझान दर्शाया है वैसा रूझान कभी भी प्रतिपक्षी दलों ने नहीं अपनाया है । यह भी एक हकीकत है कि भारत के अधिकांश विरोधी दलों के नेताओं और सदस्यों की राष्ट्रीय, मध्यवर्गी तथा निचले स्तरों पर जो सामाजिक पृष्ठभूमि रही है । (और साम्यवादी दल भी उसके अपवाद नहीं है) वह यह दर्शाती है कि वे गैर–अनुसूचित जातियों के तबकों से आए है यानी उनकी अपनी एक जातिय पूर्वग्रह की स्थिति रही है । जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने परम्परागत रूप से अपनी सारी, साधना अनुसूचित जातियों पर केन्द्रित की है, तथा वे भी यह मानती रही है चूंकि वे एक समूह के रूप में उसे (कांग्रेस) अपना समर्थन देती रही है इसलिए बदले में उन्हें अनेक खास किस्म की सामाजिक–आर्थिक रियायतें मिलती रही है । यानी वे "संघे शक्ति कलियुगै" यानी कलियुग में संघ, की शक्ति ही चलेगी – की धारणा में विश्वास रखती रही है । तथा इन जातियों में यह मान्यता भी घर कर गई है कि कांग्रेस ही एकमात्र ऐसा शक्तिशाली दल है जो कि उन्हें सामाजिक आर्थिक स्वर्णों यानी उच्चाधिकारियों के जोरों जुल्म तथा शोषण से बचा सकती है ।

## 14.5 दलीय पहचान की प्रकृति

गौरतलब बात हे कि लगभग 40 सैंकडा मतदाता किसी एक या दूसरे राजनीतिक दल के साथ जुड़ाव का दावा करते है । इस बाबत हमारा दावा है कि दलीय पहचान के कारक को एक स्वतंत्र चर (वैरिएबल) के रूप में मानकर नहीं चलना चाहिए । क्योंकि जब अनेक दलों में राजनीतिक गठजोड़ होती है तब एकदल के मत दूसरे दल के खाते में अदल–बदल अनेक बार हुई भी है । तदापि यह भी एक तथ्य है कि दलीय पहचान वाले लोग अपने मतों की अदला–बदली के लिए तभी सहमत होते है जबकि उनके राजनीतिक दल का फैसला तथा जाति विशेष

की रणनीति के दरम्यान किसी किस्म का कोई तालमेल होता है यानी बेमेल फैसलों को अमल में नहा लाया जाता है ।

### 14.5.1 दलीय पहचान की जातिवादी पृष्ठभूमि (आधार भूमि)

हमने दलीय पहचान के मामलों को समझने के लिए भिवानी क्षेत्र में पाई जाने पाली अनेक जातियों को आगे बताई गई शैलियों (टाईप्स) में विभाजित किया है,

1. तथाकथित निचली जातियां अथवा अनुसूचित जातियां:
2. पिछड़ा हुई जातियां यथा धोबी, नाई, लुहार, स्वर्णकार तथा अन्य किस्म के कलाकार;
3. खेतिहर जातियां तथा अन्य जातियां (यथा 70वें दशक के पश्चात, मौटे तौर पर चमार भी इस वर्ग में जुड़ गए है) जिन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक गतिशीलता की सीढ़ी पर ऊंची चढ़ाई की है, तथा जिसकी पृष्ठभूमि में लोकतांत्रिक राजनीति की शुरूआत की वजह रही है;
4. व्यापारिक/वाणिज्यिक जातियों यानी बनिया (वणिक) तथा खत्री–अरोड़ा, पंजाबी आदि–आदि;
5. ब्राह्मण जातियां तथा अन्य जातियां–जिन्होंने समाज व्यवस्था में अभी तक अपना कर्मकाण्डी दर्जा हासिल किया हुआ है, तथा
6. उच्च तथा मंझली जातियों के सदस्य – जो कि अपने वंशानुगत (परम्परागत) काम–धंधों से अलग–थलग हो गए है ओर वे आजकल व्यावसायिक (प्रोफेशनल) सेवाओं में भर्ती हो गए है ।

ध्यान रहे कि निचली जातियों में दलीय पहचान की भावना ज्यादा मिलती है खासतौर पर वे जातिगत आरक्षण (यानी राज्य संरक्षण) कीं वजह से ऐसा महसूस करती है चाहे उसका स्वरूप नकारात्मक ही कयों न हो चूंकि हकीकत यह भी है इनमें से (दलितों में) चाहे थोड़े से हिस्से को ही सही मायने में लाभ मिलता है इसलिए वे कांग्रेस के कट्टर हिमायती के रूप में काम करते है । ये ही लोग (समर्थक) अपनी–अपनी जातियों में जोरदार दलीय पहचान तथा लगाव की भावना फैलाने तथा उसे संगठित करने में अहम भूमिका निभाने रहे है । एक मायने में वे दलीय मतों के दलालों की भूमिका निभाते रहे है । एक मायने में वे दलीय मतों के दलालों की भूमिका निभाते रहे है । एक मायने में वे दलीय मतों के दलालों को भूमिका है भले ही वे मतों के भण्डार न बन पाए, हों और वे अपने जातिवादी मतों को दल तक पहुंचाने में सहायता करते है । यहां पर हम यह भी बताना चाहेंगे कि 70वें दशक में "वोट बैंक" घटनाक्रम में गिरावट आई है – जिसके तहत वे पिछले दिनों में अपने जाति–बिरादरी भाई–बन्धुओं के मतों को बटोर कर रख लेते थे और फिर वे उसका मनचाहा इस्तेमाल करते रहते थे। अब उन मत भण्डारों" की हालत. पहले जैसी सुरक्षित नहीं रह गई है । कहने का मतलब है कि ये "मतों" के नए दलाल पैदा हो गए है और इनकी कामयाबी इस बात पर निर्भर रहती है कि वे अपने दलीय तथा जातिगत नेताओं के दरम्यान किस किस्म का या कैसा समझौता करवा पाते है । उनकी कुशलता की पैमाइश इस बात पर निर्भर होती है कि वे अब तक अपने जाति/ बिरादरी के कितने लोगों को और किस्म की नौकरियां (यानी आरक्षण/संरक्षण में हिस्सा) दिलवा पाए है और भविष्य में कितना लाभ दिलवा पाएंगे? और इन दिनों तो दलालों में भी गलाकाट

संघर्ष शुरू हो गया है । गरज यह है कि इन दलालों से वो जितनी ज्यादा नौकरियां या अन्य किसी किस्म के लाभकारी सौदे कर पाता हैं उसकी उतनी ही ज्यादा साख कायम होती चली जाती है

दूसरी तरफ पिछली जातियों में दलीय पहचान भावना बेहद कम पाई जाती है चूंकि वे इतने विभाजित समूह होते है कि अपने जातिवादी हितों की हिफ़ाजत करने में नाकामयाब रहते है । और जब कभी उनमें दलीय पहचान की' भावना मिलती है तब मी वह जातिवादी आधारों की बजाय किसी खास राजनीतिक दल की विचारधारा से लगाव पर अधिक आधारित होते -हो उदाहरण के लिए समाजवादी विचारधारा के दलों को अपने ज्यादातर समर्थक इन्हीं जातियों से आमतौर पर मिलते है । दरअसल में वे सभी निम्न–मध्यवर्ग तथा वर्गीय चेतना के लोग होते है । और 1971 के आम चुनाव में "गरीबी हटाओ" के नारे के बहाव में वे ही लोग ज्यादातर वह गए है ।

जहां तक खेतिहर जातियों का सवाल है उनमें दलीय पहचान की भावना ऊंची होती है, तथा इसी समूह में हमें कट्टर दलीय: समर्थक भी मिलते है और मजे की बात है कि हमें इन्हीं में से ज्यादातर दलबदल/पाला बदल करते भी लोग दिखते है । यानी ये राजनीति में रचे बसे हुए लोग होते है । कारण है कि ये मानकर चलते है कि बिना किसी राजनीतिक दल की सीढ़ियां चढ़े उन्हें सामाजिक तथा आर्थिक तरक्की व गतिशीलता नहीं मिलने वाली है ।

गौरतलब बात है कि 1969 के वर्ष में हरियाणा में “हरित क्रांति” (ग्रीन रिवल्यूशन) हुई थी और 1971 तथा 1972 के चुनावों में इन खेतिहर जातियों ने एकजुट होकर कांग्रेस दल का साथ तथा समर्थन किया था । उदाहरण के लिए जब 1971 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस ने अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोगों को दंगल में उतारा था तब जातिवादी चौधरियों या नेताओं के विरोध के बावजूद भी वे सभी कामयाब हुए थे और यही कामयाबी 1972 में दोहराई गई, जबकि जातिवादी चौधरियों या नेताओं की सभी किलेबंदियां ढह गई क्योंकि एक बड़े भारी पैमाने पर इन जातियों ने एकजुट होकर कांग्रेस के पक्ष में मतदान किया नतीजतन जातिगत चौंधराहट कुछ काम नहीं आई । और राज हुकुमत ने भी "हरितक्रांति" के लोग किसानों में बांटने में कोई कोताही नहीं बरती । पर गौरतलब बात यह भी है कि राज में भी वितरण करते समय बांटने वाले लाभों पर ज्यादा जोर दिया बनिस्पत कि गैर–बांटने वाले लाभों के – यानी कि उसने भी बंटवारे का इस्तेमाल अपने हक में किया।

ध्यान रहे कि 1974 चुनाव में और खासतौर पर 1977 के चुनाव में इन खेतिहर जातियों ने एकजुट होकर विरोधी दलों का पल्ला थाम लिया । इस सामूहिक दलबदल की वजह यह रही कि हुकुमत के बारे में इनके नजरिए यानी दृष्टिकोण में रात–दिन का बदलाव आ गया था। जहां पहले जोर विभाजनीय यानी बांटे याने वाले लाभों पर था वहां अब वह अविभाजनीय लाभों पर हो गया। और जाति–बिरादरी की बजाय अब गोत–नात (किनशिप) पर ज्यादा जोर दिया गया । नतीजतन 1977 के चुनाव को गोतनात के खिलाफ जाति–बिरादरी की बगावत का नाम दिया गया । कारण यह रहा है कि आजकल जो जाति–बिरादरी के नेता उत्तर कर सामने आए है वे अब मतों के ऐसे भंडारगृह बच्चन चाहते है जो कि किसी भी तरह के सौदे–समझौते

के परे हो । मतलब है कि वे अपने जाति भाई–बंधुओं के साथ मिलकर बैठकर सत्त/पद सुन्दरी के लाभों को बांटना नहीं चाहते है । शायद इस बदलाव का एक खास कारण यह भी रहा है कि जो उम्मीदें की गई है और जिस गति से वायदे निभाएं गए है उनके दरम्यान दिन ब दिन ब दिन खाई चौड़ी होती चली जा रही है। इन सभी कारणों/कारकों की वजह से ही ये खेतिहर जातिय विपक्षी दलों की शरण में चली गई है ताकि वे सामाजिक व आर्थिक मामलों में ज़्यादा तरक्की करने के लिए वांक्षित व्यापक समर्थन हासिल कर सकें ।

पर जब 1980 के चुनाव हुए तब जहां खेतिहर जातियों ने एकमुश्त लोकदल के पक्ष में मतदान किया वहां चमारों ने बाबू जगजीवनराम की सलाह पर अमल किया, ताकि वे सामाजिक–आर्थिक तरक्की हासिल कर सके । यद्यपि 1982 में अलग–अलग खेतिहर जातियों ने अलग–अलग स्त्रात्तिजयां (स्ट्रेटेजीज) बनाई पर उनमें सामूहिक मतदान की आदत बनी रही। ;;;;; हम यह भी कहना चाहेंगे कि जहां अहीरों मे केन्द्रीय (दिल्ली) हुकुमत का साथ निभा की टेर पाई गई, वहां जाटों में अपनी रट पर चलने की आदत बनी रही, जिसके रहा उन्होंने विरोधी दलों का साथ निभाया।

राजनीतिक दलों के सामाजिक आधारों तथा पहलुओं के बारे में जो आचार्य एल्डर्सवेल्ड ने बताया है वह प्रभादी/अमली रूप से इन खेतिहर जातियों पर पूरी तरह लागू होता है । जैसा कि वे कहते भी है –

> "दल ने जाति की जगह नहीं ली है, और जाति ने दल की मंजूरी/स्वीकृति में कोई रूकावट खड़ी नहीं की है । भारतवासी इन दोनों के साथ समान मनोभावना के साथ प्रभावी तालमेल बैठा सकते है । अब हमें इस बात के व्यावहारिक सबूत मिल गए है कि न तो जाति ही बेमानी या बेवक्ती सिद्ध हुई है न ही राजनीतिक दल । बल्कि लगता यह है कि जाति और राजनीतिक दल दोनों एक साथ मिलकर ही समूचे भारतीय समाज के अर्थपूर्ण राजनीतिकरण यानी राजनीतिक रूप से जागृत करने में खास किस्म की भूमिका निभा सकते है, ताकि भारतीय जन गण मन राजनीतिक व्यवस्था में सहभागिता कर सके । और राजव्यवस्था (पालिटी) आबादी के अब तक के घोषित "परम्परागत" इलाकों में भी अपनी घुसपैठ कर सकें... ।"

उनका यह विश्लेषण आचार्य रजनी कोठारी की उस सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि को भी तथ्यात्मक आधार प्रदान करता है, जो कि उन्होंने जातियों तथा दलीय राजनीतियों के जुडाव/लगाव के बारे में विकसित की है । वे लिखते है - "जहां पर जातिवादी संरचना या ढांचा वह एक महत्वपूर्ण संगठनात्मक समूह या पुन्ज प्रदान करती है जिसमें जनसंख्या/आबादी निवास करती है – वहां पर राजनीति को भी ऐसे कोई संरचना या ढांचे के जरिए ही अपने आपको संगठित करना चाहिए यानी राजनीति को ऐसी लोकसम्मत ढांचे के जरिए संगठित करने में ज्यादा सुभीता होता है । इसलिए जब यह कहा जाता है कि राजनीति में जातिवाद पाया जाता है तब इसका मतलब जान के राजनीतिकरण से न तो कुछ होता है न ज्यादा होता है यानी इस प्रक्रिया में जाति–संरचना का भी राजनीतिकरण हो जाता है ।"

जो व्यापारिक जातियां होती है वे भी बदले में सुरक्षा तथा स्थिरता चाहती है । इसके लिए वे सुरक्षा शुल्क (फीस) चुकाती है जो कि प्रशासकों तथा राजनेताओं में बराबर–बराबर बंट जाती है । याद रहे कि उनका आर्थिक समर्थन सशर्त किस्म का होता है । मतलब यह है कि अगर हुकुमत उन्हें अपनी आर्थिक गतिविधियां चलाने में सुरक्षा देनी है और "बदले में उचित आर्थिक सुरक्षा राशि वसूल करती है तो वे भी उसे अपना समर्थन देती रहती है तथापि ये नेता लोग अपने विकल्प सदैव ही खुले रखते है । गर्व है कि अगर उन्हें लगता है कि अन्य दल उनके हितों की देखभाल में ज्यादा काबिल है तो वे (नेता लोग) बदलाव के लिए भी सदैव तैयार रहते है । उदाहरण के लिए 1977 (चुनावों) में इन जातियों ने एकजुट होकर जनता दल के पक्ष में मतदान किया क्योंकि उनसे वसूली की जाने वाली रकमें बेहद ज्यादा बढ़ गई थी । पर जब 1980 चुनावों में से जातियां फिर कांग्रेस दल की तरफ लौट आई । कारण यह रहा कि बदले में जनता दल इन्हें (जातियों) को खेतिहर जातियों के हमलों से नहीं बचा पाया, और वांछित सुरक्षा प्रदान नहीं कर पाया । इसी सोच के आधार पर उन्होंने 1982 के चुनाव में भी कांग्रेस दल का दामन थामा ।

दूसरी तरफ ब्राह्मणवादी जातियां यथास्थिति वादी होती है । वे सिवाय 1977 चुनावों के आमतौर पर कांग्रेस–मुखी रही है । इसकी वजह यह रही कि वे यह महसूस करती है कि खेतिहर तथा अन्य दलित जातियों का जो ऊंचा आभार हो रहा है और गतिशीलता आ रही है उससे उनके सामाजिक दर्जे के गिर जाने यानी घट जाने का गम्भीर खतरा पैदा हो गया है ।

तथा बिखरे–छितरे लोगों का जो यह जाति परम्परा से बाहर निकल आया है वह भी जाति या इस्तेमाल श्रमिक संघ की बजाय एक बड़े/समर्थन समूह के रूप में करता है । इस समूह में दलीय पहचान भी बदनाम होती है । और जहां भी यह मिलती है वहां भी इसकी वजह यह है कि वे दलीय विचारधारा स्थिति की बजाय जातिवादी स्थिति को ज्यादा पसन्द करते है । कारण है कि वे हर चुनाव को अपनी व्यक्तिगत उन्नति तरक्की, का साधन या मौका मानकर चलते है । गर्ज है कि वे अपने को किसी राजनीतिक दल की बजाय दबाव–समूह के ज्यादा नजदीक पाते है ।

### 14.5.2 वर्गीय आधार

हम वर्गीकरण के सुभीते के लिए विभिन्न वर्गों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया चाहेंगे, जो कि इस प्रकार है –

1. गरीब लोग–जिनके लिए गुजर–बसर करना भी एक समस्या है ।
2. निम्न मध्यवर्ग के लोग–जिनके लिए जीवन–स्तर बनाए रखना भी एक जद्दोजहद (संघर्ष) की चीज है, और
3. उच्च मध्यवर्ग के लोग – जिन्होंने एक हद तक "जीवन–स्तर" को हासिल कर लिया है, और जो अब अपने ही समुदाय/समाज में एक खास किस्म के दर्जे और ताकत पाने की तलाश में जुटे हुए है ।

तथा फिर गरीब लोगों को दो भागों में बांटा जा सकता है – नीची जातियों के लोग और गैर–नीची जातियों के लोग । जहां तक पहली किस्म का सवाल है उससे हम पहले ही यानी पिछले पन्नों में निपट चुके है । और गैर–नीची जातियों के गरीब लोग अपने से जुड़ी हुई जातियों में ही सुरक्षा/हिफाजत हासिल करती ई । बावजूद इस हकीकत के, कि उन्हें लगातार गरीबी की हालात में जीना पड़ता हैं तो भी उनमें यह भरम रहता है कि अपनी जाति की हैसियत की वजह से ही उन्हें कुछेक विशेषाधिकार मिले हुए है यानी उनकी भी अपनी कोई हैसियत है । नतीजतन उनमें जो जातिवादी चेतना पैदा होती है वह एक ऐसे सामाजिक अन्धत्व को जनमाती है जिसकी वजह से या तो सर्वहाराई चेतना विकसित नहीं होती है अथवा जब गलती से पैदा भी हो जाए तो वह' भी फूट और बंटवारे को ही सिर जाती है यानी उसकी प्रकृति विखण्डनात्मक होती है । और जब ऐसे लोग किसी राजनीतिक दल के साथ अपना लगाव. भी दर्शाते है, तो इसकी वजह भी यह होती है कि वे खुद जिस निम्न या उच्च मध्य वर्ग के साथ जुड़े होते है वे उसकी मनमर्जी के मुताबिक एक पिछलग्गू की तरह अपनी पसन्द बनाते है । चूंकि जाति लोगों या जातियों में एक किस्म की सामाजिक अन्धत्व (अंधेपन) को भी सिर जाती है । इसलिए कुछ लोग गरीबी की जिन्दगी गुजारने के बावजूद भी इसी खामोख्याली में रहते हैं कि दरअसल में वे किसी निम्न मध्यवर्गीय परिवेश आए है यानी कि उनकी चेतना निम्न मध्यवर्गीय किस्म की होती है ।

गौरतलब बात है कि निम्न मध्यवर्ग का भी एक हिस्सा एक भाग उच्च वर्ग के पिछहले (उपग्रह) के रूप में कार्य करता है । इसलिए जब कभी भी ये किसी दल के साथ जुड़ते हैं तब भी उनका लक्ष्य यही होता है कि वे उच्च मध्य वर्ग के एक साधन के रूप में अथवा संदेश वाहकों की भूमिका का निर्वाह कर. सकें । तदापि इनमें से एक हिस्सा/भाग ऐसा भी होता है जो कि न केवल बदलाव/परिवर्तन की इच्छा करता है वरन् वह उसके पाने के लिए संघर्ष भी करता रहा है । और हर चुनाव में इसी वर्ग के रवैये ने ही निर्णायक भूमिका अदा की है । याद रहे कि जिन्हें हम "लहरों " (वैक्स) का नाम देते है उनका जन्म भी इसी वर्ग के व्यवहार से – ही हुआ करता है । इसलिए जब 1971 के आम चुनावों में इस वर्ग ने सामूहिक रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का दामन थामा तो उसका बेडा पार हो गया, पर 1977 के आम चुनावों में जब वह खम्भ ठोककर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ दंगल में उतर आया तो फिर उसका भट्टा ही बैठ गया । खास बात है कि यदि यह वर्ग किसी राजनीतिक दल के साथ जुड़ता है तो इसका उद्देश्य यानी मकसद बदलाव हासिल करना होता है । इसलिए हमारा अन्दाजा यह है कि यदि कभी इस देश में क्रांति हुई तो निश्चय ही उसका नेतृत्व यह निम्न मध्य वर्ग करेगा, चूंकि जनता में भी इसका अच्छा खासा समर्थन होता है ।

इसके विपरीत उच्च मध्य वर्ग मूलरूप से यथास्थिति वाद, स्थिरता और वापसी सुरक्षा का हामीदार (पक्षधर) होता है । इसलिए जन कभी वह किसी खास राजनीतिक दल के साथ जुडाव करता है तब इसका मकसद या लक्ष्य अपना हित साधने के लिए जोड़तोड़ की ताकत हासिल करना होता है । यदि उसका मकसद/लक्ष्य प्रभावी रूप से पूरा नहीं होता है तो वह दलबदल करने में भी कोताही नहीं बरतता है यानी हिचकिचाता नहीं है । तदापि ऐसे मौके

विरले ही होते हैं क्योंकि सब कुछ आपसी समझबूझ पर आधारित होता है । कारण है कि हर राजनीतिक दल को यही वर्ग ही सुरक्षा राशि के रूप में भारी रकम अदा करता है जिसे कि कोई भी दल छोड़ना नहीं चाहता है । तदापि आगे बढ़ने से पहले हम यह भी बताना चाहेंगे कि यह वर्ग भी मौटे तौर पर दो भागों में बंटा होता है, ये है :

1. जोड़तोड़ बैठाने वाला वर्ग, और
2. दूसरा पिछलग्गू (उपग्रह) होता है, जो कि मालिकों की देखरेख या सुरक्षा के तहत ही अपनी भूमिका निभाता है जहां तक जोड़तोड़ बैठाने वाले वर्ग का सवाल है ,वह अपने व्यक्तिगत व सामूहिक हित साधने के लिए राजनीतिक दलों, जातिवादी संगठनों और वर्गीय भावनाओं (यदि उनसे 'भी उनका भला होता है) का भी इस्तेमाल करने से भी नहीं चूकता है । और सुरक्षाधारी पिछलग्गू वर्ग का यह दायित्व होता है कि वह उचच मध्य वर्ग के प्रभावशाली व नामी विरामी लोगों तथा निचली जातियों के मध्य तालमेल बैठाने में यानी पुल बनाने में एक प्रभावी भूमिका निभाए ।

आगे बढ़ने से पहले हम अपने पाठकों को यह आग्रह करना चाहेंगे कि जहां तक हमारे दलीय पहचान का ताल्लुक है वह वर्गीय आधार की बजाय जातिवादी आधार पर अधिक टिकी हुई होती है । यद्यपि 1971 तथा 1977 के आम चुनावों में वर्गीय आधारों की भूमिका भी अहम रही है । पर याद रखने की बात है कि वह (वर्गीय) भूमिका तभी खास किरदार (भूमिका) निभा पाती है जबकि उसका तालमेल जातिवादी भूमिकाओं एवं स्त्रात्जियों से बैठ जाता है, और ऐसा ही तालमेल 1971 तथा 1977 के चुनावों में बैठ गया था ।

### 14.5.3 मुददे/मुद्दों का रूझान (इस्यू ओरिएन्टेशन) यानी समस्या की पहचान

हमारे यहां मतदान व्यवहार में मुद्दों का रूझान भी एक अन्य महत्वपूर्ण कारक रहा है। जैसाकि आचार्य एल्डर्सवेल्ड कहते है :–

> "यहां पर मुद्दे तथा समस्या की जागरूकता भी काफी मात्रा में पाई जाती, है । खास तौर पर गौर करने की बात यह है कि हमने जिन लोगों से मुलाकात की, उनमें से आधे से ज्यादा (50 प्रतिशत से अधिक) उत्तरदाताओं ने यह बताया कि किस राजनीतिक दल ने किसी विशेष मुद्दे को लेकर लड़ाई लड़ी है या उस मुद्दे पर उसकी क्या हैसियत है । यानी वह उसी तरह के कदम उठाएगा जिस तरह आप दल से उस मुद्दे को निपटते देखना चाहेंगे ।" (मसलन आप राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था किस प्रकार का सरकारी अंकुश लगाना चाहेंगे)

आचार्य धीरूभाई सेठ ने भी यह पाया कि 1967 के चुनावों में मतदाताओं में खास मुद्दे को लेकर काफी गहमागहमी रही । उदाहरण के लिए 56.5 सैंकडा उत्तरदाताओं ने, सरकारी अकुंशो/नियंत्रणों को लेकर किसी एक खास राजनीतिक दल के रवैये को उजागर/साफ. किया । तब उनसे जिस दूसरे मुद्दे पर राय मांगी गई – वह गौ हत्या पर रोक लगाने की बाबत था। क्योंकि उन दिनों यह मुद्दा चर्चा में– था । जब उत्तरदाताओं सेर इस बारे में पूछा गया, तब 56.6 सैंकडा लोगों ने इस बाबत खास राजनीतिक दल के रवैये को उजागर किया ।

दरअसल मुद्दों के भी तीन स्तर होते है, ये है – राष्ट्रीय, राज्य स्तरीय तथा स्थानीय किस्म के मुद्दे । ये भी अलग–अलग किस्म के होते है मसलन वे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आर्थिक तथा अन्य किस्म के होते है । जहां तक स्थानीय मुद्दों का ताल्लुक है वे सबसे आसानी तथा, जल्दी से समझ में आ जाते है । –और राष्ट्रीय मुद्दे भी तभी प्रभावशाली एवं प्रासंगिक होने है जबकि उन्हें स्थानीय मुद्दों से जोड़कर पेश किया, जाता है । धार्मिक तथा आर्थिक मुद्दे तो लोगों के दिलों के तारों को सबसे ज्यादा झनझनाते है । क्योंकि जब लोग राजनैतिक सामाजिक व मनौवैज्ञानिक मुद्दों की चर्चा करते है; तब भी इनके कर्म तथा सोच को जो पहलू सबसे ज्यादा प्रभावित करते है । वे धार्मिक तथा आर्थिक मुद्दों से ही जुड़े हुए होते है । तदापि एक मुद्दा जो इन सभी को पछाड़ देता है वह शारीरिक (भौतिक), आर्थिक अथवा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की समस्या से ताल्लुक रखता है ।

सवाल यह उठता है कि कोई भी मुद्दा कितना अहम तथा प्रासंगिक होता है इस बात पर निर्भर होता है कि न होने वाल कोई भी चुनाव किस हालात में होता है यानी उस जमाने में कोई राजनीतिक गर्मागर्मी पाई जाती है अथवा नहीं । मसलन जहां 1967 कें आम चुनावों के वक्त महंगाई का सवाल महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा, वहां 1971 के चुनावों में "गरीबी हटाओ" का सवाल अहम बन गया।

जब हमने अपने 1972 के चुनावी अध्ययन के दौरान मतदाताओं से मुद्दों के बाबत खुले रूप में सवाल जवाब किए, तब जमा 350 उत्तरदाताओं में से 132 लोगों ने कहा कि देश के सामने बेरोजगारी दूर करने का मुद्दा अहम है । इसके विपरीत 228 मतदाताओं ने गरीबी हटाओ के सवाल को खास मुद्दा बताया । चूंकि हर मतदाता से दो मुद्दों को अहमियत देने के लिए कहा गया था इसलिए अधिकतर लोगों में गरीबी हटाने तथा बेरोजगारी मिटाने के सवालों को ही चिन्हित किया । हाँ कुछ लोगों ने विदेशी खतरे, बैंक राष्ट्रीकरण, समाजवाद, शैक्षणिक सुधार, भूमि सुधारों, (आर्थिक) सामाजिक, पिछड़ेपन तथा काश्मीर के सवालों को भी अपने जवाब में शामिल किया।

कुल जमा 201 मतदाताओं ने दावा किया कि उनकी इन समस्याओं में गहरी दिलचस्पी है, तथा 51 उत्तरदाताओं ने इन मुद्दों की तरफ कम ही ध्यान दिया । बाकी लोगों ने कहा कि या तो वे इनके बारे में कुछ नहीं जानते है या उन्होंने मंजूर किया कि उनकी इस बारे में कोई अभिरूचि नही है ।

अब सवाल यह उठता है कि मुद्दे कितनी भाग में मत देने के इरादे पर असर डालते है तो यह अनेक कारकों पेर निर्भर होता है यानी इसकी अनेक वजह हो सकती है । मसलन कोई भी मुद्दा मतदाताओं के लिए इसलिए महत्वशाली होगा कि उससे किन सामाजिक तथा आर्थिक समूहों को लाभ मिलेगा । तथा यह बात भी गौरतलब है कि मुद्दे उठाने वाले लोगों की खुद 'की जनता मे कैसी साख है, और क्या उनमें समस्या को सुलझाने का मुद्दा पाया जाता है या नहीं, इन्हीं आधारों पर ही मुद्दे का प्रस्ताव भी मतदाताओं पर पडेगा । इसके अलावा चुनाव प्रतियोगिता के दौरान प्रचार करते समय मुद्दे को कितने प्रभावी ढंग से उछाला ' गया है यानी मतदाताओं की अदालत में उसको पेश करने, की अदा भी खास महत्व रखतीं है । और ' ध्यान

देने की बात यह भी है कि जो विपक्षी दल/नेता है वे अपनी जवाबी चुनाव प्रतियोगिता के दौरान क्या कोई दूसरा मुद्दा तो असरदार तरीके से, उठा पा रहे है, अगर हों, तो उससे भी ' मुद्दे का असर तो घट ही जाता है । जनता यह भी देखती है कि विरोध करने वाले दलों / नेताओं की साख कैसी है, और क्या उनमें भी समस्या को सुलझाने का मादा है या नहीं । गर्ज है कि मुद्दे का असर अनेक बातों पर निर्भर होता है ।

उदाहरण के लिए 1977 के चुनावों को ही लें – जहां इसमे श्रीमती इन्दिरा (नेहरू) गांधी ने केवल स्थिरता बनाए रखने के सवाल को अहमियत दी, वहां जयप्रकाश नारायण (जे. पी.) तथा जनता दल ने आजादी (स्वतंत्रता) के मुद्दे को पुरअसर तरीके से उठाया । और नतीजा सामने है यानी जनता को स्थिरता बनाम आजादी में से एक को चुनना था।

और जब संकटकालीन तौर तरीके सें ठोस रूप में कामकाज किया गया तब खासतौर पर पिछलग्गुओं की भूमिका की भूमिका अहम हो गई । क्योंकि उनके जरिए ही कस्बों तथा गाँवों में शासक समूह की बदनामी गली–गली, मोहल्ले–मोहल्ले पहुंची । इसके विपरीत 1971 के संसदीय चुनावों में मतदाताओं कांग्रेस की इस दलाल को मान लिया कि समूचा विपक्ष मिलकर श्रीमती इन्दिरा गांधी को गद्दी से उठाना चाहता है यानी उसके पास अपना कोई और कार्यक्रम नहीं है । इसकी वजह यह रही कि उनके दिमाग में श्रीमती गांधी तथा बंशीलाल की छवि काफी अच्छी थी । इसलिए उन्होंने श्रीमती गांधी तथा लाल के पक्ष में अपनी राय जताई। पर 1977 के चुनाव आते–आते साहबी नदी में काफी पानी बह चुका था क्योंकि इस बीच संकटकाल की ज्यादतियों ने अपनी कारगुजारी दिखाई हुई थी ।

वैसे भी संकटकाल के दौरान विरोधी दलों के नेताओं ने संकटकाल के दौरान जिस तरह के बलिदान किए थे, उन्होंने जिस तरह अपनी चुनावी प्रतियोगिता चलाई थी, तथा आम आदमियों/औरतों ने जिन यातनाओं को झेला था, महसूस किया था । (इसके लिए पिछलग्गुओं को धन्यवाद दिया जाना चाहिए – जिन्होंने संकटकाल का भरपूर लाभ उठाया और गली व मोहल्ले में अपना अड्डा जमाया था) – उसी की वजह से संकटकालीन शासकों की साख जनता के बीच पूरी तरह बिगड़ गई ।

नतीजतन भय और आतंक का मुद्दा ही 1977 के चुनावों में अहम् मुद्दा बन गया। और जनता ने न केवल इस भय के खिलाफ बगावत की, –वरन् उसने उन लोगों को भी उखाड़ फेंका – जिन्होंने इसकी नींव रखी थी।

अनेक चुनावी व्याख्याकारों ने मार्च 1977 के आम चुनाव को परिवार नियोजन को जिस तरह अमली जामा पहनाया गया, और जबकि नसबन्दी का सहारा लिया गया – उसका मार्च 1977 मे होने वाले चुनावी नतीजों पर जबरदस्त असर पड़ा। यानी कांग्रेसी हार ही उसका परिणाम कही जा सकती है ।

परिवार नियोजन का गौरतलब पहलू यह है कि इसमें गरीबों को जी भर के अपमानित किया गया । मतलब है कि ग्रामीण गरीब. ही इसके शिकार बने। और फिर कस्बों में इन बेजुबान लोगों को लाकर बेइज्जती की जो चंद घटनाएं घटी – उससे भी कस्बाई लोगों में अपार भय तथा अकथनीय चिन्ता की लहर दौड़ गई । कहने का आशय है कि यद्यपि जबरन

नसबन्दी की घटनाएं तो कम ही हुई, पर उनसे जो आतंक का माहौल बना यह बड़ा भयावह था।

कुल मिलाकर संकटकालीन व्यवस्था भय, अनुशासन, सुरक्षा तथा स्थिरता पर टिकी हुई थी। पर धीरे–धीरे आम आदमी यह समझ गया कि वह व्यवस्था भेदभावकारी है इसमें सुरक्षा भी उसी वर्ग को जुटाई जाती है जो कि इसका मोलभाव चुका सकते हैं, और इसमें दी जाने वाली स्थिरता भी कही लोगों के काम की है जिनके पास कुछ धन दौलत । जखीरा जमा हो गया । सही है कि संकटकाल के कुछ फायदे भी हुए पर इससे जुड़े नतीजे आम आदमी तक नहीं पहुंचे ।

आगे बढ़ने से पहले, हम यह बताना चाहेंगे कि मुद्दे का सवाल अपना एक अलग वजूद (यानी अस्तित्व) नहीं रखता है । गर्व है कि हमारे यहां का मतदाता महज मुद्दे के आधार पर ही अपना अन्तिम फैसला नहीं– सुनाता है। इसका महज इतना फायदा है कि इसके जरिए मतदाता को किसी राजनीतिक दल या जाति अथवा किसी खास उम्मीदवार के साथ नाता / रिश्ता जोड़ने मे खासी मदद मिल जाती है। तथा कभी इस वजह से उसे एक दल की बजाए दूसरे दल में अथवा एक उम्मीदवार से दूसरे उम्मीदवार की तरफ दलबदल करने में सहूलियत हो जाती है । पर ऐसा तो विरले ही होता है। जबकि वह महज किसी एक खास मुद्दे के आधार पर ही अपना मत देता है या दलबदल करता है । गरज है कि जिन अनेक सवालों में उसकी दिलचस्पी होती है – उनके आधार पर ही किसी दल के साथ जुड़ाव महसूस करता है या किसी भी उम्मीदवार के साथ कटाव। अलगाव की सोचता है, पर अपने आप में इसकी कोई अहमियत नही होती है । इस नतीजे की तब भी पुष्टि हुई जबकि 1972 के चुनावों में हमने मतदाताओं से यह खुला सवाल पूछा कि वे कौन से आधार है जिनकी मदद से वे अपना मतदान करने का फैसला करते है । ध्यान रहे कि एक भी मतदाता ने यह नहीं बताया कि वह मुद्दे के आधार पर ही अपना मानस बनाते है ।

### 14.5.4 उम्मीदवार के व्यक्तित्व की तरफ झुकाव/रुझान

1962 में हमने जो चुनाव सर्वेक्षण किया, उसमें 23 सैंकडा ग्रामीण मतदाताओं ने यह बताया कि 'वे उम्मीदवार की सेवा गुणवत्ता एवं व्यक्तित्व को ही ध्यान में रखकर अपना मत प्रदान करेंगे। जबकि 25 सैंकडा शहरी मतदाताओं ने ऐसा मत प्रकट किया। नतीजतन एक निर्दलीय उम्मीदवार को काफी तादाद में मत इसलिए मिले क्योंकि उसका मतदाताओं से निजी ताल्लूकात बेहद अच्छे थे, और उसकी मतों के ठेकेदारों से भी गाढ़ी छनती थी ।

1972 में होने वाले विधानसभा चुनावों में भी 881 में से 131 मतदाताओं ने पूछने पर अपनी राय बताई कि वे तो उम्मीदवार के व्यक्तित्व गुण–दोषों के आधार पर ही अपना फैसला करेंगे यानी वे उन्ही की तरजीह देंगे जो कि भले मानस होंगे।

जबकि 1977 के आम चुनावों में हमने यह पाया कि ज्यों – ज्यों चुनाव व स्तर ऊंचा होता जाता है त्यों–त्यों उम्मीदवार के गुण–दोषों का प्रभाव भी घटता चला जाता है । कारण है कि जब निचले दर्जे पर चुनाव होता है तब मतदाता / उम्मीदवार की योग्यता के आधार पर

अपना फैसला करता है न कि यह दलीय बात पर विचार करता है । और जिस घड़ी से लोकसभा – तथा विधानसभा चुनावों के बीच लक्ष्मण रेखा खिच दी गई है तबसे यह भेदभाव और ज्यादा गहरा गया है ।

वास्तव में चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार की अपनी हैसियत के आधार पर ही यह कारक अपना असर / दिखाता है जबकि ऊंचे स्तर के चुनावों में राष्ट्रीय नेता/नायक (हीरो) की छवि ज्यादा मायना रखती है या उस राज्य के नेता/नायक की छवि भी मतदाताओं पर अपना असर जरूर छोड़ती है।

हर उम्मीदवार की पहचान इस बात पर निर्भर होती है कि वह खुद किन लोगों के साथ में उठता–बैठता है यानी भारी दोस्ती रखता है । तथा वह किन लोगों से अपनी दूसरी बनाए रखता है यह बात भी मायने रखती है । मतलब यह है कि उसके जो चपडकनाती या पिछलग्गू होते है उनके कार्य व्यवहार का भी मतदाताओं पर असर पड़ता है । कारण है यदि मतदाता उन्हें पसन्द करते है तो मतदान का पलड़ा उम्मीदवार की तरफ झुक जाता है । पर नापसन्द करने पर वे उम्मीदवार को ही उसकी सजा देते है – उदाहरण के लिए 1977 के आम चुनावों में ऐसी ही सजा मतदाताओं ने सुनाई थी । सार की बात है कि पिछलग्गुओं की उपलब्धियों के आधार पर ही उम्मीदवार की जांच परख की जाती है । और अनुपलब्धि होने पर नकारात्मक मतदान की प्रवृति बलवती हो जाती है । और यह बात पर निर्भर करती है कि जनता की उससे क्या उम्मीदें है और वह (उम्मीदवार) उन्हें कितनी मात्रा में पूरा कर पाया है यानी निभा पाया है। तदापि हुकुमत वाले दल के सामने भी यह परेशानी तो रहती है कि लाभों का बंटवारा कैसे किया जाए । और सवाल यह भी है कि वह विभाजनीय तथा अविभाजनीय लाभों को कैसे बांटा जाए । यदि विभाजनीय लाभ घटते है तो उसका आधार भी घटता चला जाता है ।

गौरतलब पहलू यह भी है कि चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार का किसी (राजनीतिक) आन्दोलन या मुद्दे से तो निकट का रिश्ता–नाता रहा है या नहीं । मसलन 1952 तथा 1957 के चुना में कांग्रेसी उम्मीदवार इसलिए भी कामयाब हुए कि मतदाताओं की स्वर में आजादी के परवाने या दीवाने थे यानी वे आजादी की लड़ाई के लडाकू थे । तथा उन्होंने इसको हासिल करने के जंग में बड़ी–बड़ी कुर्बानियां दी थी । इसी भांति 1977 के चुनावों में मतदाताओं ने जनता दल के उम्मीदवारों को इसलिए चुना था कि उन्होंने न केवल संकटकाल को मंजूर किया, वरन् उन्होंने अनेक कुर्बानियां भी दी । और ये कुर्बानियां उन्हें जनता के ज्यादा करीब लाई ।

## 14.6 इकाई सारांश

हमने अपने इस पाठ में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले तीन प्रमुख कारकों की विस्तार से चर्चा की है – जिनके जरिए जाति तथा वर्ग के कारक मतदाताओं पर अपना असर डालते रहे है । भारत में दलीय पहचान निर्धारित करने में इन कारकों का विशेष योगदान रहा है । उम्मीदवारों के निजी व्यक्तित्व एवं मंतव्य भी इनसे कतई अछूते नहीं रहे है । अतएव, भारतीय निर्वाचन व्यवस्था व मतदान व्यवहार को अभिज्ञात करने के क्रम में दलीय पहचान विषयक इन कारकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

## 14.7 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय जीवन व्यवस्था के क्या प्रमुख आधार है? स्पष्ट कीजिए।
2. मतदान व्यवहार की प्रकृति विषय पर एक निबन्धात्मक लेख लिखिए।
3. भारत में दलीय पहचान का क्या स्वरूप प्रचलित है? दलीय पहचान के प्रमुख आधारो की सविस्तार चर्चा कीजिए।

## 14.8 संदर्भ ग्रन्थ


1. एस.पी वर्मा व इकबाल नारायण — वोटिंग बिहेवियर इन ए चेजिंग सोसाईटी (1975)
2. रजनी कोठारी — पालिटिक्स इन इंडिया (1972)
3. पॉल बास — इंडियन पालिटिक्स सिन्स इंडिपेन्सेन्स (1992)

# इकाई – 15

# स्वतंत्रता के पश्चात् शक्ति की राजनीति ' के निर्धारक के रूप में नौकरशाही

**इकाई की रूपरेखा**

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. नौकरशाही का अर्थ
4. नौकरशाही कि विशेषता
5. नीति निर्माण में नौकरशाही की भूमिका
5. शक्ति की राजनीति के निर्धारक के रूप में नौकरशाही की महत्व
7. प्रत्यायोजित विधायन एवं नौकरशाही
8. निष्कर्ष
9. अभ्यास कार्य
10. संदर्भ ग्रंथ

## 1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य. है–

i) नौकरशाही शब्द के अर्थ से –अवगत कराना।

ii) नौकरशाही की विशेषताओं के' स्पष्ट करना।

iii) नीति निर्माण में नौकरशाही की भूमिका की विवेचना।

iv) शक्ति की राजनीति के निर्धारक के रूप में नौकरशाही का महत्व

v) प्रत्यायोजित विधायन में नौकरशाही की भूमिका स्पष्ट करना।

## 2. प्रस्तावना

आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य का व्यवहार यन्त्रवत् हो गया है, परन्तु वास्तविक यह है के विज्ञान चाहे कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले, मानवता का स्थान नहीं ले सकता। समाज की उन्नति के लिए विभिन्न संगठनों की आवश्यकता सदैव रहती है, जो प्रशासन को सुचारू रुप से चला सके । प्रशासन की सफलता का उत्तरदायित्व उससे जुड़े लोगों का कार्य–कुशलता, योग्यता, कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी एवं क्षमता पर निर्भर है । प्रशासन के इसी स्वरूप को लोक–सेवा कहा जाता है । परन्तु, मनुष्य की प्रकृति में गुणों के साथ–साथ दुर्गुणों का भी समावेश होता है । यदि लोक सेवक स्वयं को सेवक के स्थान पर स्वामी समझकर अपने अधिकार और शक्ति का दुरूपयोग करने लगे तो प्रशासन के ऐसे स्वरूप को 'नौकरशाही' कहा जाता है ।

लोक प्रशासन में 'नौकरशाही' शब्द सामान्यत : लोक सेवा के लिए उपयोग में लाया जाता है । यह शब्द लोक सेवा के व्यवहारिक जीवन को स्पष्ट करता है, जिसके अन्तर्गत

अधिकारी तंत्र अपने पद के दायित्वों का निर्वाह करते हुए विशिष्ट आचरण करते है । प्रशासन के समस्त पहलुओं के व्यवस्थित होने पर ही नौकरशाही के सफल होने की आशा की जा सकती है ।

## 3. नौकरशाही का अर्थ

नौकरशाही शब्द की उत्पत्ति –मूल रूप से फ्रेन्च शब्द "ब्यूरो" एवं "क्रेसिया" से मिलकर हुई है, जिसका अर्थ है "मेज" या "डेस्क सरकार" । वास्तव में नौकरशाही या सेवक–तंत्र, लोक सेवकों का एक ऐसा निकाय है, जो पद सोपान के रूप में संगठित होता है, एवं प्रभावशाली सार्वजनिक नियन्त्रण के क्षेत्र से बाहर होता है । नौकरशाही का भिन्न–भिन्न अर्थ निकलते है। उदाहरण के लिये एक साधारण व्यक्ति के लिए इसका अर्थ लालफीताशाही की निरन्तरता, अक्षमता एवं शक्ति का दुरूपयोग करने वाला संगठन है । एक अर्थ में यह एक ऐसा संगठन है जो अपने स्थिर एवं कठोर स्वभाव के कारण अपनी गलतियों को बारम्बार दोहराता है एवं उससे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करता । राजनीति शास्त्रि के लिए नौकरशाही का अर्थ है, एक ऐसी प्रशासनिक पद्धति, जिसमें विभाग में उच्चाधिकारी स्वयं की ही आवाज सुनते है, एवं उसी के अनुसार कार्य करते है ।

ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार भी यह शब्द विभागों में प्रशासकीय शक्तियों के केन्द्रित होने तथा राजा के क्षेत्राधिकार 'के बाहर के विषयों में भी अधिकारियों के अनुचित हस्तक्षेप को व्यक्त करता है । जान ए. विग के शब्दों में –

विकृति एवं परिहास के कारण नौकरशाही शब्द का अर्थ काम में घपला, मनमानी, अति व्यय, हस्तक्षेप तथा वर्गीकरण माना जाने लगा है, फिर भी कभी–कभी इस शब्द का प्रयोग समानुमोदन के साथ किया जाता है, एवं नौकरशाही के अधिकारियों को ऐसे व्यक्ति का प्रतीक माना जाता है, जो अनुभव, ज्ञान एवं उत्तरदायित्व के लिए विख्यात है ।

उदाहरण के लिए यूरोप में यह शब्द साधारणत : नियमित सरकारी कर्मचारियों के समूह के लिए प्रयोग किया जाता है ।

एम.एम : मार्क्स के अनुसार नौकरशाही शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया जाता है जो इस प्रकार है–

अधिक स्पष्ट रूप में नौकरशाही लोक प्रशासन के संचालन के लिए एक सामान्य रूपरेखा मात्र है। फिफनर ने इसी अर्थ में इसका–प्रयोग किया है, उनके अनुसार– "कृत्यों तथा व्यक्तियों के एक विशेष प्रकार के व्यवस्थित संगठन को, जो सामूहिक प्रयत्न के उद्देश्यों को सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से प्राप्त कर सकता है, नौकरशाही कहते है।" ग्लेडन भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करता है "नौकरशाही एक ऐसी विनियमित प्रशासकीय प्रणाली है, जो अन्ततः सम्बन्धित पदों की श्रृंखला के रूप में संगठित होती है।"

मैक्स वेबर (1864– 1920) एक प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री एवं नौकरशाही का विस्तृत विश्लेषण का प्रयत्न करने वाला प्रथम यूरोपियन विचारक था। उसने नौकरशाही की निम्न विशेषताएँ की निम्न विशेषताएँ दर्शायी है–

1) संगठन के प्रत्येक सदस्य को विशिष्ट कर्त्तव्य सौंपे जाते है ।
2) सत्ता का विभाजन होता है ताकि प्रत्येक सदस्य सरलता से अपने कर्तव्यों को पूरा कर सके ।
3) इन कर्त्तव्यों के नियमित पालन' के लिए सुचारू प्रबन्ध होता है ।
4) पद परंपरा के सिद्धान्त पर संगठन का निर्माण किया जाता है ।
5) संगठन लिखित दस्तावेजों या अभिलेखों पर निर्भर होता है ।
6) लेन–देन पर नियंत्रण के लिये नियमों का निर्माण किया जाता है ।
7) कर्मचारियों की भर्ती एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था होती है ।

लास्की समाजवाद एवं लोकतंत्र का प्रबल समर्थक है । उसके अनुसार– "नौकरशाही की प्रमुख विशेषताऐं दैनिक कार्यो पर बल,. नियम की तुलना में लचीलेपन का उत्सर्ग कर दिया जाता है, निर्णय में विलम्ब तथा नवीन प्रयोग आरम्भ करने से इन्कार करना है । इस प्रकार कठोरता, यंत्रवतता, अमानुषिकता, औपचारिकता तथा आत्मरहित उपागम नौकरशाही के लक्षण है।

आज का युग बड़ी समस्याओं का युग है । सरकार, नियम, व्यापार–संघ, मजदूर–संघ एवं राजनीतिक दल आदि की विशेषता है– उनका बड़ा आकार एवं विशाल कार्यक्षेत्र। केवल संगठन का आकार ही नौकरशाही का बुनियादी कारण है। यहाँ भी बड़े पैमाने पर उद्यम होंगे, वहाँ नौकरशाही का प्रादुर्भाव अवश्य होगा। बड़ी सरकार के बहुत सारे कार्यो का पालन करने के लिए एक बड़े 'यत्र की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ सरकार की कार्यपालिका एवं प्रशासकीय शाखा को अधिक महत्व देना है अत: इसमें आश्चर्य नहीं है कि यदि आधुनिक "कल्याणकारी राज्य" को प्रशासनिक राज्य की संज्ञा दी जाये।

यह शासकीय कर्मचारियों द्वारा संचालित ऐसी सरकार है, जिसका उद्देश्य स्वयं की उन्नति करना है । लास्की ने नौकरशाही की परिभाषा इस प्रकार दी है– यह सरकार की एक प्रणाली है, जिसका नियन्त्रण पूर्ण रूप से अधिकारियों के हाथों में होता है, एवं जिसके कारण उनकी शक्ति जन–साधारण की स्वतन्त्रता को संकट में डाल देती है ।

अत: हम यह कह सकते है कि नौकरशाही का प्रयोग एक प्रकार के प्रशासकीय संगठन या नौकरशाही की एक ऐसी सरकार है जिसका उद्देश्य स्वयं की उन्नति करना या स्पष्ट रूप से व्यवसायिक लोक सेवा के अर्थ में किया जाता जा सकता है, अर्थात् नौकरशाही आधुनिक सरकार के लिये अपरिहार्य है और वह सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों के अन्तर्गत कार्यरत रहती है ।

## 4. नौकरशाही की विशेषताएँ

मेक्स वेबर नौकरशाही का अध्ययन करने वाला प्रथम समाजशास्त्री था जो जर्मनी का था। मैक्स वेबर ने सत्ता के वर्गीकरण को विकसित किया था। उसके अनुसार सत्ता के तीन रूप– परम्परागत, गौरवपूर्ण एवं विधिक होते है । विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही को वह संगठन का सर्वाधिक प्रभावशाली स्वरूप मानता था:। यह अन्य सभी संगठनों

के स्वरूप की अपेक्षा निश्चितता, स्थायित्व एवं दृष्ट अनुशासन के लिए विख्यात है । अत : संगठनों के अध्यक्षों एवं उसके साथ कार्यरत कर्मचारियों को सही–सही अनुमान लगाना सम्भव होता है । यह गम्भीर दक्षता एवं व्यापारिक कार्यक्षेत्रों दोनों की ही दृष्टि से उत्तम है, एवं समस्त प्रशासकीय कार्य करने की योग्यता रखती है । मैक्स वेबर ने नौकरशाही का उल्लेख इस प्रकार किया है–

1) पद एवं पदाधिकरण का पृथक्करण।
2) योग्यता के आधार पर चयन ।
3) अधिकारियों को निश्चित पारिश्रमिक।
4) अनुशासन में रहना एवं नियमों का पालन करना।
5) पदों का पद–सोपान।
6) संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्यो का वितरण।
7) इन कार्यों को करने के लिए अपेक्षित सत्ता एवं अधिकारों का प्रदत्तिकरण।
8) नियमों का कठोरता से पालन आदि।

वेबर के अनुसार विधिक सत्ता के विशुद्धतम प्रयोग का यह वह रूप है, जिसमें नौकरशाही के प्रकार के प्रशासकीय कर्मचारी होते है। ऐसे संगठन के प्रमुख सत्ताधिकारी नियुक्ति, निर्वाचन या योग्यता विधिक नियमों के अन्तर्गत होती है। अतएव सर्वोच्च सत्ता के अन्तर्गत सभी प्रशासकीय अधिकारियों में वे सभी व्यक्तिगत अधिकारी सम्मिलित होते है, जो आगे दिये गये सिद्धान्तों के आधार पर नियुक्त किये जाते है, एवं कार्यरत रहते है –

1) वे व्यक्तिगत रूप से तो स्वतंत्र होते है, परन्तु अपने शासकीय कार्यो के सन्दर्भ में अपने अधिकारियों के अधीन होते है ।
2) वे एक निश्चित पद्धति से निर्धारित पद–सोपान के सिद्धान्त के अनुसार संगठित होते है।
3) विविध अर्थों में प्रत्येक पद का सुपरिभाषित योग्यता क्षेत्र होता है ।
4) उम्मीदवारों का प्राविधिक योग्यता के आधार पर चयन किया जाता है । कभी किसी प्राविधिक शिक्षण के प्रमाण–पत्र को प्रमाणित मान लिया जाता है । इनकी नियुक्ति की जाती है, ये निर्वाचित नहीं होते । इन अधिकारियों को एक निश्चित राशि वेतन के रूप में प्रदान की जाती है एवं पेन्शन सुविधा भी प्रदान की जाती है नियुक्ति कर्ता अधिकारियों को कुछ विशेष परिस्थिति में ही सेवा–मुक्त कर सकते है, परन्तु अधिकारी को सदैव अपना पद त्याग करने की स्वतंत्रता रहती है ।
5) पदाधिकारी का पद ही उसका पूर्ण या मूल व्यवसाय माना जाता है ।
6) शासकीय सेवा में वरिष्ठता एवं सफलता दोनों आधार पर पदोन्नति की व्यवस्था होती है । उच्च अधिकारियों के निर्णय के आधार पर पदोन्नति निर्भर करती है ।
7) प्रशासकीय अधिकारी का प्रशासकीय साधनों के स्वामित्व से पृथक रह कर कार्य करना होता है, एवं अपने पद पर रहकर वेतन के अतिरिक्त और किसी प्रकार की आय नहीं कर सकता।

8) पद के संचालन में वह कठोर एवं व्यवस्थित अनुशासन एवं नियंत्रण के अधीन होता है।

लास्की के अनुसार नौकरशाही का आशय उस अवस्था से है, जिसका पूर्णरूपेण नियंत्रण उच्च पदाधिकारियों के हाथों में होता है, एवं वे इतने स्वेच्छाचारी होते है कि उन्हें नागरिकों की निन्दा करने में भी संकोच नहीं महसूस होता है ।

ग्लेडन के अनुसार नौकरशाही का अस्तित्व तब ही मुखर होता है, जब निदेशन के लिए बहुत से व्यक्ति होते है । ज्यों– ज्यों संगठन का आकार बढ़ता जाता है । त्यों–त्यों यह आवश्यक होता है कि निर्देश के कुछ कार्य हस्तान्तरित कर दिये जायें । ग्लेडन के अनुसार नौकरशाही सीमित अल्पतंत्र का उपकरण है, अर्थात् नौकरशाही स्वयं नियंत्रित है, एवं स्वयं खोजने वाली है ।

डिमॉक के अनुसार नौकरशाही को समझना प्रशासकीय तथा सांस्कृतिक तत्वों एवं संगठन के अन्दर तथा संगठनों के मध्य में होने वाले कारण तथा परिणाम के क्रम को खोजना है । उसके अनुसार प्रशासन के प्रति नौकरशाही के तत्व चार संकेतों से अभिमुख होते है । ये चार स्रोत बाह्य, आन्तरिक, आयात्मक तथा वैयक्तिक है । बाह्य स्रोत सांस्कृतिक विन्यास है, जो कि कानूनी, सार्वजनिक नीति, पुरातन विश्वास पद्धति आदि को सम्मिलित करता है। आन्तरिक स्रोत स्वयं प्रशासकीय परिपाटी है, जो संगठन निर्देश, सामंजस्य आदि पर केन्द्रित है । आयात्मक स्रोत वे तत्व है, जो संस्था की आयु तथा आकार से सम्बन्धित है। वैयक्तिक स्रोत मानवीय तत्व है, विशेषकर नेतृत्व तथा कार्य के सम्बन्धों के पहलू आदि।

मर्टन के अनुसार– नौकरशाही के अधिकारी प्रभावशाली रूप से अपने जीवन की गति से अपना तादात्मय' रखते है । उन्हें अपने विशिष्ट कार्य का घमण्ड रहता है, इसलिए संस्थापित दैनिक विधि में होने परिवर्तनों का वे विरोध करते है । नियमों के प्रति नौकरशाही का विशेष लगाव रहता है । वह अत्यधिक लगाव नियमों को असीम बना देता है, और तब उन्हें निश्चित से सम्बन्धित है, ऐसा नहीं समझा जाता है । इस प्रकार जो तत्व साधारण रूप–से दक्षता बढ़ाते है, वे ही विशेष अवसरों में अदक्षता उत्पन्न करते है ।

नौकरशाही संगठन का वह स्वरूप है, जिसके द्वारा सरकार कार्यालय के माध्यम से संचालित होती है । प्रत्येक कार्यालय कार्य की एक विशेष शाखा का प्रबन्ध करता है । प्रत्येक कार्यालय का संगठन पद–सोपान से युक्त होता है । इसके शीर्ष पर अध्यक्ष होता है, जिसके हाथ में सारी शक्तियाँ रहती है । उनमें एक जातिगत भावना होती है, एवं वे लाल–फीताशाही एवं औपचारिकताओं पर अधिक जोर देते है । ड्यूविन के अनुसार नौकरशाही.तब अस्तित्व में आती है जबकि निर्देशन के लिए बहुत सारे लोग होते है ।

इस प्रकार हम देखते है कि नौकरशाही के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न अभिमत है, परन्तु प्रत्येक अर्थ में नौकरशाही के साथ कुछ न कुछ बदनामी चिपकी हुई है । तथापि यह सत्य है कि आधुनिक समाज में नौकरशाही अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए अपने कार्य में सफलतापूर्वक रत है। यदि हमारा प्रशासन कुछ अधिक लचीला हो जाए तो वह पर्याप्त लोकप्रिय हो जाएगा। आवश्यकता इस बात की है इसके दोषों को दूर करने का प्रयास

किया जाये। नौकरशाही उस अग्नि के समान है जो सेवक के रूप में तो सुखदायी होती है, परन्तु स्वामी के रूप में । विध्वंसकारी अत: नौकरशाही पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है

## 5. नीति निर्माण मे नौकरशाही की भूमिका

जैसा कि विदित है सरकार की– मुख्य रूप से तीन शाखाएँ होती है– विधायिका या व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। विधायिका नीति निर्माण का कार्य करती है । कार्यपालिका नीति निष्पादन का कार्य करती है एवं न्यायपालिका नीति के न्यायिक पुनरावलोकन के कार्य को सम्पादित करती है । पुन:, कार्यपालिका दो प्रकार की होती है– राजनैतिक कार्यपालिका एवं प्रशासकीय कार्यपालिका। पहली का आशय प्रधानमंत्री तथा मन्त्रियों आदि से है। दूसरी प्रकार की कार्यपालिका का आशय प्रशासनिक वर्ग से है जिन्हें योग्यता के आधार पर भर्ती किया जाता है । यही नौकरशाही कहलाती है । इन्हें लोक–सेवा के नाम से भी जाना जाता है ।

प्राय : यह माना जाता है कि प्रशासकीय वर्ग राजनैतिक कार्यपालिका की इच्छाओं और आदेशों के अनुसार कार्य करता है, परंतु ऐसा नहीं है । प्रशासकीय वर्ग अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है–

**1) नीति निर्माण :–** यद्यपि नीति निर्माण करना मंत्रियों व संसद का कार्य है किन्तु व्यवहार में वह कार्य लोक सेवकों के हाथ 'में आ गया है । वे न केवल मंत्रियों के सलाहकार है अपितु अपने कार्यो में निपुण होने के कारण नीति निर्माता भी बन गये है ।

**2) परामर्श देना :–** लोक सेवा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य राजनैतिक कार्यपालिका के सदस्यों अर्थात् मंत्रियों को परामर्श देना है । यद्यपि शासन की बागडोर मंत्रियों के हाथ में रहती है, तथापि उन्हें सही सलाह देने का– उत्तरदायित्व लोक सेवकों पर रहता है । चूंकि मंत्री अनभिज्ञ होते है । इसलिए वे नीति निर्धारण के मामले में अपने विश्वस्त अधिकारियों पर अत्यधिक निर्भर करते है । इतना अधिक के रैम्जु–म्योर के मतानुसार– "सौ में से निन्यानवे मामलों में वह (मंत्री) लोक सेवकों की राय मान लेता है और नियम स्थान पर हस्ताक्षर कर देता है।" लेम्बलेन ने तो एक बार यहां तक कहा था– "मुझे सन्देह है कि आप लोग, (अर्थात् लोक सेवक) हमारे बिना काम चला सकते है, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि हम लोग (अर्थात् मंत्रीगण) आपके बिना काम नहीं चला सकते है ।"

**3) नीति को कार्यान्वित करना :–** सरकार की नीतियों की कार्यान्वित करना लोक प्रशासकों का कार्य है। नीतियों कितनी ही अच्छी हो, यदि उनके कार्यान्वित करने वाले कर्मचारी अच्छे और प्रतिबद्ध नहीं है तो नीतियाँ महत्व शून्य रह जायेगी।

**4) प्रत्यायोजित विधि निर्माण :–** आधुनिक काल में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित विधि निर्माण (Delegated Legislation) कार्य भी करना पड़ता है । अत्यधिक कार्यभार होने से तथा समय की कमी के कारण संसद आजकल अनेक जटिल विषयों के सम्बन्ध में विधि का केवल ढाँचा ही बनाती है तथा उन विधियों की सूक्ष्म एवं व्यापक रूपरेखा बनाने की शक्ति लोक सेवकों को प्रदान कर देती है । प्रक्त व्यवस्थापन के अन्तर्गत बनने वाले समस्त नियमों, उपनियमों का निर्माण प्रशासकीय अधिकारी ही करते है । कानूनों का प्रारूप, प्रशासकीय सचिवों

द्वारा ही बनाना जाता है और उनके बतायें तर्को के आधार पर ही मंत्रीगण संसद में विधेयकों का संचालन करते है ।

**5) अर्द्ध न्यायिक कार्य :–** आजकल लोक सेवकों को अर्द्ध–न्यायिक प्रकृति के कार्य भी करने पड़ते है । इसका कारण है कि प्रशासकीय अधिनिर्णय अथवा न्यायिक निर्णय (Administrative Adjudication) प्रथा की शुरूआत। वस्तुत : प्रशासकीय कानून तथा प्रशासकीय अधिनिर्णय के फलस्वरूप प्रशासक न केवल शासन करते है अपितु न्याय भी करते है । प्रशासकीय अधिनिर्णय प्रारम्भ होने के वही कारण है जो प्रत्ययोजित विधि निर्णय प्रारम्भ होने के है । जैसे–जैसे राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता जा रहा है, प्रशासकीय अधिनिर्णय की मात्रा भी बढ़ती जा रही है ।

**6) विकास अभिकरण के रूप मे :–** भारत जैसे विकासशील देश में जहां लोक सेवाएं देश के योग्य एवं प्रबुद्ध वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, उनसे यह अपेक्षा किया जाना स्वाभाविक है कि वे आर्थिक विकास में एक नये प्रकार के प्रशासन तब को विकसित करें । कल्याण राज्य, समाजवाद आदि नारे जब देश की राजनीति में मौलिक परिवर्तन का दबाव डालते है तो नौकरशाही एक अवरोध बनकर खड़ी हो जाती है फलस्वरूप विकास की राजनीति में राजनीतिज्ञ बनाम प्रशासन के संघर्ष जिसे प्रतिबद्ध नौकरशाही की समस्या भी कहा जाता. है, सामने आ जाती है । भारत में विकास प्रशासन का तंत्र गत वर्षो में इतनी तेजी से फैला है कि प्रशासन अपने आप में राजनीति हो गया और राजनीति प्रशासन की लालफीताशाही और नौकरशाही मनोवृत्ति की सहभागिनी लगती है । लोक सेवाओं की यह नयी भूमिका और कार्य भारत के सन्दर्भ में उनके लिए सम्भावनाओं और चुनौतियों का क्षेत्र एक साथ प्रस्तुत कर रहे है । विकास प्रशासन के माध्यम से वे सशक्त क्षेत्र बन सकती है ।

**7) नियोजन करना :–** विकासशील देशों में नियोजन की बड़ी भारती आवश्यकता होती है– क्योंकि इसके बिना देश प्रगति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकते है । मंत्री जनता के प्रतिनिधि होते है, उन्हें जनाकांक्षाओं की पूर्ति करनी होती है । इस हेतु लोक सेवकों को मंत्रियों के निर्देशों के अनुसार देश के विकास के लिए अच्छी से अच्छी योजना बनानी होती है और उसे क्रियान्वित करना होती है।

**8) उत्पादन बढ़ाना :–** आजकल प्रगतिशील देशों में प्रशासन का मुख्य लक्ष्य उत्पादन बढ़ाना है ताकि अपनी बढ़ती हुई आबादी का गुजारा ठीक तरह से किया जा सके और विदेशों पर निर्भर न रहना पड़े ।

**9) सार्वजनिक सेवाओं को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करना :–** वर्तमान युग में बदलती हुई परिस्थितियों ने सामाजिक सेवा के आदर्शो का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया है लोक सेवकों का यह परम कर्त्तव्य है कि जन कल्याण के लिए प्रशासन का पूर्ण निष्ठा के साथ संचालन करें । आजकल के युग में राज्य कल्याणकारी बन गये है ।

**10) लोक सेवक के रूप में :–** लोकतंत्र में 'लोक सेवक' शब्द केवल अप्रत्यक्ष सेवा करने का नाम नहीं है । राजनीतिज्ञों के आदर्शो के अनुपालन मात्र से की एक सच्चे लोक सेवक का चित्र नहीं उभरता है। विकासशील जनतन्त्र उनसे यह अपेक्षा करता है कि लोक सेवाएं अपनी भूमिका निभाने के लिए जन–साधारण को सरकारी नीतियों समझा सकें, उनका सहयोग प्राप्त

कर सके और उन्हें प्रशिक्षित कर सरकार के साथ नये समाज की संरचना में भागीदारी बना सकें ।

इससे यह तथ्य उभरकर आता है कि शासन की आधुनिक व्यवस्था में नौकरशाही सामान्य नहीं है। बल्कि वह कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली बन चुकी है । रेम्जे म्योर का इंग्लैण्ड की शासन व्यवस्था के संदर्भ में कहा गया कथन आज विश्व के सभी प्रजातंत्रिक देशों पर लागू होता है कि प्रशासन तथा वित्त के क्षेत्रों में नौकरशाही की शक्ति विशाल रूप से सुदृढ़ हो गयी है । मंत्रीमण्डलीय आवरण को ओढ़कर नौकरशाही फैन्कन स्टीन के राक्षस जैसी बन गयी है, यह फलती–फूलती तथा बढ़ती जा रही है । कभी–कभी तो ऐसा लगता है मानों यह अपने जन्मदाता को ही निगल जाएगी।

## 6. शक्ति की राजनीति के निर्धारक के रूप में नौकरशाही का महत्व

स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय प्रशासन की भूमिका ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी हितों के संरक्षा के केन्द्रीत विचार से प्रेरित थी और इसी मूल उद्देश्य के अनुकूल प्रशासनिक अधिकारियों के दायित्वों व कर्त्तव्यों की परिभाषा की जाती थी।

ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के संरक्षण के उद्देश्य से संगठित प्रशासन से जनता की आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशीलता की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी, वरन् इसके विपरीत, जनता की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन की आकांक्षाओं से प्रतिरोध करना प्रशासन की भूमिका का प्रमुख अंग था तथा प्रशासन का समय स्वरूप यथास्थितिवादी था। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के सन्दर्भ में जनता की आकांक्षाओं के विरूद्ध, प्रशासन का यह यथास्थितिवादी स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो जाता था, क्योंकि जहां राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में भारतीय जनता लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुरूप ब्रिटिश सत्ता को प्रभावी चुनौतियां प्रस्तुत कर रही थी प्रशासन का दायित्व ब्रिटिश सत्ता की सुरक्षा के लिए व्यावहारिक उपाय करना था। प्रशासन के सत्तावादी दायित्व–बोध ने प्रशासनिक अधिकारियों को एक विशिष्ट सामाजिक स्तर प्रदान कर दिया था जो कि उन्हें सत्ता से उसकी निकटता और सत्ताधारियों के हितों के प्रति उनकी अनुकूलता के कारण प्राप्त हुआ था। समाज के राजनैतिक नेतृत्व के प्रति दृष्टिकोण और शासन के यथास्थिति परक हितों के स्पष्ट द्वन्द्व की स्थिति में प्रशासन क्योंकि शासन के हितों की सुरक्षा के लिए संगठित था, अत: शासन के लिए अपनी उपादेयता व विश्वसनीयता के आधार पर लोक सेवक विशिष्टता अरि विशेषाधिकार प्राप्त करने में सफल हुए ।

संक्षेप में ब्रिटिश काल में लोक सेवा की भूमिका निम्नलिखित कार्यो तक सीमित थी–

1) ब्रिटिश शासन की नीतियों का क्रियान्वयन व प्रशासन।
2) भारत में ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध उपस्थित होने वाली चुनौतियों का मुकाबला करने तथा जन–आन्दोलन से निपटने के सभी सम्भव उपाय करना ।

ब्रिटिश शासन के हितों व सत्ता के संरक्षण का महत्वपूर्ण यंत्र होने के कारण प्रशासनिक अधिकारियों में स्वयं को शासकों की श्रेणी में सम्मिलित कर शेष जनता से स्वयं को हितों, शक्ति, सामाजिक स्तर व योग्यता की दृष्टि से भिन्न समझने की प्रवृत्ति थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् ब्रिटिशकालीन लोक सेवा के सदस्य एक ओर इस भय से आक्रान्त थे कि अब उनकी शक्तियों व स्थिति में खास होगा, वही उनकी दुविधा का दूसरा पक्ष यह था कि उन्हें उस राजनीतिक नेतृत्व के नियंत्रण व निर्देशन में कार्य करना था, जिसके प्रति वे उपेक्षा व तिरस्कार का रवैया रखते थे। परिणामत: लोक सेवा के सदस्य आपने सेवा शर्तो व विशेषाधिकारों को स्वतंत्रता के पश्चात् भी बनाये रखने में सक्रिय हुए और भारतीय संविधान सभा संक्रमण की उस अवस्था में विवादास्पदता से बचने की अपनी विवशता के कारण, सिविल सेवा के सदस्यों को उनका स्तर व विशेषाधिकार बनाये रखने पर सहमत हुई ।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय लोक सेवा के संगठन, प्रशिक्षण पद्धति और दृष्टिकोण में परिवर्तन सन्दर्भ के अनुकूल कोई व्यापक, परिवर्तन नहीं हुए है । लोक सेवा के अधिकारी वर्ग के साथ परम्परागत सामंती विशिष्टता अब भी जुड़ी हुई है, और प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से प्रविष्ट होने वाले व्यक्तियों का दृष्टिकोण स्तरोन्मुख है न कि उनकी बदली हुई भूमिका के अनुरूप जन सेवा केन्द्रित' । यह एक विडम्बना है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भी लोक सेवा के साथ जो आकर्षण जुड़ा हुआ है उसमें लोक सेवा ' की तुलना में आधिपत्य व विशिष्ट स्तर प्राप्त है, और इस विशिष्टता का आधार सामाजिक उपयोगिता नहीं है, वरन् सत्ता को आदर देने की सामन्ती परम्परा है । क्योंकि प्रशिक्षण की प्रणाली ब्रिटिश कालीन ढांचे पर ही आधारित है, 'क्योंकि लोक सेवा के साथ एक विशिष्ट स्तर जुड़ा हुआ है, भारतीय लोक सेवा के सदस्यों का दृष्टिकोण व्यापकता जनता के अधिकार समस्त दावों के प्रति प्रतिरोधपूर्ण है और उनका रवैया.. यथास्थितिवादी है । उनके दृष्टिकोण के इस यथास्थितिवाद के परिणामस्वरूप व सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के अपने दायित्वों के प्रति अधिक सजग होने के बजाए अपने वर्चस्व और विशिष्ट स्थिति के संरक्षण के प्रति अधिक संवेदनशील है ।

नौकरशाही की राष्ट्र के विकास के प्रधान भूमिका होती है, इस कारण उसकी पर्याप्त आन्तरिक जांच करना आवश्यक है । यद्यपि यह सत्य है कि राजनैतिक विशिष्ट वर्ग एवं नौकरशाही को विगत दशकों में गम्भीर चुनौतियों का सामना एवं कठिन परिश्रम करना पड़ा है, किन्तु दोनों को ही अपने–आप से अनेक प्रश्न पूछने होंगे। यदि इस कार्य को गम्भीरता से लिया है तो यह तथ्य सामने आता है कि सम्पूर्ण विशिष्ट वर्ग को, अपने समक्ष इन प्रश्नों को रखना होगा। माग्रिट मीड ने अपनी विलक्षण शैली में एक विचार प्रस्तुत किया है कि "प्रत्येक युग में आग्रही प्रश्नों की एक श्रृंखला रही है जिन्हें पूछना होता है एवं उनका जवाब भी देना होता है।" प्रश्नकर्ता का जीवित रहना प्रश्न के औचित्य पर निर्भर करता है तथा उन जीवित रहने वाले के जीवन का गुण इनके उतर के गुण पर निर्भर करता है, जो नेतृत्व देते है । एक गलत प्रश्न के सही उत्तर के समान अनुपयोगी कोई दूसरी वस्तु नहीं है । भारतीय सन्दर्भ में कुछ अनिवार्य प्रश्न है ।

1) हम किस प्रकार के समाज में रहना चाहते है?
2) हमारे लिये आधुनिकता का क्या अर्थ होना चाहिए?
3) हमारे समाज के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सन्दर्भ में कौन–सी संगठन प्रणाली श्रेष्ठ कार्य करेगी?

4) सेवाओं का उपभोग करने वालों की तुलना में सेवा प्रदान करने वालों के अधिकार एवं इच्छाओं को हम कितना स्थान देते है?

5) भारतीय समाज एवं प्रजातंत्र को तीव्रगति से बदलने वाली आवश्यकताओं के प्रति प्रशासन को किस प्रकार अनुक्रिय बनाया जाये?

शक्ति किसी भी नौकरशाही का आधार है । राष्ट्र के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इसका अच्छा एवं उचित प्रयोग कैसे किया जा सकता है? हमें प्रजातांत्रिक मूल्यों को बनाए रखने, जनता द्वारा उसमें भाग लेने, सीमित साधनों का अधिकतम प्रयोग तथा प्रविधिज्ञों जिनका व्यवसायिक कौशल तथा विशिष्टता प्रशासन की बढ़ती हुई जटिलताओं के लिए आवश्यक है तथा विधिज्ञों को जो हमारी प्रणाली के सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण बनाए रख सकते है, व्यवस्था में पूर्णत: सम्मिलित करने के बीच संतुलन स्थापित करना होगा। निर्णय लेने की समस्या केवल सुविज्ञता की समस्या ही नहीं हं बल्कि लोगों में पुनर्विश्वास जागृत करना भी है । व्यवसायिक शिक्षा संकुचित, स्थिर, नीरस तथा भविष्य की चुनौतियों के साथ गलत ढंग से समायोजित रही है । इनमें मल्यानुकूलन की कमी रही है । उसी प्रकार सामान्य शिक्षण की प्रकृति परिणामवादी नहीं है । यह उद्यमकर्ता सम्बन्धी कौशल विकसित नहीं करती है । सामान्यत: विशिष्ट वर्ग ही अवसर प्राप्त होने पर भी आगे आने में सफल नहीं हुए है । वे स्वयं ही निराश हो गए। विगत समय में वे प्रसन्न थे क्योंकि वे आर्थिक प्रगति के लिये निवेश की दशाएं उसन करने तथा अपने लिये पर्याप्त अधिवेश जुटाने में सफल रहे थे। आज वे अव्यवस्थित स्थिति में है क्योंकि वे अपने को सन्तुष्ट करने एवं आर्थिक प्रगति के लिये तथा अनुपाती न्याय प्रदान करने के लिए पर्याप्त अधिवेष जुटाने में असफल रहे है । इस समय उनके मध्य टकराव की स्थिति है तथा विभिन्न विशिष्ट वर्ग अन्य व्यवस्था की खोज में रहते है । हमारे निरूपण एवं गुस्से विभिन्न भागों में ही अच्छे है या वे किसी आयातित संदर्श की जो हमारे शहरोन्मुख प्रशिक्षण एवं जीवन पद्धति पर आधारित अवबोधन से समुद्र समाज के लिये सत्य है, प्रशाखाएं होते है । समय व्यतीत होने के साथ–साथ लघु स्तर पर चुनौतियां बढ़ रही है । फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में पुनर्लाभ एवं समुत्थान की शक्ति अत्यधिक है । उस उपद्रव एवं अशान्ति से, जिसे हम 'महानगरों एवं उच्च शिक्षा परिसरों में देखते है, इसे नही आका जा सकता। औसत भारतीय सहनशीलता, धैर्य तथा विश्वास के साथ कठोर एवं कठिन जीवन के आवेश में जन्मा है ।

नौकरशाही का मूल्यांकन पृथक रूप से नहीं किया जा सकता। यह राजनैतिक तथा सामाजिक संरचना का एक अभिन्न अंग है तथा उन्हीं से शक्ति एवं कमजोरियां प्राप्त करती है। चह बाह्य वातावरण से ओत–प्रोत एक सामाजिक पद्धति है तथा यह उन अनेक शक्तियों से अन्र्तसम्बन्धित है जिन्हें साधारणत: इस पद्धति के लिये बाह्य मान लिया जाता है । “अक्सर ने अपने लेख ‘ए डर्टी वर्ड’” में हमारे सर्च सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अस्तित्व में आन्तरिक सम्बद्धता को कमी रूपी कठोर वास्तविकता की ओर ध्यान आकर्षित किया है और कहा है कि और प्रभावी मूल्य प्रणाली अभी उभरी नही है तथा भूतकाल वर्तमान पर पूर्णरूपेण हावी है। शायद कभी हमारी अर्थव्यवस्था एवं समाज के आधुनिकीकरण के आदेशक

एक नयी मूल्य पद्धति उत्तम करेंगे । वह नैतिक अनिवार्यता के रूप में विचार कर्म में धर्म–निरपेक्षता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठता एवं कठोर परिश्रम, बुद्धिजीवियों द्वारा सादगी तथा राष्ट्र अभियान को बनाए रखना एवं अध्यात्मिक आत्म–निर्भरता तथा वैज्ञानिक व्यवहार के प्रति आदर की भावना इस परिवर्तन का पक्ष होते है उनके अनुसार "जब ऐसी मूल्य प्रणाली हमारे जीवन में प्रभावी होगी तथा हमारी शैक्षणिक प्रक्रियाओं का पालन करेगी केवल तभी हम सार्थक रूप से प्रतिबद्धता की बात कर सकते है।"

यद्यपि नौकरशाही परिश्रमपूर्वक प्रतिदिन में कार्यो को सम्पादित करती है किन्तु हमारी नैतिकता के अनुरूप एक सामंजस्यपूर्ण मूल्य प्रणाली जो गांधी के कथन का सार है वह हमारे ध्यान से बच निकला है । गुर्नर मिर्डल के शब्दों में– "यदि भारतीय नियोजन इतना अधिक सफल नहीं रहा होता जितना कि वास्तव में हुआ है तो प्रमुख दलील यह होती है उन्होंने राष्ट्रपिता गांधी के उपदेशों के सार को इतना करीब नही रखा जितना कि रखना चाहिए था ।.

आज लोक प्रशासन प्रत्येक बिन्दु पर नागरिकों पर अतिक्रमण कर रहा है । वह मात्र तथ्यों की क्रमबद्धता या तकनीक के उपयोग के बजाए मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता पर अधिशुल्क है । "निर्णय की अवधारणा तथ्य एवं मूल्य दोनों का सम्मिश्रण है । राजनेता एवं लोक प्रशासन से यह उम्मीद की जाती है कि ये दूसरों के मूल्यों एवं उम्मीदों के आधार पर निर्णय लेंगे। उन्हें जटिल मूल्यों की खोज करने की प्रवृति विकसित करनी होगी। राजधानी मे लिया गया एक निर्णय उपमहाद्वीप की घटनाओं एवं लाखों लोगों के भाग्य को प्रभावित करता है । जहां एक निम्न स्तर में समग्र हित संगठित हो वहां सभी सन्निहित मूल्यों पर ध्यान रखने की अधिक आवश्यकता होती है और इन सन्निहित मूल्यों के बाहुल्य का ज्ञान होने में राजनैतिक रूप से प्रखर एवं अमानवता पर आधारित प्रशासक द्वारा की गई सहायता के लिये राजनेता शायद आभार भी प्रकट करे । उन राष्ट्रों में जहां लगभग सभी मूल्यों के लिये स्थानीय स्तर पर वकालत करने वाले मौजूद रहते है वहां तो स्थिति सुगम है । जहां ऐसा नही है वहां इस कार्य का सम्पादन कुछ सीमा तक राजनैतिक दल करते है । "सम्पूर्ण समाज तथा सामान्य जन–कल्याण के लिये इतने कौशल पूर्ण, इतने विस्तृत रूप से प्रकट, इतने जिम्मेदार, मध्यस्थ अन्य कोई नहीं है जितने कि राजनैतिक होते है।" यद्यपि जैसा कि एम. वेबर ने कहा है– "हमारे देश में अभाव की राजनीति है ।" परन्तु साथ ही क्योंकि राजनैतिक चेतना एवं विचार–धाराएं अभी ग्रामीण क्षेत्रों तक नहीं फैली है । इसलिये हमारे यहां राजनीति का भी अभाव है । इस कमी को नौकरशाही पूरा करने में प्रयत्नशील है इस कारण प्रशासकों के लिये यह आवश्यक है कि वे विभिन्न स्तरों पर समाज के प्रमुख आवेगों के प्रति सजीव रहें । अत: हमें ऐसी नौकरशाही की आवश्यकता है जिसमें व्यवसायिक कौशल तथा समाज की मूल्य प्रणाली के प्रति सजगता का सम्मिश्रण हो । इसे सामाजिक रूप से अपनी जिम्मेदारी निभाना है । इसे लोगों को अनेक भिन्न प्रकार की लालसाओं के प्रति तथा मूल्यों के जटिल सम्बन्ध के प्रति जो एक सांस्कृतिक समाज को घेरे रहते है, अनुक्रियाशील होना है ।

आज यह विशेष रूप से आवश्यक है क्योंकि विकसित एवं विकासशील विश्व समाज मे धनवान एवं निर्धन, अव्यवस्थित रूप से फैलते हुए शहर एवं भ्रान्त–कलान्तर ग्रामों, तकनीकी विकास की बढ़ती हुई गति एवं अनुपाती न्याय के विस्तार में कमी के मध्य की बढ़ती विषमता

ने ऐसी गहरी दरार उत्पन्न कर दी है कि वंचित स्थिति की भावना घर कर रही है । यह सब असमान सामयिकता के सह–अस्तित्व में आन्तरिक विरोधाभास उत्पन्न करता है । प्रसार साधनों ने इस खाई को और अधिक तीव्र किया है और ग्रामीण क्षेत्रों में इसे निरन्तर महसूस किया जाना अवश्यम्भावी है जिसके फलस्वरूप इस खाई को पाटने के लिये अधीरता आ रही है।

यह सत्य है कि नौकरशाही तत्व की अपेक्षा प्रणाली से अधिक सम्बन्धित है । यह लिखित शब्दों के जाल से आकर्षित होती है । ये अवैयक्तिक हो गई है नियम बहाने निकालने के लिये रास्ता ढूंढते है । इससे नियमों की मात्रा भारी भरकम हो जाती है तथा मामलों से निपटने के लिये एक लम्बा तंत्र बन जाता है । नौकरशाही के जो लोग नियमों के अच्छे ज्ञाता होते है वे सर्वोत्कृष्ट विभागों को भी निष्क्रिय बना देते है । यद्यपि मूल्यों के प्रति अनक्रियाशीलता तथा एक बहुलवादी समाज में कार्य करने की क्षमता उसमें भरपूर है । बहुत समय पहले गांधी ने नए तकनीकी युग के कुलीनतंत्र के विशिष्ट वर्ग के बारे में चेतावनी दी थी । चाहे हम इसे चाहें या न चाहें, एक दिन ऐसा कुलीन मंत्र अवश्यम्भावी है । हो सकता है कि इसका एक उचित स्थान हो एवं उसे प्राप्त करना वांछित हो किन्तु नौकरशाही, जो एक प्रजातांत्रिक राज–व्यवस्था और एक बहुलवादी समाज में. कार्य करने की क्षमता रखी है, का एक अपना स्थान है । ऐसी नौकरशाही केवल वेबर द्वारा वर्णित कुछ विशेषताएं ही नहीं है बल्की भारतीय परिवेश में संदिग्धता को सहन करने की शक्ति रखते हुए इसे सचेत एवं क्रियाशील होना है । इसे प्रतिक्रिया व्यक्त करने के स्थान पर सक्रिय होना है, विकास के विभिन्न खण्डों को समूर्णता में देखना है । इस सन्दर्भ में विधिज्ञों एवं विशेषज्ञों के मध्य मुकाबला अर्थहीन है । उसी तरह एक विकासशील समाज में नियमाकीय प्रशासन एवं विकास प्रशासन के बीच अत्यधिक अन्तर करना भी असंगत है क्योंकि दोनों के बीच अन्त: क्रियात्मकता है । यदि निरन्तर धमकी, हिंसा तथा अस्थायित्व का वातावरण रहता है तो विकास की प्रक्रिया मन्द हो जाती है । उसकी प्रकार यदि एक क्षेत्र को अनदेखा कर दिया जाए और वह पिछड़ा रहे तो इस असंतुलन का परिणाम असन्तुलन तथा विनाश हो सकता है । हम सिविल सेवा के दृष्टिकोण को विकास या अविकास में धुवित नहीं कर सकते। विकास की प्रक्रिया स्वयं कानून और व्यवस्था के नए आयाम उत्पन्न करती है जबकि विकास की कमी में कानून व व्यवस्था की समस्या खड़ी हो सकती है ।

## 7. प्रत्यायोजित विधायन (प्रदत्त विधायन) एवं नौकरशाही

किसी– भी जटिल संगठन के कार्यकुशल संचालन के लिये यह आवश्यक है कि आदेश की श्रृंखला में हर स्तर पर शक्ति हस्तान्तरण की व्यवस्था रहे । हस्तान्तरण की प्रक्रिया द्वारा एक उच्चाधिकारी किसी अधीनस्थ अधिकारी को निर्णय लेने तथा कार्य समन करने का अधिकार सौंप देता है । "प्रदंत विधायन या शक्ति के हस्तान्तरण का यह अर्थ है कि व्यक्ति को अपने दायित्वों को निभाने के लिये व्यक्तिगत विवेक के अनुसार निर्णय लेने की छूट।" हस्तान्तरित प्राधिकार के प्रयोग के लिये अधीनस्थ अधिकारी उच्चाधिकारी के प्रति उत्तरदायी हो जाते है शक्ति के हस्तान्तरण या प्रदत्त विधायन का यह अभिप्राय कतई नही है कि उच्चाधिकारी ने सद के लिए अपने अधिकार को त्याग दिया है। मौलिक रूप से प्रदत्त करने के पश्चात भी प्राधिकार पूर्णरूपेण उसी कार रहता है क्योंकि जिस अधीनस्थ अधिकारी को हस्तान्तरित किया

जाता है, वह उसके प्रयोग के लिये हस्तान्तरण करने वाले उच्चाधिकारी के नियंत्रण तथा उसकी देखरेख है अन्तर्गत रहता है। प्राधिकार का हस्तान्तरण करने वाले अधिकारी का यह उत्तरदायित्व रहता है कि वह देखे कि उसके द्वारा प्रदत्त अधिकार का उपयोग उचित प्रकार से किया जा रहा है या नहीं । वास्तव में हस्तान्तरण का उद्देश्य प्राधिकार को संगठन के विभिन्न स्तरों पर सुविधा व दृष्टि से वितरित करना होता है ।

हस्तान्तरण की आवश्यकता एवं इसके लाभ विभाग विभाग मे स्वयं सिद्ध है । नौकरशाही संगठन के अधिकांश उच्चाधिकारी इस स्थिति में नही होते कि वे स्वयं उस शक्ति का प्रयोग कर सकें जो कानून द्वारा उसको प्रदान की गई है । हस्तान्तरण के फलस्वरूप उच्च अधिकारी छोटी–छोटी नित्यप्रति की मामूली गतिविधियों तथा समस्याओं से मुक्ति पा जता ह । इस प्रकार वह अपना समय अधिक बड़ी व महत्वपूर्ण समस्याओं एवं नीति सम्बन्धी मामलों पर केन्द्रित कर अधिकार सौंपे जाते है ।

एक पदाधिकारी को अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए इतना सामर्थ्य प्रदान किया जाना चाहिए कि वह उपलब्ध साधनों का प्रयोग कर सके तथा अन्य आवश्यक कदम उठा सके । दी जान वाली शक्ति का क्षेत्र निश्चित करते समय कई बातें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती रहती है । जब कभी कर्त्तव्य के क्षेत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तो शक्ति के क्षेत्र में भी परिवर्तन कर दिया जाता है । प्रदत्त विधायन की योजना को सफल बनाने के लिए यह जरूरी है कि संगठन के सभी सदस्य एक दूसरे की शक्ति तथा उसकी सीमाओं से परिचित रहें ।

"उत्तरदायित्व और अधिकारियों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब एक अधीनस्थ कर्मचारी कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है तो उसे अपने उच्च अधिकारियों के प्रति जवाबदेह बनना पड़ता है।" उत्तरदायित्व का भार ग्रहण करने के फलस्वरूप अधीनस्थ अधिकारियों को प्रोत्साहन देने के लिये पुरस्कार भी दिया जाता है ।

प्राय: छोटे–छोटे प्रशासकीय संगठनों में भी प्रदत्त विधायन की प्रक्रिया दिखाई देती है। परन्तु जन–संगठन का रूप बड़ा होता है तो उसमें केवल उच्चाधिकारी द्वारा अपने अधीनस्थ अधिकारी को ही नहीं बल्कि अधीनस्थ द्वारा भी अपने अधीनस्थ को अपने को प्राप्त शक्तियों का कुछ भाग अपने अधीनस्थों को प्रदत्त कर देते है । इस प्रकार नए संगठनों में बहुत से प्रतियोजन होते है । प्रतियोजन या प्रदत विधायन का रूप विशिष्ट भी हो सकता है और सामान्य भी । प्राय: संगठन में प्रत्यायोजन का विशिष्ट होना एक अच्छी बात समझी जाती है तथापित अनेक बार प्रत्यायोजन अधिकारी यह स्पष्ट रूप से नहीं बताते कि वे कौन–कौन सी शक्तियाँ किस रूप में अपने अधीनस्थों को साँप रहे है । प्रत्यायोजन पूर्ण हो सकता है और आशिक भी । पूर्ण प्रदत्त विधायन का अर्थ है संगठन का सत्ताधरी अपनी शक्तियों को दूसरे के हाथों में सौंप दे । इस प्रकार प्रदत्त विधायन दूसरे देशों में नियुक्त भारत के प्रतिनिधि के सन्दर्भ में किया जाता है । इस प्रकार के प्रत्यायोजन के अन्तर्गत अध्यक्ष की नियुक्ति नाममात्र को रह जाती है और उसकी सत्ता का प्रयोग पूरी तरह उसके अधीनस्थ द्वारा किया जाता है । साधारण रूप में जो प्रदत्त विधायन विभिन्न विभागों में पाया जाता है, वह आशिक होता है । अध्यक्ष अपनी सम्पूर्ण शक्तियां नहीं सौंपता ।

जो प्रत्यायोजन लिखित, नियम, कानून एवं आदेश द्वारा किया जाता है वह औपचारिक होता है । इस प्रकार के प्रत्यायोजन में अध्यक्ष का योगदान बहुत कम होता है तथा संगठन के रचनाकारों तथा योजनाकारों द्वारा पहले ही इसकी व्यवस्था कर दी जोती है । इसके विपरीत संगठन वर्तमान प्रयोगों अनुसंधान एवं अध्ययनों के आधार पर औपचारिक प्रत्यायोजन व्यवहार में बहुत विश्वास नहीं रखता। प्रत्येक संगठन जब अपनी औपचारिकताओं के क्रियान्वित करने लगता है तो उसे अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं व्यक्तिगत प्रभाव पड़ते है जिनकी अवहेलना करना सम्भव नहीं है ।

कई बार यह देखा जाता है कि अधीनस्थ अधिकारी अपने उच्च 'अधिकारी की उन शक्तियों का प्रयोग कर रहा है जो उसे प्रदत्त नही की गई है । संगठन की परम्पराएं, रीति–रिवाज तथा व्यवहार इस प्रकार की अनौपचारिक प्रत्यायोजनों की रचना कर देते है ।

सत्ता का हस्तान्तरण करने वाले अधिकारी को यह अधिकार रहे कि वह सत्ता पाने वाले कार्यो को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सके तो वह सशर्त प्रत्यायोजन होता है। अधिकांशत: संगठनों में प्रत्यायोजन की दशा प्राय: ऊपर से नीचे की ओर होती है ।

"प्रत्यायोजित की जाने वाली सत्ता की मात्रा का निश्चय करने में अनेक तत्वों का हाथ रहता है।" सत्ता देने वाले का दृष्टिकोण लेने वाले की योग्यता तथा सामर्थ्य, संगठन का आकार, संगठन की आर्थिक स्थिति एवं उसके लक्ष्य आदि द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि कितनी सत्ता कब, किसको और किस रूप में सौंपी जाए । सत्ता या शक्ति के हस्तान्तरण की अनेक सीमाएं है जो उन्हें किसी क्षेत्र में लागू होने से आशिक अथवा पूर्ण रूप से रोक देती है ।

जब किसी संगठन की स्थापना की जाती है तो उसके संस्थापक द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि कौन अधिकारी अपनी कितनी सत्ता किस अधिकारी को प्रदत्त करेगा। इन सीमाओं का उल्लंघन करना अवैधानिक या गैर–कानूनी है । संगठन के योग्य एवं दूरदर्शी अधिकारी प्रत्यायोजन करते समय औपचारिक सीमाओं का ध्यान रखते है ।

उच्च अधिकारियों को यह अधिकार है कि वह अपने तुरन्त के अधीनस्थ कर्मचारी के कार्यो का अधीक्षण करे । वह अपने इन अधिकारों का प्रयोग सदैव स्वयं की करता है । उन अधिकारियों को नई नीति एवं योजना को स्वीकृति प्रदान करने तथा पुरानी नीतियों को बदलने की शक्ति होती है । वह अपनी इस शक्ति को कभी प्रदत्त नही करता। दूसरे संगठन के आर्थिक अधीक्षण की भी शक्तियां तथा व्यय को मान्यता देने का अधिकार अध्यक्ष की प्रमुख शक्तियों के अन्तर्गत आता है । प्रत्यायोजन करने वाले अधिकारी के हाथ में जब संगठन से सम्बन्धित नियम बनाने की शक्ति सौंपी जाती है तो यह आधा की जाती है शक्ति का प्रयोग वह स्वयं करेगा और प्राय: यह देखने में आता है कि वह अपनी इस शक्ति को प्रत्यायाक्ति नहीं करता । अध्यक्ष को उच्च पदाधिकारी की नियुक्ति के कुछ अधिकार प्राप्त होते है, जिनका प्रयोग भी वह स्वयं करता है ।

सत्ता का हस्तान्तरण प्राय: तभी किया जाता जब निम्न अधिकारी हस्तान्तरित सत्ता का प्रयोग करने की योग्यता तथा सामर्थ्य रखता हो । अयोग्य व्यक्तियों को सौंपी जाने वाली सत्ता का दुष्परिणाम संगठन को भोगना होता है । भारतीय प्रशासन में नवनियुक्ति पदाधिकारी

के सम्बन्ध में एस.एस. खेत के अनुसार– 'वे नए अधिकारी अनुभवहीन और अल्पायु होते है कि उन्हें पर्याप्त अनुभव एवं प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता । इस अनुभवहीनता और प्रशिक्षण हीनता से युक्त अधिकारियों की सत्ता एवं शक्ति को प्रत्यायोजित करना खतरे से खाली नहीं है ।

नये संगठन में दिन–प्रतिदिन के कार्यो से सम्बन्धित निर्णय लेने के अधिकार को उच्च अधिकारी प्राय: प्रत्यायोजित नहीं करते क्योंकि उनके मस्तिष्क में संगठन की भावी रेखा स्पष्ट रहती है । अधीनस्थ कर्मचारी समस्याओं के सन्दर्भ में तभी निर्णय लेने में सक्षम रहते है जब तत्सम्बन्धी अनेक परम्पराएं विकसित हो चुकी होती है तथा संगठन व्यवस्थित हो चुका होता है।

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती संगठनों के नियंत्रण एवं संचार के साधनों का परम्परागत प्रयोग किया जाता है इस कारण प्रदत्त विधायन का कार्य सुचारू से होने में कठिनाई होती थी । आज के युग में संचार साधनों का विकास हो गया है, अत: प्रत्यायोजन का कार्य भी सरल हो गया है।

प्रत्यायोजन केवल उसी बिन्दु तक किया जा सकता है जहां तक वह संगठन की प्रक्रिया पर कोई घातक प्रभाव न डाले। यदि विभिन्न सदस्यों के कार्यो के बीच समन्वय करना कठिन हो जाए तो स्वभावतः कुछ समय पश्चात् वह संगठन अपना अस्तित्व खो। बैठेगा।

छोटे आकार के संगठन में सत्ता की शक्ति के हस्तान्तरण की आवश्यकता बहुत कम होती है क्योंकि संगठन के अध्यक्ष का कार्य क्षेत्र छोटा रहने के कारण वह स्वयं ही कार्यो को देखने व उन पर नियंत्रण रखने में सक्षम होता है ।

प्रत्येक उच्च अधिकारी की यह विशेषता होनी चाहिए कि शक्ति को हस्तान्तरित करते समय वह अपने मस्तिष्क में यह बात रखे कि अधीनस्थ कर्मचारी के कार्य एवं कर्त्तव्य क्या होंगे । साथ ही उन परिणामों को भी ध्यान में रखना चाहिए जिनकी वह आशा करता है । हाइमन के शब्दों में– "प्रत्यायोजक का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिसमें प्रत्यायोजन किया गया है, वह यह जान ले कि उससे क्या आशा की जा रही है।" कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यकता से अधिक सत्ता, प्रत्यायोजित करना आवश्यक नहीं है एवं अधीनस्थ से केवल उसी के कार्य के बारे में उत्तरदायी होने की आशा की जा सकती है जिसके लिये उसे सत्ता सौंपी गयी है ।

## 8. निष्कर्ष

समस्याओं के समाधान में लोक प्रशासन एवं नौकरशाही की महत्वपूर्ण भूमिका है आज लोक प्रशासन हमारी राष्ट्रीय विकास योजनाओं का आधार स्तम्भ है जो सामुदायिक जीवन के' लगभग शून्य में कार्य नहीं करता। जहां एक ओर वह राष्ट्रीय जीवनधारा का दिशा निर्देश करता है वही दूसरी ओर वह हमारे सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दशाओं से प्रभावित होता है । यह विशेष रूप से उन विकासशील देशों के लिये जिन्होंने योजनाबद्ध राष्ट्रीय विकास के द्वारा राष्ट्रीय साधनों के पूर्णतम उपयोग का बीड़ा उठाया है । विनियोजन का अर्थ है, प्रशासन, जनता एवं राष्ट्रीय साधनों का आपस में एक सम्मिलन एवं मिलाजुला प्रयास । अत: वे विनियोजित अर्थव्यवस्था में लोक प्रशासन एवं उसके अभिकरणों पर जनता के कल्याण और सुख–सुविधा की

बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है । कोई भी सरकार जिसने योजनाबद्ध विकास का संकल्प किया है, समाज में व्याप्त व्यापक क्षेत्रीय एवं सामाजिक असमानताओं के प्रति मौन–दर्शक बन कर नहीं रह सकती ।

प्रश्न यह पैदा होता है कि नौकरशाही आगामी दशक की नई चुनौतियों का सामना किस तरह करेगी। भारत की वर्तमान समस्याऐं कोई नई नहीं है । वस्तुत: विश्व के अधिकांश विकसित राज्यों ने भी कभी न कभी इन चुनौतियों का सामना किया है । अत: हमें उनके अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए किन्तु यह भी सत्य है कि विकासशील देशों की समस्याएं ब्रिटेन या अन्य पाश्चात्य देशों की दो सौ वर्ष पहले की औद्योगिक क्रांति जनित समस्याओं से या उन्नीसवीं शताब्दी में जापानी औद्योगिकीकरण की समस्याओं से कई माने में भिन्न है । आज विकासशील देश राष्ट्रीय विकास के लिये उतने समय का इन्तजार नहीं कर सकते जितना पिछले समय में सम्भव' था। आज दूत विकास समय की सबसे महत्वपूर्ण मांग है एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान रिकार्ड समय में किया जाना चाहिए । इन समस्याओं के समाधान के लिये हम कोई तरीका दूसरे देश से आयात नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक देश की समस्याएं एवं उनके मूल में विभिन्न कारण होते है जो तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होते है । अत: यह महत्वपूर्ण है कि हमें अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं, परम्पराओं आदि के परिप्रेक्ष्य में हमारी प्राथमिकताओं का निर्धारण करते समय राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना करना है ।

पिछले चार दशकों के अनुभव से यह सामान्यीकरण किया जा सकता है कि नौकरशाही राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना करने में उतनी सफल नहीं हो पायी है । हम भविष्य में नौकरशाही को अधिक से अधिक जनाभिन्मुख एवं उत्तरदायी बनाने हेतु तीन आधारों पर आगामी चुनौतियों के सन्दर्भ में नौकरशाही की भूमिका का विवेचन कर सकते है । ये आधार है– प्रशासन का दर्शन, प्रशासन की कार्यविधि एवं कार्मिक व्यवस्था का चरित्र। लोक प्रशासन के सिद्धान्त अथवा दर्शन प्रशासन के स्वरूप व सीमाओं को निर्धारित करते है एवं यह निर्विवाद है कि आगामी चुनौतियों का सामना करने के लिये उनमें परिवर्तन आवश्यक है । आज हमें लोकसेवा के एक ऐसे दर्शन का विकसा करना है जो समाज में व्याप्त आशाओं और आकांक्षाओं पर आधारित है । कार्यविधि अच्छे प्रशासन की अन्तिम परीक्षा है चाहे कितने भी ऊँचे सामाजिक, आर्थिक उद्देश्य क्यों न हो, एक अच्छी प्रशासनिक व्यवस्था के अभाव में वे निरर्थक है । – जनता नौकरशाही की क्षमता का अनुमान उनके द्वारा किये गये कार्यो से लगाती है । नारी में उनकी आस्था समाप्त हो गई है । अन्त में मनुष्य और साधन समुचित योग्यता के व्यक्ति तदनुरूप मानसिकता नौकरशाही प्रशासन के मुख्य तत्व है । यदि नौकरशाही में एक नई चेतना प्रवाहित करनी है तो उसके लिए गए कानून या फाइलों की आवश्यकता नहीं है । उसके लिये एक जनाभिन्मुख प्रशासनिक दर्शन व राष्ट्रीय विकास के लिये समर्पित कार्मिक व्यवस्था की आवश्यकता है ।

## 9. अभ्यास कार्य

1) लोक सेवा का अर्थ बताते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2) नीति निर्माण में नौकरशाही की भूमिका का विवेचन कीजिए।

3) आधुनिक प्रशासन में नौकरशाही के महत्व को समझाइए ।

4) शक्ति की राजनीति के निर्धारक के रूप में नौकरशाही का महत्व स्पष्ट कीजिए।

## 10. सन्दर्भ ग्रन्थ


1) डॉ.एम.पी. शर्म : लोक प्रशासन – सिद्धान्त एवं व्यवहार

2) अवस्थी एवं माहेश्वरी : लोक प्रशासन

3) निशा वशिष्ठ : भारत में नौकरशाही की कार्य प्रणाली

4) बी.एल. फडिया : लोक प्रशासन

# इकाई – 16

# भूमि सुधारों की राजनीति एवं कृषक आन्दोलन

**इकाई की संरचना**

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. भूमि सुधार से तात्पर्य
4. भूमि सुधार : एतिहासिक परिप्रेक्ष्य
5. भूमि सुधार की दिशा में उठाये गये कदम
6. भूमि सुधार : क्रियान्वयन में बाधाएँ
7. प्रमुख कृषक आंदोलन
8. इकाई सारांश
9. अभ्यास कार्य
10. संदर्भ ग्रंथ

## 1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत में भूमि सुधारों की संक्षिप्त विवेचना करना है । इसमें भूमि सुधारों का अर्थ, भूमि सुधारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भूमि सुधार की दिशा में उठाये गए कदमों के साथ–साथ महत्वपूर्ण कृषक आंदोलनों की चर्चा की गई है । इस इकाई में आप जान पायेंगे–

i) भूमि सुधार की उपयोगिता एवं महत्व क्या है?

ii) भूमि सुधार की दिशा में उठाये गए कदम एवं उनकी सफलता–असफलता कैसी रही

iii) विभिन्न कृषक आंदोलन एवं उनका भूमि सुधार की प्रक्रिया पर प्रभाव कैसे पड़ा है?

## 2. प्रस्तावना

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में उद्योग, व्यापार,' तकनीक एवं विज्ञान हर क्षेत्र में उन्नति हुई है किन्तु हमारी अर्थव्यवस्था आज भी कृषि आधारित अर्थव्यवस्था है । देश की दो तिहाई आबादी गांवों में रहती है जो आज भी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर है । अत : कृषि एवं उससे सम्बद्ध पहलुओं की उपेक्षा करके भारत में विकास तथा परिवर्तन की कल्पना नहीं की जा सकती है।

कृषि से ही जुड़ा हुआ आवश्यक एवं महत्वपूर्ण पहलु है– भूमि सुधार । भूमि सुधार हमारे ग्रामीण गरबों की दशा सुधारने के लिए सबसे महत्वपूर्ण है । भूमि सुधारों के बिना ग्रामों से गरीबी दूर करना एवं आर्थिक विषमता को कम करना कठिन है । गांव के दीन–हीन लोगों को विकास का और कोई कार्यक्रम उतना लाभ नहीं दिला सकता जितना भूमि सुधार । आज भारत के कृषकों की स्थिति किसी से छुपी नहीं है । वे अन्न उपजाते है किन्तु स्वयं दाने–दाने

के लिए मोहताज है । वे बड़े–बड़े खेतों को फसलों से लहलहा देते है, किन्तु इन खेतों के एक छोटे से टुकड़े को अपना कहने के लिए तरसते है । धरती पुत्र होते हुए भी अकसर उनका अपनी धरती पर अधिकार नहीं होता है ।

कृषकों की इस दुर्दशा को दूर करने के लिए स्वतंत्रता के पश्चात् एवं पूर्व भूमि सुधार की दिशा में अनेक कदम उठाये गये है । इन सबके पीछे एक लम्बी कहानी है जिसे जाने बिना हम भूमि सुधारों की महत्ता को नहीं समझ सकते।

## 3. भूमि सुधार से तात्पर्य

भूमि सुधार का सामान्य अर्थ–भूमि का पुन: वितरण माना जाता है, किन्तु व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाये तो भूमि सुधारों सें आशय–भूमि के स्वामित्व, काश्त तथा प्रबंध से संबंधित नीतियों में किए गये सभी प्रकार के परिवर्तनों से है ।

**प्रो. गुन्नार मिर्डेल** के अनुसार, 'भूमि सुधार का अर्थ कृषक एवं भूमि के संबंधों के सुनियोजित एवं संस्थागत पुर्नगठन से है । इससे भूमि का वितरण खेतिहरों के पक्ष में होता है। जोत का आकार आर्थिक या उचित बन जाता है । भूमि सुधार सें सामाजिक न्याय की प्रक्रिया गतिमान होती है एवं कृषकों को उनके श्रम का पूरा प्रतिफल मिलता है ।

भूमि सुधार वास्तव में ऐसी योजनाओं को क्रियान्वित करना है जो कृषि ढांचे में खामियों के कारण होने वाली सामाजिक आर्थिक विकास रूकावटों को दूर करें, खेती के तरीकों में बदलाव लाए, भूमिहीन किसानों को उनकी जमीन का वास्तविक मालिकाना हक दिलवाएं एवं सुगमतापूर्वक ऋण कि उपलब्धता सुनिश्चित कर सकें, भूमि सुधारों की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है कि, वैज्ञानिक कृषि एवं सहकारिता को हम कितना भी अपना ले, इसमें पूर्ण सफलता तब तक प्राप्त नहीं होगी जब तक हम भूमि व्यवस्था में वांछित सुधार नहीं कर लेते ।

इस प्रकार भूमि सुधार देश के आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक न्याय–की प्राप्ति का महत्वपूर्ण उपाय है । किसी भी ग्रामीण विकास कार्यक्रम के तब तक लाभदायक एवं प्रेरणाप्रद परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते, जब तक भ्रम व्यवस्था की प्रणाली किसानोन्मुख न हो।

## 4. भूमि सुधार : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

प्राचीन भारतीय ग्रामीण संगठन का रूप परम्परागत जीवन जीने वाले ग्राम समुदाय का था। जिसमें समुदाय के विभिन्न वर्गो के सामाजिक एवं आर्थिक आपसी संबंध, अधिकार एवं कर्त्तव्य परम्परा से निधारित होते थे और स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के माध्यम से लागू किये जाते थे। राज्य को मालगुजारी की अदायगी समूर्ण ग्राम समुदाय द्वारा सम्मिलित रूप में की जाती थी। सामान्यत: बाहर के (ग्राम से) किसी व्यक्ति को गांव की भूमि पर स्वामित्व प्राप्त करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। ग्राम समुदाय की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति गांव से बाहर के किसी व्यक्ति को भूमि न तो बेच सकता था और न ही किसी को हस्तांतरित कर सकता था। यह सम्पूर्ण संगठन खेती एवं खेती करने वाली जनता की आवश्यकताओं को पूरा

करने के लिए जमीन की जोत पर केन्द्रित, ग्राम. के समुदायिक जीवन की आवश्यकताओं मे दृष्टि में रखकर बनाया गया था।

मुगलकाल के दौरान भी कमोबेश कृषि संगठन एवं भूमि व्यवस्था का वही सुव्यवस्थित रूप चलता रहा। उस समय भी भूमि पूरे गांव की मिल्कियत या सामुदायिक स्वामित्व की होती थी । उस पर खेती करने वाले को जब तक बेदखल नहीं किया जा सकता था जब तक वे लगान देते रहते थे । इस प्रकार किसानों को भूमि के इस्तेमाल का अधिकार था यद्यपि वे उसे खरीद–बेच नहीं सकते थे । जमींदार, जागीरदार, ताल्लुकेदार आदि सरकारी मुलाजिम थे जिनका कार्य लगान वसूल कर सरकारी खजाने में पहुंचाना था।

अँग्रेजी शासन काल में यह परम्परागत व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो गयी । अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद भारत की भूमि व्यवस्था एवं कृषि ढांचे को पुनर्गठित करने की कोशिश की गई । अंग्रेजी'शासकों को तत्कालीन भूमि व्यवस्था की बहुत कम जानकारी थी। साथ ही उन्हें लगान की वसूल की गई मात्रा से अधिक मतलब था। उनका इस बात से कोई संबंध नहीं था कि किसानों में भूमि वितरण एवं कृषि उपजों का वितरण किस प्रकार से होता है । अंग्रेजी शासन ने बंगाल, बिहार व उड़ीसा के दीवानी अधिकार मिलने से लेकर 1789 तक नई व्यवस्था के स्वरूप निर्धारित करने के लिए नये–नये तरीके प्रयुक्त किए लेकिन असफलता ही हाथ लगी।

1789 में लार्ड कार्नवालिस ने एक नई भूमि व्यवस्था लागू की जिसे बाद में स्थायी बंदोबस्त के नाम से जाना जाने लगा। इस व्यवस्था के तहत किसानों का अत्यन्त शोषण एवं उत्पीड़न हुआ। किसानों को उनके द्वारा जोती जाने ताली जमीन का पक्का स्वामित्व नहीं दिया गया। फलस्वरूप जमीन के असली जोतने वाले एवं सरकार के मध्य अनेक मध्यवर्ती श्रेणियां आ गई।

अंग्रेजों के समय में भूमि स्वामित्व की व्यवस्था तीन प्रकार की थी– जमींदारी व्यवस्था,महलवाड़ी व्यवस्था एवं रैयतवाड़ी व्यवस्था। तीनों में मूल अंतर भू–राजस्व के भुगतान के तरीकों का था। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत की कृषि योग्य भूमि का 40 प्रतिशत हिस्सा जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत था। इस में रैयतवाड़ी प्रथा प्रचलित थी। इसके अंतर्गत काश्तकार को सरकार से जमीन मिलती थी और वह सीधे सरकार को लगान देता था। जब तक वह लगान देता रहता था उसे बेदखल नहीं किया जाता था। इसमें खेती काश्तकार करता था एवं स्वामित्व सरकार के पास था । देश के कुछ भागों में महलवाड़ी प्रथा भी प्रचलित थी। महलवाड़ी प्रथा में जमीन पर स्वामित्व समूर्ण ग्राम का होता था। ग्राम के समस्त व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से सरकार को लगान चुकाने के लिए जिम्मेदार थे ।

इस तरह किसानों की स्थिति दयनीय थी और वह बटाईदार जैसी हैसियत से खेती करता एवं अत्यधिक लगान की मार को सहता था। इसी काल में ब्रिटिश कारखानों से माल भारत में आने से भारतीय परम्परागत उद्योगों का तेजी से पतन हुआ एवं लोग बेरोजगार हो गये तथा गांवों की ओर जाने लगे फलस्वरूप कृषि क्षेत्र पर जनसंख्या का दबाव बढ़ने लगा एवं खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई ।

इस प्रकार अंग्रेजी शासनकाल में गलत नीतियों की वजह से भूमि के असमान वितरण को काफी बढ़ावा मिला । इसके परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक आर्थिक विकृतियां पैदा हुइ। जिनमें बिचौलियों द्वारा छोटे किसानों, काश्तकारों एवं खेतिहर मजदूरों का शोषण सबसे बड़ी समस्या बन गयी । यह शोषण इस हद तक बढ़ा कि इसने कई कृषक आंदोलनों को जन्म दिया।

## 5. भूमि सुधार की दिशा में उठाये गये कदम

स्वाधीनता संघर्ष के अंतिम चरण में स्वाधीन भारत की अर्थव्यवस्था की रूपरेखा में कृषि क्षेत्र मे परोपजीवी बिचौलियों के चंगुल से मुक्त कराने का संकल्प शामिल था। इसलिए आजादी के तुरन्त बाद भूमि सुधार एवं कृषि पुर्नगठन की ओर ध्यान दिया गया एवं इस दिशा में कुछ कदम उठाए गये। इसके तहत विभिन प्रकार के कार्यक्रमों को लागू किया गया। इन कार्यक्रमों को चलाने एवं कानून बनाने का दायित्व राज्य सरकार का होता है लेकिन इसकी प्रगति सभी राज्यों में एक समान नहीं रही है । स्वतंत्रता के पश्चात् से लेकर आज तक भूमि सुधार की दिशा में किए गए कुछ उल्लेखनीय प्रयास इस प्रकार है–

**अ. मध्यस्थों की समाप्ति**

आजादी के पूर्व प्रचलित भू–व्यवस्था में सरकार एवं काश्तकार के बीच मध्यस्थ भूमि को काश्तकारों को खेती करने हेतु दे देते थे एवं इसके बदले लगान वसूल करते थे । विभिन्न स्थानों पर मध्यस्थ भिन्न–भिन्न नामों से जाने जाते थे जैसे– जमींदार, जागीरदार, ब्रिस्वेदार, ईनामदार आदि। भूमि पर अस्थायी स्वामित्व एवं मनमाना लगान वसूल करना आदि कृषि विकास में बाधक थे ।

1949 में श्री जे. सी. कुमारप्पा की अध्यक्षता में एक भूमि सुधार समिति गठित की गई जिसने सिफारिश की कि सभी तरह के बिचौलियों की समाप्ति हो तथा काश्तकारों को मालिकाना हक दिए जाये। एक अनुमान के अनुसार स्वतंत्रता के पूर्व लगभग कुल भूमि का 57 प्रतिशत क्षेत्र जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत आता था। 1951 में कुछ विषयी प्रावधानों द्वारा जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के प्रयास किए गया। इसी प्रयास के तहत सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में जमींदारी प्रथा समाप्त की गई तथा 1953–54 तक सभी प्रदेशों द्वारा भी अपने यहां कानून बनाकर मध्यस्थों की प्रथा, लगभग समाप्त कर दी । विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये गए कानूनों में निम्न प्रावधान किए गये थे–

- इसमें जमींदारों एवं जागीरदारों के पुराने अधिकार समाप्त कर दिए गये और जमीन के आगे अधिग्रहण पर प्रतिबंध लगा दिया गया।
- मध्यस्थों को मुआवजा अदा करके समाप्त किया गया।
- किसानों के विशाल जन समूह से गैर कानूनी रूप से नगद पैसा, उपज एवं सेवाऐं जबरदस्ती लेने को कानूनी तौर पर बंद कर दिया गया।
- भूमि के अभिलेख तैयार किए गए तथा इन क्षेत्रों में सर्वेक्षण तथा बंदोबस्त किए गए।
- जोतों का व्यक्ति को इकाई मानकर सीमांकन किया गया।

इन व्यवस्थाओं के द्वारा भूमि सुधार की दिशा में एक क्रांतिकारी युग का सूत्रपात हुआ। फिर भी इसमें बहुत खामियां थी। विभिन्न राज्यों द्वारा अलग–अलग कानून बनाये गए । इनमें खुदकाश्त की जो परिभाषा दी गई वह दोषपूर्ण थी । अधिकतर राज्यों में उन लोगों को भी खुदकाश्त मान लिया गया जिनकी देखरेख में जमीन थी चाहे वे उस गांव में रहते हो या नहीं । इन कानूनों में यह व्यवस्था नहीं थी कि जमीन की मिल्कियत केवल उन्हीं किसानों के पास रहेगी जो स्वयं खेती करेंगे। इस अपर्याप्त नीति का परिणाम यह हुआ कि कृषि क्षेत्र में सामंती, अर्द्ध सामंती भू–स्वामी पैदा हो गये जो स्वयं खेती न करके बटाई या मजदूरी पर खेती कराते थे । बहुत सी जमीन गैर कृषकों के हाथ में चली गई । मध्यस्थों को भी खुदकाश्त के लिए बहुत सारी जमीन अपने पास रखने की अनुमति दी गई । इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों द्वारा इन कानूनों को समय पर लागू नहीं किया गया।

**ब. काश्तकारी सुधार**

मध्यस्थता प्रथा क उन्मूलन के बाद भी काश्तकारों का कृषि श्रमिक के रूप में प्रयोग किया जाता रहा। बड़ी मात्रा में खेती उन किसानों द्वारा की जाती थी जिन्हें कभी भी भू–स्वामी द्वारा हटाया जा सकता था। इन काश्तकारों का भूमि पर कोई अधिकार नहीं थी और उन्हें लगान अधिक मात्रा में देना पड़ता था। इस व्यवस्था के शोषण से बचाने के लिए काश्तकारों को भू–स्वामित्व का अधिकार देने, बेदखली से संरक्षण प्रदान करने तथा उत्पादन आदि का समुचित हिस्सा दिलाने आदि के लिए काश्तकारी सुधार कानून बनाये गये । काश्तकारी सुधार के अंतर्गत मुख्यत : तीन तत्वों पर ध्यान दिया गया ।

1. उचित लगान का निर्धारण।
2. भू–धारण की निश्चितता।
3. भूमि–स्वामित्व का अधिकार ।

विभिन्न राज्यों, ने उपरोक्त सुविधाओं हेतु अधिनियम पारित किए जिससे किसानों को कृषि विकास संबंधी निर्णयों के लिए अधिक अधिकार तथा स्वतंत्रता मिली । लगानों का उचित निर्धारण किया गया । साथ ही ऐसे भी प्रावधान किए गये कि बड़े स्तर पर किसानों को बेदखल न किया जा सके और भू–स्वामी द्वारा भूमि वापस लेने समय काश्तकार के पास न्यूनतम भूमि अवश्य रहने दी जाये और भू–स्वामी को स्वयं काश्त करने के लिए ही भूमि वापस लेने का अधिकार हो ।

काश्तकारी सुधार कानूनों से कृषकों को बार–बार लगान वृद्धि, बेदखली और बेगारी जैसे शोषण से काफी सीमा तक छुटकारा मिल गया। लेकिन अनेक राज्यों द्वारा पर्याप्त प्रावधान नहीं किए जाने से काश्तकारी सुधार कानूनों के उद्देश्य पूरी तरह प्राप्त नहीं किए जा सके । जैसे उत्तर प्रदेश एवं पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में बटाई के आधार पर खेती करने वालों को काश्तकारों का दर्जा नहीं दिया गया यद्यपि ये काफी बड़ी भूमि पर खेती करते थे । बड़े एवं समृद्धशाली किसानों द्वारा बटाई पर दी जाने वाली भूमि के लिखित अनुबंध का भी प्रावधान नहीं किया गया। इन कानूनों के बाद कई काश्तकारों ने भूमि खरीदने के अधिकार या तो स्वेच्छा से या दबाव में समर्पित कर दिए । इस समस्या के समाधान के लिए सुझाव दिया गया

कि स्वैच्छिक समर्पण केवल राज्य के ही पक्ष में करने की अनुमति दी जाना चाहिए किन्तु बहुत कम राज्यों ने इसे स्वीकार किया।

**स. भू–जोतों का सीमा निर्धारण**

भू जोतों की अधिकतम सीमा से तात्पर्य उन कानूनी प्रावधानों से है जिसके अनुसार एक व्यक्ति भूमि की अधिकतम कितनी मात्रा रख सकता है । प्रो. गाडगिल के अनुसार, 'सभी साधनों में भूमि की पूर्ति सबसे सीमित है किन्तु उसकी मांग करने वालों की संख्या सबसे अधिक है। अत. विशेष दशाओं को छोडकर किसी व्यक्ति को बड़े भूमि क्षेत्र पर अधिकार बनाये रखने की अनुमति देना अन्यायपूर्ण है । ' इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में जोत की अधिकतम सीमा का निर्धारण करना महत्वपूर्ण है । भू जोतों की सीमाबंदी दो तरह से की जा सकती है– 1 भविष्य में भूमि प्राप्ति की अधिकतम सीमा तथा 2 वर्तमान भू जोतों की अधिकतम सीमा। इनका मूल उद्देश्य उन लोगों से जिनके पास अधिक जमीन है लेकर उन लोगों को उपलब्ध कराना है जिनके पास जमीन नहीं है पर कृषि ही मुख्य आजीविका है । 1950–60 के दशक में राज्यों द्वारा इस तरह के कानून बनाये गये जिससे निर्धारित सीमा से अधिक भूमि रखने वालों की जमीन अतिरिक्त घोषित की जा सके । तत्पश्चात् सरकार ने ऐसी भूमि अपने कब्जे में लेकर उसे भूमिहीन किसानों में वितरित करना प्रारंभ कर दिया। लेकिन यह कार्य इतना आसान नही था इसमें कई समस्याएं सामने आई । पहली समस्या यह भी थी कि भूमि की अधिकतम सीमा की मूल इकाई व्यक्ति को माना जाय या परिवार को । सर्वप्रथम बनाये गए कानूनों में व्यक्ति को इकाई माना गया जिसके फलस्वरूप अधिकांश परिवार अधिक भूमि अपने पास रखने में सफल हो गए । उदाहरणार्थ आंध्रप्रदेश में प्रति व्यक्ति सीमा के आधार पर पाँच व्यक्तियों का एक परिवार 1620 एकड़ भूमि अपने पास रख सकता था, फलस्वरूप परिवारों के बहुत भूमि अतिरिक्त होने से मूल उद्देश्यों को प्राप्त नहीं किया जा सका। भू जोतों की अधिकतम सीमाबंदी में दूसरी समस्या यह थी कि विभिन्न राज्यों में न्यूनतम सीमा एवं अधिकतम सीमा में बहुत अंतर था। उदाहरणार्थ हरियाणा एवं पंजाब में ये सीमाएं 20 एकड़ से 804 एकड़ के बीच थी वही राजस्थान जैसे राज्य में 22 एण्ड से 366 एकड़, के बीच थी।

इन विभिन्न प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए जुलाई, '1972 में विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों की बैठक हुई जिसमें निम्न राष्ट्रीय दिशा निर्देश अनुमोदित किए गये थे–

- सिंचित जमीन की सीमा 18 एकड़ तथा असिंचित की 54 एकड़ तक कम की गई।
- भू जोतों के निर्धारण में व्यक्ति के बजाय परिवार की इकाई का निर्धारण किया गया– एक परिवार को पाँच सदस्यों की इकाई माना जाये।
- सीमाबंदी की सीमा से अधिक भूमि को अतिरिक्त घोषित किया जाये।
- भू संबंधी विवादों को निपटाने के लिए भू कानूनों में एक रूपता लाकर संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल करना।

भूमि सीमाबंदी कानून की असफलता के कुछ अन्य पहलु भी विचारणीय हैं– प्रथम तो यह कि समस्त अतिरिक्त भूमि भू–स्वामियों ने घोषित ही नही की है दूसरे कुल अतिरिक्त भूमि का 29 प्रतिशत अब भी राज्य सरकारों के अधिकार में नही आ पाया है । तीसरे प्राप्त कुल अतिरिक्त का 19 प्रतिशत अब भी भूमिहीनों में वितरित नही हो पाया है । चौथे कुल अतिरिक्त घोषित भूमि का केवल 16 प्रतिशत सिंचित है जबकि 83 प्रतिशत असिंचित है और 3 प्रतिशत ऐसा है जो खेती योग्य ही नही है । औसतन प्रति व्यक्ति 1.46 एकड़ भूमि अब तक वितरित की गई है । उत्पादन एवं उत्पादकता की दृष्टि से यह औसत बहुत संतोषजनक नही है ।

भूमि सीमाबंदी कानून की सफलता के पहलु भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । अतिरिक्त घोषित जमीन भारत की कुल खेती योग्य भूमि का चार प्रतिशत है, जो भूमि सीमाबंदी कानून– की सफलता का एक अच्छा मापदण्ड है । कुछ राज्यों जैसे पश्चिम– बंगाल, असम, जम्मू एवं काश्मीर तथा हिमाचल प्रदेश में तो यह 7 से 9 प्रतिशत तक है । इसी प्रकार अखिल भारतीय स्तर पर कुल अतिरिक्त घोषित भूमि का 73.25 प्रतिशत सरकार के अधिकार में आ गया है तथा सरकार के अधिकार में आई जमीन का 78 प्रतिशत गरीब खेतीहर मजदूरों में वितरित हो गया है । एक अन्य सराहनीय तथ्य यह है कि जिन लोगों को अतिरिक्त जमीन मिली है उनमें अखिल स्तर पर 50 प्रतिशत से अधिक अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के है ।

**द. चकबंदी**

उपविभाजन एवं उपखण्डन के कारण हमारे देश में कृषि जोतों का आकार प्राय : छोटा रहता है । कृषि जोतों का आकार अधिक छोटा होने पर कृषि उत्पादकता कम रहती है । साथ ही दूर–दूर व छोटे–छोटे खण्डों में बँटने का मुख्य कारण भारतीय परम्परागत समाज में जमीन को उत्तराधिकारियों के मध्य बाँटने की परम्परागत प्रथा तथा उपजाऊ एवं गैर उपजाऊ दोनों प्रकार की जमीनों में अनुपातिक हिस्सा करने की प्रवृत्ति रही है इस कारण पीढ़ी दर पीढ़ी कृषि जोतें छोटी ही नहीं होती जाती बल्कि बहुत छोटे–छोटे खण्डों में बिखर जाती है । बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से इस प्रक्रिया में और तेजी आई है ।

इस समस्या को दूर करने एवं बिखरे हुए खेतों को मिलाने के उद्देश्य से सरकार द्वारा चकबंदी व्यवस्था अपनायी गई । यह भी प्रमाणित तथ्य है कि जब भी चकबंदी का कार्य हाथ में लिया गया हैं उत्पादन में चहुंमुखी सुधार हुआ है तथा आवास, भू–खण्डों, सड़कों, नालियों, पंचायत भवनों, स्कूलों एवं मनोरंजन केन्द्रों की व्यवस्था करने से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विविधिकरण हो सका है एवं गांवों का नियोजित विकास हो सका है । चकबंदी छोटे भू–धारकों को सम्मिलित सेवाएं प्रदान करने में, सिंचाई की वैज्ञानिक योजना बनाने में, सामुदायिक सिंचाई कुओं आदि को बनाने में और इस प्रकार जमीन की उत्पादकता एवं लोगों की आप बढ़ाने में सहायक है ।

देश के 15 राज्यों ने अपने यहां चकबंदी के लिए कानूनी प्रावधान कर दिए है । छठी पंचवर्षीय योजना के अंत तक जितने क्षेत्र की चकबंदी की गई थी वह कुल क्षेत्र 5 करोड़ 18 लाख हैक्टेयर था। यह कुल कृषि क्षेत्र का लगभग 33 प्रतिशत है । पंजाब एवं हरियाणा प्रदेशों

में चकबंदी का कार्य लगभग पूर्ण हो चुका था। उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू एवं काश्मीर में यह कार्य पूर्णता की ओर था। मध्यप्रदेश एवं उड़ीसा में चकबंदी का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक लगभग 6 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर चकबंदी हो चुकी थी ।

**इ. भू–अभिलेखों का संकलन एवं अद्यतन रखने की व्यवस्था**

जमीन पर अधिकारों के अभिलेख में उपलब्ध सूचना एक जैसी नहीं होती है । प्रत्येक राज्य से यह आशा की जाती है कि अधिकारों के अभिलेख में प्रत्येक भू–खण्ड अथवा सर्वेक्षण संख्या के संबंध में इसके क्षेत्रफल, स्वामी का नाम, जमीन का दर्जा एवं उस पर देय भू–राजस्व संबंधी सूचना होगी। किन्तु देश के अधिकांश भागों में भू अभिलेखों का संकलन, अद्यतन एवं नियमित नहीं है । अधिकांश राज्यों में भूमि का रिकार्ड रखने का तरीका घिसा–पिटा है । पटवारियों एवं राजस्व अधिकारियों के पास किसानों की सही भूमि का रिकार्ड नहीं होता है अथवा होता हैं तो यह आसानी सें उपलब्ध नहीं होता है । यह रिकार्ड पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है । इसमें हेरा–फेरी की संभावना रहती है । राजस्व कर्मचारी रिश्वत लेकर भूमि के रिकार्ड में हेरा–फेरी करते रहे है । इन सभी समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए केन्द्रीय सरकार द्वारा वर्ष 1988–89 से भूमि संबंधी रिकार्ड रखने, उसे नवीनतम करने में आधुनिक टैक्नोलॉजी एवं यंत्रों का प्रयोग करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है । अभी तक देश के लगभग 120 जिलों में कम्प्यूटर रिकार्ड पद्धति पर भू अभिलेखों का संकलन एवं उन्हें अद्यतन रखने का कार्य प्रारम्भ हो गया है ।

यह कार्य बहुत ही बड़ा एवं व्यापक है । इसे देश के समस्त जिलों में शुरू करने एवं पूर्ण करने में काफी समय एवं पैसा लगेगा । अत: केन्द्रीय सरकार क सहयोग द्वारा ही इसे पूर्ण किया जा रहा है। भू अभिलेखों के कम्प्यूटरीकरण से भू अभिलेखों को व्यवस्थित एवं नियमित रखा जा सकेगा। साथ ही भू राजस्व अधिकारियों द्वारा भू अभिलेखों में हेर–फेर एवं घपलेबाजी की संभावना काफी कम हो जायेगी। इस योजना का उद्देश्य यह है कि भूमि धारक भूमि संबंधी अपने अभिलेखों में आसानी से नई प्रविष्टि करा सके और अपने भूमि संबंधी दस्तावेजों की प्रतियां आसानी से प्राप्त कर सकें ।

## 6. भूमि सुधार : कमियाँ एवं क्रियान्वयन में बाधाएं

भारतीय समाज में, भूमि सुधार जैसे उपायों को स्वीकार्य एवं व्यवहारिक बनाना कोई सहज एव: सरल कार्य नहीं है।, क्योंकि जहां पूरा सामाजिक ढांचा ही शोषण और जातियों व वर्गो के रूप में जड़ीभूत श्रम विभाजन पर आधारित है। उदाहरण के लिए भूमि क स्वामित्व अधिकांशत: ऊँची जातियों के हाथ में रहा है। जबकि भूमिहीन खेतिहर लोगों में बहुसंख्या अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्ग के लोगों की है । इस प्रकार भूमि का वितरण या स्वामित्व का हस्तांतरण केवल आर्थिक परिवर्तन ही नहीं, सामाजिक परिवर्तन का भी साधन है । तभी तो भूमि के वर्तमान स्वामी अनेक कानूनों के बावजूद सुधारों को विफल करने पर आमादा है और इसके लिए वे सत्ता के विभिन्न अंगों का सहयोग लेने में सफल रहे है । दूसरे शब्दों में सामाजिक मानसिकता इन सुधारों के पक्ष में नहीं है । इसके अतिरिक्त कानूनों में

छोड़ी गई खामियां भी इन सुधारों के किर्यान्वयन में बाधा रही है । अत : भूमि सुधारों से विकास एवं सामाजिक न्याय के मोर्चे पर जिन अच्छे परिणामों की आशा की गई थी, वे पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किए जा सके है । भूमि सुधारों की धीमी एवं असंतोषजनक प्रगति में जिन दोषों एवं कमियों की मुख्य भूमिका है वे अग्रानुसार है–

1. विभिन्न राज्यों में खुदकाश्त (स्वयं खेती करना) की जो परिभाषा दी गई थी, वह दोषपूर्ण थी एवं उसकी अलग–अलग तरह से व्याख्या की गई । अधिकतर राज्यों में खुदकाश्त के अंतर्गत स्वयं के देखरेख एवं नियंत्रण में जमीन को मान लिया गया जबकि भू स्वामी गांव में रहता हो या नही। इस कारण अनेक पुराने जमींदार एवं अन्य कई शक्तिशाली लोग अपने नियंत्रण में विस्तृत क्षेत्र रखने में समर्थ हो गए इसके फलस्वरूप बड़ी संख्या में काश्तकारों से जमीन का कब्जा छिना गया तथा उन्हें बेदखल किया गया । यह प्रक्रिया इसलिए संभव हो सकी क्योंकि खुदकाश्त शब्द का अर्थ किसी भी रूप में व्यक्तिगत खेती नही था। इस अपर्याप्त नीति का परिणाम यह हुआ कि कृषि क्षेत्र में सामंती, अर्द्ध सामंती भू–स्वामी पैदा हो गए । अधिक गरीब काश्तकारों (जिन्हें बेदखल किया गया), बटाईदारों, और खेतिहर मजदूरों की स्थिति में कोई कारगर सुधार नही हुआ । साथ ही इस कानून में भूमि के किसी आमूल पुनर्वितरण की व्यवस्था नहीं थी । भू स्वामियों के और जिनके पास काश्तकारी अधिकार थे, उनके बीच पुराने संबंध उसी प्रकार चलते रहे । तथापि दिखाया यह गया कि यहां स्वयं खेती की जा रही है ।
2. भूमि सुधारों के अधिकांश अधिनियम राज्यों द्वारा तुरन्त लागू न करके अलग–अलग समय के अंतराल से लागू किये । इस दौरान समृद्धशाली मध्यस्थ भूमि को अपने परिवारजनों के नाम हस्तांतरित करके कानूनों की सीमा से बच निकले ।
3. कुछ राज्यों में बटाई के आधार पर खेती करने वालों को काश्तकार का दर्जा नहीं दिया गया, यद्यपि ये लोग काफी बड़ी भूमि पर खेती करते थे, बड़े एवं समृद्धशाली काश्तकारों द्वारा बटाई पर भूमि देने का कोई लिखित अनुबंध नहीं किया जाता, अत: इस प्रकार के काश्तकारों के अधिकारों की सुरक्षा का भी कोई प्रावधान नहीं किया गया था।
4. जोत की सीमाबंदी के अंतर्गत इस बात की कोई व्यवस्था नहीं की गई कि इससे प्राप्त अतिरिक्त भूमि केवल स्वयं खेती करने वाले किसानों को ही मिलेगी । जोत के आकार में वृद्धि एवं जोत विखण्डन को दूर करने की नीति को अच्छी खेती के साथ नहीं जोड़ा गया। साथ ही इस नीति में यह व्यवस्था नहीं थी कि चकबंदी के बाद यदि जोत का आकार यदि आर्थिक न हो पाये तो आवश्यक रूप से उसे सहकारी खेती का अंग बनना पड़ेगा।
5. विभिन्न राज्यों तथा एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में भूमि की उच्चतम सीमा में काफी अधिक अंतर रहा है । सीमाबंदी कानूनों में एकरूपता –लाने के उद्देश्य से जुलाई, 1972 में राज्यों के मुख्य मंत्रियों की बैठक गई थी किन्तु तब तक काफी देर हो चुकी थी एवं विभिन्न किस्मों के हस्तांतरणों व भ्रष्ट तरीकों की वजह से बहुत कम भूमि अतिरिक्त भूमि के रूप में प्राप्त हो सकी। सीमाबंदी कानूनों से रियासतों एवं छूटी की सूची भी काफी लंबी थी ।

यदि हम भूमि सुधार के समस्त पहलुओं को एक साथ ले तो सुसम्बद्ध दृष्टिकोण का अभाव स्पष्ट दिखाई देगा। वास्तव में हमारी भूमि सुधार नीति एवं उसके क्रियान्वयन की सबसे बड़ी कमी यही रही है । भूमि सुधार संबंधी कानून बनाना, उन्हें लागू करने के लिए प्रशिक्षित कर्मचारी वर्ग तैयार करना, भूमि का पूरा रिकार्ड रखना यदि ऐसे कार्य है जिन्हें यदि भूमि सुधार के समस्त पहलुओं के लिए किया जाये तो स्पष्टत : लागत कम बैठती तथा उन्हें लागू करना अपेक्षाकृत आसान हो जाता है । लेकिन देश में भूमि सुधारों के संबंध में ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया। भूमि सुधारों को आर्थिक विकास की मुख्यधारा से पृथक रखकर लागू किया गया तथा भिन्न–भिन्न समय पर भिन्न–भिन्न अंशों पर जोर डाला गया । अत : भूमि सुधार हेतु अनुकूल वातावरण नहीं बन पाया।

6. भूमि सुधार के क्षेत्र में धीमी एवं असंतोषजनक प्रगति के लिए राजनीतिक कारकों की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । देश में भूमि सुधार के लिए अनुकूल राजनीतिक वातावरण का अभाव रहा है न तो विभिन राजनीतिक संगठन इस विषय में एक राय रखते है एवं न ही देश का प्रशासनिक ढांचा भूमि सुधारों के प्रति वचनबद्ध है । ऐसी स्थिति में सही ढंग के अधिनियमों को बनाया जाना एवं कड़ाई के साथ उनको अमल में लाना संभव नहीं हो सका है ।

## 7. प्रमुख कृषक आंदोलन

वर्तमान में भूमि व्यवस्था एवं कृषि क्षेत्र में आए परिवर्तनों के पीछे विभिन्न कृषक आंदोलनों की भी भूमिका रही है । ग्रामीण क्षेत्रों में खुशहाली एवं कृषकों की मुक्ति का श्रेय उन असंख्य गुमनाम कृषक नेताओं को जाता है जिन्होंने मुख्यत: गुजरात, बिहार, संयुक्त प्रांत, जम्मू एवं कश्मीर, मद्रास एवं बंगाल में किसानों को संगठित कर समय–समय पर आंदोलन किए ।

अधिकांशत: कृषक आंदोलन मुख्यत: दो कारणों से पनपते है प्रथम– कृषक समाज के सामंती स्वरूप में निहित अंतर्विरोधों के कारण, द्वितीय– कृषि में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रभाव के कारण होने वाले अंतर्विरोधों के कारण, पहली स्थिति में मुख्य अंतर्विरोध सामंती कृषक प्रणाली से जुड़े होते है– जैसे कृषक वर्ग का शोषण, उनके साथ भेद–भाव, अत्याचार, अत्यधिक लगान वसूली, सूदखोरी बेगार एवं कई प्रकार के आर्थिक अत्याचार, जिनकी वजह से इस प्रकार के आदोलन अस्तित्व में आए । पूँजीवादी कृषक प्रणालियों में मुख्य अंतर्विरोध ग्रामीण एवं शहरी–औद्योगिक, खेतिहरों एवं शहरी औद्योगिक पूंजीपति वर्ग तथा गांवों में ही आर्थिक कारणों से विवादग्रस्त विभिन वर्गों के मध्य होते है जिनकी वजह से भी कई कृषक आदोलन का उदय हुआ है । यहां हम कुछ प्रमुख कृषक आंदोलनों की चर्चा करेंगे–

**सामंती अंतर्विरोधी से उत्पन्न हुए आंदोलन**

1857 से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक के इन आंदोलन में ब्रिटिश आर्थिक तथा राजनीतिक नीतियाँ, बार–बार पड़ने वाले अकाल, किसानों पर बोझ स्वरूप लादी गई नई राजस्व प्रणालियों, नए प्रशासनिक तंत्र एवं सिविल कानून मुख्य तत्व रहे है । इनमें चम्पारन, खेड़ा, तैभागा, ग्रामदान एवं बर्गा आंदोलन प्रमुख है ।

**(अ) चम्पारन आदोलन (बिहार) 1917**

बिहार के चम्पारन में बहुत समय पहले से ही नील की खेती होती रही थी। 1782 के बाद यहां पर ब्रिटिश व्यापारी बागान मालिक बन गए । 1850 के आसपास विश्व बाजार में नील से होने वाला लाभ काफी बढ़ गया। पूरी स्टेट में अधिकांश बागान मालिक ब्रिटिश ही थे । विश्व बाजार में अधिकतम मुनाफा कमाने के लिए उन्होंने अधिकतम उत्पादन करने का प्रयास किया । भूमि का स्वामित्व फैक्टरी के अंतर्गत होता था एवं खेती किराये के मजदूर करते थे । फैक्टरी के कर्मचारी– उनकी देखभाल करते थे । मालिक के रूप में फैक्टरी अपनी जमीन काश्तकारों को पट्टे पर भी देती थी एवं शर्त यह रहती थी कि किसानों को अपनी जमीन के 3/20 वे हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था । यह 'तिनकाठिया' पद्धति कहलाती थी । इसके अतिरिक्त फैक्टरी स्वयं भी भूमि पट्टे पर लेती थी एवं अपनी देख–रेख में नील उगवाती थी ।

1897 में जर्मनी में बनाए गये कृत्रिम रंग बाजार में आ गये। 1899 से 1913 के मध्य इन कृत्रिम रंगों की वजह से प्राकृतिक नील का बाजार उजड़ गया। चम्पारन के यूरोपीय बागान मालिक नील की खेती बंद करने पर मजबूर हो गये। किसान भी इस मजबूरन नील की खेती से छुटकारा पाना चाहते थे । गोरे बागान मालिकों ने किसानों की मजबूरी का फायदा उठाना चाहा, इसके लिए उन्होंने दो शर्तें रखी– कि किसान शराहवेशी दे, इसका अर्थ नील के बदले बढ़े हुए लगान से था। स्पष्ट था कि बागान मालिक अपने व्यापारिक नुकसान को किसानों से वसूलना चाहते थे।

वैसे नील के तिनकाठिया काश्तकार शुरू से ही नील की खेती का विरोध कर रहे थे । क्योंकि नील की खेती बड़ी मेहनत वाली एवं तकलीफदेह होने के साथ–साथ उसकी अच्छी कीमत भी नहीं मिलती थी फैक्टरी भी जमींदारों की तरह गैरकानूनी शुल्क वसूलती थी एवं फैक्टरी का अमला (कर्मचारी) भी देखरेख के बहाने दमन करते थे एवं अवैध वसूली करते थे । इसके विरोध में काश्तकारों द्वारा 1867 में भी आंदोलन किया गया था जिसके बाद उनके भुगतान की दरें बढ़ाई गई थी । 1907–08 के बीच किसान असंतोष फिर जोर पकड़ने लगा। परिणामस्वरूप तिनकाठिया शर्तो का उल्लंघन किया जाने लगा। तावान एवं शराहबेशी लागू करने से हालात और खराब हो गये । किसान नेताओं के नेतृत्व में आदोलन होने लगे एवं उन्होंने गिरफ्तारियां दी ।

आदोलन को स्थानीय धनी तथा मध्यमवर्गीय किसानों, स्थानीय महाजनों और व्यापारियों ने भी समर्थन दिया जो महाजनी और व्यापार में बागान मालिकों के भी प्रतिस्पर्धा में शामिल हो जाने से अप्रसन्न थे । कुछ गांवों के मुखिया तथा स्कूल के अध्यापकों ने भी आदोलन को नेतृत्व दिया ।

1917 में गांधीजी के चम्पारन आदोलन में शामिल हो जाने से आदोलन और अधिक प्रभावी हो गया। पहले तो गांधीजी पर चम्पारन पहुंचने पर प्रतिबंध लगा दिया गया किन्तु गांधीजी द्वारा इस आदेश को मानने से इंकार कर दिया गया एवं वे किसी भी दण्ड को भुगतने के लिए तैयार हो गए जिसके कारण प्रतिबंध हटा लिया गया। गांधीजी ने 4000 रैयतों का

सर्वेक्षण कर खुली जांच प्रारम्म की । राजेन्द्र प्रसाद एवं जे.बी. कृपलानी जैसे नेताओं द्वारा सर्वेक्षण में सहायता की गई एवं अंग्रेज सेटलमेंट अधिकारी ने इसकी पुष्टि की ।

इस आदोलन की उग्रता, समर्थन एवं गांधीजी की इस संबंध में रिपोर्ट तथा आदोलन को मिले प्रचार के कारण तिनकाठिया प्रणाली समाप्त कर दी गई । इसके अतिरिक्त जिसने क्षतिपूर्ति अर्थात तावान दे दिया था, उनके लगान में अगले सात साल तक कोई वृद्धि नहीं की जानी थी। नील की खेती से संबंध नहीं रखने वाले ठेकेदारों द्वारा किसी भी प्रकार की वसूली गैर कानूनी मानी गई । नील के बदले बड़े हुए लगान शराहबेशी को हटाया तो नहीं गया लेकिन कम अवश्य कर दिया गया। साथ ही यह सिफारिश भी की गई कि फैक्टरी के अंतर्गत खेती करने वाले मजदूरों को बाजार दर पर मजदूरी दी जाये ।

इस प्रकार यह कृषक आदोलन धनी, मझौले एवं गरीब तीनों प्रकार के किसानों द्वारा किया गया एवं कृषि मजदूरों ने उनका साथ दिया । यह आंदोलन ब्रिटिश के उपनिवेशवादी बागान मालिकों द्वारा अपनायी गई तिनकाठिया पद्धति जो कि सामंती कृषि प्रणाली की जगह प्रयोग की गई थी एवं उससे अधिक शोषक थी, वे विरूद्ध किया गया था। अंतत : यह थोपी हुई प्रणाली समाप्त करना पड़ी ।

**(ब) खेड़ा आदोलन (गुजरात), 1918**

गुजरात के खेड़ा जिले में अनाज, तंबाकू तथा कपास की खेती बहुतायत में होती थी। यहां किसानों के वर्ग भी अपेक्षाकृत धनी ही थे। एक वर्ष यहां की फसल बुरी तरह खराब हो गई एवं यहां के किसान अत्यधिक मुसीबत में आ गए किन्तु सरकार द्वारा राजस्व की वसूली जारी रही। साल दर साल यहां कृषि के विपरित परिस्थितियां बनती गई । फलस्वरूप, राजस्व की माफी ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ विरोध का प्रमुख मुद्दा बन गई । इस आंदोलन में गांधीजी के हस्तक्षेप का भी स्थायी असर हुआ। गांधीजी ने यहां की समस्या के हल के लिए सत्याग्रह का आह्वान किया। उसी समय गुजरात में प्लेग फैल जाने से हालत और अधिक बिगड़ गए। यहां पातीदार जाति के धनी एवं मझौले किसानों ने आंदोलन की पहल की। राजस्व वसूली के कारण सबसे ज्यादा असर गरीब किसानों एवं लगान पर खेती करने वालों पर पड़ रहा था। लेकिन यह माना गया कि कृषक समुदाय को ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से मुक्त कराने का मुद्दा इतना व्यापक है कि उसमें धनी एवं मध्यम किसानों ने एक दूसरे से टकराने वाले हित भी शामिल हो जाते है । इसलिए गरीब किसानों एवं मजदूरों के सहयोग के साथ–साथ विभिन्न वर्गो की एकता आवश्यक थी। स्थानीय पातीदारों ने 1917 में राजस्व माफी का मुद्दा उठाया एवं मार्च 1918 में गांधीजी इससे जुड़े । 'सर्वेण्ट आफ इंडिया सोसायटी' के सदस्यों, वल्लभ भाई पटेल एवं गांधीजी ने पूरी जांच पड़ताल के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि किसानों की मांग जायज है एवं राजस्व संहिता ' के तहत पूरा लगान माफ किया जाना चाहिए ।

इस आदोलन का खेड़ा जिले के 559 गाँवों में से 70 गांवों पर व्यापक असर पड़ा। गांधीजी द्वारा की गई जाँच–पड़ताल, अपीलों एवं याचिकाओं का जब कोई असर नहीं पड़ा तो गांधीजी ने किसानों से कहा कि लगान मत दो एवं सरकार के दमनकारी आदेशों के खिलाफ जुझारू संघर्ष करो । सरकार लगान न देने वाले किसानों की सम्पत्ति कुर्क कर रही थी एवं उनके पशुओं को भी जब्त कर रही थी। गांधीजी ने लोगों से लगान न देने की शपथ दिलवाई ।

जो किसान लगान देने की स्थिति में थे उन्हें भी लगान देने से मना किया गया क्योंकि यदि ये लोग लगान देंगे तो गरीब किसानों पर लगान देने के लिए दबाव बढ़ेगा। गांधीजी ने कहा कि यदि सरकार गरीब किसानों का लगान माफ कर देती है तो लोग लगान दे सकते है, वे स्वेच्छा से पूरा लगान दे दगे।

लेकिन पहले से ही प्लेग, महँगाई एवं सूखे की मार से त्रस्त खेड़ा के किसान अब और संघर्ष करने की स्थिति मे नहीं थे। इसी बीच गांधीजी को पता चला कि सरकार ने अधिकारियों को गुप्त निर्देश दिए है कि लगान उन्हीं से वसूला जाये जो लगान देने की स्थिति में है । इस प्रकार गांधीजी का उद्देश्य पूरा हो गया एवं जून, 1918 में इस आदोलन को समाप्त कर दिया गया।

**(स) तेभागा आंदोलन (बंगाल), 1946–47**

तेभागा आदोलन बटाईदारों द्वारा किया गया था। ये लोग बटाई पर खेती करते थे एवं बदले में भू–स्वामी द्वारा उत्पादन का एक निश्चित हिस्सा इन्हें दिया जाता था। भू–स्वामी जिनमें कि धनी वर्ग एवं जमींदार थे, जोतेदार कहलाते थे एवं जमीन पर बटाई पर खेती करने वाले बर्गादार कहलाते थे। जमीन पर बटाई पर खेती करने वालों को उपज का कुल 50 प्रतिशत हिस्सा मिलने का हक था परन्तु लगान , ऋण एवं अन्य गैर कानूनी भुगतानों की वजह से उनके हिस्से में बहुत ही कम भाग आ पाता था।

बंगाल मे 1793 में जमींदारी प्रथा का प्रारम्भ हुआ था। तभी से जमींदार एवं बटाई या मजदूरी पर खेती करने वालों के मध्य अनेक बिचौलिए थे । बटाईदारों के समझौते भी जुबानी होते थे, उनकी कोई कानूनी मान्यता भी नहीं थी। साथ ही उनको काम मिलते रहने की भी कोई गारंटी नहीं थी। जोत पर भी उनका कोई अधिकार नहीं था। बिचौलियों के कारण लगान की मात्रा भी बहुत अधिक थी। अत्यधिक लगान एवं काम की असुरक्षा ने कृषि के विकास पर भी बुरा असर डाला क्योंकि वे जानते थे कि एक सीमा से अधिक उत्पादन करने से भी कोई लाभ नहीं है क्योंकि वह हमेशा लगान में चला जाता था। अपनी दयनीय स्थिति की वजह से वे हमेशा महाजन या जमींदार के ऋणी रहते थे।

1938 से 1944 के बीच बटाईदारी के इलाकों एवं बर्गादारों की संख्या में काफी वृद्धि हुई । दिनाजपुर, जलपाईगुढी, माल्दा एवं मिदनापुर जिलों में बटाईदारी के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों में काफी वृद्धि हुई । 1938 में गठित बंगाल भू–राजस्व आयोग के अनुसार बंगाल में कुल कृषि क्षेत्र का पाँचवाँ हिस्सा बर्गादारी के अंतर्गत था। बर्गादारों की संख्या में वृद्धि होने के कारण एवं कम्युनिस्ट विचारधारा के बढ़ते प्रभाव के चलते ये किसान धीरे–धीरे राजनीतिक रूप से संगठित होने लगे। इन्होंने स्थानीय मुद्दे उठाना प्रारम्भ किया एवं स्थानीय करो की ज्यादा दरों, लगान पर ब्याज जैसे मुद्दों पर प्रतिरोध करना प्रारम्भ किया। इन्हीं प्रतिरोधों के चलते बंगाल के भू–राजस्व आयोग (1940) ने सिफारिश की, कि बटाई पर खेती कर रहे कृषकों से फसल का दो तिहाई हिस्सा मिलना चाहिए। लेकिन बाढ़, अकाल, महामारियों जैसी प्राकृतिक आपदाओं एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की तैयारियों के कारण ये सिफारिशें लागू नहीं की जा सकी।

सितम्बर, 1946 में फसल के दो तिहाई हिस्से की प्राप्ति के लिए आंदोलन बंगाल प्रांत किसान सभी द्वारा प्रारम्भ किया गया। धीरे–धीरे यह आदोलन अपने चरम पर पहुंच गया । इस आदोलन के द्वारा बटाईदारों से आह्वान किया गया था कि वे उत्पादन को भू–स्वामी के खलिहान के बजाय अपने खलिहान पर लाकर तौले ताकि उनका वाजिब दो तिहाई हिस्सा उन्हें मिल सकें ।

दिसम्बर, 1946 से जनवरी 1947 के बीच यह आदोलन बहुत तेजी के साथ बंगाल के उन्नीस जिलों तक फैल गया। आदोलन उग्र होने पर पुलिस द्वारा हस्तक्षेप किया एवं आदोलन का दमन करने, का प्रयास किया गया। लोगों द्वारा भू–स्वामियों एवं पुलिस का लाठियों द्वारा मुकाबला किया गया। फरवरी, 1947 में आदोलन की उग्रता को देख सरकार द्वारा दमन तेज कर दिया गया। फलस्वरूप छोटे एवं गरीब किसानों, बटाईदारों एवं कृषि मजदूरों ने क्रोध में जमींदारों एवं अमीर तथा मझौले किसानों के अनाज भंडार लूट लिए ।

तेभागा आंदोलन में मझौले किसानों को साथ लेकर नहीं चला गया जो कि इस आदोलन के समर्थन का मुख्य आधार बन सकते थे। किसान सभा द्वारा उन्हें मुख्य शत्रु जमींदारों की तरह ही समझा। सरकार द्वारा मुकाबले एवं दमन की वजह से अनेक गरीब एवं मजदूर किसान मारे गये। किसानों के प्रति सहानुभूति रखने वाले तथा आंदोलन में हिस्सेदार विभिन्न वर्गो के बीच भी मतभेद उभरकर आए कुछ लोग आंदोलन को समाप्त कराना चाहते थे एवं कुछ इसे और उग्र बनाना चाहते थे। इसके साथ ही हिंसा की घटनाएं होती रही एवं इस पर नेतृत्व करने वालों का कोई नियंत्रण वही रहा।

इसी संदर्भ में कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा 28 मार्च, 1947 से आम हड़ताल की योजना बनाई गई। इसी समय हिन्दू महासभा द्वारा बंगाल के विभाजन का आदोलन प्रारम्भ कर दिया फलस्वरूप जगह–जगह सांप्रदायिक दंगे होने लगे। इन सांप्रदायिक दंगों की वजह से किसानों को यह आंदोलन पृष्ठभूमि में चला गया।

तेभागा आंदोलन स्पष्ट रूप से सामंतवाद विरोधी आंदोलन था। लेकिन इसका तात्कालिक उद्देश्य काश्तकारी प्रणाली में बदलाव लाना नहीं, अपितु इसी प्रणाली के लगान वाले ढांचे के तहत खेतिहरों को उत्पादन में ज्यादा हिस्सा दिलाना था। इस तरह यह एक अधूरा आंदोलन था किन्तु इसके व्यापक रूप, हिंसक वारदातों तथा जोतने वाले को भूमि देने के नारों में काश्त प्रणाली की समाप्ति के बीज निहित थे। इसलिए राज्य को इस हिंसक आंदोलन को दबाने में ज्यादा शक्ति लगानी पड़ी ।

**(द) तेलंगाना आंदोलन (हैदराबाद), 1948**

तेलंगाना आदोलन हैदराबाद रियासत के तेलंगाना क्षेत्र से संबंधित था। यह रियासत निजाम के अधीन थी जो कि आजादी के बाद अपनी रियासत को भारतीय संघ में मिलाए जाने का विरोध कर रहा था।

तेलंगाना क्षेत्र में कृषक आदोलन स्पष्ट रूप से निजाम के अधीन चल की दमनकारी जागीरदारी प्रणाली के खिलाफ था। इस समय हैदराबाद रियासत में राजनीतिक एवं नागरिक आजादी नहीं के बराबर थी एवं क्रूरतम सामंती शोषण था। यहां प्रभावी जातियों के घनी किसान सहित पूरे कृषक समुदाय ने इस अत्याचार एव दमन के खिलाफ संघर्ष किया।

तेलंगाना क्षेत्र के 300 गाँवों की गरीब 30 लाख जनता को प्रभावित करने वाली किसानों की सबसे बड़ी छापामार लड़ाई लड़ी गई । यह आदोलन भी बेगार, गरीब एवं मजदूर किसानों से शुल्क के रूप में वस्तुओं की वसूली, बंधुआ मजदूरी एव जमीन हड़पने जैसे अत्याचारों के खिलाफ था। ये अत्याचार भू–स्वामी, मुसलमान तथा अन्य उच्च जातियों के देशमुख (राजस्व वसूली करने वाले) और जागीरदारों द्वारा किए जाते थे।

इस विद्रोह की शुरुआत इस क्षेत्र की एक तालुका में अत्याचारी जमींदार द्वारा एक उग्र कार्यकर्त्ता की हत्या के कारण हुई। यह कार्यकर्ता गांव की किसी गरीब महिला को उसकी जमीन पर अधिकर दिलाने के लिए लड़ रहा था। तेलंगाना के गांवों में पहले से ही कम्युनिस्टों का जनाधार बन चुका था। वे जबरन वसूल किये जाने वाले शुल्क, अत्यधिक लगान, अत्याचारों आदि के खिलाफ पूर्व से ही संघर्ष कर रहे थे। इस कार्यकर्त्ता की हत्या की हिंसक प्रतिक्रिया हुई एंव, आंदोलन और तेजी से चारों और फैल गया।

सभी किसानों एवं कृषि मजदूरों ने निजाम के निजी सैनिक गिरोह जिन्हें कि रजाकार कहा आता था के खिलाफ एवं जागीरदारों एवं देशमुखों के विरोध में लड़ाई लड़ी एवं उनसे कुछ क्षेत्रों से मुक्त करा लिया।

कुछ समय बाद भारतीय सेना द्वारा निजाम को हटा दिया गया एवं जागीरदारी प्रथा समाप्त कर दी गई। उच्च जातियों के बनी किसानों, जिन्होंने कि निजाम एवं उसके राजकारों के खिलाफ आंदोलन को सहयोग दिया था अब आंदोलन से अलग हो गए। गरीब किसानों एवं कृषि मजदूरों ने शोषक वर्गो के खिलाफ आदोलन जारी रखा और अब उन्हें भारतीय सेना का दमन भी झेलना पड़ा। धीरे–धीरे आंदोलनकारियों का जीना तक दूभर हो गया और आंदोलन धीरे–धीरे कमजोर होने लगा इसी समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने, आजादी के बाद नए कांग्रेस नेतृत्व द्वारा लाए गये राजनीतिक परिवर्तनों की पूर्व समीक्षा करते हुए आंदोलन समाप्त घोषित कर दिया।

इस आंदोलन द्वारा भारत की सबसे बड़ी रियासत को समाप्त करवा दिया गया। हैदराबाद राज्य के विघटन के कुछ वर्ष बाद भाषायी आधार आन्ध्र प्रदेश राज्य का गठन हुआ। सरकार द्वारा विभिन्न गैर जरूरी लगान समाप्त कर दिया गये साथ ही जागीरदारी प्रथा भी समाप्त कर दी गई एवं भूमि की कानूनी सीमा का भी निर्धारण कर दिया गया।

**(इ) ग्रामदान आंदोलन, (1952)**

ग्रामदान सर्वोदय आंदोलन में सामंती शोषक शक्तियों से सीधे संघर्ष नहीं किया गया। इसमें शोषित किसानों एवं कृषि मजदूरों को एक विकल्प दिया गया कि कैसे वह एक उत्पादन एंव वितरण की वैकल्पिक प्रणाली विकसित करे जो सामंती कृषि प्रवासी का स्थान ले ले । भूदान एवं ग्रामदान आंदोलन गांधीजी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा पर आधारित था। गांधीजी चाहते थे कि सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का स्थान ट्रस्टीशिप ले ले, खास कर भूमि स्वामित्व के मामले में ।

विनोबा भावे द्वारा भूदान आंदोलन प्रारम्भ किया गया। इसकी शुरूआत नालगोंडा क्षेत्र से हुई । विनोबा जी का कहना था कि भू–स्वामी भूमिहीन को अपने ही परिवार का मानते हुए उसे उसका जमीन का हिस्सा उपहार में दे दे एवं इसी प्रकार धीरे–धीरे गांव के समस्त भू–

स्वामी अपनी सारी भूमि गांव को उपहार में दे दे एवं उसपर सभी मिलकर खेती करें तथा यह भूमि व्यक्तिगत न होकर गांव की हो जाए । इस प्रकार इस आदोलन द्वारा निजी सम्पति की समाप्ति की मांग की गई । इस कार्यक्रम का प्रभावी असर हुआ एवं बिहार एवं उत्तर प्रदेश के कुछ गांवों के आदिवासियों ने एकजुट होकर प्रतिक्रिया दी ।

प्रारम्भिक चरण में इस आदोलन को कुछ उल्लेखनीय सफलता मिली। इसके तहत कई गांवों में परिवारों ने मिलकर ग्रामदान को अपनाया एवं अपनी जमीन को मिलजुल कर खेती के लिए दे दिया । इसके साथ ही गांवों में कई समितियाँ एवं संस्थाएं भी बनी जिनके द्वारा विकास कार्य किए जाने लगे । लेकिन कुछ जगह पर कुछ धनी एवं मझौले किसानों द्वारा अपनी भूमि उपहार में देने से मना कर देने पर उन पर दैनिक दबाव डाला गया एवं उन्हें सशर्त ग्रामदान अपनाने पर राजी कर लिया गया। इसके लिए उन्हें कुछ रियायतें दी गई । इसके बाद से ऐसे भू–स्वामियों द्वारा ऐसी शर्तें मनवाने का क्रम शुरू हो गया एवं हर कोई अपनी जमीन उपहार में देने से पूर्व कुछ शर्तें रखने लगा जिससे ग्रामदान को सुगमतापूर्वक चलाने में बाधाएं आने लगी साथ ही आपस में मतभेद भी उभरने लगे ।

वैसे तो यह आंदोलन एक सामाजिक बदलाव का आंदोलन था किन्तु जब भी इस आंदोलन को सामंती तत्वों के शत्रुतापूर्ण माहौल को झेलना पड़ा, इन तत्वों का डटकर मुकाबला नहीं किया गया एवं यह आदोलन उग्र एवं हिंसक संघर्ष की आवश्यकता होने पर भी करने से कतराता रहा फलस्वरूप आंदोलन का प्रभाव समाप्त होने लगा एवं यह बिखर गया ।

ग्रामदान आंदोलन में विरोधाभास यह था कि इसने बदलाव की दिशा में क्रमिक परिवर्तनों का लक्ष्य रखा, परन्तु टकराव से बचने की कोशिश की। यह टकराव एक सच्चाई थी एवं यह इतना ज्यादा एवं ताकतवर था कि मात्र इसे नैतिक तरीके से समझा–बुझाकर दूर रही किया जा सकता था।

**(फ) नक्सलवाड़ी या नक्सलवादी आंदोलन (1967 एवं उसके पश्चात्)**

उत्तरी बंगाल के गांव नक्सलबाड़ी के नाम पर इस आंदोलन का नाम नक्सलबाड़ी अथवा नक्सली आंदोलन पड़ा । बहुत वर्षो पूर्व से ही कम्युनिस्ट पार्टी की कृषक समिति जमींदार वर्ग के खिलाफ निरन्तर संघर्षरत थी । समिति किसानों की बेदखली एवं गैर कानूनी वसूली नहीं करने देती थी । समिति ने किसानों को आगाह कर रखा था कि जब तक जमींदार भूमि के खेतिहारों के द्वारा खेती किए जाने के प्रमाण स्वरूप दस्तावेज न दिखाए उन्हें लगान न दे। इस प्रकार किसान संगठित हुए एवं निचले स्तर पर नेतृत्व पनपा।

मार्च, 1967 के बाद पश्चिम बंगाल में संयुक्त मोर्चे जिनमें भारतीय कस्म्यूनिस्ट पार्टी एवं मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट' पार्टी मुख्य घटक के रूप में थे, की सरकार बनी ।.

इस मोर्चे के मुख्य घटक भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी एवं मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी ने एक लंबे समय से लागू न हो सके भूमि सुधारों को लागू करने का संकल्प किया था एवं यह दल सरकार में आने के बहुत पूर्व से ही इन मुद्दों को लेकर संघर्ष कर रहे थे । जिन सुधारों का वादा किया गया था उनमें हर गरीब एवं भूमिहीन किसान को थोड़ी सी भूमि एवं उसे महाजन के चंगुल से मुक्त करना सम्मिलित थे।

इस सरकार द्वारा तुरन्त बकाया भूमि के तेजी से भूमिहीनों में वितरण एवं बटाईदारों की बेदखली रोकने की नीति कि घोषणा की । साथ ही साथ किसानों से भी ज्यादा संघर्षशील रवैया अपनाने को कहा गया क्योंकि आशंका थी कि जमींदार एवं धनी किसान वर्ग इन नीतियों के क्रियान्वयन में बाधा पहुंचा सकते है ।

सरकार क सकारात्मक रूख के बावजूद किसानों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सरकार के द्वारा भूमि के पुनर्वितरण का वादा तो कर लिया गया परन्तु राज्य की स्थिति पर उनका पूर्ण नियंत्रण नहीं था और वे इस बारे में स्पष्ट रूप से तय नहीं कर पा रहे थे कि जमींदारों द्वारा हड़पी गई जमीन को किसानों को कैसे दिया जाये। संविधान, अदालती कागजातों एवं दस्तावेजों तथा जमींदारों का आर्थिक सामाजिक नियंत्रण एवं भूमि सुधार के लागू करने में देरी करवाने की उनकी क्षमता के चलते सरकार असहाय हो गई।

मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी के अंतर्गत काम करने वाली किसान सभाओं का राजनीतिक प्रभाव तो था परन्तु संगठनात्मक रूप से बंगाल के गांवों, पर उनका नियंत्रण नहीं था। इस प्रकार वे संगठनात्मक रूप से जमींदारों के हमले झेलने की स्थिति में नहीं थे, जो कि अनेक तरीकों से न्याय पालिका एवं पुलिस की सहायता ले सकते थे। इस के अतिरिक्त जहां भी गरीब किसानों ने कानून की सहायता से जमीन पर कब्जा कर लिया और उन्हें प्रशासन से इस कब्जे का लाइसेंस मिल गया, वे व्यवस्था के अंग बन गए और कानूनी प्रक्रियाओं के बाहर दूसरे तरीके से संघर्षरत भूमिहीनों को नीचा मानने लगे । किसान सभा का यह मत भी बनने लगा कि किसानों की संघर्ष चेतना को राज्य के तंत्र और सामंत वर्ग दोनों के खिलाफ इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इन दोनों के विनाश के बिना, कोई भी भूमि सुधार संभव नहीं है क्योंकि यही भूमिहीनों एवं गरीब किसानों रास्ते में रोड़े अटकाएं हुए है ।

मार्च; 1967 को मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी की सिलीगुड़ी सब–डिवीजन कमेटी के सम्मेलन में नेताओं द्वारा निम्न कार्यवाही का आह्वान किया– जमींदारों के भूमि पर एकाधिकार की समाप्ति, किसान समितियों और संगठनों के जरिये भूमि का पुनर्वितरण और जमींदारों द्वारा इन कार्यवाहियों को रोके जाने की स्थिति से निपटने के लिए किसानों को सशस्त्र बनाना। अप्रैल, 1967 तक इस डिवीजन के सभी गांव संगठित कर लिए गए एवं लगभग 20 हजार किसानों को पूर्णकालीन कार्यकर्त्ता बना दिया गया एवं सशस्त्र समितियां गठित की गई ।

इन समितियों ने शीघ्र ही आपने नाम पर जमीन पर कब्जा कर लिया, जमीन के वे सारे कागजात जला डाले जिनका इस्तेमाल उन्हें धोखा देने के लिए किया जाता था सभी झूठे एंव गैरकानूनी ऋण रद्द कर दिए, शोषक जमींदारों को मृत्युदण्ड सुनाया गया, जमींदारों सें बंदूकें लूटने के लिए सशस्त्र दस्ते बनाए गए स्वयं को तीर–कमान एवं भाले जैसे परंपरागत हथियारों से लैस किया एवं समानांतर प्रशासन कायम कर लिया।

विभिन्न स्तरों पर अंतर्विरोधों के चलते आंदोलन कुचल दिया गया। सिलीगुड़ी किसान समिति द्वारा बनाई गई नीति कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति से बिलकुल भिन्न थी । पार्टी प्रदेश में शासन में होने के कारण कानून से भी बंधी थी। इसी वजह से पार्टी का विभाजन हो गया ।धीरे–धीरे यह आदोलन बिखर गया। आज कोई भी दल नक्सली आदोलन नहीं चला रहा है ।

अनेक गुट नक्सली राजनीति को मानते है एवं अपने चुने हुए क्षेत्रों में स्वायत्त तरीके से कार्य कर रहे है ।

इस प्रकार नक्सली आंदोलन अपने आप में विशेष प्रकार का था जहां सरकार का किसानों एवं किसानों की समस्याओं के प्रति सकारात्मक रूख होने के बावजूद उसकी असमर्थता के कारण किसानों ने शस्त्र उठाए एवं समानांतर शासन स्थापित कर अपनी समस्याओं को समाप्त करने की ओर अग्रसर हुए । वैसे किसान सभाओं के सरकार में शामिल कम्यूनिस्ट पार्टियों के मुख्य घटक होने के कारण सरकार द्वारा इनके प्रति लचीला रूख अपनाने के कारण ही यह आंदोलन इस स्थिति तक पहुंचा।

**(ग) आपरेशन बर्गा, 1978**

पश्चिम बंगाल में काफी बड़ी संख्या में बर्गादार है । बर्गादार वो होते है जो दूसरे के स्वामित्व की जमीन पर खेती करते थे एवं बदले में उन्हें उत्पादन का एक निश्चित हिस्सा मिलता था। वर्गादारों के बारे में हम पूर्व में तेभागा आंदोलन में भी पढ़ चुके है । 1977 में पश्चिम बंगाल में वाममोर्चे की सरकार बनने के बाद 1978 से आपरेशन बर्गा प्रारम्भ किया गया। यह आपरेशन एक सतत् संघर्ष की चरम परिणति एवं अपने आप में एक आदोलन भी था।

बर्गादारों की व्यवस्था एवं उनके लिए कुछ किए जाने की आवश्यकता काफी पहले से ही महसूस की जा रही थी । इन्हीं आवश्यकताओं के मद्देनजर प्रमुख कार्य बर्गादारों का पंजीकरण था वामपंथी नेतृत्व वाले किसान संगठनों के लिए यह एक विशाल कार्य था । पश्चिमी बंगाल में भी जमींदारी प्रणाली काफी पूर्व से ही प्रचलित रही है । इस प्रणाली में बिना रिकार्ड के खेतिहरों से लगान पर खेती कराई जाती थी। जबानी करार चलते थे एवं जरूरी दस्तावेज एवं कागजात भू–स्वामियों एवं जमींदारों के पास ही होते थे। इस कारण बर्गादार अधिक राजनीतिक एवं यहां तक कि सामाजिक रूप से भी भू–स्वामियों से बंधे हुए थे तथा उन्हें कभी भी बेदखल किया जा सकता था। इस स्थिति ने उन्हें मजबूर कर रखा था कि वे हमेशा भू–स्वामी से डरें एवं हमेशा उनकी ताकत के आगे विनय बने रहे । किसान संगठनों को पहले इस बंधन को तोड़ना था और पंजीकरण के बाद बर्गादारों को इन जमींदारों के शक्तिशाली गुटों से संरक्षण भी देना था संगठनों के इन प्रयासों को राज्य सरकार की ओर से राजनीतिक एवं प्रशासनिक सहयोग भी मिला।

आपरेशन बर्गा एक लंबे समय से चल रहे सामंत विरोधी संघर्षों की चरम परिणति तो लगता ही था परन्तु यह अपने आप में एक संघर्ष था। किसान संगठनों ने प्रशासन की सहायता से लाभार्थियों की पहचान की, शिविर लगाए एवं उनमें बर्गादारों के नाम भूमि के अधिकारों वाले अभिलेखों में दर्ज कर उन्हें प्रमाण पत्र दिए। जून, 1985 तक कुल अनुमानित 20 लाख बर्गादारों में से 13.5 लाख बर्गादारों के रिकार्ड तैयार किए जा चुके थे।

इस प्रकार इस आंदोलन द्वारा बर्गादारों की भूमि पर अधिकार सुनिश्चित करके उन्हें अनेक उन आर्थिक तथा गैर आर्थिक बंधनों से मुक्त करने में सहायता मिली थी, जिन बंधनों में व भू–स्वामी के साथ बंधा था ।

**पूँजीवादी अंतर्विरोधों से उत्पन्न आंदोलन**

60 के दशक तक के सभी कृषक आदोलन सामंती कृषि प्रणाली के विरूद्ध हुए थे 60 के दशक के बाद बाजार की शक्तियों एवं कीमतों ने हर क्षेत्र पर प्रभाव डाला है । कृषि क्षेत्र भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा है । इसी बदलती परिस्थितियों के दौर में तमिलनाडू में नकदी फसल उगाने वाले क्षेत्रों महाराष्ट्र में प्याज, गन्ना, कपास एवं तंबाकू उगाने वाले क्षेत्रों, कर्नाटक के कपास, गन्ना तथा संकर ज्वार उगाने वाले क्षेत्रों तथा पंजाब एवं हरियाणा में किसान संगठित हुए है तथा शक्तिशाली किसान संगठनों का उदय हुआ । इन किसान संगठनों द्वारा अपने हितों के लिए समय–समय पर शासकीय नीतियों के विरूद्ध आदोलन किए गये है। आदोलन के उदय के पीछे मुख्य रूप से गांवों एवं शहरों का आपसी अंतर्विरोध भी रहा है । इन आदोलन की विशेषता यह रही कि ये राजनीतिक स्वरूप नहीं ग्रहण कर सके ।

विभिन्न राज्यों के प्रमुख आदोलन अग्रानुसार है–

**(अ) तमिलनाडु**

1969 में तमिलनाडु में राज्य स्तर के एक कृषक संगठन तमिलनाडु कृषक संघ का उदय हुआ। इस संघ द्वारा 1970 में अपना पहला व्यापक आदोलन किया गया। यह आंदोलन बिजली की बढ़ी हुई दरों को वापस लेने एवं ऋण वसूली स्थगित करने के लिए किया गया था। इन मांगों को पूरी करने के लिए इस संगठन द्वारा हड़ताल, धरने एवं भूख हड़ताल का सहाय लिया गया। इस आंदोलन के फलस्वरूप बिजली की दरों में कमी के साथ–साथ ऋण वसूली भी स्थगित कर दी गई किन्तु दो वर्ष पश्चात् ही बिजली की दरों में पुन : वृद्धि कर दी गई । इस बार इस संघ द्वारा व्यापक एवं बड़े पैमाने पर आदोलन की योजना बनायी गई ।

बिजली दरों में वृद्धि वापस लेने स मांग के साथ–साथ किसानों के सहकारी एवं निजी ऋणों की माफी, नई ऋण नीति के तहत और ऋण दिए जाने की मांग, कृषि उत्पादों के मूल्य का उत्पादन लागत तथा आदानों की कीमतों पर निर्धारण, बिजली, डीजल, उर्वरक, एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं की समुचित पूर्ति, कृषि से आयकर एवं व्यापारिक फसलों से कर की समाप्ति एवं फसल तथा मवेशियों की बीमा आदि माँगे रखी गई। इस आंदोलन के तहत जगह–जगह छोटे किसानों एवं खेत मजदूरों द्वारा बैल गाड़ियाँ रखकर सड़क पर चक्का जाम किया गया। सरकारी एवं निजी ऋणों का भुगतान न करने का आह्वान किया गया। इस आंदोलन के फलस्वरूप बिजली दरों में एक बार पुन: आंशिक कमी की गई एवं सरकार हर महीने में एक दिन किसानों की समस्याओं को सुनने एवं उनके निराकरण के लिए सहमत हो गई ।

1977 से 1979 के बीच आदोलन ज्यादा उग्र ले गया। किसानों ने करों एवं ऋणों को चुकाना बंद दिया, जगह–जगह बंद का आयोजन किया गया, तोड़–फीड, की गई, पुलों को तोड़ दिया गया, यातायात में बाधाएं पहुंचायी गई, ऋण समितियों मई जमानतें समाप्त करवा दी तथा बैंकों का घेराव किया गया। गांवों के प्रवेश स्थानों पर बोर्ड लगा दिए गए जिनमें' सरकारी कर्मचारियों का –बिना किसान संघ के अध्यक्ष की पूर्वानुमति के गांव में प्रवेश निषेध संबंधी चेतावनी थी।

इस उग्रता को देखते हुए सरकर ने बिजली की दर, मीटर किराया मासिक शुल्क आदि में कमी एंव नकद फसलों पर उपकर समाप्त कर दिए। गिरफ्तार–किये गये लोगों पर लगाये

गए आरोप वापस ले लिए गए किन्तु ऋणों की माफी नहीं की गई। आदोलन शांत ही गया किन्तु ऋण माफी नही होने से तमिलनाडु कृषक संघ की लोकप्रियता में कमी आई । सरकार ने भी आदोलन को पूर्ण रूप से नियंत्रित करने के प्रयास तेज कर दिए । 1982 में इसी संगठन के नेता नायडू ने इंडियन फार्मर्स एण्ड टाइलर्स पार्टी बनायी और धीरे–धीरे राज्य के बाहर भी संपर्क बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार ये आदोलन आगामी समाज आंदोलनों के प्रेरणा स्त्रोत बने एवं इस आदोलन द्वारा की गई मांगें, कार्य नीतियां, और कार्यक्रम आगामी आंदोलन के प्रमुख दिशा निर्देश बने।

**(ब) महाराष्ट्र**

महाराष्ट्र में कपास का उत्पादन बहुतायत में होता था। सन् 1904 से ही यहां सहकारी ऋण समिति अधिनियम लागू हो गया था। जिसकी वजह से किसानों को महाजन के बजाय सुसंगत ऋण उपलब्ध होने लगा था। किन्तु धीरे–धीरे इन समितियों से इतने कर्जे ले लिए गये कि समितियों को कार्य करना मुश्किल हो गया । यह स्थिति किसानों को लागत मूल्य से भी कम मूल्य पर अपनी फसल बेचने से जो नुकसान उठाना पड़ता था, उसी की वजह से उत्पन्न हुई थी ।

कपास की कीमतों के साथ किसानों, खास तौर पर छोटे और मझौले किसानों, की आमदनी में अनिश्चितता के साथ फेरबदल होने लगा। 1971 में सरकार द्वारा कच्चा कपास (खरीद संसाधन तथा विपणन) अधिनियम 1971 बनाया गया। 1972 में महाराष्ट्र कपास उत्पादक शेतकारी संघ (कपास संघ) का गठन हुआ। कपास संघ द्वारा कपास के उचित मूल्य निर्धारण के लिए दबाव डालना प्रारम्भ किया गया। इसके लिए आदोलन एवं अन्य उपायों का सहारा लिया गया। कपड़े का बिक्री मूल्य उत्पादन की लागत का करीब दुगुना था किन्तु कपास के मामले में ऐसा नहीं था उसका मूल्य लागत से भी कम निर्धारित था। बाजारों पर किसानों का नियंत्रण भी मिल मालिकों के समान नहीं था । इसके अतिरिक्त उद्योगपति की तुलना में किसानों की सौदेबाजी की स्थिति भी कमजोर थी। यही से औद्योगिक क्षेत्र एवं कृषि क्षेत्र के बुनियादी विवाद की शुरूआत हुई । जहां औद्योगिक क्षेत्र में मूल्य फर्में निर्धारित करती है वही कृषि क्षेत्र में मूल्य सरकार द्वारा तय किए जाते है ।

शेतकरी संगठन से किसानों के आदोलन को नया बल मिला। कपास के आंदोलन के पश्चात् इस संगठन ने अन्य आदोलन भी किए– इनमें प्याज का खरीद मूल्य निर्धारण के लिए, गन्ने के खरीद मूल्य में वृद्धि किये जाने संबंधी आदि । इन मांगों को लेकर व्यापक रास्ता रोको आदोलन चलाया गया, सरकार आंदोलन को दबाने के प्रयासों के बावजूद आंदोलन सफल रहा। प्याज के मामले में काफी हद तक एवं गन्ने के संबंध में पूरी मांगे मान दी गई । मार्च, 81 में इस संगठन ने कर्नाटक के तंबाकू उत्पादन के समर्थन में भी आदोलन किया गया जिसके सार्थक परिणाम निकले ।

इस प्रकार धीरे–धीरे यह स्थिति बनने लग गई कि किसान राजनीतिक दलों के मंच के बाहर भी अपना दबाव समूह होने का दावा कर सकते थे एवं राज्य उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था।

**(स) कर्नाटक**

कर्नाटक के कुछ निर्धारित क्षेत्रों में जहां बार–बार सूखा पड़ता था एवं पारम्परिक रूप से कृषि की जाती थी में सर 1974–74 एवं इसके पश्चात् इस क्षेत्र में सिंचाई की शुरुआत हुई। इसी सिचाई व्यवस्था के शुरूआत के साथ–साथ किसान असंतोष भी संगठित होने लगा था। किसानों में असंतोष के पीछे कई कारण थे । सिचाई व्यवस्था होने के पूर्व इन क्षेत्रों में सिर्फ ज्वार या छोटे रेशे वाली कपास होती थी । किसानों को हलकी सिचाई योजनाओं और बाजार से महंगे साज–समान जुटाकर लंबे रेशेवाली बढ़िया कपास और संकर किस्म की ज्वार उगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। किन्तु बाद में अचानक कपास की कीमतों में तेजी से गिरावट आई जबकि उर्वरकों की कीमतें तेजी के साथ बढ़ी। साथ ही, सिचाई के कारण भूमि की कीमत बढ़ जाने से जमीन बेहतरी का शुल्क भी लगाया गया । किसानों से अपेक्षा की गई कि वह इन क्षेत्रों में रहने के कारण यह शुल्क दे चाहे वह इस पानी लेता हो या न लेता हो ।

1976–77 से सिचाई शुल्क वसूल किया जाना शुरू हुआ। पानी की दरों एवं सिंचाई शुल्क के संबंध में तत्कालीन मुख्यमंत्री को आवेदन किया गया । मुख्यमंत्री ने उन किसानों पर जमीन बेहतरी शुल्क स्थगित कर दिया जिन्हें पानी नहीं मिलता था । जिन कुओं को खोदने के लिए ऋण दिया गया किन्तु उनमें पानी नहीं निकला था उन ऋणों को माफ कर दिया गया । लंबे समय के ऋणों के भुगतान न होने पर जो दण्डात्मक ब्याज लगता था उसकी अवधि बढ़ा दी गई, पंचायतों में अनाजों के भंडारण के लिए गोदामों की' व्यवस्था की गई किन्तु पानी एंव बिजली की दरें घटाने तथा गन्ने पर खरीदकर समाप्त करने की मांग उन्होंने नामंजूर कर दी।

जुलाई, 1980 तक भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में काम कर रहे कर्नाटक राज्य रैयत संघ ने किसानों की मांगों को एक सुसम्बद्ध स्वरूप देकर काफी प्रभाव हासिल कर लिया। इन मांगों में सिंचाई, निकासी, छोटे किसानों के लिए भूमि का विकास, नहरों के लिए ली गई जमीन का मुआवजा, कृषि उत्पादों का लाभकारी मूल्य' दिलाना, सरकार द्वारा ही सारी व्यापारिक फसल को खरीद कर मूल्यों में गिरावट को रोकना, कृषि में उपयोगी उपकरण एवं उर्वरक उचित दाम पर उपलब्ध कराना, गांवों में ऋण व्यवस्था का विस्तार, कीमतों में गिरावट' पर किसानों को ऋण सुविधा, खेती के लिए ऋण एवं जमीन पर बेहतरी के लिए शुल्क की समाप्ति आदि सम्मिलित थी।

इन सभी मांगों की पूर्ति के लिए कर्नाटक राज्य रैयत संघ द्वारा समय–समय पर व्यापक एवं प्रभावी आदोलन चलाए गए एवं सफलता भी हासिल की गई । तत्पश्चात् इस आदोलन के साथ लोहियावादी विचारधारा के जुड़ जाने से ग्राम्यवाद की विचारधारा आंदोलन के भावी विस्तार की दिशा निर्देश बनी। समय–समय पर जो मामले एवं क्षेत्रीय मुद्दे उठाए जाते थे उनके स्थान पर एक नया दायरा बनाया गया, जिसमें स्पष्ट किया गया कि कृषि को भी उद्योग की तरह वाणिज्यिक इकाई माना जाना चाहिए । जिस तरह उद्योग की मूल्य नीति होती है एवं उन्हें जो सुविधाएं दी जाती है वही कृषि क्षेत्र के लिए भी दी जाना चाहिए।

कर्नाटक राज्य में किसान आंदोलनों के दौरान उठाए गये मुद्दे, आंदोलन एवं नीतियां अन्य –राज्यों से मिलती जुलती थी किन्तु एक महत्वपूर्ण दृष्टि से इस आदोलन की दिशा

भिन्न थी कि किसानों को उनकी फसल के लाभप्रद मूल्य के साथ सभी सुविधाएं मिलें एवं प्रत्येक किसान को आत्म सम्मान एवं पहचान प्राप्त हो।

**(द) पंजाब**

पंजाब में 1972 में लुधियाना में गैर पार्टी आधार पर सर्वप्रथम खेती बाड़ी यूनियन बनायी गई। 1980 में इसका भारतीय किसान यूनियन में विलय कर दिया गया।

खेतीबाड़ी यूनियन एवं बाद में भारतीय किसान यूनियन द्वारा सफल आंदोलनों के माध्यम से नलकूपों पर बिजली शुल्क माफ कराया (1975), किसानों को खराब ट्रैक्टर के बदले नए ट्रैक्टर सरकार से दिलवाए (1978), बिजली की पूर्ण आपूर्ति एवं अनियमितताएं दूर करवायी (1979), गन्ने का लाभप्रद मूल्य तय कराया (1980), सिंचाई नहरों की लागत के नाम पर लंबे समय से की जा रही वसूली को रोकन में काफी हद तक सफलता प्राप्त की (1983) । इन सबके अतिरिक्त भारतीय किसान यूनियन द्वारा महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश कें किसानों तथा भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी एवं मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी की किसान पार्टियों द्वारा भी मिलकर आंदोलन किये गये । इन आदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही के ये आंदोलन' पूर्णत: अहिंसक थे एवं बहुत बड़ी संख्या में किसान इसमें सम्मिलित हुए एवं समर्थन दिया।

## 8. इकाई सारांश

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि पिछले चार दशक में काफी औद्योगिक प्रगति हुई है, उसके बावजूद हमारी दो तिहाई आबादी का जीवन निर्वाह कृषि से ही होता है । कृषि उत्पादन बढ़ने का आकलन गांवों की खुशहाली से क्रिया जा सकता है । पिछले तीन चार दशकों में कृषि क्षेत्र में आशातीत विकास हुआ और कृषि उत्पादन काफी बढ़ा है। यह सब भूमि, जल, श्रम, पूंजी तथा उत्पन्न कृषि तकनीक एवं भूमि सुधार के सहयोग से ही संभव हुआ।

भूमि सुधार आर्थिक विषमता को कम कर समानता स्थापित करने, ग्रामीण संसाधनों में सुधार तथा उपयोग एवं सामाजिक न्याय तथा उत्पादकता में वृद्धि के लक्ष्य को पूरा करने के लिए महत्वपूर्ण एवं कारगर उपाय है । भारत में भूमि सुधार की दिशा में स्वतंत्रता के बाद से ही प्रयास किये जाते रहे है । इनमें मध्यस्थों की समाप्ति, काश्तकारी सुधार, अधिकतम भूमि की सीमाबंदी, अतिरिक्त भूमि का वितरण, चकबंदी एवं भूमि अभिलेखों स संकलन महत्वपूर्ण सिद्ध हुए है ।

भूमि सुधार कार्यक्रमों को चलाने का दायित्व राज्य सरकार का होता है। विभिन्न राज्यों में भूमि सुधार की दिशा में किए गए प्रयासों की प्रगति की असमानता, जमींदार, बड़े भू–स्वामी आदि द्वारा बाधाएं एवं राजनीतिक इच्छा शक्ति का अभाव भूमि सुधार की दिशा में किए गए प्रयासों के क्रियान्वयन में बाधक भी रहे है फिर भी भारत में भूमि सुधारों के प्रयास काफी हद तक सफल रहे है ।

इन भूमि सुधारों के पीछे प्रमुख कृषक आन्दोलनों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इन आंदोलनों में चम्पारन, खेड़ा तेभागा, तेलंगाना, ग्रामदान, आपरेशन बर्गा आंदोलन प्रमुख है जो कि सामंती कृषक व्यवस्था के दोषों एवं शोषण से उत्पन्न हुए थे। खेतिहरों का उत्पादन में

न्यूनतम हिस्सा, बेगार, कम मजदूरी, अवैध वसूली, 'बंधुआ मजदूरी एवं अन्य कई अत्याचार जो कि सामंती व्यवस्था के अंग थे के खिलाफ ये आंदोलन किए गये थे।

सामंती व्यवस्था के प्रभाव के कम होने के साथ–साथ एक नई समस्या ने जन्म लिया वह थी कृषि क्षेत्र पर बढ़ते पूँजी प्रभाव के कारण उत्पन्न अंतर्विरोध शहरी एवं ग्रामीण वर्ग के मध्य भेदभाव, कृषकों को उनके उत्पादन का लाभप्रद मूल्य नहीं मिलना, अन्य सुविधाओं की कमी, सरकार एवं प्रशासन द्वारा औद्योगिक क्षेत्र को प्रश्रय एवं कृषि क्षेत्र की उपेक्षा आदि से विभिन्न राज्यों में आंदोलन हुए।

अंततः यह कहा जा सकता है. कि भूमि सुधारों की प्रक्रिया एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। वह हर विधि जिसमें भूमि की उत्पादकता या कृषि उत्पादन की वृद्धि में सहायता मिले भूमि सुधार स ही भाग है। इसीलिए इसे केवल भूमि वितरण, 'उसके दस्तावेजों की तैयारी एवं राजनीतिक स्तर तक सीमित न रखते हुए कृषि क्षेत्र के विकास की रणनीति के रूप में अपनाना होगा।

## 9. अभ्यास कार्य

1. भूमि सुधार का अर्थ एवं महत्व स्पष्ट करते हुए भारत में भूमि सुधारों के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए?
2. स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में भूमि सुधारों की दिशा में किए गये प्रयासों से समीक्षा करते हुए स्पष्ट कीजिए की ये प्रयास कहां तक सफल हुए है?
3. चम्पारन एवं खेडा– कृषक आंदोलनों का वर्णन कीजिए? इन आंदोलनों में गांधीजी की क्या भूमिका रही है?
4. कृषि क्षेत्र में पूंजीवादी प्रभाव के कारण हुए कृषक आंदोलनों की राज्यवार संक्षिप्त विवेचना कीजिए?
5. निम्न पर टिप्पणी लिखिए–

1. तेभागा आंदोलन 2. तेलंगाना आंदोलन 3. ग्रामदान आंदोलन
4. आपरेशन बर्गा 5. नक्सलबाड़ी आंदोलन

## 10. संदर्भ ग्रन्थ


– धनगारे, डी. एन. : पीजेण्ट मूवमेंट इन इंडिया 1920–1950, आक्सफेर्ड यूनि. प्रेस, नई दिल्ली, 1983,

– जोशी, पीसी. : लैण्ड रिफार्मस इन इंडिया, ट्रेण्ड एंड प्रस्पेक्टिव,स्टीट्यूट ऑफ इकानामिक ग्रोथ, नई दिल्ली, 1975.

– सरकर, सुमीत : आधुनिक भारत 1885–1947, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1983.

– सहस्रबुद्धे, सुनील : द पीजेण्ट मूवमेंट टुडे, आशीष पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1986.

– यादव, सुबह सिंह : ग्रामीण विकास का आधुनिक दर्शन, सबलाइम प्रकाशन, जयपुर, 1997.

# इकाई – 17

# लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और पंचायत राज संस्थाएं

**इकाई की रूपरेखा**


1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पंचायती राज का उद्भव : सामुदायिक विकास कार्यक्रम
4. बलवंत राज्य मेहता समिति प्रतिवेदन : लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण योजना
5. राजस्थान में पंचायत राज संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
6. राजस्थान में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण योजना का क्रियान्वयन : राजनीतिक उदय
7. राजस्थान पंचायत राज प्रतिमान : विशेषताएं
8. राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं का संगठन : सरंचना एवं कार्य
9. महाराष्ट्र एवं गुजरात में पंचायत राज प्रतिमान
10. पंचायत राज एवं ग्रामीण विकास
11. पंचायत राज की उपलब्धियाँ एवं समस्याएं
12. पंचायत राज का अशोक मेहता समिति द्वारा प्रस्तावित–प्रतिमान
13. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के नये दिशा संकेत : 64वां संविधान संशोधन विधेयक
14. सारांश
15. शब्दावली
16. कुछ उपयोगी पुस्तकें
17. बोध प्रश्न एवं उनके स्तर संकेत


## 1. उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सर 1952 में प्रारम्भ किये गये सामुदायिक विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन पक्ष की दुर्बलता का करण जान सकेंगे,
- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (पंचायत राज) के सूत्रपात के कारणों एवं पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे
- राजस्थान में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एवं पंचायत राज संस्थाओं के संरचनात्मक पक्ष का विस्तार से अध्ययन कर सकेंगे,
- भारत के कतिपय अन्य राज्यों जैसे महाराष्ट्र और' गुजरात –में प्रचलित पंचायत राय–प्रतिमान की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे,
- ग्रामीण विकास की दिशा में पंचायत राज के योगदान को समझ सकेंगे,
- पंचायत राज में सुधार हेतु अशोक मेहता समिति–प्रतिवेदन और बहुचर्चित 64वें संविधान संशोधन विधेयक के प्रमुख अंशों से परिचित हो सकेंगे,

– भारत में पंचायत राज संस्थाओं की उपलब्धियों और समस्याओं को जान सकेंगे।

## 2. प्रस्तावना

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से हमारी राष्ट्रीय नीतियां ग्रामीण क्षेत्रों के उत्थान एवं विकास की ओर उन्मुख रही है । प्रथम पंचवर्षीय योजना एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्भव के साथ ही शासकीय क्रियाकलापों का रूख ग्रामीण क्षेत्रों की ओर मुड़ा जो कालान्तर में विभिन्न योजनाओं एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में सतत् क्रियाशील रहा है । इस क्रियान्वित को और अधिक प्रभावी बनाने के लिये जनता के सहयोग की आवश्यकता महसूस की गई जिसके परिणाम स्वरूप विभिनन राज्यों में वहां की स्थिति की अनिवार्यताओं एवं सीमाओं का ध्यान में रखकर पंचायत राज की स्थापना हुई ताकि विकास की धारा को स्थानीय जन सहयोग से और अधिक गतिमान बनाया जा सके ।

वस्तुत : भारत गांवों का देश है । गांवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है । गांधीजी ने ठीक ही कहा था कि "यदि गांव नष्ट होते है तो भारत ही नष्ट हो जायेगा" भारत के संविधान निर्माता भी इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे और इसी कारण हमारी स्वाधीनता को साकार करने और उसे स्थायी बनाने के लिये ग्राम शासन व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया। हमारे संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि "राज्य ग्राम पंचायतों के निर्माण के लिये कदम उठायेगा और उन्हें इतनी शक्ति और अधिकार प्रदान करेगा जिससे कि वे स्वशासन की इकाई के रूप में कार्य कर सकें । "वस्तुत : हमारा जनतंत्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक से अधिक शासन कार्यों में हाथ बंटाये और अपने पर राज करने की जिम्मेदारी स्वयं झेले। भारत में लोकतंत्र के भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि ग्रामवासियों का शासन से कितना अधिक प्रत्यक्ष और सजीव सम्पर्क स्थापित हो पाता है? दूसरे शब्दों में ग्रामीण भारत के लिये पंचायती राज ही एकमात्र उपयुक्त योजना है । पंचायतें ही हमारे राष्ट्रीय जीन की रीढ़ है । दिल्ली की संसद में कितने ही बड़े आदमी बैठें लेकिन असल में पंचायतें ही भारत की चाल बनायेंगी।

## 3. पंचायती राज का उद्भव–सामुदायिक विकास कार्यक्रम

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू का लोकतांत्रिक तरीकों में अटूट विश्वास था। सन् 1952 में उन्हीं की पहल पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इसमें काफी संख्या में सरकारी कर्मचारी रखे गये और लम्बे चौड़े दावे किये गये थे। यह समझा गया कि इस कार्यक्रम में जनता की ओर से सक्रिय रूप से भाग लिया जायेगा।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आरम्भ इसलिए किया गया था कि आर्थिक नियोजन एव, सामाजिक परिवर्तन की राष्ट्रीय योजनाओं के प्रति देश की ग्रामीण जनता में रूचि पैदा की जा सके परन्तु सामुदायिक विकस के इस सरकार द्वारा प्रेरित एवं प्रायोजित कार्यक्रम ने ग्रामीण जनता को नियोजन को परिधि में लाकर खड़ा तो कर दिया, परन्तु ग्रामीण स्तर पर योजना के क्रियान्वयन में उसे हिस्सेदार एवं इच्छुक पक्ष न बनाया जा सका। यह कार्यक्रम सरकारी नौकरशाही और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी पाटने के मुख्य लक्ष्य में विफल रहा।

इस विफलता का मुख्य कारण यह था कि इसे सरकारी महकमे की तरह चलाया गया और गांवों के विकास के बजाय सामुदायिक विकास की सरकारी नौकरशाही के द्वारा गांवों के लोगों व मनोवृत्ति को बदलने की आशा की गयी, परिणाम यह हुआ कि गांवों के उत्थान के लिये खुद प्रयत्न करने के बजाय ग्रामीण जनता सरकार का मुंह ताकने लगी । एक अमरीकी लेखक रेनहाई बेंडिक्स लिखते है कि सामुदायिक विकास की सबसे बड़ी कमजोरी उसका सरकारी स्वरूप और नौकरशाही की लफ्फाजी थी। एक तरफ इस कार्यक्रम के सूत्रधार जनता के आगे आने की आशा करते थे, दूसरी और उनको विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही नतीजा निकल सकता है । कार्यक्रम जनता को चलाना था, लेकिन वे बनाये ऊपर से जाते थे ।

## 4. बलवंत राय मेहता समिति प्रतिवेदन: लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण योजना

सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर काफी धन व्यय करने के बाद और यहां तक कि उसकी सफलता के लम्बे चौड़े दावे के बाद इसकी जांच के लिये एक अध्ययन दल सर 1957 में नियुक्त किया गया। इस अध्ययन दल के अध्यक्ष श्री बलवन्त राय मेहता थे । इस अध्ययन दल ने बताया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की बुनियादी त्रुटि यह थी कि जनता का इसमें सहयोग नहीं मिला। अध्ययन दल ने सुझाव दिया कि एक कार्यक्रम से, जहां कि लोगों के दिन–प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्ध होता है, केवल उन लोगों के द्वारा ही कार्यान्वित किया जा सकता है । सन् 1957 में मेहता अध्ययन दल ने ग्रामवासियों में सक्रिय सहभागिता की भावना के विकास और ग्रामीण पुर्ननिर्माण को ध्यान में रखते हुए ' लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना सामने रखी जिसे "पंचायती राज" के रूप में सारे देश में पहचाना गया।

वस्तुत: "लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण" की योजना का प्राचीन भारत की जातिगत और समाजगत व्यवस्था से कोई लेना देना नहीं है । डॉ. इकबाल नारायण लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के दो उद्देश्य बतलाते है– प्रथम, राजनीतिकरण का लक्ष्य अर्थात् ग्रामीणजनों तक राजनीतिक जागृति का प्रचार और प्रसार। द्वितीय, उसका लक्ष्य ग्रामीण विकास में जन सहभागिता हासिल करना है जिससे कि 'नीचे से अभियोजन' की धारणा को बल मिले।

बलवन्त राय मेहता समिति की चर्चा पूरे देश में हुई क्योंकि इसमें गांवों से लेकर जिला स्तर तक "त्रिस्तरीय व्यवस्था" की अनुशंसा की गयी थी। समिति ने इस बात के लिये राज्यों मे छूट दी थी कि वे अपने राज्य के सामाजिक एवं आर्थिक साधनों के अनुकूल पंचायती राज के प्रारूप को" प्रान्तीय अधिनियमों के सहयोग से ग्रहण कर सकें लेकिन फिर भी लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण 'के लिये पांच मूलभूत सिद्धान्तों की इस प्रतिवेदन में स्थापना की गयी थी जो अद्योलिखित है :

1. गांव से लेकर जिला स्तर तक स्थानीय सरकार में त्रिस्तरीय सरंचना लागू की जानी चाहिये तथा इन तीनों स्तरों में परस्पर सहयोगी संबंध अपनाये जाने चाहिये।
2. इन स्तरों/संगठनों को सही मायने में सत्ता का हस्तान्तरण किया जाना चाहिये।

3. इन स्तरों/संगठनों द्वारा अपने दायित्वों के निर्वाह हेतु उचित वित्तीय साधन सुलभ होने चाहिये।
4. सभी विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों व योजनाओं का कार्यान्वयन इन स्तरों / संगठनों द्वारा किया जाना चाहिये।
5. इन व्यवस्था को इस रूप में लागू किया जाना चाहिये कि भविष्य में उत्तरदायित्वों का विकेन्द्रीकरण किया जा सके ।

## 5. राजस्थान मे पंचायती राज संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं का इतिहास काफी पुराना है। राजस्थान मे बीकानेर पहली रियासत थी जिसमें ग्राम पंचायतों के लिये वैधानिक व्यवस्था स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ही चुकी थी। सर 1928 में बीकानेर में ग्राम पंचायत अधिनियम पारित किया गया था। जयपुर रियासत द्वारा सर 1938 में एक संक्षिप्त ग्राम पंचायत अधिनियम पारित किया गया, लेकिन सकी क्रियान्विति नहीं हुई । मारवाड़ ग्राम पंचायत अधिनियम सन् 1945 में पारित किया गया सन् 1948 में माणिक्यलाल वर्मा के नेतृत्व में संयुक्त राजस्थान सरकार द्वारा पंचायती राज अध्यादेश पारित किया गया था; स्वतंत्रता के बाद सर 1953 में विधान सभा द्वारा राजस्थान पंचायत अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने से माह नवम्बर, 1954 से लागू किया गया था। नये कानून के अधीन जहां पंचायतें थी वहां उनका पुनर्गठन किया गया और जहां नहीं थी वहां पहली बार पंचायतों की स्थापना की गयी। बलवन्त कार्य मेहता समिति के प्रतिवेदन के परिप्रेक्ष्य में राजस्थान पहला राज्य था जिसने 2 अक्टूबर 1959 को लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण योजना का क्रियान्वयन किया। "लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण".की इस योजना को "पंचायती राज" के नाम से पुकारा जाने लगा। इसके अंतर्गत नीचे स्तर पर गम पंचायत का गठन किया गया, मध्यम स्तर पर पंचायत समितियां बनायी गयी और जिला स्तर पर जिला परिषद का गठन किया गया। राजस्थान में इस समय 27 जिला परिषद, 236 पंचायत समितियां और 7292 ग्राम पंचायतें है ।

## 6. राजस्थान में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना का क्रियान्वयन :राजस्थान लक्ष्य

राजस्थान जैसे राज्य में जहां सामन्तवादी तत्व काफी शक्तिशाली थे और जहां का प्रशासन ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में पिछड़ा हुआ था, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना को सबसे पहले लागू किया जाना विस्मयकरी तथ्य है । यह एक विचारणीय प्रश्न है कि ऐसे क्या राजनीतिक–प्रशासनिक कारण थे कि जिनसे प्रभावित होकर मोहन लाल सुखाड़िया सरकार ने राजस्थान में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना लागू करने का निर्णय लिया। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि राजस्थान जैसे रियासतों के एकीकरण से बने प्रान्त मे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और पंचायती राज्य की योजना के क्रियान्वयन से किस प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन गांवों में दिखलाई देते है ।

यद्यपि लोकतन्त्र, विकास और विकेन्द्रीकरण के लक्ष्यों के प्रति राष्ट्रीय आम सहमति पायी जाती है तथापि राजस्थान में पंचायती राज के क्रियान्वयन के पीछे राजनीतिक लक्ष्य भी थे। पहले आम चुनाव में राजस्थान में कांग्रेस दल को आशातीत सफलता नही मिली थी और पार्टी जनाधार भी नहीं बना पाई थी। रियासतों के सामन्ती तत्वों की ओर से पार्टी के जनाधार से चुनौती दी जा रही थी। यद्यपि 1957 के आम चुनावों में पार्टी को अच्छी सफलता मिली थी तथापि पार्टी नेतृत्व अब भी यह महसूस कर रहा था कि पार्टी के लिये समुचित जनाधार कैसे विकसित किया जाये? इसी परिप्रेक्ष्य में श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने बलवन्तराय अध्ययन दल की सिफारिशों को अपने दल के लिये जनाधार विकसित करने वाले साधन के रूप में देखा । पंचायती राज संस्थाओं के निर्माण से राज्य में अपेक्षित सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की कामना की गई जिससे शक्ति और सत्ता जमींदारों, जागीरदारों और अभिजात्य वर्ग के हाथों से खिसक कर आम जनता और कमजोर वर्ग के हाथों में आ जायेगी। राजस्थान सरकार ने नागौर को पंचायती राज योजना के सूत्रपात के लिये चयन किया। नागौर क्षेत्र में जाट किसानों का बाहुल्य है और यदि इन किसानों का समर्थन कांग्रेस पार्टी के साथ हो जाता हैं तो निश्चित ही इससे तथ्य राजनीति में उसका जनाधार मजबूत हो जायेगा। राज्य सरकार के तत्कालीन मुख्य सचिव श्री बी. मेहता ने भी प्रशासनिक दृष्टि से पंचायती राज योजना का उत्साह से स्वागत किया था।

## 7. राजस्थान पंचायती राज प्रतिमान: विशेषताएं

राजस्थान में पंचायती राज योजना के क्रियान्वयन के पीछे चाहे जो राजनीतिक और प्रशासनिक कारण ही, कालान्तर में राजस्थान का पंचायती राज प्रतिमान अपनी कतिपय विशेषताओं के लिये संपूर्ण देश में नेतृत्व और पहल के लिये अग्रणी माना जाता है । राजस्थान में पंचायती राज प्रतिमान की निम्नलिखित विशेषताएं है –

1. राजस्थान पंचायती राज प्रतिमान के तीन स्तर है, ग्राम पंचायत, पंचायत समितिय और जिला परिषद । तीनों स्तरों में पंचायत समितियों को अत्यधिक शक्तियां प्रदान की गई है । वस्तुत : उन्हें समूची व्यवस्था की पुरी बनाया गया है । पंचायत समितियों को विभिन्न विकास योजनाओं के क्रियान्वयन का दायित्व सौंपा गया तथा उन्हे वित्तीय साधन भी प्रदान किये गये है ।
2. राजस्थान प्रतिमान में शिखरस्थ संस्था जिला परिषद मात्र परामर्शदात्री, निरीक्षात्मक तथा समन्वयात्मक काम ही करती है ।
3. पंचायती राज की त्रिस्तरीय संस्थाओं में सूत्र–सम्बन्ध स्थापित किये गये है ।
4. इस व्यवस्था में ग्राम सभी की चर्चा की गई है किन्तु उसे वैधानिक दर्जा प्रदान नहीं किया गया है ।
5. समूची व्यवस्था में सरकारी गैर–सरकारी व्यक्तियों को आपस में मिल–जुल कर का: करना है । निर्वाचित जन प्रतिनिधियों में पंचायत समिति का प्रधान अत्यन्त शक्तिशाली निकाय के रूप में उभरता है ।

सन् 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद ने बलवंत राय मेहता समिति द्वारा प्रतिपादित लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए राज्यों से इन्हें कार्यान्वित करने को कहा। आंध्रप्रदेश में प्रयोग के विचार से अगस्त, 1958 में कुछ हिस्सों में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को लागू किया गया। 2 अक्टूबर, 1959 को श्री जवाहरलाल नेहरू ने नागौर प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना का श्री गणेश किया और इसी दिन समूर्ण राजस्थान में इ लागू किया गया। जिस समय राजस्थान में इस योजना की श्री गणेश किया जा रहा था, श्री नेह ने कहा कि "डेमोक्रेटिक डिसेन्ट्रलाइजेशन" शब्द विदेशी लगता है और इसे कोई स्वदेशी न दिया जाना चाहिये। वहां. उपस्थित लोगों में से किसी ने इसके लिये "पंचायती राज" नाम का सुझाव दिया। नाम एकदम उपयुक्त पाकर सभी से इस प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना को "पंचायती राज" को कहा जाने लगा। इसी प्रकार राजस्थान सबसे पहला राज्य है जिसे सम्पूर्ण राज्य में पंचायती राज की स्थापना की।

## 8. राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं का संगठन: संरचना एवं कार्य

**1. ग्राम सभा**

ग्राम सभा राजस्थान पंचायती राज व्यवस्था की आधारभूत विशेषता है ।सन् 1959 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के समय राजस्थान पंचायत अधिनियम 1953 में एक संशोधन का अधिनियम में सेक्शन 23 (ए) जोड़ दिया गया। प्रस्तुत सेक्शन 23 (ए) के अध्ययन से पता चलता है कि अधिनियम में "ग्राम सभा" शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । इसमें केवल वयस्क निवासियों की आम सभा की ही चर्चा है । इसी वयस्क निवासियों की आम सभा को राजस्थान में ग्राम सभा का नाम दे दिया गया और आमतौर से यही शब्द इसके लिए प्रयुक्त होने लगा

वर्ष में दो बार ग्रामसभा की बैठकें आयोजित की जानी चाहिये। यद्यपि ग्रामसभा पंचायत बजट स्वीकृत करने की शक्ति नहीं दी गई है, लेकिन ग्रामसभा की बैठक में प्रकट किये गये' विचार और टिप्पणियों को लिखने और उन्हें ग्राम सभा की बैठकर में ग्राम पंचायतों के कार्यक्रमों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है और उनकी प्रगति का वर्णन किया जाता है ।

ग्राम सभा में अनेक आशाएं की गयी थी– मसलन यह प्रजातंत्र को मजबूत बनाएगी और प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का उदाहरण प्रस्तुत करेगी, यह एक ऐसे मंच में रूप में कार्य करेगी जहां लोग मिल सके और अपनी समस्याओं पर विचार विमर्श कर सकें, इसमें पंचायतों पर जननियंत्रण स्थापित होगा और पंचायतों को जनता से मार्गदर्शन मिलेगा, इसमें सामान्य जनता और पंचायत के मध्य संचार में सहायता मिलेगी ।

ग्राम स्तर पर ग्रामसभा बहुत उपयोगी संस्था है किन्तु पंचायती राज के 32 वर्षो के कार्यकाल के पश्चात् भी यह व्यवहार में प्रभावी व उपयोगी नहीं बन सकी है ।

**2. पंचायत**

पंचायत जो कि ग्राम सभा की कार्यकारी इकाई होती है, ग्रामसभा द्वारा चुनी जाती है। पंचायतों के चुनाव गुप्त मतदान द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्येक तीसरे वर्ष किये जाते है । चुनावों की दृष्टि से सारे पंचायत क्षेत्र को वार्डों में बांट दिया जाता है और वार्ड में एक पंच चुना जाता है । राजस्थान में सरपंच और चुने हुए पंचों के अतिरिक्त सर 1964 से 2 महिलाओं, अनुसूचित जाति के सदस्य और अनुसूचित जनजाति के सदस्य के सहयोजन की भी व्यवस्था की गयी है, बशर्ते कि वे पंच के रूप में चुने गये ही । पंचायत के सरपंच का चुनाव पंचायत के समूर्ण निर्वाचक मण्डल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है । सरपंच मुख्य निष्पादक के रूप में कार्य करता है और पंचायत सचिव केवल दफ्तरी कार्य सम्पन्न करता है ।

ग्राम विकास की जिम्मेदारी पंचायतों पर ही है । अत : ग्रामीण क्षेत्रों के विकास एवं कल्याण के समस्त कार्य पंचायतें ही करती है । पंचायतों के कुछ प्रमुख कार्य इस प्रकार है : (1) पीने के स्वच्छ पानी का प्रबन्ध करना (2) सड़कों का निर्माण एवं मरम्मत करना (3) सफाई और रोशनी का प्रबन्ध करना (4) अस्पतालों का प्रबन्ध करना (5) पशुओं की बीमारियों की रोकथाम और उनकी नस्ल में सुधार करना (6) मेलों, बाजारों और हाटों की व्यवस्था करना (7) प्राथमिक शालाओं के संचालन में सहयोग करना (8) लघु सिंचाई योजनाओं का क्रियान्वयन व देखभाल करना (9) गोबर की खाद बनाने और वितरण की व्यवस्था का प्रबन्ध करना (10) ग्रामीण कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करना (11) अल्प बचत के संदेश को घर–घर पहुंचाना (12) अपने क्षेत्र के विकास हेतु नयी ग्राम विकास योजना बनाना (13) स्थानीय –नागरिकों के जान माल की रक्षा का प्रबन्ध करना (14) सहकारी क्षेत्र को प्रोत्साहित करना (15) सामूहिक ग्राम क्षेत्र जैसे सार्वजनिक कुओं, तालाबों और धर्मशालाओं का निर्माण करना (16) वाचनालयों, आखाडों और खेल के मैदानों की व्यवस्था करना।

**3. पंचायत समिति**

पंचायत समिति पंचायती राज व्यवस्था का मध्यवर्ती स्तर है । पंचायत समिति में पदेन, सहयोगी तथा सहयोजित सदस्य सम्मिलित होते है । समिति के क्षेत्र की पंचायतों के सरपंच समिति के पदेन सदस्य होते है । समिति के क्षेत्र राज्य विधान मण्डल और संसद के लिये निर्वाचित सदस्य भी पंचायत समिति के सदस्य होते है किन्तु उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता और इसलिये सहयोगी सदस्य कहलाते है । इसके अतिरिक्त दो महिलाओं, दो अनुसूचित जाति एवं दो अनुसूचित जनजाति के सदस्यों मे भी सहवृत करने की व्यवस्था है ।

राजस्थान में पंचायत समिति के अकरा को 'प्रधान" कहा जाता है । प्रधान का चुनाव एक निर्वाचक मण्डल करता है जिसमें (1) एस. डी. ओ. को छोडकर पंचायत समिति के सभी पदेन एवं सहवृत सदस्य, (2) पंचायत समिति क्षेत्र के सभी पंचायतों के निर्वाचित एवं सहवृत सदस्य भाग लेते है । समूर्ण पंचायती राज व्यवस्था में प्रधान अत्यन्त शक्तिशाली निकाय के रूप में उभरा है। वह विकास अधिकारी की वार्षिक गोपनीय पंजिका पर टिप्पणी लिखता है ।

ग्रामीण विकास की अधिकतर योजनाओं की क्रियान्विति के लिये पंचायत समिति को ही उपयुक्त स्तर माना गया है । इसी आधार पर नये कार्यक्रमों में ग्रामीण क्षेत्रों में क्रियान्वित किये जाने वाले ये समस्त कल्याण एवं विस्तार कार्यक्रम जिनकी प्रभावी देखरेख उन तकनीकी

अधिकारियों द्वारा की जा सकती है जो पंचायत समितियों स्तर पर उपलब्ध है या उपलब्ध कराये जा सकते है, पंचायत समितियों को बजट एवं स्टाफ सहित हस्तान्तरित करने का निर्णय राज्य सरकार द्वारा लिये गये । इन निर्णयों के अन्तर्गत पहले ही से पंचायत समितियों को हस्तान्तरित योजनाओं के अतिरिक्त विभिन्न विभागों की योजनायें एवं कार्यक्रम क्रियान्विति हेतु पंचायत समितियों को हस्तांतरित किये गये है । इनमें एकीकृत ग्रामीण विकास, ट्राइसम, गोबर गैस, ग्रामीण पशु औषधालय, स्वास्थ्य दर्शक योजना, पौध उगाने एवं कृषि वानिकी योजना, दो लाख रूपये तक के निमार्ण कार्य, ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित छात्रावास, आश्रम, स्कूल और निराश्रित बालगृह आदि योजनायें मुख्य है ।

विभिन्न विभागों की कई ऐसी योजनाएं जिनकी क्रियान्विति तकनीकी दृष्टि से पंचायत समितियों को दिया जाना सम्भव नहीं था, उनके पंचायती राज से प्रभावी कड़े बन्धन के लिये उनकी समीक्षा का अधिकार पंचायत समितियों को दिया गया है । इनमें सहकारी ऋण वितरण एवं विपणन, ग्रामीण विद्युतीकरण, ग्रामीण क्षेत्रों की पेयजल योजनाएं ग्रामीण क्षेत्रों में वन विभाग के कार्यक्रम, ग्रामीण सड़कें, सहकारी गोदाम, निर्माण, भू–जल विभाग द्वारा कुओं को गहरा कराना, बोरिंग, हाथकर्घा कार्यक्रम आदि सम्मिलित है ।

**4. जिला परिषद**

राजस्थान में पंचायती राज व्यवस्था में जिला परिषद् का स्थान सर्वोच्च है । यह एक जिला स्तरीय संस्था है लेकिन इसका कोई निष्पादक कार्य नहीं है । इसका गठन केवल समन्वय एवं पर्यवेक्षण की दृष्टि से किया गया है । इसके सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से नही होता है । जिला परिषद् की सदस्यता निम्न प्रकार है–

**(क) पदेन सदस्य**

(1) जिले की सभी पंचायत समितियों के प्रधान (2) जिले से निर्वाचित लोकसभा सदस्य (3) राज्य सभा के वे सदस्य जो उस जिला परिषद क्षेत्र में रहते हों (4) जिले से निर्वाचित विधानसभा सदस्य (5) जिला विकास अधिकारी जिसे मताधिकार या पद प्राप्त करने का अधिकारी नही है ।

**(ख) सहयोजित सदस्य**

(1) दो महिलाएं, यदि कोई महिला जिला परिषद की सदस्य नहीं है (2) एक अनुसूचित जाति का सदस्य–यदि कोई व्यक्ति जिला परिषद का सदस्य नहीं है (3) एक अनुसूचित जनजाति का सदस्य बशर्ते कि इस प्रकार जनजातियों की आबादी जिले की कुल आबादी का 5 प्रतिशत से अधिक हो ।,

**ग) सह सदस्य**

(1) केन्द्रीय सहकारी बैक का चैयरमेन, जिला सहकारी संघ का चेयरमेन।

पंचायत समितियों के स्तर पर क्रियान्वित की जाने वाली विकास योजनाओं की प्रगति का पर्यवेक्षण एवं उनकी समीक्षा जिला परिषदों द्वारा की जाती है । जिला स्तर पर सभी ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का समन्वय भी जिला परिषद द्वारा किया जाता है । पंचायती राज संस्थाओं की इस महत्वपूर्ण कड़ी को अधिक सशक्त बनाने का निर्णय राज्य सरकार ने कुछ वर्ष

पूर्व ही लिया हैं, । नये कार्यक्रमों में जिला परिषदों को जो कार्य सौंपे गये है, वे निम्न प्रकार है–

1. प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का समन्वय एवं पर्यवेक्षण
2. स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा प्रौढ़ शिक्षा सम्बन्धी भेजे गये प्रस्तावों का परीक्षण
3. कृषि विस्तार कार्यक्रमों की क्रियान्विति में समन्वय तथा उनकी समीक्षा।

## 9. महाराष्ट्र एवं गुजरात में पंचायत राज प्रतिमान

राजस्थान में पंचायती राज का लगभग वही संस्थागत ढांचा अपनाया गया है जो बलवंत राय मेहता ने सुझाया था। मेहता समिति का यह भी मानना था कि राज्य अपनी स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार संस्थागत ढांचे में आवश्यक परिवर्तन कर सकते है । आन्ध्र और अन्य सभी राज्यों में राजस्थान के प्रतिमान को अपनाया गया जबकि महाराष्ट्र और गुजरात में भिन्न संस्थागत ढांचे को अपनाया गया ।

महाराष्ट्र में पंचायत राज के संस्थागत ढांचे का निर्माण बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों के परिप्रेक्ष्य में नायक समिति (1961) की संस्तुतियों के आधार पर किया गया है । वैसे तो वहां भी त्रि–स्तरीय पंचायत राज संस्थाएँ कार्यरत है किन्तु निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय है– (1) महाराष्ट्र में अधिक कार्य एवं शक्तियां पंचायत समिति के पास न होकर जिला परिषद के पास है; (2) पंचायत समिति एक प्रकार से स्टाफ –अभिकरण है, ब्लाक क्षेत्र के लिये विकास कार्यक्रमों के निर्माण और उनके क्रियान्वयन में जिला परिषद की सहायता करना ही इसका प्रमुख कार्य है; (3) ग्राम पंचायत और जिला परिषद के अपने स्वयं के आय के स्त्रोत भी है जबकि पंचायत समिति के अपने स्वयं के आय के साधन नहीं है; (4) पंचायत समिति वहां प्रत्यक्ष रूप से गठित है जबकि जिला परिषद में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से चुने हुए सदस्य है; (5) संसद और विधान मण्डल के सदस्यों को पंचायती राज संस्थाओं से दूर रखा गया है; (6) विकास प्रशासन और नियामकीय प्रशासन में पूर्णरूप से अन्तर करते हुए महाराष्ट्र में क्लेक्टर को पंचायत राज से पृथक रखा गया है ।

गुजरात में पंचायती राज के संस्थागत ढांचे का निर्माण करते समय आर. एल. परीक्षा समिति (1960) की सिफारिशों को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है । परीक्षा समिति ने जिला स्तरीय निकाय को अधिक प्रभावक एवं सक्रिय बनाने की सिफारिशों की थी । वहां जिला पंचायत को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है किन्तु साथ ही तालुकों पंचायतों को भी स्वयं की आय के स्वतंत्र स्रोत के साथ कुछ मौलिक कार्यो का उत्तरदायित्व सौंपा गया है । तीनों ही स्तर की संस्थाओं को अपनी–अपनी आय के साधन व मौलिक कार्य दिये गये है । पंचायत के सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते है, तालुका पंचायत में सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते है और जिला पंचायतों में सदस्यों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीके से चुने जाने की व्यवस्था है। संक्षेप में, गुजरात का पंचायती राज प्रतिमान राजस्थान और महाराष्ट्र 'के बीच का स्वरूप ग्रहण किये हुए है । '

## 10. पंचायत रत्न व ग्रामीण विकास

यह एक विचारणीय विषय है कि गांवों के विकास हेतु पंचायती राज द्वारा कौन–कौन से प्रमुख कार्य किये गये है । इसके अन्तर्गत निर्माण सम्बन्धी कार्य तथा पंचायती गज के द्वारा दी गयी विशिष्ट सुविधाओं का उल्लेख किया जा सकता है । गांवों में स्कूल भवन, पंचायत भवन एवं पटवार भवन निर्माण के कार्य ज्यादातर पंचायतों द्वारा सम्पन किये गये है । कतिपय पंचायतों ने पेयजल एवं सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध कराने में प्रमुख भूमिका निभाई है । ऐसी भी अनेक पंचायतें में जिन्होंने. सड़क व पगडंडियां के निर्माण के कार्य किये है । कई गांवों में बिजली से सुविधा उपलब्ध कराने में पंचायती संस्थाओं का सहयोग रहा है । कई पंचायतों ने काम के बदले अनाज योजना के अन्तर्गत भवन निर्माण, सड़क व पुल निर्माण, बांध, तालाब निर्माण व क्यों का कार्य सम्पन्न कराये है । ऐसी भी कतिपय पंचायतें है जिन्होंने भूमिहीनों को भूमि वितरित की हैं।

राजस्थान में पंचायती राज का यह भी लक्ष्य था कि गांवों के लोगों को अधिक से अधिक साक्षर बनाकर विकास व निर्णय प्रक्रिया में सहभागी बनाया जावे । आज पंचायती राज के अधीन कार्यरत शिक्षण संस्थाएं गांव–गांव में देखी जा सकती है । प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के संचालन में भी पंचायती राज संस्थाओं के योगदान को नकारा नहीं जा सकता । पंचायत समितियों द्वारा ग्रामीण विकास अभिकरण के सहयोग से कई गांवों में स्वरोजगार कार्यक्रम चलाये जा रहे है जिनमें ग्रामवासियों को सिलाई, कताई, बुनाई व दस्तकारी संबंधी प्रशिक्षण दिया जाता है ।

पंचायती राज व्यवस्था से गांवों में राजनैतिक व प्रशासनिक संस्थाओं के बारे में समझ का विकास हुआ है जिसके कारण ग्रामवासी इन संस्थाओं में सक्रिय सहभागिता के लिए आकर्षित हुए है । लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया में समाजीकरण के दौर से गुजरते हुए व्यक्तियों के बीच लोकतांत्रिक मूल्यों के विकास से अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ी है । मताधिकार चेतना इसी सामान्य चेतना स्तर का विशिष्ट रूप है । शिक्षण संस्थाओं की शुरूआत ने साक्षरता का प्रतिशत ही नही बढाया है बल्कि गांव के व्यक्तियों के विचारों व मूल्यों में परिवर्तन के लिये भी कार्य किया है जिसमें उनमें तार्किकता और स्वविवेक के लक्ष्य दृष्टिगोचर होने लगे है ।

संक्षेप में, पंचायती राज व्यवस्था ने 32 वर्षो के कार्यकाल में ने केवल ग्रामवासियों के मानसिक विकास में योगदान दिया है बल्कि गांवों के भौतिक विकास में भी कारगर भूमिका निभाई है जिससे गांवों में यातायात, सिंचाई, पेयजल सुविधाओं का विस्तार हुआ है और सामान्य ग्रामवासी के जीवन स्तर में आशिक सुधार भी आया है।

## 11. पंचायत रात की उपलब्धियों एवं समस्याएं

हमारे देश में पंचायती राज की शुरूआत को एक ऐतिहासिक घटना कहा गया है। पंचायती राज संस्थाओं से अधिक प्रशंसा बहुत ही कम संस्थाओं को प्राप्त हुई है । पं. नेहरू ने स्वयं कहा था कि "मैं पंचायती राज के प्रति पूर्णत : आशान्वित हूं । मैं महसूस करता हूँ कि भारत के सन्दर्भ में यह बहुत कुछ मौलिक एवं क्रान्तिकारी है ।" प्रो. रजनी कोठारी के अनुसार,

इन संस्थाओं ने नये स्थानीय नेताओं को जन्म दिया है जो आगे चलकर राज्य और केन्द्रीय सभाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों से अधिक शक्तिशाली हो सकते है । कांग्रेस और इन दलों के राजनीतिज्ञ इन संस्थाओं को समझने लगे है । अब वे राज्य विधानमण्डल के बजाय पंचायत समिति और जिला–परिषदों को तरजीह देने लगे है ।" वस्तुत : इन संस्थाओं ने देश के राजनीतिकरण, आधुनिकीकरण और समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है ।" हमारी राजनीतिक व्यवस्था में जन–हिस्सेदारी में वृद्धि करके गांवों में जागरूकता उत्पन्न कर दी

हाल ही में–राजस्थान में पंचायती राज के 25 वर्षो की उपलब्धियों का एक सर्वेक्षण के माध्यम से अध्ययन प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है जिसमें कहा गया है कि–

1. पंचायती राज व्यवस्था से गांवों में राजनैतिक व प्रशासनिक संस्थाओं के बारे में समझ का विकास हुआ है जिसके कारण ग्रामवासी इन संस्थाओं में सक्रिय सहभागिता के लिये आकर्षित हुए है।
2. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया में समाजीकरण के दौरे से गुजरते व्यक्तियों के बीच जनतान्त्रिक मूल्यों के विकास से अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ी है। मताधिकार चेतना इसी सामान्य चेतना स्तर का विशिष्ट स्वरूप है।
3. पंचायती राज व्यवस्था ने 25 वर्ष के कार्यकाल में न केवल ग्रामवासियों के मानसिक विकास में योगदान दिया है बल्कि गाँवों के भौतिक विकास में भी कारगर भूमिका निभाई है जिससे गाँवों में यातायात, सिंचाई, पेयजल सुविधाओं का विस्तार हुआ है और सामान्य ग्रामवासी के जीवन–स्तर में आशिक सुधार भी आया है।
4. शिक्षण संस्थाओं की शुरूआत ने साक्षरता का प्रतिशत ही नहीं बढ़ाया है बल्कि गांव के व्यक्तियों के विचारों व मूल्यों में परिवर्तन के लिये भी कार्य किया है।
5. पंचायती राज व्यवस्था के लागू होने के बाद गांवों में सामाजिक बुराइयों के समापन के लिये भी एक वातावरण तैयार हुआ जिसके अन्तर्गत मृत्यु भोज, दहेज प्रथा, छुआछूत, बाल विवाह तथा महिला. अत्याचार जैसी सामाजिक समस्याओं के समाधान की दिशा में कार्य किया गया है।

फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पिछले 25 वर्षो का अनुभव विशेष उत्साहवर्धक नहीं रहा। ये संस्थाएं ग्रामीण जनता में नयी आशा और विश्वास पैदा करने में असफल रही है। वस्तुत: जब तक ग्रामीणों में चेतना नहीं आती तब तक ये संस्थाएं सफल नही हो सकती। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि पंचायती राज–व्यवस्था असफल हो गयी है। कुछ राज्यों में तथा कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में इन संस्थओं ने सराहनीय कार्य किये है। यह कार्य मुख्यत: नागरिक सुविधाओं के ही सम्बन्ध में हुआ है। पंचायती राज संस्थाओं के समक्ष कुछ नयी समस्याएं उत्पन्न हो गयी है, कुछ पहले ही थी, जिनका निराकरण करना आवश्यक है। ये समस्याऐं है–

**1. सत्ता के विकेन्द्रीकरण की समस्या**

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सफलता की पहली शर्त सत्ता का स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरण करना है । पंचायती राज संस्थाओं को स्वयात्त शासन की शक्तिशाली इकाइयां बनाना था। यह तभी संभव है जब पहल नीचे के स्तरों से शुरू हो और उच्च स्तर केवल मार्ग निर्देशन करे । राज्य सरकारें इन संस्थाओं को अपने आदेशों का पालन करने वाला एजेन्ट मात्र न समझें, इसके लिये नौकरशाही की मनोवृत्ति में परिवर्तन की आवश्यकता है ।

**2. अशिक्षा एवं निर्धनता की समस्या**

अशिक्षा और निर्धनता ग्रामीणों की विकट समस्या है । इसके कारण ग्रामीण नेतृत्व का विकास नहीं हो पा रहा है । और वे अपने संकीर्ण दायरों से ऊपर नहीं उठ पाते है । किन्तु वर्तमान में अशिक्षा की दिशा में शासन द्वारा किये गये कार्यो से हमारे उत्साह में वृद्धि हो रही है।

**3. दलगत राजनीति**

पंचायती राज की सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा दलगत राजनीति है । पंचायतें राजनीति का अखाड़ा बनती जा रही है । पंचायतों में छोटी–छोटी बातों को लेकर झगड़े हुआ करते है। दलबन्दी होती हैं और बहुत सा समय लड़ने–झगड़ने में निकल जाता है । यदि हमारे राजनीतिक दल पंचायतों के चुनावों में हस्तक्षेप करना बन्दे कर दें तो पंचायतों ले गन्दी राजनीति के दलदल से निकाला जा सकता है ।

**4. धन की समस्या**

धन की समस्या पंचायती राज संस्थाओं के सामने शुरू से हो रही है । इन संस्थाओं को स्वतन्त्र आर्थिक खोता या तो दिये ही नहीं गये या फिर जो भी दिये गये है वे अर्थशून्य है। परिणामत : शासकीय अनुदानों पर ही जीवित रहना पड़ा है । अत : आय के पर्याप्त एवं स्वतंत्र स्त्रोत पंचायती संस्थाओं के दिये जाने चाहिये ताकि उनकी आर्थिक स्थिति शुरू बन सके। इनके अतिरिक्त और भी कई समस्याएं है, राजनीतिक जागरूकता की कमी, विकास कार्यो की उपेक्षा, शासकीय अधिकारियों एवं निर्वाचित प्रतिनिधियों में सहयोग का अभाव आदि। इसके अतिरिक्त सभी राज्यों में राज्य के विधान–मण्डल और संसद–सदस्यों से पंचायती राज संस्थाओं से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया है । विधान मण्डल तथा संसद के सदस्यों की स्थिति इतनी उच्च होती है कि वे पंचायती राज संस्थाओं पर अपना आधिक्य स्थापित कर लेते है और इस प्रकार अन्य सदस्यों के अभिक्रम को कुचल देते है तथा पंचायती राज संस्थाओं के कल्याणकारी विकास में बाधा डालते है । विधान–मण्डल तथा संसद के सदस्यों के पास विधायी तथा राजनीतिक काम बहुत अधिक रहता है । इसलिए उनके पास इतना समय नहीं होता कि वे अपने विधायी कार्यो के अतिरिक्त पंचायती राज की संस्थाओं की ओर पर्याप्त ध्यान दे सके । अत: उच्चस्तरीय राजनीतियों का ग्रामीण स्थानीय शासन से सक्रिय रूप से सम्बद्ध होना पंचायती संस्थाओं के हित में नहीं है । इन सभी समस्याओं का परिणाम यह हुआ कि पंचायती राज अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका।

**पंचायती राज की सफलता के लिये सुझाव–** भारत के लिये गांव आर्थिक समृद्धि का प्रतीक है । देश तभी फूलेगा–फलेगा जब उसकी आत्मा के रूप में गांव की प्रगति हो। गाँवों का

सर्वांगीण विकास पंचायतों की सफलता के द्वारा ही सम्भव है । पंचायतों की सफलता के लिये निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते है ।

प्रथम पंचायती राज संस्थाओं में गुटबन्दी को समाप्त करना होगा;

द्वितीय पंचायतों के चुनावों में मतदान को अनिवार्य करना होगा और जो मतदाता चुनाव में भाग न ले उस पर कुछ दण्ड लगाया जाये, जो पचास रूपयों से अधिक नहीं हो

तृतीय पंचायतों की वित्तीय हालत सुधारनी होगी;

चतुर्थ अधिकारियों को पंचायतों के मित्र, दार्शनिक और पथ–प्रदर्शक के रूप में कार्य करना चाहिये

पंचम पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये और अन्त में, पंचायतों पर विश्वास करना होगा वे गलतियां करेंगी और हमारा दृष्टिकोण उनके प्रति उदार ही अपेक्षित है ।

पंचायती राज संस्थाओं के प्रति राज्य सरकारों तथा जिला अधिकारियों का उदासीन होना इनके लिये घातक होगा। राज्य सरकारों, उनके तकनीकी अभिकरणों तथा जिला अधिकारियों को पंचायती राज संस्थाओं का मार्ग निर्देशन करना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना है । जिला अधिकारियों को इन विकेन्द्रीकृत लोकतन्त्रीय संस्थाओं के मित्र दार्शनिक तथा पथ–प्रदर्शक बनना है । उन्हें जनता को अधिकतम पहल करने का मौका देने वाले शिक्षकों का कार्य करना है अधिकारीगण विकेन्द्रीकृत लोकतन्त्र की गतिविधियों में सक्रिय हिस्सेदारी के रूप में खोखली धारणाओं को त्यागना होगा। नौकरशाही की पुरानी उच्चता वाली मनोवृति से काम नहीं चलेगा। अगर "खण्ड विकास अधिकारी बड़े साहब" वाला रूख अपनाने का प्रयास करेगा तो पंचायती राज आन्दोलन से भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

पंचायती राज के फलस्वरूप एक महत्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया है कि ग्रामीणों के मस्तिष्क से अधिकारियों का भय जाता रहा है । अंग्रेजी शासन के युग में ग्रामीण जन नौकरशाही की शक्ति से आतंकित थे। अब ग्रामीण बन खण्ड विकास अधिकारी के पास जाकर विश्वास के साथ उससे अपनी समस्याओं पर बातचीत कर सकते है ।

## 12. पंचायत राज का अशोक मेहता मॉडल

एक व्यापक दृष्टिकोण से अक्सर सवाल उठाया जाता है कि क्या पंचायती राज की स्थापना से भारत के देहातों में शान्तिपूर्ण ढंग से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सहायता मिली है? जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद 12 दिसम्बर, 1977 को मन्त्रिमण्डल सचिवालय ने पंचायती राज संस्थाओं की कार्यप्रणाली का अध्ययन करने एवं प्रचलित ढाँचे में आवश्यक परिवर्तन सुझाने हेतु एक उच्च स्तरीय समिति नियुक्त की । श्री अशोक मेहता इस समिति के अध्यक्ष थे । इस समिति ने अपने प्रतिवेदन में पंचायती राज संस्थाओं का एक नया प्रतिमान (मॉडल) सुझाया है । समिति की सिफारिशों के पीछे मूलभूत भावना यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर उसे संस्थागत रूप प्रदान किया जाये । समिति द्वारा सुझाये गये पंचायती राज प्रतिमान (मॉडल) की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है– प्रथम, जिला परिषद को मजबूत

बनाया जाये तथा ग्राम पंचायत की जगह मण्डल पंचायत की स्थापना की जाये । अर्थात् पंचायती राज संस्थाओं के संगठन के दो स्तर–जिला परिषद तथा मण्डल पंचायत हों। द्वितीय, जिले को विकेन्द्रीकरण की पूरी माना जाये तथा जिला परिषद को समस्त विकास कार्यों का केन्द्र बिन्दु बनाया जाये। जिला परिषद ही जिले का आर्थिक नियोजन कार्य करेगी, समस्त विकास कार्यों में सामंजस्य स्थापित करेंगी और नीचे के स्तर का मार्ग निर्देशन करेगी। तृतीय, जिला परिषद के बाद मण्डल पंचायतों को विकास कार्यक्रमों का आधारभूत संगठन बनाया जाना चाहिए । मण्डल पंचायतों का गठन कई गाँवों से मिलकर होगा। ये मण्डल पंचायतें 1 5,000 से 20,000 की जनसंख्या पर गठित की जायेंगी । मण्डल पंचायतों को कार्यक्रम क्रियान्वयन की दृष्टि से धरातलीय संगठन (Base–level Organisation) के रूप में विकसित किया जाये। धीरे–धीरे पंचायत समितियां समाप्त हो जायेंगी और उनका स्थान मण्डल पंचायतें ले लेंगी । चतुर्थ, पंचायती राज संस्थाएं समिति प्रणाली के आधार पर अपने कार्यो का सम्पादन करें । पंचम, क्लेक्टर सहित जिला स्तर के सभी अधिकारी अन्तत : जिला परिषद के मातहत रखे जायें । षष्ठ, इन संस्थाओं के निर्वाचनों में राजनीतिक दलों को खुले तौर से अपने चुनाव चिन्हों के आधार पर भाग लेने की स्वीकृति दी जाये। सप्तम, न्याय पंचायतों को विकास पंचायतों के साथ नहीं मिलाया जाना चाहिये। यदि न्याय पंचायत की अध्यक्षता योग्य न्यायाधीश करें और निर्वाचित न्याय पंचायत को उनके साथ सम्बद्ध कर दिया जाय तो अधिक अच्छा होगा ।

अशोक मेहता समिति की सिफारिशें महत्वपूर्ण है, किन्तु वर्तमान ग्राम पंचायतों को समाप्त कर उनके स्थान पर मण्डल पंचायतों का गठन कहां तक उचित होगा? ग्राम पंचायतों की समाप्ति तो पंचायती राज की कल्पना की मूल इकाई की ही समाप्ति होगी। समिति के एक स्वस्थ सिद्ध राज ढढ्ढा ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है, "मुझे जिला परिषद और मण्डल पंचायतों से आपत्ति नहीं है किन्तु समिति ने ग्राम सभा की कोई चर्चा नही की है, जबकि पंचायती राज संस्थाओं का धरातल तो ग्राम सभा को ही बनाया जाना चाहिये था।"

## 13. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के नये दिशा संकेत: 64वां संविधान संशोधन विधेयक

संविधान के 64वें संशोधन विधेयक के रूप में "पंचायती राज विधेयक" (मई 1989) केन्द्रीय सरकार की ओर से लोकसभा में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया । लोकसभा से यह विधेयक पारित हो गया किन्तु राज्य सभा से संशोधन विधेयक पारित नहीं हो सका। इस विधेयक में निम्नलिखित मुख्य प्रावधान है : (1) उन राज्यों को छोड़कर जिनकी जनसंख्या 20 लाख से अधिक नहीं है तथा जिनमें पंचायतों का गठन मध्यवर्ती स्तर पर आवश्यक नहीं होगा, प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर और जिला स्तर पर पंचायतों का गठन किया जायेगा; (2) पंचायतों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिये समुचित आरक्षण होगा; (3) प्रत्येक पंचायत में महिलाओं के लिये 30 प्रतिशत स्थान आरक्षित होंगे; (4) पंचायतों का कार्यकाल सामान्यत : 5 वर्ष होगा; (5) पंचायतों के लिये निर्वाचक नामावली तैयार कराने का

और पंचायतों के सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निदेश व नियन्त्रण भारत के निर्वाचन आयोग में निहित होगा; (6) राज्यपाल द्वारा नियुक्त वित्त आयोग अपने–अपने राज्य में पंचायतों के कर लगाने, वसूल करने व प्रयुक्त करने के अधिकार व राज्य द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों आदि की व्यवस्था का पुनर्निरीक्षण करके अपना प्रतिवेदन राज्यपालों को देंगे, जो उसे विधान मण्डल द्वारा विचारार्थ प्रस्तुत करायेंगे; (7) राज्य के विधानमण्डलों को यह अधिकार दिया गया है कि वे विधि द्वारा पंचायतों को आवश्यक कर, शुल्क पथ कर तथा अन्य प्रकार के शुल्क लगाने, वसूल करने और प्रयुक्त करने के लिये अधिकृत कर सकेंगे, राज्यों द्वारा लगाए गए व वसूल किये गये कर आदि को पंचायतों को दिये जाने की व्यवस्था कर सकेंगे तथा पंचायतों को अपने धन को जमा करने व उसका आहरण करने के लिये अधिकृत कर सकेगें ।

गैर कांग्रेस (इ) दलों द्वारा शासित राज्य सरकारों तथा विपक्षी दलों के अनेक नेताओं ने उक्त संविधान संशोधन विधेयक की आलोचना करते हुए कहा कि विधेयक के प्रावधान राज्यों की उपेक्षा करके गांवों पर सीधा केन्द्र का नियन्त्रण स्थापित करने का एक ढंग है जिससे शक्ति के विकेन्द्रीकरण के स्थान पर उसका विकेन्द्रीकरण होता दिखाई देता है। विधेयक की आलोचना का एक आधार यह भी बताया जाता है कि उसके द्वारा राज्यों की सत्ता कम की जा रही है और पंचायतों को सीधे केन्द्र के अधीन रखा जा रहा है ।

## 14. सारांश

पंचायती राज की वर्तमान पद्धति को जन्म देने का श्रेय बलवन्त राय मेहता समिति की रिपोर्ट की है। अशोक मेहता समिति को यह कार्य सौंपा गया था कि वह पंचायती राज संस्थाओं को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से इनका सूक्ष्म निरीक्षण करे । हाल ही में 64वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के दर्जे एवं शक्तियों में वृद्धि करने का प्रयास किया गया है। तथापि सत्य यह है कि अधिकांश राज्य सरकारों ने पंचायती राज संस्थाओं के साथ न्याय नही किया है। उन्हें दिये गये वित्तीय साधन बहुत ही कम है । इन संस्थाओं के चुनावों को बार–बार स्थगित किया जाता रहा है। यह आशा की जाती है कि राज्य सरकारें लोकतन्त्र और विकास की भीषण चुनौतियों से दृष्टि में रखते हुए पंचायती राज के प्रति भविष्य में अधिक उदार होंगी।

## 15. शब्दावली

1. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण– बलवल राय मेहता समिति के अनुसार राज्य से नीचे के स्तरों पर उत्तरदायित्व एवं शक्ति का विकेन्द्रीकरण ही “लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण” है ।
2. तालुका पंचायत– गुजरात में पंचायती राज की मध्य स्तरीय संस्था को “तालुका पंचायत” कहते है।
3. जिला पंचायत– गुजरात में पंचायती राज की जिला स्तरीय संस्था को “जिला पंचायत” कहते है।

## 16. कुछ उपयोगी पुस्तकें एवं प्रतिवेदन


1. Report of the Team for the study of community Development Projects and National Extension Service, 1957.
2. The Report of the Study Team on Panchayati Raj in Rajasthan, Government of Rajasthan, 1964.
3. The Report of the study Team on Panchayati Raj, Government of Rajasthan, 1972.
4. Report of the Committee on Panchayati Raj. Institution (New Delhi, Government of India, 1978.
5. Ravindra Sharma, Village Panchayats in Rajasthan, (Aalekh Publishers, Jaipur, 1974)
6. प्रभाकर गोस्वामी, राजस्थान में पंचायती राज (राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर)
7. प्रदम्न कुमार एवं डा. बी.एल. फडिया, ग्रामीण विकास : दिग्बोध की तलाश (उदयपुर, 1983)
8. M.V. Mathur, Iqbal Narain & V.M. Sinha, Panchayati Raj, in Rajasthan (New Delhi, 1966)
9. एस आर. माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन (आगरा, 1984)


## 17. बोध प्रश्न एवं उनके उत्तर संकेत

1. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ बतलाइये । 10 पंक्तियों में उत्तर दीजिये ।
   उत्तर संकेत– भाग 23.3 देखें ।
2. बलवन्तराय मेहता समिति प्रतिवेदन की विवेचना कीजिये ।
   उत्तर संकेत– भाग 23.3 देखें ।
3. राजस्थान में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण योजना का क्रियान्वयन किस प्रकार हुआ, समझाइये।
   उत्तर संकेत– भाग 23.4 व 23.5 देखें ।
4. राजस्थान में पंचायत राज संस्थाओं के संगठन एवं कार्यो की विवेचना कीजिए ।
   उत्तर संकेत– भाग 23.6 व 23.7 देखें ।
5. महाराष्ट्र तथा गुजरात में पंचायत राज राजस्थान से किस प्रकार भिन्न है, समझाइये ।
   उत्तर संकेत– भाग 23.6 व 23.8 देखें ।
6. ग्रामीण विकास के क्षेत्र में पंचायत राज के योगदान की विवेचना किजिये ।
   उत्तर सकेत– भाग 23.9 देखें ।
7. पंचायती राज विधेयक (64वें संविधान संशोधन विधेयक) के मुख्य अंशों की विवेचना कीजिये।
   उत्तर संकेत– भाग 23.12 देखें।

8. पंचायत राज की प्रमुख उपलब्धियाँ क्या हैं?

उत्तर संकेत– भाग 23.10 देखें ।

# इकाई 18

# राष्ट्रीय सुरक्षा एवं विकासात्मक समस्याऐं

**इकाई की रूपरेखा**


1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणाऐं
   - 3.1 नेहरू कालीन नैतिक एवं आध्यात्मिक आयाम : 1947 से 162
   - 3.2 इंदिरा–राजीव कालीन (मोरारजी देसाई काल को छोड़कर) आयाम : 1963 से 1989
   - 3.3 आर्थिक एवं तकनीकी आयाम : 1990 के बाद का काल
4. बंदूक–रोटी विवाद
5. निष्कर्ष
6. अभ्यासार्थ प्रश्न ।


## 1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप यह जान पायेंगे कि –

1. विकासात्मक आवश्यकताओं एवं सुरक्षा की मांग के बीच पारस्परिक सम्बन्ध क्या है?
2. भारतीय राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित कौन–कौन सी प्रमुख धारणाऐं रही है।
3. सुरक्षा के नेहरू कालीन नैतिक एवं आध्यात्मिक आयाम की क्या प्रकृति रही है?
4. राजनैतिक–सैनिक आयाम की क्या आवश्यकता थी?
5. समसामयिक काल में सुरक्षा के आर्थिक एवं तकनीकी आयाम का क्या महत्व है?

## 2. प्रस्तावना

प्रत्येक देश में राष्ट्रीय सुरक्षा की प्राथमिकता और आर्थिक विकास के मध्य तनाव पाया जाता है। यह एक विडम्बना ही है कि प्रत्येक देश को एक अराजकतावादी विश्व के अन्तर्गत अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड़ता है । प्रत्येक देश को भौतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक रूप से अस्तित्व में बने रहना अनिवार्य होता है, भारत भी इसका अपवाद नहीं है । हमारे यहाँ भी एक सार्वभौमिक स्वतंत्र राष्ट्र के उद्भव के साथ ही बन्दूक और रोटी के मध्ये चयन का एक विवाद प्रारम्भ हो गया। क्योंकि भारत के सम्मुख सुरक्षा की समस्या एवं बाहरी खतरे निरंतर रूप से बढ़ रहे थे । अत: राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए बजट में निरंतर दबाव बना रहा । मूलत : राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणा एवं आर्थिक विकास की धारणा के मध्य एक टकराहट बनी रही। इन दोनों के मध्य के सम्बन्धों का परीक्षण एवं तनावों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि एक देश द्वारा समय–समय पर अपनायी जाने वाली सुरक्षात्मक धारणाओं को देखें । ये धारणाऐं बाहरी खतरों के स्वरूप के परिवर्तन के साथ समय–समय पर बदलती रही है । अर्थात्

खतरों के प्रति धारणाऐं सुरक्षात्मक पर्यावरण जैसे घरेलू, क्षेत्रीय एवं विश्व परिदृश्य के अनुरूप बदलती रही है ।

केवल राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या ही आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाला कारक नहीं हें, वरन् क्षेत्रीय एवं विश्व परिदृश्य के अन्तर्गत भारत किस तरह का अपना बिम्ब स्थापित करना चाहता है, यह भी भारत के आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाला कारक है। अत: हम कह सकते है कि यह एक अन्तर्क्रियात्मक एवं अन्तर्सम्बन्धात्मक समस्या है । भारत की इस समस्या को भी इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए ।

अत: भारत के बदलते आर्थिक आयामों का परीक्षण हम 1947 से 1990 तक बदलती सुरक्षात्मक धारणाओं के संदर्भ में करने का प्रयास करेंगे । भारत में सुरक्षात्मक धारणा के प्रति दृष्टिकोण के फलस्वरूप जो आर्थिक विकास का स्वरूप रहा है, वही इस अध्याय का मुख्य केन्द्र बिन्दु होगा । यह तार्किक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण होगा कि इन दोनों समस्याओं को देखते हुये हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भारत की सुरक्षा मान्यताओं को जांचने का प्रयास करें ।

## 3. राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणाएं

1947 से 1997 तक भारत ने मुख्यत: तीन सुरक्षा सम्बन्धी धारणाएं अपनायी है ये निम्न लिखित है –

1. नेहरू कालीन नैतिक एवं आध्यात्मिक आयाम. 1947 से 1962
2. इंदिरा–राजीव कालीन (मोरारजी काल को छोड़कर) राजनैतिक–सैनिक आयाम : 1963 से 1989
3. आर्थिक एवं तकनीकी आयाम : 1990 के बाद का काल

इन धारणाओं के स्वरूप में परिवर्तन भारत के विश्व मत में आये परिवर्तन के फलस्वरूप हुआ है । भारत का विश्व के प्रति बदलते दृष्टिकोण के फलस्वरूप उसके सुरक्षात्मक धारणाओं के प्रति लिए गये निर्णय भी समय–समय पर बदलते रहे है । नेहरू का मत इन्दिरा गांधी एवं राजीव गांधी से भिन्न था। आगे चलकर मोरारजी का समय एक बार फिर नेहरू काल के नजदीक दिखाई देता है । वी. पी. सिंह को एक भिन्न परिस्थिति का सामना करना पड़ा। किन्तु इन सभी परिवर्तनों में विकास की आवश्यकता एवं सुरक्षा के खतरे के मध्य किसका चयन किया जाये यह एक निरन्तर तनाव का विषय रहा, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस तनाव के फलस्वरूप सैन्य शक्ति की क्षमता पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। :

### 3.1 नेहरू कालीन नैतिक एवं आध्यात्मिक आयाम : 1947 से 1962

नेहरू काल के दौरान भारत का रणनीति सिद्धान्त गांधीवादी विचारों से प्रभावित रहा । जैसा कि नेहरू ने कहा था कि "उसने (गांधी ने) अहिंसा का सिद्धान्त सिखाया था। वह बुराई के सम्मुख निष्क्रिय समर्पण के रूप में नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए एक सक्रिय एवं सकारात्मक उपकरण के रूप में सामने आया है" । स्वतंत्रता के प्रारम्भिक वर्षों में नेहरू ने कांग्रेस पार्टी के माध्यम से इस बात का समर्थन किया कि एशिया अफ्रीका के नये राष्ट्रों को विश्व में सन्तुलन स्थापित करने के लिए नैतिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिये। यह

अनिवार्य रूप से याद रखना चहिए कि भारत ने विश्व स्तर पर तनावों के समाधान के लिए गांधीवादी अहिंसात्मक सिद्धान्त का समर्थन किया था, किन्तु क्षेत्रीय स्तर पर उसने उपमहाद्वीपीय सुरक्षा की धारणा का समर्थन किया था। भारत की सीमाओं की सुरक्षा एवं दक्षिण एशिया के क्षेत्र में सुरक्षा के सम्बन्ध मे नेहरू ने राजनयिक या राजनयिक–राजनैतिक दृष्टिकोण अपनाया। इन क्षेत्रों के लिए नेहरू का आग्रह सैनिक दृष्टिकोण की अपेक्षा राजनयिक दृष्टिकोण रहा है ।

राजनयिक दृष्टिकोण के प्रति अपनाये जाने वाले नेहरू के आग्रह के नैतिक आयाम का प्रतिबिम्ब हमें संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकृत सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त में भी दिखाई देता है । नेहरू ने 1947–48 के काल में जब पाकिस्तान द्वारा समर्थित, जनजातीय सैनिक, आक्रमण हो रहा था, उस समय भी राजनयिक एवं नैतिक आग्रह पर जोर दिया था । नेहरू की यह दृढ़ मान्यता थी कि हिन्दुकुश एवं हिमालय पर्वत की प्राकृतिक बाधाओं द्वारा सुरक्षा होती है । ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की सुरक्षा में इन प्राकृतिक बाधाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । राजनैतिक व्यवस्था के संचालन के क्रम में ब्रिटिश शासकों ने परसिया, अफगानिस्तान, नेपाल, सिक्किम, भूटान एवं तिब्बत जैसे राष्ट्रों की एक मध्यस्थ राष्ट्रों (वफर स्टेट) की व्यवस्था पैदा की थी । ब्रिटिश शासकों एवं रूस के जार शासकों ने यह स्वीकार किया था कि इन राष्ट्रों के मध्य वे आपस में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। नेहरू भी इसी नीति को बनाये रखना चाहते थे। इसी नीति को बनाये रखने के लिए नेहरू ने नैतिक साधनों का सहारा लेते हुये पंचशील के सिद्धान्त का अनुकरण किया। पंचशील का सिद्धान्त पारस्परिक सम्मान एवं अहस्तक्षेप की मान्यता पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन की धारणा को स्वीकृति प्रदान करता है । सैनिक सुरक्षा की अपेक्षा एवं उसके विकल्प के रूप में नेहरू ने उपमहाद्वीपीय सांस्कृतिक एकता के सिद्धान्त को विकसित करने पर जोर दिया था । 1945 में अपनी कोलम्बो यात्रा के दौरान नेहरू ने कहा था कि "श्रीलंका (तत्कालीन सीलोन), सांस्कृतिक सामाजिक एवं भाषायी दृष्टि से भारत के किसी भी प्रान्त की भांति वह भी भारत का एक अंग है।" नेहरू भारतीय सुरक्षा नीति की अवधारणा में बहुत ही आदर्शवादी थे । वह यह कहते समय यह भूल गये कि इस कथन के द्वारा वे सीलोन की संवेदनशीलता को आघात पहुंचा रहे थे। नेहरू के द्वारा जो परिसंघ का विचार सामने रखा गया उसको दक्षिण एशिया के अन्य देश जैसे सीलोन, पाकिस्तान एवं नेपाल ने कभी पसंद नहीं किया। वह एशिया में एक सभ्यतागत एकता की धारणा पर जोर देते थे, ताकि औपनिवेशिक शक्तियों के विरुद्ध एक उपमहाद्वीप को खड़ा किया जा सके, जब कि दूसरी तरफ चीन एक साम्यवादी राष्ट्र के रूप में विकसित होकर यह चाहता था कि पश्चिमी औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध साम्यवादी विचारधारा एवं सैनिक शक्ति के द्वारा सामना किया जाये । नेहरू, लाल चीन द्वारा हिंसात्मक साधनों के माध्यम से प्राप्त की गयी स्वतंत्रता के दौरान वो लालसैना की शक्ति उभरी, उसका अनुमान लगाने में भी असमर्थ रहा। इस संदर्भ में संभवत : नेहरू का यह मानना था कि भारत को दक्षिण एशिया में एक स्वैच्छिक परिसंघ का उद्भव करना चाहिये । नेहरू की दृष्टि में यह परिसंघ ही इस उपमहाद्वीप के लिए एक सार्थक सुरक्षात्मक नीति हो सकती है । अगर यह संभव बन जाये तो दक्षिण

एशिया के सम्बन्धों में कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप करने का साहस नही कर सकती । अत : नेहरू ने नेपाल की संवेदनशीलता को अस्वीकार करते हुए कहा था कि "हम नेपाल की स्वतंत्रता का समर्थन करते है किन्तु हम यह स्वीकृति प्रदान नहीं कर सकते कि नेपाल में गलत चीजें हों । हम यह स्वीकृति भी प्रदान नहीं कर सकते कि बाधाऐं (हिमालय) कमजोर बने, क्यों कि यह हमारी स्वयं की सुरक्षा के लिए एक खतरा होगा ।" नेहरू नेपाल के अभिजन वर्ग को पसंद नहीं करते हुये वह कर्जन की भाषा बोल रहे थे । नेहरू का जो नेपाल के प्रति मत था वही–मत उनका भूटान और श्रीलंका के प्रति भी था।

भारत की सुरक्षा के प्रति नेहरू का इतना यथार्थवादी दृष्टिकोण था कि वह 1947 के उपरान्त हमें स्पष्टत: दिखाई देने लगता है । इस उपमहाद्वीप की प्राकृतिक सीमाओं पर बहुत से नये स्वतंत्र राष्ट्रों का उद्भव हुआ, जिसके फलस्वरूप उत्तर औपनिवेशिक व्यवस्था का जो उदय हुआ वह सुरक्षात्मक दृष्टि से बहुत ही समस्याग्रस्त थी। इस उपमहाद्वीप में पायी जाने वाली प्रजातीय एवं धार्मिक विभिन्नताओं के फलस्वरूप इस उपमहाद्वीप की सुरक्षा को खतरा महसूस होने लगा और यह खतरा आज तक भी निरंतर रूप से बना हुआ है । नेहरू यह देखने में असमर्थ रहे कि भारत जैसे एक लोकतांत्रिक एवं विविधतापूर्ण राष्ट्र का अस्तित्व बहुत ही उद्वेलित सीमाओं से जुड़ा हुआ है । पाकिस्तान एक पुनर्संशोधित शक्ति के रूप में उद्भव हो चुका था । चीन की यह इच्छा थी कि वह अपनी वृहद् चीन की धारणा के साथ आगे बढ़े, जिसके फलस्वरूप वह भारत की कुछ सीमाओं पर भी अपना दावा करने लगा था । नेपाल, भूटान यहाँ तक की सिक्किम एवं सीलोन भी भारत से अप्रसन्न थे, क्यों कि सुरक्षात्मक सन्धियाँ जो कि औपनिवेशिक शासकों के द्वारा की गयी थी, वे भारत के पक्ष में जाती थी । पाकिस्तान तथा चीन अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष सैनिक साधनों का प्रयोग करना चाहते थे, जबकि नेहरू का सोचना था कि भारत की नीति का क्रियान्वयन नैतिक एवं अध्यात्मिक आयामों के साथ हो । नेहरू की दृष्टि एक निकटवर्ती दृष्टि थी जिसको कालान्तर में चलकर उन्होंने स्वयं स्वीकार किया, अर्थात् नेहरू भारतीय नीति के दूरगामी प्रभावों को देखने मे असमर्थ रहे । नेहरू ने तिब्बत पर चीन के आक्रमण को बहुत ही कम करके आंका, फलत : 1954 में आधिकारिक रूप से तिब्बत को चीन का एक भाग मान लिया गया। चीन आज तक भी लगभग 3600039 किलोमीटर भारतीय सीमा को दबाये हुये है । नेहरू 1959, तक इस मुद्दे पर चुप रहे जबकि दूसरी तरफ चीन तिब्बत को जोड़ने वाला एक रोड उस समय तक बना चुका था । अक्साई चीन के क्षेत्र में चीन का प्रवेश हो गया जिसको कि भारत जम्मू एवं कश्मीर क्षेत्र के रूप में भारतीय सीमा मानता था।

नेहरू तथा कांग्रेस दल नें कभी भी जिन्ना द्वारा उठाये जाने वाले पाकिस्तानी उद्भव के मुद्दे पर रणनीतिक दूरगामी प्रभावों का विवेचन नहीं किया। कालान्तर में चलकर जब पाकिस्तान का उद्भव हो ही गया तो भारत ने इसे "फूट डालो और राज करो" की ब्रिटिश नीति का परिणाम बताते हुये स्वीकार कर लिया। यहाँ तक कि जब पाकिस्तान ने कश्मीर पर सैनिक आक्रमण किया तो कश्मीर की सुरक्षा को भारतीय धमनिरपेक्षता के एक भाग के रूप में देखा गया, न कि रणनीति सुरक्षा के रूप में । कश्मीर भारत का अभिन्न अंग रहा है अत : कश्मीर

की सुरक्षा के प्रति हमें एक रणनीति दृष्टिकोण से देखना चाहिये, जबकि हमारे यहाँ कश्मीर की सुरक्षा के खतरे के प्रति धर्मनिरपेक्ष भारत की अवधारणा को खतरा माना गया, न कि भारतीय भूभागीय एकता को खतरा।

राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति यह धारणा नैतिक प्रस्तावनाओं पर आधारित थी, किन्तु इसने हमारी सैना के प्रशासकीय एवं सामाजिक स्थिति के महत्व को घटाया । सैना प्रमुखों को रक्षामंत्री के प्रति उत्तरदायी बनाया गया । सेना की शक्ति को कम करने के क्रम में 1947 में "कमाण्डर इन चीफ" का पद समाप्त कर दिया गया, ताकि वह शक्ति छीनने का साहस न कर सके । नेहरू भारत का निर्माण सैनिक दृष्टि से नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टि से करना चाहते थे । अत: उनकी प्राथमिकता बड़े उद्योगों में एवं सुरक्षा उत्पादकों में आत्मनिर्भरता थी । अत : इस काल में कभी भी सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी. एन. पी.) का दो प्रतिशत से अधिक खर्च सुरक्षा पर नहीं किया गया। सुरक्षा के प्रति इस धारणा को भारत पर चीन आक्रमण 1962 में करारा झटका लगा। इसके फलस्वरूप विश्व की नजरों में भारत को बहुत ही शर्मिन्दगी का सामना करना पड़ा एवं अपमानित होना पड़ा। चीन ने बहुत ही थोड़ी शक्ति के साथ भारत को पराजित कर दिया। यह बहुत ही आघात पहुंचाने वाला अनुभव रहा। स्वयं नेहरू ने भी कहा कि "हम राजनैतिक दृष्टि से बहुत ही निकट दृष्टि वाले विश्व में रह रहे है, जड़ा इस पराजय ने भारतीय विदेश नीति के बेचैनी युक्त मूल्यांकन की ओर हमें धकेल दिया है।" भारत यह महसूस करने लगा की स्वतंत्रता उपरान्त उसने जो दृष्टिकोण अपनाया उसके प्रति विश्वासघात किया गया। फलत : 1965 में पाकिस्तान युद्ध के समय तक सुरक्षा पर होने वाला खर्च बढ़कर के दो गुना हो गया और यह 1998 तक कभी भी जी.एन.पी. के 3 प्रतिशत से नीचे नहीं रहा।

## 3.2 इंदिरा–राजीव कालीन (मोरारजी काल को छोड़कर) राजनैतिक–सैनिक आयाम: 1963 से 1989

इस काल के दौरान भारत ने विश्व को एक बहुत ही खतरनाक स्थान के रूप में देखना प्रारम्भ किया। विश्व मत के प्रति यह बदलाव सुरक्षित स्थान से खतरनाक स्थान का बदलाव था। इसके फलस्वरूप भारतीय नीति में यह बदलाव आया कि भारत में श्रोतों के कुल आवंटन में सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। पाकिस्तान द्वारा जब अमेरिकी प्रत्यायोजित सीटो एवं सेन्टो संधियों में प्रवेश पा लिया, तो भारत के सम्मुख सुरक्षा सम्बन्धी समस्या बहुत ही जटिल रूप में उभरकर सामने आयी। परिस्थितियों ने भारत को बाध्य किया कि वह कहीं से भी अधिक सैनिक सामान खरीदे, उसके लिए यह समस्या थी कि वह परिष्कृत हथियार, टैंक, लड़ाकू जहाज खरीदे । 1959 में तिब्बत के विद्रोह तथा 1962 चीन–भारत युद्ध एवं कालान्तर में 1965 में लड़े गये भारत–पाकिस्तान युद्ध ने नेहरू की विश्व दृष्टि को अव्यावहारिक सिद्ध कर दिया था, तथा नेहरू की यह धारणा अव्यावहारिक लगने लगी थी कि शांति एवं सुरक्षा को सैनिक संगठनों एवं संधियों के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते, वरन् इसके लिये कौशल युक्त राजनयिक नीति एवं अन्य देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने आवश्यक है । यद्यपि नेहरू की नीति असंलग्नता एवं शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के द्वि–सिद्धान्तों पर आधारित थी,

किन्तु नेहरू को इस नीति की प्रभावशीलता पर कालान्तर में चलकर प्रश्न चिन्ह लगते दिखाई देने लगे ।

1963 में चीन–सोवियत रूस दुराव के फलस्वरूप भारत सोवियत संघ नजदीक आये तथा दोनों के मध्य सैनिक सहयोग बढ़ा। दोनों देशों के मध्य सैनिक सहयोग का उद्भव होने के फलस्वरूप भारत की असंलग्नता की नीति के प्रति लोगों के मन में संदेह पैदा होने लगा। कलान्तर में 1970 में भारत एवं सोवियत संघ के मध्य जो मैत्री संधि हुयी, उसने तो स्पष्ट रूप से केवल राजनय पर आधारित भारतीय नीति की सार्थकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगा दिया। चीन–अमेरिका पुनर्मिलन, 1972 में निक्सन की चीन यात्रा, दिसम्बर 1979 में सोवियत रूस द्वारा अफगानिस्तान में हस्तक्षेप आदि ऐसी घटनाऐं रही जिनके फलस्वरूप एक तरफ भारत का सोवियत संघ के साथ सैनिक सहयोग बढ़ा तो दूसरी तरफ पाकिस्तान की अमेरिका पर निर्भरता भी बढ़ी। भारत भी एक तरह से पूर्व–पश्चिम एवं चीन–सोवियत शीत युद्ध में सक्रिय हो गया। इन सभी का परिणाम रहा कि भारत ने अपने विश्व मत में परिवर्तन किया तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति धारणा को बदला।

आन्तरिक तौर पर भारत बहुत ही उपद्रवों एवं अशान्ति का सामना करने लगा। भारत अत्यधिक राजनीतिकृत राष्ट्र बन गया था, तथा इसके फलस्वरूप शासन संचालन का कार्य काफी जटिल हो गया। 1983 से 1987 के मध्य के चार वर्षों में कानून एवं व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सरकार की सहायता हेतु 369 बार सैना को बुलाना पड़ा। 1975 में जहाँ हिंदू–मुस्लिम दंगों की संख्या 238 रही वह 1983 में 500 हो गयी। यह जो परिदृश्य उभरा उसने सुरक्षा की अवधारणा में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। उसको "राजू थामस" ने राष्ट्रीय सुरक्षा के बाह्य कारकों की अपेक्षा, राष्ट्रीय एकता को आन्तरिक चुनौतियों वाली राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा के रूप में उभरी नीति के रूप में इसकी व्याख्या की है । आन्तरिक सुरक्षा के प्रति बढ़ती समस्याओं ने सुरक्षा धारणा में परिवर्तन किया और नैतिक आध्यात्मिक धारणा से राजनैतिक – सैनिक धारणा पर जोर दिया जाने लगा।

इसी नयी धारणा का यह मत रहा कि विश्व एक खतरनाक स्थान है तथा इस खतरनाक स्थान में भारत की सुरक्षा को निरंतर खतरा बना रहता है । इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत यह माना जाने लगा कि भारत के अस्तित्व को आन्तरिक एवं वाह्य दोनों ही दृष्टियों से खतरा है, और इसका सामना रणनीतिक पर्यावरण के अन्तर्गत ही किया जा सकता है । भारत ने आत्मनिर्भरता प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया, तथा एक जनमत पैदा करने का प्रयास किया गया कि भारत को सैनिक एवं तकनीकी क्षमता के आधार पर अपनी महानता एवं सुरक्षा को प्रदर्शित करना चाहिये। यह धारणा दक्षिण एशिया क्षेत्र में भारत को एक सक्रिय एवं सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करने की रही है ।

राष्ट्रीय सुरक्षा की धारणा में आये बदलाव के फलस्वरूप भारत ने 1 970– 80 के दशक में अपनी सैनिक क्षमता को काफी बढ़ाया। सैनिक क्षमता में वृद्धि की यह प्रवृत्ति 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में भी निरंतर रूप से जारी रही । इस काल के दौरान भारतीय सेना को आधुनिकीकृत किया गया तथा उसका व्यापक विस्तार किया गया। भारतीय नौ सेना की

क्षमता इतनी अधिक विकसित की गयी कि वह, हिन्द महासागर में स्थित राष्ट्रों में सबसे शक्तिशाली बन गयी। इसके पास अब दो वायुयान कैरियर है । हालांकि इनमें से एक पुराना पड़ चुका है तथा 1990 में इसे त्याग दिया गया है। साथ ही इसके पास 26 विध्वंसक एवं एक परमाणु शक्तियुक्त तथा 16 परम्परागत शक्ति युक्त पनडुब्बियाँ है । साथ ही बहुत सारे सहायक छोटे–बड़े युद्धपोत भी है । इस काल के दौरान भारत ने 1974 में परमाणु विस्फोट करके अपनी परमाणु क्षमता को भी प्रदर्शित किया। साथ ही भारत ने विभिन दूरियों वाली मारक मिसाइलों का भी परीक्षण किया। भारत ने परमाणु एवं रसायनिक हथियारों के कार्यक्रम को भी आगे बढ़ाया । इस काल के दौरान भारत ने अपने पड़ौसी देशों जैसे मालद्वीप एवं श्रीलंका में भी हस्तक्षेप किया। इन सभी के फलस्वरूप भारत की महत्वपूर्ण स्थिति बन गयी। भारत की यह प्रभावी स्थिति न केवल दक्षिण एशिया में रही वरन् वह इसके बाहर भी प्रभावी भूमिका का निर्वाह करने लगा, तथा हिन्द महासागर क्षेत्र में भारत की आवाज को काफी महत्व दिया जाने लगा।

इस नये राजनैतिक–सैनिक दृष्टिकोण को एक अल्प आघात 1977 में लगा जबकि मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आयी। इसने उपमहाद्वीप में अपने पडोसियों से मित्रता का हाथ बढ़ाया, ऐसा ही प्रयास चीन के साथ भी किया गया। यह भी घोषणा की गयी कि भारत परमाणु हथियार विकसित नहीं करेगा। मोरारजी देसाई के शासन काल में सैनिक शक्ति के महत्व को कम करके आंका गया तथा मोरारजी देसाई ने विकासात्मक प्रयासों को आगे बढ़ाने पर जोर दिया। अत : एक बार फिर भारत एक गुटनिरपेक्ष राष्ट्र की भूमिका का निर्वाह करने लगा तथा समस्याओं को नैतिक आधार पर सुलझाने का प्रयास करने लगा।

किन्तु मोरारजी देसाई को जल्दी ही यह अहसास हुआ कि सुरक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण, 'बाह्य यथार्थताऐं, व्यक्तिगत पसन्दगी तथा नापसन्दगी से ऊपर होती है । मोरारजी देसाई ने स्वयं अपने शासन काल में यह देखा कि पाकिस्तान में भुट्टो सरकार को सैना द्वारा अपदस्थ कर दिया गया है, चीन, वियतनाम में सैनिक हस्तक्षेप करने लगा है, इन सभी का यह प्रभाव रहा कि मोरारजी देसाई ने विदेश मंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी को पिकिंग भेजा तथा चीन के साथ एक संवाद स्थापित करने का प्रयास किया। जनता पार्टी के शासन के अन्तिम दिनों के दौरान दिसम्बर 1979 में सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में हस्तक्षेप कर दिया, फलत: राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति धारणा एक बार फिर राजनैतिक–सैनिक आयामों पर केन्द्रित हो गयी।

नेहरू और विशेषकर मोरारजी देसाई के बाद नई दिल्ली के नीति निर्माताओं की यह इच्छा रही कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज में भारत की प्रतिष्ठा को बदला जाये। वे यह महसूस कर रहे थे कि चीन की तुलना में भारत को पर्याप्त सम्मान नहीं मिल रहा है, जबकि यह आकार या जनसंख्या एवं आर्थिक विकास में लगभग चीन के बराबर है । भारत को निरंतर रूप से पाकिस्तान के समान दर्जा ही प्राप्त हुआ जो कि ऐसा राष्ट्र है जिसकी जनसंख्या एवं क्षमता भारत के पांचवे हिस्से के बराबर है । 1971 में बंगलादेश के उद्भव के उपरान्त पाकिस्तान का आकार भारत के आठवें भाग के बराबर ही रह गया। इन सभी मनोवैज्ञानिक कारकों के

फलस्वरूप भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा धारणा में परिवर्तन आया तथा वह नैतिक आयाम से सैनिक आयाम की तरफ बढ़ गयी।

इस काल के दौरान दक्षिण एशिया के बाहर भी रणनीतिक बिन्दुओं की तरफ सोचा जाने लगा, क्योंकि बाह्य पर्यावरण भारतीय राष्ट्रीय हितों को प्रभावित कर रहा था । समृद्ध तेल भण्डारों वाले पश्चिमी एशिया के मुस्लिम राष्ट्र अपने यहाँ सुदृढ़ सेना स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, तथा आधुनिकतम हथियार व्यवस्था को खरीद रहे थे। पाकिस्तान ने सऊदी अरबिया के साथ अपनी सेना को प्रशिक्षित करने का सहयोगात्मक समझौता कर लिया था, तथा आधुनिक हथियार प्रणाली की जानकारी प्राप्त कर रहा था । इसके अतिरिक्त अमेरिका, रूस एवं फ्रांस ने हिन्द महासागर में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था, तथा उनकी नौसेना इस क्षेत्र की तरफ उन्मुख हो रही थी । इन सभी के फलस्वरूप भारत पर सैनिकीकरण की वृद्धि का दबाव बढ़ा तथा भारत ने भी अपने रणनीतिक क्षेत्र को मध्यपूर्व, दक्षिण पूर्व एशिया एवं हिन्द महासागर तक बढ़ा दिया।

सन् 1972 से भारत ने दक्षिण में क्षेत्रीय सैनिक उच्चता प्राप्त कर ली थी। इसमें उसका नौसेना का विस्तार एवं उनके प्रक्षेपास्त्र विकास कार्यक्रमों का उल्लेखनीय योगदान रहा था। उसके सैनिक ठिकानों की पहुंच मध्य–पूर्व, मध्य एवं दक्षिण पूर्व एशिया तक विस्तृत हो गयी थी । उसका यह भी प्रयास रहा कि वह अपने रणनीतिक क्षेत्र में हिन्द महासागर सहित दक्षिण पूर्व एवं दक्षिण पश्चिम अर्थात् आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका को भी सम्मिलित करे । वास्तविकता यह भी कि इस काल के दौरान भारत का प्रयास सुदृढ़ सैनिक प्रतिष्ठानों को स्थापित करना था। यह माना गया कि भारत ने शक्ति द्वारा शान्ति की परिचित नीति को अपनाया। जो व्यक्ति भारतीय सैनिक वृद्धि के समर्थक रहे उनका तर्क था कि इस काल के दौरान दक्षिण एशिया में जो तुलनात्मक शान्ति रही वह भारत की सैनिक प्रभुता का परिणाम ही थी।

शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही शक्ति स्त्रोतों के बारे में संदेह पैदा किया जाने लगा। एक विचारधारा वाले लोगों का अभी भी मानना था कि शक्ति बन्दूक की नली से पैदा होती है, जबकि दूसरी विचारधारा के मानने वालों का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का स्रोत आर्थिक शक्ति होती है । यह विश्वास व्यक्त किया गया कि भविष्य की प्रतिष्ठा प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पादन, व्यापार सन्तुलन एवं वस्तुओं और सेवाओं में विश्वस्तरीय गुणात्मक प्रतियोगिता से ही निर्धारित होती है । जापान, दक्षिण कोरिया एवं ताईवान आर्थिक शक्ति को ही आधार मानकर एशिया एवं विश्व पटेल पर निर्णायक भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। अत : यह एक विवादास्पद विडम्बना ही थी कि भारत एक तरफ अपने सैनिक प्रतिष्ठानों को सुदृढ़ करने का कार्यक्रम नहीं छोड़ पा रहा था, तथा दूसरी तरफ भारत पर यह दबाव था कि वह राजनैतिक सैनिक आयाम की अपेक्षा, आर्थिक एवं तकनीकी आयाम पर अपना ध्यान केन्द्रित करे । किन्तु कालान्तर में चलकर अर्थात् नवें दशक के उत्तरार्द्ध में तथाकथित गुजराल सिद्धान्त के अन्तर्गत राष्ट्रीय सुरक्षा के बिन्दु में आर्थिक एवं तकनिकी आयाम महत्वपूर्ण बन गया।

### 3.3 आर्थिक एवं तकनीकी आयाम: 1990 के बाद का काल

स्वतंत्रता के उपरान्त से ही भारत का विश्व में क्या स्थान है, इसके बारे में एक अनिर्णय की ही रही है। एक तरफ जैसा कि हमने देखा कि गांधी एवं नेहरू द्वारा सौम्य विश्वमत को प्रतिस्थापित किया गया तो दूसरी तरफ यह भी माना गया कि भारत का अस्तित्व एक खतरनाक विश्व परिदृश्य में स्थित है, जिसको कि आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही दृष्टियों से खतरा महसूस हो रहा है । प्रथम विश्व मत को मुख्यत : कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत किया गया जिसका आग्रह समाजवादी, धमनिरपेक्ष पार्टी एवं हिन्दुत्व परिवार कर रहा है। इनका मानना है कि भारत को सैनिक एवं तकनीकी आधारित शक्ति के द्वारा ही अपनी महानता एवं सुरक्षा को प्रदर्शित करना चाहिये। इस मत की अभिव्यक्ति इंदिरा गांधी एवं राजीव गांधी काल में भी मिलती है। किन्तु भारतीय जनता पार्टी इनसे एक भिन्न विश्व मत लेकर चलती है जिसका यह मानना है कि भारत एक हिन्दु राष्ट्र है तथा उसे अपने हिन्दू गौरव को अभिव्यक्त करना चाहिये।

नवें दशक में गुजराल सिद्धान्त आया, यह न तो नेहरू की मान्यता के नजदीक था और न ही हिन्दुवादी चिन्तन धारा के नजदीक। सुरक्षा की गुजराल धारणा एक भारतीय मध्यम वर्ग की आशाओं के अनुरूप थी। इसके अन्तर्गत यह माना गया कि तकनीकी उन्नयन पर ही हमारा भविष्य निर्भर करेगा। एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए यह जरूरी है कि वह तकनीकी क्षमता पैदा करे ताकि उसमें विश्वास की भावना पैदा हो सके । दक्षिण एशिया एवं हिन्द महासागर क्षेत्र में अपने प्रभाव के लिए भी यह आवश्यक है। इन लोगों का यह भी आग्रह रहा कि भारत को अपने पड़ौसियों पर प्रभुता स्थापित करने की अपेक्षा चीन जैसे राष्ट्र की भांति भारत को भी विश्व में एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो। अत : यह भारत का अधिकार है कि वह हिन्दु प्रभुत्व जमाने की अपेक्षा एक स्वतंत्र, सार्वभौम, सुदृढ़ राष्ट्र का दावा प्रस्तुत करे । फलत : गुजराल की मिली जुली सरकार का लक्ष्य एक धर्मनिरपेक्ष भारत को प्रस्तुत करना रहा, जिसकी रुचि राष्ट्र को आर्थिक एवं तकनीकी दृष्टि से सुदृढ़ बनाने में थी, ताकि वह भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सके। भारत के सुदृढ़ीकरण स उनका विचार पड़ौसियों की कीमत पर नहीं बल्कि उनके सहयोग पर आधारित रहा है । यह क्षेत्रीयकरण के द्वारा भूमण्डलीकरण का समर्थन करती है। अत: हम कह सकते है कि यह नयी सुरक्षा धारणा मूलत: जनकेन्द्रित है, जिसका आग्रह अपने पड़ौसियों से टकराव की अपेक्षा सहयोग पर रहा है ।

## 4. बंदूक–रोटी विवाद

भारत में स्वतंत्रता के इन पचास वर्षो में हमारे यहां यह काफी विवाद रहा है कि, विकासात्मक आवश्यकताओं की कीमत पर सुरक्षा मद में बजट आवंटन हो रहा है। अत: भारत सरकार पर यह जो दबाव रहा उसी को परिणाम था कि उसने सुरक्षा बजट के प्रति एक तदर्थ दृष्टिकोण ही अपनाया। 1947 से 1962 (नैतिक एवं आध्यात्मिक धारणा का काल) के दौरान सुरक्षा पर खर्चा हमारी बहुत ही निम्न प्राथमिकता रही। हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पादन का इस काल में सुरक्षा पर दो प्रतिशत से अधिक खर्चा नही किया गया। सुरक्षा सेवाओं के योजनागत खर्च की आवश्यकताओं पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया।

द्वितीय चरण के दौरान भारत–चीन युद्ध के दौरान केबीनेट की आपात समिति ने स्पष्टत: यह लक्ष्य निर्धारित किया कि भारत की सैनिक क्षमता में वृद्धि की जाये। 1964 से 1989 की सैनिक आवश्यकताओं का परीक्षण करते हुये इस समिति ने सुरक्षा पर पर्याप्त पैसा खर्च करने का वायदा किया, और सुरक्षा व्यय में पर्याप्त वृद्धि की गयी। यह इस बात से भी स्पष्ट होता है कि प्रथम पंचवर्षीय सुखा योजना 1664 से 1989 एवं सातवीं पंचवर्षीय सुरक्षा योजना 1985 – 1990 में आवंटित सुरक्षा मद में दिये गये पैसे में भारी अन्तर था। प्रथम पंचवर्षीय सुरक्षा योजना का अनुमोदन 1964 में किया गया था एवं कालान्तर में चलकर इसको 1966 एवं 1969 में अध्ययन किया गया था। इस योजना में कुल व्यय का अनुमान पांच हजार करोड़ रुपया किया गया था। इसके अन्तर्गत सेना का विस्तार करके उसे 8,25,000 बना दिया गया, तथा वायु सेना को 45 स्वॉयडन बनाया गया। नौसेना के विस्तार एवं आधुनिकीकरण पर बहुत पैसा आवंटित किया गया, किन्तु नौसेना अधिकारी 1990 में भी यह कहते है की नौ सैना इस योजना में निर्धारित संख्या तक नहीं पहुंच पायी है । नौसेना अधिकारियों का मानना है कि वर्तमान गति रही तो नौ सेना सन् 2000 में 23 प्रतिशत कम हो जायेगी तथा सर 2010 तक इसमें 50 प्रतिशत तक की कमी आ सकती है।

प्रथम योजना की विशेषज्ञों द्वारा बहुत ही अधिक आलोचना की गयी। यह मुख्यत: वार्षिक योजना बजट का ही संग्रहण था। इस योजना के अन्तर्गत योजना निदेशालय बनाने का भी लक्ष्य रखा गया किन्तु इसके कार्यालय को बहुत ही कम महत्व दिया गया। द्वितीय एवं तृतीय योजना तक भी यही स्थिति रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सैनिक क्षमता का जो अनुमान लगाया गया उससे आवश्यकता कही अधिक थी।

1988 में संसद में सातवीं योजना पर टिप्पणी करते हुये तत्कालीन रक्षा मंत्री के.सी. पन्त ने स्वीकार किया था कि नागरिक एवं सैनिक सेवाओं पर जो बजट आवंटित किया जा रहा है, उसको लेकर काफी तनाव है । रक्षा मंत्री का यह वक्तव्य स्पष्ट करता है कि ऐसा नहीं है कि सरकार सुरक्षा पर पैसा खर्च नहीं करना चाहती किन्तु उपलब्ध श्रोतों पर इतना दबाव है कि सैनिक सेवाओं पर पर्याप्त पैसा खर्च नहीं कर सकते। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वहाँ आठवीं सुरक्षा योजना का प्रारम्भ 1990 में हो जाना चाहिये था, उसके बारे में हम आज तक भी कुछ नहीं सुन पा रहे है ।

वेतन एवं भत्ते तथा पेंशन का दबाव भी एक महत्वपूर्ण कारक है । सेना बजट का चालीस प्रतिशत वेतन एवं भत्तों पर चला जाता है । यह अनुमान लगाया जाता है कि 25 प्रतिशत धन स्थापना खर्च पर जायेगा, किन्तु इन सब में कटौती वेतन एवं भत्तों पर हो नहीं सकती, अत: अन्य सेवाओं के मद में कटौती की जाती है । सैना का पूंजीगत व्यय भी बहुत तेजी से बढ़ रहा है । जहाँ तक नौ सैना का सम्बन्ध है, 1990–91 में उसकी पूंजीगत लागत नौ सेना की मांग से कहीं अधिक चला गया। वायुसेना में यह खर्च 78 प्रतिशत रहा। हालांकि इन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये 1985–1990 के मध्य वार्षिक सैनिक बजट आवंटन वृद्धि 15 प्रतिशत रही है, किन्तु मुद्रास्फीति के फलस्वरूप इस वृद्धि का भी कोई परिणाम सामने दिखाई नहीं दिया ।

इस संदर्भ में एक विवाद यह भी रहा कि मानव शक्ति को महत्व दिया जाये या सेवाओं के आधुनिकीकरण को महत्व दिया जाये, उदाहरण के लिए सेना द्वारा मानव शक्ति में वृद्धि हेतु 85000 सेवा कर्मियों की आवश्यकता प्रस्तुत की गयी किन्तु सातवीं योजना में इस संख्या को घटाकर 45 हजार कर दिया गया। मोद्रिक दबाव का भी यह परिणाम रहा कि सेना के तकनीकी प्रभागों में मानवशक्ति को सीमित किया गया तथा उसे कम किया गया। हालांकि इस संदर्भ में यह आरोप लगाया जाता है कि आधुनिकीकरण के पूर्वानुमान को देखते हुये ही यह संख्या कम कर दी गयी, जबकि वास्तव में आधुनिकीकरण उस सीमा तक नहीं हुआ।

सरकारी दृष्टिकोण के अनुसार 1977–78 के अलावा भारतीय सेना की संख्या में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुयी। 80 के दशक के दौरान भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का तीन–चार प्रतिशत के बीच ही सैनिक खर्च सीमित रहा। चीन युद्ध 1962 से सैनिक खर्च पर यही प्रतिशत लगभग बना रहा। अगर इसको हम पाकिस्तान, दक्षिणी कोरिया एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक खर्च से तुलना करके देखें तो वहां यह 6 से 7 प्रतिशत के बीच रहा। वहां भारत में सन् 1988 में प्रतिव्यक्ति सैनिक खर्च 10 डालर था, वही पाकिस्तान में यह 26 डालर प्रतिव्यक्ति, मिश्र में 61 डालर, दक्षिण कोरिया में 147 डालर, ताईवान में 192 डालर, ईराक में 433 डालर, इजरायल में 821 डालर एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रतिव्यक्ति सैनिक खर्च 1061 डालर रहा।

इस संख्या के होते हुये भी भारतीय अर्थव्यवस्था में 1979 के उपरान्त सकल घरेलू राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर पांच प्रतिशत रही । 1988 में यह लगभग 9 प्रतिशत थी । अत : इसका तात्पर्य यह निकाल सकते है कि 1962 के उपरान्त सुरक्षा पर जी.एन.पी. का तीन से चार प्रतिशत वार्षिक आवंटन होते हुये भी 1969 के बाद का वार्षिक आवंटन कुल राशि की दृष्टि से पिछले दशकों की तुलना में बहुत अधिक रहा। इस प्रवृत्ति को हम विगत वर्षों की तुलना में भारतीय सुरक्षा पर देय कुल राशि में निरंतर वृद्धि से भी देख सकते है । इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी जी.एन.पी. पर काफी दबाव पड़ने लगा। अगर हम मुद्रास्फीति को भी ध्यान में रखकर देखें तो सुरक्षा पर कुल आवंटित राशि प्रति वर्ष काफी बढ़ा है । 1985 से 86 में यह वृद्धि 27.3 प्रतिशत रही तथा 86 से 87 में वृद्धि दर 21.1 प्रतिशत रही। इस वृद्धि के उपरान्त भी यह बढ़ी हुयी राशि भारतीय सेना की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ रही । 80 के दशक में इस राशि का अधिकांश उपयोग भारतीय सैनिक आपरेशनों में हुआ। इसमें हम 1987 एवं 1989 में श्रीलंका मे, सियाचीन ग्लेशियर में एवं मालद्वीप में सेना द्वारा किये गये आपरेशनों को ले सकते है । साथ ही सैनिक साजो–सामान पर विदेशी मुद्रा में किया गया व्यय भी काफी अधिक रहा।

सामान्यत: भारतीय सैनिक खर्च पर यह कहा जाता है कि कोई भी देश अपने सैनिक खर्च के बारे में सच्चे आंकड़े प्रस्तुत नहीं करता, भारत को भी इसका अपवाद नहीं मानते । चीन और पाकिस्तान की भांति भारत के सैनिक खर्च को भी कम करके बताने वाला माना जाता

है। इस संदर्भ में “रवि रिखे” का अनुमान है कि भारतीय खर्च की दर जी.एन.पी. के पांच प्रतिशत तक है।

## 5. निष्कर्ष

सुरक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का निर्धारण उसके द्वारा अपनाये गये विश्वमत के अनुरूप होता है । भारत द्वारा जो सुरक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोणों में समय–समय पर परिवर्तन किया गया है, उसमें सुरक्षा सम्बन्धी सोच भी प्रभावी हुयी है । हमारे यहां निरंतर रूप से विकास की आवश्यकता एवं सुरक्षा की मांग के बीच श्रोत आवंटन की प्रतियोगिता रही है । किन्तु इस प्रतियोगिता ने भारतीय सैनिक बल की क्षमता को कभी प्रभावित नहीं किया है, और इसने भारत के विकास को भी बाधित नहीं किया है ।

## 6. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. राष्ट्रीय सुरक्षा की प्रमुख धारणाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
2. राष्ट्रीय सुरक्षा में तकनीकी एवं आर्थिक प्रगति के योगदान की समीक्षा कीजिये।
3. राष्ट्रीय सुरक्षा, विकासात्मक मुद्दों को कैसे प्रभावित करती है। व्याख्या कीजिये।

# इकाई – 19
# साम्प्रदायिकता एवं धर्मान्धता

**इकाई की रूपरेखा**

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 साम्प्रदायिकता: एक शब्द के रूप में एवं एक प्रक्रिया के रूप में

19.2.1 साम्प्रदायिकता – एक शब्द के रूप में

19.2.2 साम्प्रदायिकता – एक प्रक्रिया के रूप में

19.3 भारतीय साम्प्रदायिकता के रूप एवं प्रकार

19.4 साम्प्रदायिकता क्या है?

19.5 भारतीय राज्य को साम्प्रदायिकता की चुनौती

19.6 साम्प्रदायिकता को कैसे रोका जाय?

19.7 सारांश

## 19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे कि

1. साम्प्रदायिकता का शाब्दिक एवं प्रक्रियात्मक अर्थ क्या है?
2. भारत में साम्प्रदायिकता की प्रकृति क्या है, तथा वह किस–किस रूप में पायी जाती
3. भारतीय राज्य के सम्मुख प्रस्तुत होने वाली चुनौतियाँ कौन–कौन सही है?
4. साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति को रोकने के लिए कौन–कौन से कदम उठाने आवश्यक हैं।
5. भारत में राज्य निर्माण की प्रक्रिया को सुदृढ़ करने, के लिए साम्प्रदायिकता की समस्या से किस प्रकार निपटा जाये?

## 19.1 प्रस्तावना

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से स्वतंत्रता के उपरान्त भारत दो प्रकार के तनावों से गुजर रहा है, हालांकि इन तनावों की जड़े हमें औपनिवेशिक भारत में भी दिखाई पड़ती है। ये दो प्रकार के तनाव है– प्रथम साम्प्रदायिकता तथा द्वितीय जातिवादिता। सन् 1970 के बाद से इन तनावों ने काफी हिंसात्मक स्वरूप ग्रहण कर लिया है एवं भारतीय राज्य के समक्ष अत्यधिक चुनौती उपस्थित कर दी है । साथ ही इन तनावों ने भारत में राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया को भी काफी क्षति पहुंचाई है । जैसा कि स्पष्ट है भारतीय संविधान ने भारत को एक समाजवादी धमनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में घोषित किया है अत : प्रत्येक व्यक्ति धर्मनिरपेक्षता लोकतंत्र आदि की मान्यताओं को स्वत: ग्रहण करेगा एवं इनका अनुसरण करेगा। भारत का विचार – एक बहुलवादी सहिष्णु एवं धमनिरपेक्ष भारत – जो कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के केन्द्र में रहा है, तथा वह हमारी स्वतंत्र भारत की वैधानिक व राजनीतिक संरचना के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, को आज काफी गम्भीर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है ।

प्रस्तुत इकाई का आग्रह इन्हीं चुनौतियों का विवेचन करना है, अत: यह आवश्यक है कि हम भारतीय राज्य के सम्मुख उपस्थित साम्प्रदायिकता की चुनौती, इसका अर्थ, उद्भव, स्वरूप एवं इसके प्रकारों का विवेचन करें ।

## 19.2 साम्प्रदायिकता: एक शब्द के रूप में एवं प्रक्रिया के रूप में

### 19.2.1 साम्प्रदायिकता – एक शब्द के रूप मे

साम्प्रदायिकता एक शब्द के रूप में वैवस्टर न्यू कालिजियट डिक्शनरी में साम्प्रदायिक शब्द के परिभाषित करते हुए लिखा है कि "यह एक ऐसा सामाजिक संगठन है जो कि साम्प्रदायिक आधार पर धार्मिक एकीकृतता से जुड़े सामाजिक राजनैतिक समूह के प्रति प्रतिबद्ध होता है ।" साधारण शब्दावली में हम कह सकते है कि यह एक ऐसा सकारात्मक शब्द है जो कि एक व्यक्ति को अपने समुदाय की अच्छाईयों से जोड़ता है किन्तु राजनीति के क्षेत्र में यह नकारात्मक आयाम ग्रहण कर लेता है । राजनीति के अन्तर्गत यह सिखाया जाता है कि जो व्यक्ति हमारे समुदाय से सम्बन्धित नहीं है वे व्यक्ति किसी अन्य समुदाय से सम्बन्धित है तथा ये व्यक्ति हमारे समुदाय के दुश्मन है । इस तरह एक बहुत ही साधारण एवं सरल शब्द, राजनीति में यह अलगाववादी एवं पृथकतावादी स्वरूप ग्रहण कर लेता है । जिसके फलस्वरूप एक समुदाय के सदस्य दूसरे समुदाय के प्रति घृणा एवं अनादर की दृष्टि से देखते है । साम्प्रदायिक शब्द भारत में धीरे–धीरे एक धार्मिक समूह के रूप में अत्यधिक संकीर्ण, स्वार्थी, अलगाववादी एवं आक्रामक दृष्टिकोणयुक्त हो गया है ।

### 19.2.2 साम्प्रदायिकता–एक प्रक्रिया के रूप में

हमारे सम्मुख यह प्रश्न उठता है कि भारत में यह सकारात्मक शब्द किस प्रकार नकारात्मक रूप में परिवर्तित हो गया है । साम्प्रदायिकता के ऐतिहासिक, अर्थ इसकी तात्कालिक संदर्भित परिस्थितियाँ एवं इसके उद्देश्य को समझने की दृष्टि से हमें भारत के औपनिवेशिक काल की समीक्षा करनी होगी ।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों को दो उपमहाद्वीपीय ऐतिहासिक यथार्थताओं का सामना करना पड़ा–प्रथम–सभ्यतागत एकता एवं द्वितीय सांस्कृतिक विभिन्नता। जहाँ तक सभ्यतागत एकता के अस्तित्व का प्रश्न है तो इसने भारत में राजनैतिक एकरूपता एवं अखिल भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता को बढ़ावा दिया। भारतीयों में इस अखिल भारतीयता की आकांक्षा रही एवं वे इसके प्रति उत्सुक भी रहे। दूसरी तरफ भारत में धर्म, पंथों, जातियों, जन जातियों, भाषाओं, बोलियों आदि के आधार पर सामाजिक – सांस्कृतिक विभिन्नताएँ भी पायी जाती रही है । ये विभिन्न धर्मों एवं उपधर्मों मे पायी जाने वाली विभिन्नताएं, भारतीय समाज के विषमताओं एवं विजातीयता के आयाम को इंगित करती है। अगर इस आधार–पर कोई प्रमुख समुदाय दृढ़ एवं कठोर दृष्टिकोण अपनाता है तो पृथकतावादी लक्ष्यों तथा विखण्डनकारी उद्देश्यों की तरफ अग्रसित करेगा। स्पष्ट है कि किसी भी उपनिवेशवादी शक्ति ने कभी भी एकता को बढ़ावा नहीं दिया। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने भी द्वितीय विकल्प को ही चुना। अर्थात् इनका आग्रह राष्ट्रीय एकता की अपेक्षा भारतीय समाज में विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा देना रहा क्योंकि

विभाजित समाज औपनिवेशिक सत्ता के हित में था। यह कोई नयी बात नहीं थी क्योंकि किसी भी औपनिवेशिक शासन में समुदायों की एकता एवं राष्ट्र की जनता की एकता को दृढ़ एवं पुष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया है ।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने भारत को मुख्यत : दो समूहों को संकलन माना। ये दो समूह प्रथम–सामन्तवादी शासक वर्ग जिसमें राजाओं एवं नबावों, जमीदारों, ताल्लुकदारों को लिए(द्वितीय समूह में इन्होंने धार्मिक समुदायों को जैसे हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि को लिया । शासन. संचालन की दृष्टि से ब्रिटिश शासकों ने भारत को ब्रिटिश भारत (प्रत्यक्षत : शासित प्रान्त) एंव देशी रियासतों का भारत (लगभग 560 देशी रियासतों पर अप्रत्यक्ष शासन) दो भागों में बाँटा था। यहाँ यह उल्लेख करना वांछनीय होगा कि साम्प्रदायिक समुदायों में विभाजन के लिए मुख्यत: उन्होंने ब्रिटिश भारत को चुना। वायसराय एवं गवर्नर जनरल जो कि भारतीय प्रशासन के मुख्य अभिकर्ता थे, ने सामन्ती वर्गों के मध्य पाये जाने वाले एवं विभिन्न धार्मिक समुदायों के मध्य पाये जाने वाले अन्तर्निहित द्वेषता एवं तनावों को जोड़ तोड़ के माध्यम से उभारने का प्रयास किया, ताकि भारत में अंग्रेज अपने शासन को सुदृढ़ बना सकें । इस संदर्भ में यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि ब्रिटिश प्रान्तों के भारतीयों को मुख्यतः : विभिन्न धार्मिक समुदायों के व्यक्तियों के रूप में ही देखा गया। ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों को सामाजिक आधारों अर्थात् हिन्दु, मुस्लिम, सिख आदि के आधार पर ही व्यवस्थापिकाओं, स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया। उन्होंने पुलिस एवं सेना में भी लोगों को साम्प्रदायिक आधार पर नियुक्ति प्रदान की । इन नियुक्तियों में सामुदायिक कारक के अतिरिक्त और कोई अन्य महत्वपूर्ण कारक नहीं रहा।

राजनीति में धार्मिक आधार पर दिये जाने वाले महत्व के फलस्वरूप ये प्रक्रियाएं स्वाभाविक' रूप से ओर तेजी से बढ़ने लगी । अत : धार्मिक फूट या विघटन, राजनैतिक फूट या विघटन में परिवर्तित होती चली गयी । इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक समुदाय एवं राजनैतिक लाभ प्राप्ति दोनों काफी निकटता से एक दूसरे से जुड़ गये । ब्रिटिश शासन के दौरान औपनिवेशिक शासकों ने इस सांप्रदायिक राजनीति को पूरी तरह से बढ़ावा दिया । यह साम्प्रदायिक राजनीति धर्म निरपेक्ष एवं राष्ट्रीय 'राजनीति की प्रक्रिया के विपरीत सामने आती दिखाई पड़ती है । एक सामने आया जिसको या मुसलमान मतदाता या उम्मीदवार या प्रतिनिधि– के रूप में बाँट दिया गया था।

इस तरह से इस ऐतिहासिक संदर्भ में सामुदायिकता ने राष्ट्रीय अस्मिता का विघटनकारी अर्थ ग्रहण कर लिया । इसका धर्म निरपेक्ष प्रक्रिया के विरुद्ध भी प्रयोग किया गया। साम्प्रदायिकता की अवधारणा ने बहुत ही संकीर्ण एवं नकारात्मक स्वरूप ग्रहण कर लिया तथा उसे अपने एक विशिष्ट धार्मिक –समुदाय से जोड़ दिया गया । राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए धार्मिक आग्रहों को बढ़ावा दिया गया तथा एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्म के लोगों कें सामने लाकर खड़ा कर वैमनस्यता को बढ़ावा दिया। इस तरह से सामुदायिकता को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया जाता है जो कि धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीय अस्मिता को क्षति पहुंचाती हो तथा जिसके द्वारा औपनिवेशिक शासकों के फूट डालो एवं राज करो के खेल के अंतर्गत वृहद राष्ट्रीय एकता को समाप्त किया गया हो ।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता की प्रक्रिया के समूर्ण विवेचन में हमारी यह मान्यता कदापि नहीं है कि ब्रिटिश शासन से पूर्व धार्मिक समुदायों में इस प्रकार की भावना या तनाव को बढ़ाने एवं इसके प्रत्यक्ष रूपान्तरण तथा धार्मिक कटुता को बढ़ाकर के सामाजिक राजनैतिक विघटनकारी तनावों को बढ़ावा देने में ब्रिटिश शासन कई नीतियों की निर्णायक नकारात्मक भूमिका रही है । अत : धार्मिक आधार पर भारत के विभाजन का मुख्य आरोप ब्रिटिश शासन पर जाता है ।

साम्प्रदायिकता जैसे सरल शब्द, जिसका प्रयोग एक विशिष्ट समुदाय के विशिष्ट हितों के सरंक्षण एवं सम्बर्द्धन हेतु किया जाता था वह शब्द ब्रिटिश शासन की नीतियों के परिणाम स्वरूप अत्यधिक घृणित रूप में परिवर्तित हो गया। राजनीति के क्षेत्र में यह बहुत ही नकारात्मक एंव अनर्थ का परिचायक बन गया। इसके अन्तर्गत जनसंख्या के एक वर्ग के हितों को बढ़ावा दिया जाने लगा जो कि समय रूप से एक समाज एवं एक राष्ट्र के हितों की दृष्टि से हानिकारक रूप में सामने आने लगा। साम्प्रदायिकता का अतिवादी रूप हमें धर्मान्धता में दिखाई देता है फलत: यह सामाजिक परिवर्तन, सृजनात्मकता एवं प्रगतिशीलता के विरोध में सामने आता है । जैसा कि रिचर्ड डी. लम्बर्ट ने कहा है कि "यह सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध है एवं अपने सामाजिक दृष्टिकोण में प्रतिक्रियावादी होता है।" यह प्रगतिशील एवं धर्म निरपेक्ष राष्ट्र के' सम्मुख एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत होता है ।

## 19.3 भारतीय साम्प्रदायिकता के रूप एवं प्रकार

भारत में दो प्रकार की साम्प्रदायिकता देखने को मिलती है प्रथम– मुस्लिम साम्प्रदायिकता या अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता तथा द्वितीय – हिन्दू साम्प्रदायिकता या बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता। प्रथम सांप्रदायिकता अर्थात् अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता के अन्तर्गत यह दावा किया जाता है कि उन्हें कोई संरक्षण प्राप्त नहीं है । तथा उन्हें बहुसंख्यकों के दबावों से उपजी असुरक्षा की भावना से निकाल कर सुरक्षित करना होगा। द्वितीय सांप्रदायिकता अर्थात् बहुसंख्यक सामुदायिकता के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों पर धार्मिक भावनाओं को उकसाने का आरोप लगाया जातो है । अत: ये दोनों ही एक दूसरे समुदाय में तनावों को बढ़ाते है एवं भय तथा अविश्वास की भावना को जन्म देते है जबकि वास्तविकता यह है कि एक समुदाय का अस्तित्व दूसरे इस समुदाय के अस्तित्व पर निर्भर करता है । अशोक मेहता एवं अच्युत पटवर्धन के अनुसार हिन्दु सामुदायिकता मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रति उत्तेजनशील एवं एक प्रतिक्रिया रही है । इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दोनों साम्प्रदायिकताएं एक दूसरे के प्रति वैमनस्यता को पोषित करती रही है ।

"नेहरू ने साम्प्रदायिकता को फासीवाद के भारतीय रूपान्तरण के रूप में विवेचित किया है । नेहरू ने कहा है कि हालांकि सभी सांप्रदायिकता खराब है किन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता भय के फलस्वरूप उत्तम होती है जबकि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता राजनैतिक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है । किन्तु साथ ही नेहरू जी ने यह भी जोड़ा कि साम्प्रदायिकता चाहे 'वह हिन्दू साम्प्रदायिकता हो या मुस्लिम साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं किया जा सकता। क्यों कि यह भारतीय राष्ट्रीयता एवं भारतीय राष्ट्रवाद के सम्मुख एक चुनौती है ।

## 19.4 साम्प्रदायिकता क्या है?

1. किसी एक धर्म की मान्यताएं एवं सिद्धान्त साम्प्रदायिकता नहीं होती। किन्तु धर्म का शोषण साम्प्रदायिकता होती है
2. एक धार्मिक समुदाय को दूसरे समुदायों के विरुद्ध एवं राष्ट्र के विरुद्ध प्रयोग करना साम्प्रदायिकता है ।
3. एक धार्मिक समुदाय के किसी सामाजिक सांस्कृतिक गतिविधियों से सम्बद्ध होना साम्प्रदायिकता नही होती। लेकिन किसी एक समुदाय के प्रति सहानुभूति रखते हुए केवल उसी समुदाय की अभिवृद्धि हेतु कार्य करना तथा दूसरे समुदायों के मार्ग में रूकावट पैदा करना साम्प्रदायिकता होती है ।
4. कर्मकाण्डों, अंधविश्वासों आदि से जुड़ा होना साम्प्रदायिकता नहीं है, यह केवल अविवेकीय एवं अवैज्ञानिक आदिकालीन दृष्टिकोण का परिचायक होता है। यहाँ तक कि सामाजिक या राजनैतिक जीवन में रूढ़ीवादी मूल्यों के प्रति आस्था भी साम्प्रदायिकता नहीं होती है । यह केवल सामाजिक पिछड़ेपन की निशानी मानी जाती है । किन्तु यह मस्तिष्क में रखना चाहिए कि ये सब चीजें धार्मिक चेतना को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध हों सकती है ।
5. जब व्यक्ति यह मानता है कि उसी का धर्म जीवन की पूर्ण संहिता प्रदान करता है और यही संहिता अन्य सभी के लिए भी मान्य है, तब धर्म साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लेता है।
6. साम्प्रदायिकता धर्म का विकृत रूप है जो कि नैतिक व्यवस्था से साम्प्रदायिक सुविधाओं की सांसारिक व्यवस्था में परिवर्तित हो जाती है । सामुदायिक व्यक्ति अपनी स्वयं की शक्ति, पद ' एवं सम्पत्ति के लिए –धर्म को एक आस्था से अवयव जीवन रणनीति को राजनैतिक के लिए उद्देश्यों को साधनों में परिवर्तित कर देते है ।
7. साम्प्रदायिकता धर्म का शोषित नग्न एवं अतिधूर्त रूप है । यह दूसरे समुदाय का एक काल्पनिक भय पैदा करता है तथा धार्मिकता को राजनैतिक युद्ध प्रियता में परिवर्तित करता है ।
8. साम्प्रदायिकता धार्मिक मान्यताओं पर आधारित एक ऐसी राजनैतिक विचारधारा है जो कि राजनीति, व्यवस्था एवं राजनैतिक क्रियाकलापों में एक प्राथमिक एवं निर्णायक समूह के रूप में सामने आती है । एक साम्प्रदायिक व्यक्ति के लिए राजनैतिक व्यवस्था एवं उसकी उपव्यवस्थाएं (बल व्यवस्था एवं राजकौशल) की संरचना धार्मिक समुदायों की स्वीकृत के आधार पर संरचनाकृत होनी चाहिए ।
9. साम्प्रदायिकता एक राजनीतिक दृष्टिकोण है । जिसके अन्तर्गत धार्मिक समुदाय को 'स्वीकृति मिलती है न कि राष्ट्र या राष्ट्र–राज्य को।
10. साम्प्रदायिकता एक अन्तर्गत एक ऐसे दृष्टिकोण को स्वीकारा जाता है जिसमें एक–राजनीतिक व्यवस्था तथा एक राष्ट्र के अन्तर्गत अन्य धार्मिक समुदायों को असहिष्णु इकाई के रूप में माना. जाता है । जो कि इनमें द्वेषता एवं मतभेदों को बढ़ाता है।
11. साम्प्रदायिकता दलीय स्वरूप के, विवेकीय एवं नागरिक आधार के विरूद्ध होता है ।

12. साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत एक राजनैतिक व्यवस्था या राष्ट्र के अन्तर्गत धार्मिक मान्यताओं के आधार पर बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक, अंशों एव विघटनकृति आदि के रूप में स्वीकार किया जाता है । उन्हें एक दूसरे के पूर्ण के रूप' में नहीं स्वीकारा जाता है । इसके अन्तर्गत जनसंख्या को राजनैतिक, वैचारिक, दलीय, वर्गो, हितों आदि आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था के प्रतीकों के रूप में नहीं बल्कि साम्प्रदायिक वर्गो के रूप में देखा जाता है ।
13. धार्मिक समुदाय का राजनीतिकरण अन्य समुदायों एवं राष्ट्र के विरूद्ध सामने आता है । यह साम्प्रदायिकता का मुख्य रूप होता है ।

    इस तरह से साम्प्रदायिकता प्रगति, लोकतंत्र तथा विवेकीय वैज्ञानिक आधार पर संघीय राष्ट्र राज्य निर्माण प्रक्रिया के शत्रु के रूप में सामने आती है । यह संकीर्णता विशिष्ट समुदाय की मान्यताओं एवं नकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है जो कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया एवं आधुनिक राष्ट्र निर्माण के लिए हानिकारक होती है । अत: सामुदायिकता समसामयिक भारत में सबसे बड़ी विनाशकारी विचारधारा है ।

## 19.5 भारतीय राज्य को साम्प्रदायिकता की चुनौती

आज भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति काफी प्रभावी हो गयी है तथा भारतीय राज्य के सम्मुख बहुआयामी चुनौतियां प्रस्तुत कर रही है । साम्प्रदायिकता की चुनौती जो कि भारत में सबसे बड़ी आंतरिक चुनौती है वह न केवल हमारी धर्मनिरपेक्ष संघीय व्यवस्था की कार्य प्रणाली एवं स्थिरता को प्रभावित कर रही है बल्कि साथ ही वह हमारे राष्ट्रीय जीवन के मुख्य निर्धारक सिद्धांतों को भी प्रभावित कर रही है ।

द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त' की स्वीकृति एवं संचालन इस ऐतिहासिक एवं सामाजिक स्वीकृति की भ्रामक मान्यता पर आधारित रहा है कि हिंदू एवं मुसलमानों के दोनों ही समुदायों की क्षेत्रीय एवं भाषायी विभिन्नताओं को न केवल अनदेखा किया गया बल्कि इन दोनों समुदायों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध के अन्तर साम्प्रदायिक सम्बन्ध वे; सहअस्तित्व की सदियों पुरानी विरासत को भी अस्वीकृत कर दिया गया । इस मिथ्या सिद्धांत की स्वीकृति रही मुसलमान एक पृथक राष्ट्र का निर्माण करते है अत: उन्हें पृथक क्षेत्रीय सम्प्रभुता, समन्वय आदि की ऐतिहासिक प्रक्रिया जो कि विभिन्न समुदायों में व्याप्त थी उस एकीकृत को समाप्त कर दिया गया। साथ ही इसने आधुनिक राष्ट्र निर्माण की मूल मान्यताओं को झकझोर कर रख दिया।

द्वितीय, इसने हमारी आकांक्षित परम्परा, सम्मान की पारस्परिक स्वीकृति, विभिन्न समुदायों के मध्य पायी जाने वाली सौहार्द्रता, सद्भावना, समन्वयकारी प्रवृत्तियों, मान्यताओं एवं परम्पराओं आदि की स्वीकृति को क्षति पहुँचायी। इसने भारत के ऐतिहासिक स्वरूप के सुनहरे भाग को समाप्त कर दिया। इससे ब्रिटिश शासकों द्वारा पैदा की गयी साम्प्रदायिकता का परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्र भारत में कई धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन प्रतिनिधित्व करते है । इन्होंने मुसलमानों को पृथक करके भारत की एकीकृत संस्कृति की अवधारणा को पुर्नपरिभाषित करने का प्रयास प्रारम्भ किया। सामुदायिक आधार पर उपमहाद्वीप के विभाजन ने भारत एवं पाकिस्तान दोनों में ही सामुदायिक राजनीति को न्यायोचितता प्रदान

कर दी । साथ ही इन्होंने भारत में राजनीति की भाषा एवं मुहावरों को विभाजित कर दिया। इसने राष्ट्रीय राजनीति को त्रुटिपूर्ण एवं अविवेकीय आधार पर न केवल विघटित किया वरन् इसने भारत में लोकतांत्रिक संघीय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को भी क्षति पहुँचायी । इसने धर्मनिरपेक्ष नागरिक संस्कृति के उभरते भवन की आधार शिलाओं को भी जर्जर कर दिया।

तृतीय, राजनीति के साम्प्रदायिकीकरण ने, ईशवन्दना आधारित सामन्तिक, पूर्वजता भावना आधारित, राजनीति जिसका कि मुख्यसार लोकतंत्र विरोधी मान्यताओं में है, से हित–वर्ग आधारित लोकतांत्रिक राजनीति जो कि मुख्यत: व्यक्ति को एक समान एवं स्वतंत्र नागरिक के रूप में राजनीति व्यवस्था. के सदस्य की भूमिका को स्वीकृति प्रदान करती है साथ ही जिसमें जाति, प्रजाति, क्षेत्र, भाषा, लिंग आदि के भेदभाव को अस्वीकार करती है ऐसी लोकतांत्रिक राजनीति में रूपान्तरण की प्रक्रिया को भी आगे खिसका दिया।

चतुर्थ, हमारा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आकांक्षित मूल्यों एवं विरासत के आधार पर भारत में एक ऐसी स्थिर एवं धमनिरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना है । भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन जो कि विश्व इतिहास में एक सबसे विस्तृत उपनिवेश विरोधी आन्दोलन था इस आन्दोलन के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न भाषायी समूहों, सामुदायिक समुदायों में एक देशभक्ति की भावना पैदा की थी उसे साम्प्रदायिकता की प्रक्रिया ने भारी क्षति पहुँचायी । हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन धर्मनिरपेक्षता, मानवतावाद, अर्न्तसामुदायिक सद्भावना एवं सौहार्द्रता पर आधारित रहा है । किन्तु आज एक स्थिर धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था के रूप में हमारी पहचान को दिन प्रतिदिन हमने स्वयं सामूहिक इच्छा शक्ति के अभाव, अपराधीकरण एवं हमारी समझ विहीन प्रवृतियों ने धुंधला बना दिया है ।

इन सभी का परिणाम यह हुआ है कि आज हमारी राजनैतिक व्यवस्था बढ़ते हुए साम्प्रदायिक दंगों, जातिय वैमनस्यता, भाषायी द्वेषता के सम्मुख असहाय महसूस करने लगी है । हम यह पहचानने में असमर्थ है कि हम किसे इस विषम स्थिति के लिए दोष दें । बढ़ती हुयी घृणा एंव अविवेकीय साम्प्रदायिक प्रवृत्ति को हम उस समय तक नहीं रोक सकते जब तक कि हमारे राजनैतिक नेता, राजनैतिक दल एवं समाज के विभिन वर्ग इस हेतु तैयार नहीं हो ।

आज भारत में बहुसंख्यक समुदाय की सामुदायिकता बढ़ रही है जैसा कि ऊपर हम विवेचन कर चुके है कि सभी प्रकार की साम्प्रदायिकता खराब है किन्तु बहुसंख्यक सामुदायिकता अत्यधिक खराब है क्योंकि बहुसंख्यक समुदाय राष्ट्र की मूल सामाजिक प्रकृति 'को निर्धारित करता है अल्पसंख्यक सामुदायिकता की प्रवृत्ति अपने आप में संकेतों, विशिष्ट एवं पृथक परम्परा तथा समुदायों की मुख्य धाराओं से विरोधाभासी भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है ।

दूसरी तरफ बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद को आसानी से ग्रहण कर सकती है क्योंकि यह समाज में प्रभावी स्थिति में होती है तथा अधिकांश समुदायों की ऐतिहासिक जड़ों से जुड़ी हुयी होती है लेकिन बहुसंख्यक सामुदायिकता में सबसे भयभीत करने वालो कारक यह होता है कि यह अल्पसंख्यक वर्ग की मनोदशा को बहुत ही व्यापक रूप में प्रभावित करती है । इसके फलस्वरूप अल्पसंख्यक समुदाय वास्तविकता में या अनुमानित : एक भय की स्थिति में रहता है । इस तरह से बहुसंख्यक अल्पसंख्यक वर्ग को एक विघटनकारी, अलगाववादी

मनोवृत्ति से युक्त मानने लगते है । इस प्रकार यह स्थिति हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए हानिकारक है । हमारे राष्ट्रीय जीवन की प्रगति पारस्परिक सौहार्द्रता एवं सहिष्णुता में ही संभव है ।

पंचम आज भारत में साम्प्रदायिकता न केवल सांप्रदायिक राजनैतिक दलों के द्वारा ही अभिव्यक्त हो रही है बल्कि यह हमारी निर्वाचन राजनीति का भी एक भाग बन चुकी है । आज राजनीतिक दल चुनाव रणनीति में धर्मनिरपेक्ष आग्रहों को छोड़ते प्रतीत हो रहे हं, आज वे कम या ज्यादा धर्म या जाति आधारित राजनीतिक दल बन गये है । राजनैतिक नेता, मंत्री एवं दलीय मुख्य. प्रवक्ता आदि भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का नाटक खेलते प्रतीत होते है जबकि इन्हें संकीर्ण धार्मिक आग्रहों से ऊपर उठकर हमारे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय जीवन में योगदान देना चाहिए ।

## 19.6 साम्प्रदायिकता को कैसे रोका जाये?

साम्प्रदायिकता को रोकने के लिए वे कौन–कौन से सामूहिक एवं व्यक्तिगत तरीके हो सकते है जो कि साम्प्रदायिकता पर नियंत्रण लगा सके तथा उससे लड़ सके । इन तरीकों में कुछ निम्नलिखित हो सकते है ।

प्रथम, सर्वप्रथम व्यक्तिगत,, सामूहिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर हमें यह स्वीकार करना होगा कि साम्प्रदायिकता हमारे जीवन के मूलभूत मूल्य, हमारे राज्य की कार्य प्रणाली एवं नयी उभरती सभ्यता के प्रति सबसे बड़ी चुनौती है । क्योंकि यह धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक भारत के प्रति लोकतांत्रिक भारत का शत्रु है । यह अनुभूति हमारी अन्तस्थ : चेतना का आन्तरिक एकीकृत भाग होना चाहिए । हमारी अन्तस्थ : चेतना से निकटता से जुड़ी हुयी होने के साथ–साथ भारत के प्रत्येक नागरिक के हृदय के अन्त :स्थल से भी जुड़ी हुयी हो । इसके फलस्वरूप एक धर्म का सच्चा अनुयायी वह व्यक्ति होगा जो कि मानव जाति की भलाई के लिए प्रतिबद्ध होगा। ऐसा व्यक्ति राष्ट्रीयता एवं देशभक्त के लिए भी स्वत: ही जुड़ा हुआ होगा ।

हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि भारत एक बहुलताओं युक्त देश है जिसमें विभिन्न धार्मिक मान्यताओं, पृथक भाषायी वर्गों विभिन्न सामाजिक मान्यताओं के व्यक्ति निवास करते है । अत: भारत में विभिन्नता युक्त पहचान ही बन सकती है । भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस तथ्य को स्वीकारा एवं सभी को इस तथ्य से आश्वस्त किया कि राज्य किसी विशिष्ट समुदायों के प्रति झुका हुआ नहीं होगा। अत : ऐसी कोई स्थिति नहीं होनी चाहिये कि विभिन्न समुदाय आपस में एक दूसरे के आमने–सामने खड़े हों । उन्हें आपसी द्वेषता की अपेक्षा सौहार्द्रता से रहना चाहिए ।

द्वितीय, आधुनिक समय में हिन्दु धर्म का जो सामुदायिक स्वरूप उभरा है वह उसके परम्परागत आधार अर्थात् जातीय व्यवस्था से भिन्न है । यह साम्प्रदायिकता हिंदूधर्म की स्वस्थ प्रकृति को दूषित कर रही है । इसमें अधिक योगदान राजनैतिक सामुदायिक हिन्दू नेतृत्व, का रहा है । यद्यपि सामुदायिकता हिन्दू अन्तस्थ चेतना का भाग अभी तक नहीं बन पायी है इसलिए, उपयुक्त तरीकों से इसे नियंत्रित किया जा सकता है ।

औपनिवेशिक प्रशासन ने शहरी क्षेत्रों में कुछ शक्ति केन्द्रों को विकसित किया जहाँ एक विशिष्ट समुदाय के प्रति लगाव की भावना जातीय चेतना (तमिलनाडू और केरल को छोडकर) ज्यादा रही । इस आधी शताब्दी में शहरी राजनैतिक नेतृत्व ने साम्प्रदायिकता की भावना को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन शहरी क्षेत्रों में साम्प्रदायिकता शैक्षणिक पिछड़ेपन के कारण बढ़ी । अशिक्षा के फलस्वरूप लोगों के सम्मुख इतिहास का विकृत स्वरूप प्रस्तुत किया जाने लगा तथा कई प्रकार के मिथ्या भ्रम प्रस्तुत किये गये । अत: आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारी पाठ्यपुस्तकों तथा विद्यालयों के लिए तैयार अध्ययन सामग्री में से सामुदायिक तत्वों को पहचान कर उन्हें निकाला जाना चाहिए । हमारी पाठ्य पुस्तकों का आग्रह धर्म पर नहीं बल्कि सामाजिक असमानता जैसे वास्तविक मुद्दों पर होना चाहिए।

तृतीय, सांप्रदायिक संगठनों द्वारा प्रयुक्त फासिस्ट पद्धतियों को जनसंचार (मुद्रित एवं श्रव्य–दृश्य) द्वारा आवश्यक –रूप से उजागर किया जाना चाहिए । साम्प्रदायिक संगठनों द्वारा जो फासिस्ट तरीके अपनाये जाते है उनमें हिंसा का प्रयोग, किसी विशिष्ट पद के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए धर्म को किसी विशिष्ट समुदाय के सदस्यों को क्षति पहुंचाना, विघटनकारी अपीलों के माध्यम से व्यक्तियों को गतिशीलता बढ़ाना, किसी विशिष्ट वर्ग के प्रति असंवैधानिक तरीके अपनाना आदि को ले सकते है । अत: टेलीविजन, रेडियो या अन्य जनसंचार के साधनों को यह स्पष्ट एवं सख्त निर्देश होने चाहिए कि वे ऐसा कोई समाचार या विवेचन प्रस्तुत नहीं –करें जो कि साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह एवं घृणा को बढ़ाते हों: ।

चतुर्थ, सामुदायिक फासीवाद का वास्तविक मुकाबला तभी किया जा सकता है जबकि जनता के साथ–साथ सरकार भी इसका विरोध करें । राजनैतिक सत्ता धार्मिक संगठनों एवं राजनैतिक दलों के प्रति तुष्टीकरण की नीति नहीं अपनाये । धर्म आधारित सभी राजनैतिक संगठनों के प्रति राजनैतिक संज्ञा को बहुत ही सचेत तरीके से व्यवहार करना चाहिये। इस संदर्भ' में राजनैतिक सत्ता दो प्रकार के कदम उठा सकती है –

प्रथम, ऐसे राजनैतिक दलों की मान्यता को अमान्य घोषित कर देना चाहिए जिनकी नीतियाँ एवं गतिविधियों साम्प्रदायिकता को बढ़ावा प्रदान करती हो । एवं द्वितीय – ऐसे पुलिस कर्मचारियों को दण्डित किया जाये जो कि अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन रहते है या सामुदायिक हिंसा को उकसाते हों या बढावा देते हों । साथ ही सम्बन्धित क्षेत्र के उन अधिकारियों को भी दण्डित किया जाये जो कि सांप्रदायिक हिंसा को नियंत्रित करने के अपने दायित्व के प्रति उदासीन रहे ही ।

इस तरह से भारत में सांप्रदायिकता की समस्या को नियंत्रित करने के लिए दो कदम उठाते बहुत ही आवश्यक है प्रथम – अल्पकालिक कदम के रूप में साम्प्रदायिकता की समस्या को कानून एवं व्यवस्था की समस्या मानते हुये इसके समाधान के प्रयास किये जायें । द्वितीय – दीर्घकालिक कदम के रूप में सांप्रदायिक संगठनों का सामना करने के लिए राज्य को एक धर्मनिरपेक्षता के रूप में एक विचारधारा को विकसित करना चाहिए। यह सही है कि भारत में एक खुली एवं उदार लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था है किन्तु यह राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की सहिष्णुतायुक्त विचारधारा से निर्धारित नहीं हो रही है । अत : हमें सामाजिक, आर्थिक

पुनर्संरचना की प्रक्रिया को बढ़ाने हेतु प्रयास करना चाहिए । ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की स्थिति में भारतीय जन सामान्य को भी साम्प्रदायिक दबाव से दूर रहना चाहिए। भारतीय जन सामान्य को जनतंत्र विरोधी विध्वंसकारी विघटनकारी शक्तियों से सचेत रहना चाहिए । सभी का प्रयास खुली लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था के निर्माण एवं इसके सुदृढ़ीकरण पर होना चाहिए । साम्प्रदायिक दलों को प्रतिबन्धित करते समय किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिये, क्योंकि ये सभी लोकतांत्रिक खुले समाज के विरुद्ध होते है अत: इनके प्रति समान दृष्टिकोण एवं राजनैतिक इच्छा शक्ति से कार्य करना चाहिए । साथ ही प्रशासकीय एवं कार्यकारी कानूनी तरीकों के साथ ही राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से भी इस समस्या का सामना करने का प्रयास करना चाहिये । कार्यकारिणी को अनिर्णायक स्थिति से निकलकर स्पष्ट एवं सुदृढ़ इच्छाशक्ति का परिचय देना चाहिये। इस संदर्भ में कार्यकारिणी ही नहीं बल्कि न्यायपालिका को भी सीमित कानूनी मत की अपेक्षा अपराधी समाज विरोधी तत्वों तथा हिंसा फैलाने वालें के प्रति कठोर कदम उठाने चाहिए । इन सभी का परिणाम यह होगा कि भारत में राष्ट्रीय जीवन एवं प्रशासनिक दृष्टिकोण में लोकतांत्रीकरण एवं धर्मनिरपेक्षता की भावना में वृद्धि होगी।

## 19.7 सारांश

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति काफी तीव्रता से बढ़ रही है अत: यह सुदृढ़ भारत के निर्माण की प्रक्रिया को बाधित कर रही है । इसलिए हमें इस समस्या का कठोरता से मुकाबला करना होगा। इस समस्या का मुकाबला करने के लिए सबसे आवश्यक तत्व राजनैतिक इच्छाशक्ति है। राजनैतिक इच्छाशक्ति के साथ ही हमें राजनैतिक व्यवस्था को भी सुदृढ़ करना होगा। यह केवल तभी संभव हो सकता है जबकि हमारे राजनैतिक एवं बौद्धिक वर्ग मैं सशक्त राष्ट्रीय राज्य की स्पष्ट धारणा मानस में हो । द्वितीय – यह आशा की जा सकती है कि आधुनिक शिक्षा तकनीकी एवं बन संचार विभिन्न: शक्तियों में सन्तुलन स्थापित करने का कार्य करेगी। इन सभी शक्तियों का अपना योगदान होता है किन्तु आधुनिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाने वाले कारक तभी सक्रिय योगदान प्रदान कर सकते है जबकि यहाँ के उत्तरदायी नागरिक इनके प्रति सचेत हो ।

# इकाई – 20

# भारतीय राज्य में चुनौतियां : क्षेत्रवाद एवं राष्ट्रवाद

**इकाई की रूपरेखा**

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. क्षेत्रवाद एवं राष्ट्रवाद का अर्थ
4. क्षेत्रवाद का अभ्युदय
5. क्षेत्रवाद के कारण
6. क्षेत्रवाद के खतरे
7. क्षेत्रवाद का विद्यमान स्वरूप एवं राष्ट्रवाद के सम्मुख चुनौतियां
8. इकाई सारांश
9. अभ्यास कार्य
10. सन्दर्भ ग्रंथ

## 1. उद्देश्य

इस इकाई में आप जान पायेंगे कि

1. क्षेत्रवाद का भारतीय राजनीति पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा है?
2. वे कौन–से कारण है जिनसे क्षेत्रवाद लगातार बढ़ता ही रहा है?
3. क्षेत्रवाद से उसन होने वाले खतरे कौन–कौन से है?
4. क्षेत्रवाद ने किस तरह से राष्ट्रवाद की भावना को प्रभावित कर भारत जैसे राज्य के सम्मुख चुनौतियां प्रस्तुत की है?

## 2. प्रस्तावना

स्वतंत्रता के पश्चात् से ही भारतीय राजनीति के सम्मुख विविध तरह की चुनौतियां प्रस्तुत हुई। जैसे–जैसे हमारा लोकतन्त्र शैशव से तरूणावस्था की ओर बढ़ा इसमें विद्यमान जटिलताएं ने भयावह स्वरूप धारण किया। स्वतंत्रता के पश्चात् की चुनौतियों से देखा जाए तो क्षेत्रवाद उनमें से नि:संदेह एक जटिल चुनौती है जिसने कई स्तरों पर राष्ट्रवाद– की भावना को प्रभावित किया है । क्षेत्रवाद की चुनौती को स्पष्ट करने हेतु, यह आवश्यक है कि क्षेत्रवाद की ऐतिहासिक, पृष्ठभूमि, क्षेत्रवाद के पनपने के प्रमुख कारण, क्षेत्रवाद का राष्ट्रवाद की भावना पर पड़ने कला प्रतिकूल प्रभाव आदि के समझाया जाए । प्रस्तुत इकाई में उप शीर्षकों के माध्यम से उक्त सभी बिंदुओं को विश्लेषित किया गया है ।

## 3. क्षेत्रवाद एवं राष्ट्रवाद का अर्थ

क्षेत्र एक सुस्पष्ट क्षेत्रीय अवधारणा है । जन समुदाय जब किसी क्षेत्र विशेष में एक–समय के लिए रहते है तो स्वाभाविक रूप से उस क्षेत्र के साथ उन लोगों की परिचायक प्रतिबद्धता का विकास होता चला जाता है । किसी क्षेत्र विशेष में लगातार निवास से व्यक्तिगत

पहचान बढ़ती है । यह पहचान कई कारकों यथा– धर्म, भाषा, मानव जाति इत्यादि से प्रभावित होती है जिसमें अतीत की समानताएं एवं भविष्य में साथ रहने की इच्छाएं अन्तर्निहित होती है।

क्षेत्रवाद से तात्पर्य एक देश या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है । क्षेत्रवाद को यदि और अधिक स्पष्ट किया जाये तो यह किसी क्षेत्र के उन लोगों की भावनाओं से है जो उस क्षेत्र विशेष की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते है । मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली कड़ी "सांस्कृतिक समानता" होती है । ये प्रक्रियाएं एवं धारणाएं भौगोलिक, धार्मिक, भाषाएं, रीति–रिवाज सम्बन्धी, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की स्थिति, रहन–सहन के ढंग एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती है ।

क्षेत्रवाद को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित किया है । आर ऐ. सेलिगमेन एवं जान्सन ने क्षेत्रवाद को केन्द्रीकरण के विरूद्ध एक समानान्तर आदोलन माना है । पॉल वार. दास ने इसे एक राजनीतिक इकाई में स्रोत विभाजन हेतु क्षेत्रों की प्रतिद्वद्विता प्रतिपादित किया है । माइकल हेक्टर ने इसकी व्याख्या वास्तविक एवं इन्द्रियगोचर आंतरिक उपनिवेशवाद की तरह की है । कई लेखकों का मानना है कि क्षेत्रीय सजगता तब तक विद्यमान रहेगी जब तक राजनीतिक सीमाएं अस्थिर जातिगत, भाषागत् एवं राजनीतिक सम्बद्धता के आधार पर निर्धारित होती रहेगी । उल्लिखित पारस्परिक क्रिया से धार्मिक उग्रवाद, भौगोलिक सामीप्य, जातिगत प्रभाव, आर्थिक पराभव, राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा, क्षेत्रीय पृथकत्व जैसी प्रवृत्तियों में अभिवृद्धि होती है ।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रवाद से अभिप्राय राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रांत की अपेक्षा एक छोटे से क्षेत्र से लगाव उसके प्रति समर्पण या विशेष प्रतिबद्धता दिखाना है । इस दृष्टि से क्षेत्रवाद, राष्ट्रीयता की व्यापक अवधारणा का विलोम है एवं इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय हितों की पूर्ति करना है । भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद व्यवस्था विरोधी, संघवाद विरोधी एवं संगठित और विकसित राजनीति के आधारभूत हितों के विरूद्ध है । श्रीमती इन्दिरा गांधी ने क्षेत्रवाद को देश की एकता, अखण्डता एवं विकास के लिए एक गम्भीर चुनौती के रूप में निरूपित किया है । भारतीय संदर्भो में यह भाषा, धर्म, क्षेत्र आदि पर आधारित होकर विघटनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देता है ।

## 4. क्षेत्रवाद का अभ्युदय

क्षेत्रवाद सम्प्रति भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में एक अत्यन्त व्यापक घटना है जिसके निकट भविष्य में कम होने की सम्भावना भी कही परिलक्षित नहीं होती है । वर्तमान उच्च तकनीकी के युग में जहां समृद्ध संचार व्यवस्था है तथा स्वतंत्रता के पश्चात् आधुनिकीकरण को अत्यधिक महत्व और तीव्रता प्रदान करने की प्रक्रिया ने, क्षेत्रवाद एवं अन्य तनावों को अधिक सचेत एवं सक्रिय किया है।

भारत ने केवल भौगोलिक दृष्टि से एक विशाल देश है अपितु वैचारिक, परम्परा, धर्म, मान्यता, संस्कृति आदि से भी इसकी विशालता प्रकट होती है । इतिहास साक्षी है कि प्रारम्भ से ही विदेशी ताकतों ने भारत की इस सामाजिक सांस्कृतिक विविधता का शोषण किया है ।

स्वतंत्रता के सुअवसर पर भारत दो तरह के राज्यों में विभक्त था– ब्रिटिश भारत के प्रांत एवं देशी रियासतें ब्रिटिश भारत में राजनीतिक चेतना तो जाग्रत हुई किन्तु ब्रिटिश के प्रांतों का विभाजन अंग्रेजों ने तार्किक आधार पर नहीं किया अपितु अपने न्यस्त हितों को ध्यान में रखकर किया। देशी रियासतों में थोड़ी आन्तरिक स्वायत्तता थी । राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए अंग्रेजों ने इन रियासतों का सहयोग प्राप्त किया। स्वतंत्रता के पश्चात् नेतृत्व के सम्मुख सर्वाधिक महत्वपूर्ण चुनौती राष्ट्रीय एकीकरण की थी । इस सन्दर्भ में प्रारंभिक रूप से दो समस्याएं सामने आयी । राज्यों का भारतीय संघ में विलीनीकरण और भारतीय संघ के अंतर्गत केन्द्र राज्य संबंधों का निर्धारण । इन दोनों समस्याओं के संदर्भ में विभिन्न क्षेत्रों का भारतीय मानचित्र में पुनर्सीमांकन किया जाना एक चुनौती थी । इस दृष्टि से भारत में क्षेत्रवाद ब्रिटिश शासन से विरासत में मिला। कालान्तर में भारत में सरकारी भाषा, शिक्षा के माध्यम, राजस्व एवं स्त्रोतों के बंटवारे जैसे कई यक्ष प्रश्नों ने क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया एवं इसमें अभिवृद्धि की ।

## 5. क्षेत्रवाद के प्रमुख कारण

क्षेत्रवाद के प्रसार एवं विस्तार में कई कारण है उनमें से प्रमुख कारणों का बिन्दुवार विश्लेषण अग्रनुसार है–

**1. इतिहास की औपनिवेशिक पुनर्व्याख्या**

इतिहास की व्याख्या धार्मिक एवं नस्लीय आधारों पर की गई है । ब्रिटिश विचारकी ने इसको हिन्दू, मुस्लिम एवं ब्रिटिश काल में विभाजित किया जो स्पष्ट रूप से धार्मिक विभाजन जैसा प्रतीत होता है । भारतीय इतिहासकारों ने इस व्याख्या पर अपनी आपत्ति प्रकट करते हुए इसका पुन: काल विभाजन किया । जिसके तहत इतिहास को प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक भागों में बांटा गया। इस इतिहास के काल विभाजन का अर्थ भी कमोबेश पूर्ववत् ही रहा। जिसमें प्रथम भाग हिन्दुओं से सन्दर्भित है, द्वितीय भाग मुसलमानों के आगमन से लगाकर उनके पराभव तक का है एवं तृतीय भाग में अंग्रेजों के भारत में आने से लगातार स्वतंत्रता तक का इतिहास है । इतिहास को और अधिक स्पष्ट, करके देखा जाये तो स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत के क्षेत्रों एवं आंदोलनों की आधुनिक भारत के इतिहास में बहुत अधिक पुनरावृत्ति की गई है । जहां दूसरी ओर दक्षिण भारत की इस दृष्टि से लगभग उपेक्षा की गई । इस प्रकार के इतिहास ने क्षेत्रीय इतिहास प्रोत्साहित किया जिन्होंने क्षेत्रीय वीरों, नायकों को महिमामंडित किया।

स्थिति का भयावह स्वरूप तब सामने आया जब आधुनिक भारत के दो प्रमुख समुदायों हिन्दू एवं मुसलमानों ने अपने–अपने नायकों को ही महिमामण्डित किया, साथ में एक दूसरे के नायकों की तीव्र भर्त्सना की एवं उन्हें अस्वीकार किया, जिसकी परिणति 1947 में भारत एवं पाकिस्तान दो पृथक देशों के विभाजन के रूप में हुई ।

**2. राज्यों का एकीकरण**

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में राज्यों की दो स्पष्ट स्थितियां थी । प्रथम में ब्रिटिश भारत एवं द्वितीय में रियासतें आती थी। स्वतंत्रता के पश्चात् रियासतों का विलीनकीकरण एक बड़ी

समस्या थी क्योंकि रियासतों पर सम्पूर्ण आधिपत्य एवं सत्ता रियासतों के राजाओं की थी जिनका राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलित होना एक चुनौती थी।

कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन (1938) में पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव रखा गया, जिसके अनुसार सभी क्षेत्र भारत का हिस्सा होंगे । इस प्रस्ताव के मूल में यह भावना स्पष्ट थी कि सर्च भारत स्वतंत्रता के पश्चात् एक होगा, अर्थात् सभी राज्यों को स्वतंत्र माना जायेगा एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था अपनाई जाएगी।

स्वतंत्रता के पश्चात् कुछ रियासतों जैसे कौचीन, हैदराबाद, भोपाल, जूनागढ़, जम्मू आदि ने विलीनकरण में कुछ समस्याएं पैदा की । यद्यपि अन्ततोगत्वा सभी एकीकृत भारत के भाग बने। यहां यह उल्लेखनीय है कि विलिनीकृत 552 रियासतों की स्थिति ब्रिटिश भारत से अपेक्षाकृत पिछड़ी थी । इन स्थितियों ने रियासतों वाले क्षेत्रों से राजनीति में सामंतों एवं राज–महाराजाओं को ही आगे बढ़ाया जिससे आम जनता की प्रतिबद्धता लंबे समय तक सामंतवादी व्यवस्था के प्रति ही रही। फलस्वरूप ऐसे क्षेत्रों को राष्ट्र की मुख्य धारा में आने में समय लग गया यद्यपि यह प्रवृत्ति वर्तमान में अपने पतन पर है लेकिन इसने कही न कहीं क्षेत्रवाद को तो प्रोत्साहित ही किया है ।

**3. आर्थिक अवयव एवं क्षेत्रवाद**

क्षेत्रवाद की पृष्ठभूमि में बहुत बड़ा कारण है– आर्थिक असंतुलन वित्तीय दृष्टि से किसी क्षेत्र अथवा समुदाय की उपेक्षा होती है तो उसकी परिणति गंभीर होती है । औपनिवेशिक शासकों ने अपनी वित्तीय सक्षमता हेतु कई राज्यों का गठन किया जिससे स्वतंत्र भारत को व्यापक आर्थिक असंतुलन का सामना करना पड़ा। औद्योगिकीकरण की असमानता भी कमोबेश इसी तरह थी, साथ में तथाकथित औद्योगिकृत राज्यों में भी राज्यों के भीतर ही असमानताएं स्पष्ट थी । इससे आगे राजनेताओं एवं सांसदों ने आर्थिक विकास हेतु केन्द्रीयकृत दृष्टिकोण अपनाया। आर्थिक विकास हेतु संपूर्ण देश को एक ही दृष्टि से देखा गया। आर्थिक विकास हेतु नियोजन की बढ़ती केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति से राज्यों की निर्भरता केन्द्र पर बढ़ती चली गई। जिसके परिणाम स्वरूप राज्यों के द्वारा अधिक से अधिक धन की मांग केन्द्र से की जाने लगी एवं अपेक्षित धन न मिलने पर उसका विरोध हिंसक आंदोलनों के रूप में हुआ। अतएव भारत में क्षेत्रीय सजगता का एक कत बड़ा कारण आर्थिक असंतुलन रहा है ।

"आर्थिक स्रोत कम है और मांगों में निरन्तर वृद्धि हो रही है । मांग एवं उत्पादन में अन्तर का एक प्रभाव यह भी है कि –व्यक्ति, समुदाय, वर्ग और क्षेत्र सभी स्तरों पर प्रतिस्पर्द्धा होती है"। – रजनी कोठारी

**4. भौगोलिक सामीप्य**

क्षेत्रीय सजगता में भौगोलिक स्थिति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों का अपनी मिट्टी से विशेष प्रकार का लगाव होता है । इसके स्व उदाहरण 'आमार सोनार बंगाल', देश बीच देश पंजाब दा' जैसी लोकोक्तियां संकीर्ण प्रतिबद्धताओं को ही प्रदर्शित करती है परन्तु भौगोलिक सीमाएं जो कि बहुत गहरी होती है भारतीय संदर्भों में आर्थिक एवं राजनीतिक कारकों के माध्यम से कम की जा सकती है । उदाहरणार्थ– आज भी रियासतों की भौगोलिक सीमाओं का प्रभाव कभी–कभी हमें दिखाई देता है लेकिन रियासतें मिलकर बड़े

राज्यों में बदल चुकी है जैसे– राजस्थान, मध्यप्रदेश, उड़ीसा । वहां भौगोलिक सीमाओं के संदर्भ में व्यापक सोच भी बना है ।

**5. भाषा**

क्षेत्रवाद का एक और महत्वपूर्ण कारण भाषा है । मारिस जॉन्स के अनुसार, समूह पहचान क लिए भाषा एक महत्वपूर्ण माध्यम है लेकिन यह रंग एवं नस्ल से ज्यादा भेदभावपूर्ण परन्तु फिर भी यह लोगों को जोड़ने वाली एक कड़ी है ।

भाषा के विविध आयामों को भारतीय संदर्भो में देखा जाए तो मारिस जॉन्स: के विश्लेषण से सहमत होना कठिन होगा। 1947 में साईलहेन क्षेत्र के असमी बोलने वाले लोगों ने पूर्वी पाकिस्तान के पक्ष में जनमत प्रदर्शित किया। महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र की पृथक राज्य की मांग आर्थिक कारणों से है । छोटा नागपुर (बिहार) के आदिवासियों की 'पृथक. झारखण्ड की मांग भाषा के स्थान पर जातीय है अतएव भाषा ही क्षेत्रवाद का प्रमुख कारण नहीं है।

इन सबके बावजूद भाषा क्षेत्रवाद को प्रोत्साहित करने वाले कारकों में से है । भाषा के कारण कई समस्याएं उत्पन्न होती है । प्रथम, किसी राज्य में किसी भाषा को बोलने वाले बहुमत में है एवं किसी और भाषा को बोलने वाले अल्प मत में है । जैसे– बंगाली बोलने वाले पश्चिम बंगाल एवं त्रिपुरा में बहुत ज्यादा है । वही आसान में बंगाली दूसरे बड़े समूह के रूप में है । द्वितीय कुछ क्षेत्रों में भाषा विशेष को बोलने वाले लोगों का बहुमत है जिनका आने वाले भविष्य में यह स्तर गिर सकता है । जैसे– असम में बंगालियों के कारण एवं पंजाब के सिक्खों में हिन्दुओं के कारण। तृतीय, ऐसे भी क्षेत्र है जहां पहले और किसी भाषा का प्रभुत्व था, वहां अब किसी दूसरी का ज्यादा प्रभाव है । जैसे त्रिपुरा में अब बंगाली अप्रवासियों के कारण बंगाली भाषियों की संख्या लगातार 'बढ़ती ही जा रही है। अंत में, कुछ भाषाएं ऐसी है जिन्हें संविधान में मान्यता प्राप्त है लेकिन वे, कहीं पर भी बहुमत में नहीं है, जैसे सिंधी ऐसे अल्पसंख्यक, क्षेत्रीय सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण को प्रोत्साहित करते है। मायरन विनर का मूल्यांकन इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि अल्पसंख्यक समूह चाहे वह जनजातीय हो, धार्मिक समूह या भाषायी समूह हों ये सदैव अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाये. रखने के लिए ऐसी क्षेत्रीय संस्कृतियों का समूहीकरण करते है ।

**6. असंतुष्ट क्षेत्रों की राजनीति (जाति)**

प्रत्येक राज्य में कुछ पिछड़े क्षेत्र होते है जिनमें विभिन्न जातियों एवं धर्मो के लोग रहते है । सभी जातियों के अन्तर्निहित स्वगुण होते है लेकिन जब भी कोई क्षेत्रीय कारक परिदृश्य पर उभरता है तो स्वयमेव जातिगत प्रभुत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है । जातिगत भेदभाव की भावना को प्रोत्साहित करने पर एक जाति विशेष के लोग संगठित हो जाते है । उदाहरण के लिए जातिगत प्रभुत्व की दृष्टि से महाराष्ट्र में मराठा, तमिलनाडू में नाड़ा एवं वणियार, केरल में एजहावास या हरियाणा में जाट संगठित दिखाई देते है । ऐसे कारकों से जातिगत क्षेत्रवाद प्रोत्साहित होता है ।

**7. धर्म**

धर्म स्वयं में क्षेत्रवाद का कारण नहीं है परन्तु जब किसी क्षेत्र विशेष में किसी धर्म के लोगों का बाहुल्य है तो स्थिति विस्फोटक होती है । उदाहरणार्थ– जम्मू एवं कश्मीर में मुस्लिम बाहुल्य, नागालैंड, मेघालय एवं मिजोरम में ईसाई बाहुल्य एवं पंजाब में सिक्ख बाहुल्य ने देश में क्षेत्रवाद के आतंकवादी, उग्रवादी एवं पृथकतावादी स्वरूप को प्रस्तुत किया है ।

**8. राजनीतिक दलों का क्षेत्रीयकरण**

राजनीतिक दलों का क्षेत्रीयकरण से गहरा संबंध है । जहां राजनीति क्षेत्रवाद को जन्म दे सकती है वहीं क्षेत्रवाद, राजनीति के महत्वपूर्ण पक्ष को भी प्रभावित कर सकता है । दोनों के बीच सीमारेखा खींचना कठिन है । राजनेताओं द्वारा किसी क्षेत्रीय मुद्दों पर क्षेत्रीय सजगता को प्रोत्साहित करने का पूर्वाभास करना कठिन है । इस दृष्टि से क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की क्षेत्रीय प्रतिबद्धताएं स्पष्ट करती है कि वे केवल क्षेत्रीय हितों के संरक्षण हेतु राजनीति करते है । उदाहरणार्थ– जम्मु एवं कश्मीर में नेशनल कांफ्रेस, पंजाब में आकाली दल, मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रंट, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी, असम में असम गण परिषद, महाराष्ट्र में शिवसेना, तमिलनाडू में डी. एम.के., ए. आई. ए. डी. एम. के., एवं तमिल मनीला कांग्रेस, आंध्रप्रदेश में तेलगुदेशम पार्टी। इन क्षेत्रीय दलों का प्रभुत्व वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि लगभग सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक दल इनसे गठबंधन करना चाहते है एवं साथ में इन क्षेत्रों में राजनीति करने के लिए इन दलों की उपेक्षा नहीं कर सकते है । परिणामस्वरूप क्षेत्रीय राजनीतिक दलों द्वारा अपने क्षेत्र विशेष के राजनीतिक हितों के संरक्षण का प्रयास किया जाता है जिसकी परिणति कई बार क्षेत्रीय असंतुलन को जनम देती है । अत: क्षेत्रवाद के कारणों में राजनीति का क्षेत्रीयकरण एक महत्वपूर्ण कारक है ।

## 6. क्षेत्रवाद के खतरे

क्षेत्रवाद के कारण भारतीय राजनीति को पिछले दशकों में कई गम्भीर का सामना करना पड़ा है । क्षेत्रवाद के कारण उत्पन्न होने वाले खतरों का विश्लेषण निम्नलिखित उप शीर्षकी के अंतर्गत किया जा सकता है–

**1. पृथक राज्यों की मांग**

क्षेत्रवाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्य की मांग रही है । आर्थिक पिछड़ेपन जाति, भाषा, धर्म इत्यादि को लेकर विभिन्न क्षेत्रों में पृथक राज्य की मांग ' पर उठायी गई एवं क्षेत्रीय आंदोलनों का सूत्रपात भी हुआ। पृथक राज्यों की मांग के में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष संघीय इकाईयों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग का रहा है । इसी मांग के तहत हिमाचल प्रदेश को 1970 में पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा 1972 में त्रिपुरा एवं मणिपुर को भी पूर्ण राज्य बना दिया गया । 1987 में मिजोरम, अरूणांचल प्रदेश एवं गोवा को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया ।

इसके अतिरिक्त पृथक राज्यों की मांग को राज्यों के पुनर्गठन के संदर्भ में भी देखा जा सकता है । जिसमें 1956 के राज्यों का पुनर्गठन किया गया । इस पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषायी राज्यों की ही मांग थी। भाषागत राज्यों की मांग ने राष्ट्रव्यापी असंतोष को जन्म दिया। सर 1960 में भाषायी आधार पर बम्बई राज्य का विभाजन महाराष्ट्र एवं गुजरात को पृथक

राज्यों में हुआ । सर 1960 के आस–पास ही पृथक विदर्भ राज्य की मांग की जाने लगी क्योंकि महाराष्ट्र की स्थापना का महत्व कम हो गया जो मध्य भारत की राजधानी थी । पंजाब राज्य का भी इसी तरह सर 1966 में पुनर्गठन किया गया परिणामत: पंजाब, हरियाणा 'पृथक राज्य एवं चण्डीगढ़ केन्द्रशासित प्रदेश बना। सितम्बर 1968 में असम राज्य के पुनर्गठन की योजना घोषित की गई जिससे राज्य के पहाड़ी लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वायत्तता मिल सके । परिणामस्वरूप दिसम्बर 1968 में मेघालय स्वायत्त राज्य के रूप में स्थापित हो गया। इसी क्रम में 1972 में मणिपुर एवं त्रिपुरा को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया।

**2. अन्तर्राज्यीय विवाद**

विभिन्न राज्यों के आपसी विवाद भी क्षेत्रवाद का महत्वपूर्ण पक्ष है । राज्यों, के बीच सीमा विवाद एवं नदी जल विवाद को लेकर राज्यों में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े है । मध्यप्रदेश गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल 'के वितरण को लेकर विवाद, राजस्थान एवं पंजाब के बीच भाखड़ा नांगल बांध से उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर विवाद तमिलनाडु एवं कर्नाटक के बीच कावेरी जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र एवं पंजाब एवं हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय विवादों के प्रमुख उदाहरण है, कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण किया और संघवाद की होती प्रतीत हुई ।

वस्तुत : असम एवं नागालैंड के बीच 4973 वर्ग मील क्षेत्र पर विवाद चल रहा है । नागालेंड ने विवादास्पद क्षेत्र में विधानसभा चुनावों (1987) के लिए 25 प्रतिशत मतदान केन्द्र 'खोजने की घोषणा की तो सम्पूर्ण असम उग्र हो उठा और अखिल असम छात्र संघ ने नागालैण्ड की आर्थिक नाकेबंदी करने का कदम उठाया। केन्द्र के हस्तक्षेप से समस्या हल निकाला गया। इसी तरह के सीमा विवाद असम–अरूणांचल प्रदेश, असम –मेघालय, मिजोरम– मणिपुर व त्रिपुरा के मध्य भी विद्यमान है जो चिन्ताजनक स्थितियां उत्पन्न करते है ।

**3. स्वायत्तता की मांग**

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गई है जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली है । पिछले कुछ वर्षो से मांग की जाती रही है कि भारतीय संविधान के संघवाद से संबंधित प्रावधानों का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए । मांग की जाती रही है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जाना चाहिए । स्वायत्तता की मांग यदाकदा पृथकवादी मांगों में भी परिवर्तित हो जाती है । स्वायत्तता की ऐसी मांगे केन्द्र एवं राज्यों में अलग–अलग दलों को सरकारों के समय विशेष रूप से उठती है । पंजाब में अकाली दल सरकार, पश्चिम बंगाल में, मार्क्सवादी सरकार एवं तमिलनाडु में द्रमुक एवं अनाद्रमुक सरकारों के समय ऐसी स्वायत्तता की मांगे ज्यादा उठती रही है ।

**4. केन्द्र राज्य संघर्ष**

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति केन्द्र एवं राज्यों के बीच विवादों में भी हुई है । राज्यों ने कई बार केन्द्र के सुझावों एवं निर्देशों को मानने से इंकार कर दिया एवं अपने स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय दिया । 1968 में केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना

करने के लिए केन्द्र ने राज्यों को निर्देश दिए । तब केरल की वामपंथी सरकार ने अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहते हुए मानने से इंकार कर दिया । सर 1968 में ही पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग एवं नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबंध लगाया तो राज्य सरकार ने इसे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप के रूप में निरूपित किया । केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने लगातार विरोध किया है । जनता पार्टी शासन काल में गौ–हत्या प्रतिबंध के विषय पर केन्द्र तथा तमिलनाडु, केरल एवं पश्चिम बंगाल की सरकारों के बीच विवाद हुए । केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्रोत प्राप्त करने क लिए भी राज्यों ने केन्द्र के विरूद्ध संघर्ष का रूख अपनाया । कई बार अन्तर्राज्यीय विवादों के समाधान में राज्यों ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इंकार कर दिया इस तरह की प्रवृत्तियां राष्ट्रवाद के खतरों की द्योतक है ।

**5. उत्तर–दक्षिण की भावनाएं**

भारत में उत्तर–दक्षिण के संदर्भ में सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती है । दक्षिण के लोग यह महसूस करते है कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उनकी उपेक्षा की है । दक्षिण के चार राज्यों– तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, केरल एवं कर्नाटक में जहां द्रविड़ भाषा बोली जाती है– का मानना है कि राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर भारत जैसा कोई लाभ दक्षिण भारत को नहीं मिला । द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 2,240 करोड़ रू. की राशि में से दक्षिण भारत को मात्र 521 करोड़ रू. ही दिए गए । इस्पात में सभी बड़े कारखाने उत्तरी भारत में है । दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत का ज्यादा औद्योगिकीकरण हुआ है । दक्षिण के राज्यों ने सरकार की भाषा नीति का भी लगातार विरोध किया है । दक्षिणी राज्य मानते है कि हिन्दी उत्तर भारत की भाषा है एवं उन पर इस भाषा को जबरदस्ती थोपने का प्रयास किया जा रहा है ।

क्षेत्रवाद की ऐसी प्रवृत्तियों के कारण उत्तरी एवं दक्षिणी भारत में चुनावों के समय मतदान व्यवहार में स्पष्ट अंतर परिलक्षित होता है । पिछले तीन लोकसभा चुनावों के संदर्भ में इस प्रवृत्ति को विश्लेषित किया जाये तो स्पष्ट है कि उत्तर में जिन राजनीतिक दलों को बढ़त मिली उनका दक्षिण में पूरी तरह सफाया हो गया। फलस्वरूप 1989 एवं 1996 से किसी दल के बहुमत के अभाव में संविद सरकारों का दौर चल पड़ा है । जिसने ऐसी भावनाओं को प्रोत्साहित ही किया है।

**6. भाषावाद**

स्वतंत्रता के पश्चात् मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्र भाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को किस प्रकार संरक्षण प्रदान किया जाये। संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया । भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण और पुनर्गठन हुआ । दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा का विरोध करने लगे । वे राजभाषा को हिन्दी के रूप में पसंद नहीं करते थे । उनका कहना था कि हिन्दी इस स्थिति में नहीं है कि वह भारत की राजभाषा वन सके । इससे भाषा की राजनीति की प्रवृत्ति बढी । भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर दक्षिण के राज्यों मे हिंसात्मक आंदोलन हुए है एवं राष्ट्रीय एकता के सम्मुख चुनौतियां बढ़ी। मारिस जॉन्स ने कहा है कि दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया, बंगाल ने उससे कम विकास किया एवं

देश के अन्य भागों कें शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप से ही इसका विरोध किया। असम में भाषा की राजनीति असम आंदोलन की प्रेरणा श्रोत रही ।

**7. भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति**

क्षेत्रवाद के गंभीरतम खतरों में से एक भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति है । इसके प्रमुख उदाहरण है – द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की मांग – जून 1950 में द्रमुक ने मद्रास राज्य से पृथकतावादी आदोलन संगठित किया एवं मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की । द्रमुक ने यहां तक मद्रास, आंध्रप्रदेश केरल एवं मैसूर राज्यों को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक सम्प्रभु द्रविड़ स्थान' राज्य बनाने की बात कही । द्रमुक के क्षेत्रीय दल होने से सदैव पृथकतावादी भावनाओं का ही सम्पोषण किया।

खालिस्तान की मांग यद्यपि स्वतंत्रता के समय से ही सिक्ख देश ' की मांग का नया स्वरूप थी । खालसा पंथ ने पंजाब को धोखाधड़ी से भारतीय संघ में मिलाने की बातें कहीं । खालिस्तान की यह मांग 1980 – 1993 की अवधि में अधिक चिन्ता का विषय रही। इस मांग के मूल में सीमित उग्रवाद समर्थक लोग थे जिनका प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से समर्थन राजनीतिक दल कर रहे थे। कालान्तर में सिक्खों की वे समस्याएं भी उनमें सम्मिलित हो गई जिनका संबंध केवल गुरुद्वारे एवं शिक्षा तक सीमित था। खालिस्तान की मांग केंद्र कई अंतर्राष्ट्रीय मंचों के माध्यम से भी उठाया गया साथ में विदेशों में रह रहे सिक्खों ने ऐसी गतिविधियों के संचालन हेतु सभी प्रकार की सहायता भी पहुंचाई । इस पृथकतावादी प्रवृत्ति ने राष्ट्रीय एकता के सम्मुख गंभीर चुनौती प्रस्तुत की थी ।

असम में मिजो मांग एक स्वाधीन मिजो राज्य की मांग थी। इस ध्येय की पूर्ति हेतु मिजो राष्ट्रीय फ्रण्ट' की स्थापना की गई । मिजो लोगों ने सशस्त्र आंदोलनों का मार्ग अपनाया। 1971 में मिजो नेताओं ने राज्य की मांग के प्रश्न पर जनमत संग्रह करते की मांग की थी। ऐसी पृथकतावादी मांगों को ध्यान में रखते हुए 1987 में मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया। इसी तरह असम का नागा आदोलन भी पृथकतावादी पृष्ठभूमि का रहा है जिसका हल 1960 में पृथक राज्य नागालैण्ड ' के रूप में हुआ। पश्चिम बंगाल में 1960 में पृथक गोरखालैण्ड की मांग प्रस्तुत हुई । गोरखालैण्ड की मांग सुभाष धीसिग के नेतृत्व में –स्वतंत्र देश के रूप में भी हो चुकी है ।

कश्मीर पिछले एक अरसे से उग्रवादी गतिविधियों का केन्द्र रहा है। सर्वाधिक उग्र एवं पृथकतावादी कार्यवाहियों का संचालन भारतीय संघ में यहीं पर हुआ है । काश्मीर की पृथकतावादी मांग को लगभग सभी अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर पाकिस्तान द्वारा उठाया गया है । जनमत संग्रह की मांग भी इस सन्दर्भ में कई बार की जा चुकी है । लंबे अंतराल के बाद पुन: चुनाव के माध्यम से हुई लोकतान्त्रिक व्यवस्था की बहाली के बावजूद उग्रवादी गतिविधियां जारी है । ऐसी पृथकतावादी प्रवृत्तियां राष्ट्र के लिए गंभीर समस्या है ।

**8. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय**

भारतीय राजनीति में जैसे–जैसे राजनीतिक दलों में बिखराव आया है और वे सभी क्षेत्रों के व्यापक हितों के सम्पोषण में असमर्थ सिद्ध हुए । क्षेत्रीय नेताओं के नेतृत्व में क्षेत्रीय दलों का प्रसार हुआ । भाषा, 'जाति, क्षेत्रीय भावनाओं आदि की –पृष्ठभूमि लेकर क्षेत्रीय नेताओं ने

अपनी स्थितियों को मजबूत किया है । वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण एवं निर्णयकारी भूमिका है । वस्तुत : क्षेत्रीय दलों में राष्ट्रीय सन्दर्भों में सोचने समझने का अभाव होता है । उदाहरणार्थ – अकाली दल, हरियाणा विकास पार्टी, असम गण परिषद, शिवसेना, तेलगुदेशम, द्रविड़ मुनेत्र कडगम, तमिल मनीला कांग्रेस जैसे क्षेत्रीय राजनीतिक दल सजा में है । इन क्षेत्रीय दलों से राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में व्यापक सोच एवं समझ की आशा कम ही रहती है ।

## 7. क्षेत्रवाद का विद्यमान रूपवाद एवं राष्ट्रवाद के सम्मुख चुनौतियाँ

क्षेत्रवाद की भावना का आम आदमी के जीवन में लगातार प्रचार–प्रसार होने से राष्ट्रीय सोच एवं राष्ट्रवाद की अवधारणा को गहरा आघात पहुँचा है । राष्ट्रवाद के सम्मुख उल्लेखनीय चुनौतियां अग्रानुसार है -

**1. विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष एवं तनाव**

संकीर्ण क्षेत्रवाद के कारण देश के विभिन क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहां तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष एवं तनाव दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । फलस्वरूप प्रत्येक क्षेत्र अपने हितों या स्वार्थों को ही सर्वोच्च स्थान देता है और उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उससे दूसरे क्षेत्रों को कितना नुकसान होगा ।

**2. राज्य एव केन्द्र सरकारों के संबंधों का विकृत होना**

क्षेत्रवाद के कारण कई बार केन्द्र व राज्यों के सम्बन्ध कटु हो जाते है । प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण एवं दबाव समूह अपने–अपने क्षेत्र के स्वार्थों को प्राथमिकता देते है एवं उनके लिए केन्द्र पर दबाव बनाते है । फलस्वरूप संबंधों में कटुता अवश्यम्भावी होती है । ऐसी प्रवृति समग्र राष्ट्रीय सोच एवं राष्ट्रवाद के प्रतिकूल होती है ।

**3. स्वार्थी नेतृत्व एवं संगठन का विकास**

क्षेत्रवाद के कारण कई बार अलग–अलग क्षेत्रों में कुछ स्वार्थी नेतृत्व एवं संगठन विकसित हो जाते है जो कि जनता की भावनाओं को भड़काकर अपने क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते है । ऐसे नेतृत्व एवं संगठन का राष्ट्रीय संदर्भो में सोचने का नितांत अभाव होता है । ये कई बार वास्तविकता से आम जनता को अनभिज्ञ रखते हुए राष्ट्रवाद के सम्मुख चुनौती प्रस्तुत करते है।

## 8. इकाई सारांश

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय जनमानस में नवीन अपेक्षा का वातावरण बना। क्षेत्रीय असंतुलन एवं आर्थिक विषमता का सूत्रपात स्वतन्त्रता के साथ ही प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन मिला एवं राष्ट्रवाद की भावना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। असंतोष के इस वातावरण में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय हुआ जिनका उद्देश्य अधिक शक्ति अर्जन एवं क्षेत्रीय हितों का सम्पोषण ही रहा। क्षेत्रवाद के कारण केन्द्र एवं राज्य के संबंधों की कटुता बढ़ी । आंदोलनात्मक राजनीति को भी इसने प्रोत्साहित किया।

क्षेत्रवाद के विशद स्वरूप को देखते हुए भारतीय बहुलवादी समाज में राष्ट्र निर्माण की संकल्पना कठिन प्रतीत होती है । भारत जैसे राज्य के सम्मुख व्यापक, फैलता भ्रष्टाचार, बढ़ती जनसंख्या, आर्थिक संकट एवं विविधतापूर्ण राष्ट्र आदि ऐसी ' है जो राष्ट्रवाद को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है ।

राष्ट्रवाद को भारतीय संदर्भो में देखा जाये तो स्पष्ट है कि यह विविधता में एकता की अवधारणा पर आधारित है । यहां बहुलता को समृद्धता का द्योतक माना जाता है । प्रतिनिधात्मक राजनीतिक व्यवस्था से बहु–ध्रुवीय समाज में राजनीतिकरण की प्रवृत्ति स्थापित हुई है । आर्थिक शक्तियों के केन्द्र भी देश के कुछ विशेष हिस्से ही बन पाये है । जिससे अर्द्धविकसित एवं कम विकसित क्षेत्रों में अलगाव को प्रोत्साहन मिला है । आंतरिक गड़बड़ियों ने भी राष्ट्रवाद के सम्मुख गंभीर समस्याएं उत्पन्न की है । चुनावों ने भी सदैव भारत में धार्मिक एवं सांकेतिक अल्पसंख्यकों को अपनी "महत्ता प्रदर्शित करने हेतु सजग किया। ऐसी सजगता ने समान विशेषताओं वाले समूहों को संगठित किया ऐसे संगठित समूह राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय एकता के स्थान पर स्वयं के हितों के सम्पोषण हेतु एकत्रित हुए। इन प्रवृतियों से राष्ट्रवाद पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है ।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि भारत जैसे विशाल विविधतापूर्ण एवं लोकतांत्रिक देश में क्षेत्रवाद एक स्वाभाविक धारणा है । विद्यमान परिदृश्य में खेतों के बंटवारे, विकास से लाभों के संतुलित वितरण के साथ विभिन्न क्षेत्रों एवं समुदायों की आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु व्यवहारिक एवं गंभीर प्रयास किए जायें तो निश्चित ही क्षेत्रवाद को भविष्य में प्रोत्साहन नहीं मिलेगा एवं राष्ट्रवाद के सम्मुख उत्पन्न होने वाली गंभीर चुनौतियों की संभावनाओं वे आशातीत कमी आएगी ।

## 9. अभ्यास कार्य

1. क्षेत्रवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भारत में क्षेत्रवाद के विस्तार के कारणों पर प्रकाश डालिए?
2. भारत में राष्ट्रवाद की भावना पर किस तरह से क्षेत्रवाद ने प्रतिकूल प्रभाव डाला है? क्षेत्रवाद के खतरों की व्याख्या कीजिए ।

## 10. सन्दर्भ


1. ए. एस. नारंग, भारतीय शासन एवं राजनीति, गीतांजलि पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली 1988.
2. भवानी सिंह, इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स, जिल्द– 2, प्रिंटवैल, जयपुर, 1991.
3. 3 जे. सी. जौहरी, इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स, विशाल पब्लिकेशस, नई दिल्ली, 1983.
4. के. सी. मार्कंडन, आस्पेक्टस आफ इंडियन पालिटिक्स. जिल्द– 1, ए.बी.एस. पब्लिकेशंस जालंधर

5. ए.एम. शंकधर, फ्रेमवर्क आफ इंडियन' पालिटिक्स, गीतांजलि पब्लिर्शिग हाऊस, नई दिल्ली, 1983.
6. पुखराज जैन एवं बी. एल. फडिया भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन, आगरा, 1994.

ISBN : 13/978-81-8496-283-3